धात्री

एक औषधीय की

आचार्य महाप्रज्ञ

यात्रा

एक अकिञ्चन की

जैन विश्व भारती प्रकाशन

आत्मकथा-१

यात्रा
एक अकिञ्चन की

आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक

शासनगौरव
मुनि धनंजयकुमार

मुख्य नियोजिका
साध्वी विश्रुतविभा

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राज.) 341306
जिला : नागौर (राजस्थान)
फोन : 01581-222080/025
फैक्स : 01581-223280
e-mail:secretariatldn@jvbharati.org

सौजन्य
'समाज भूषण' श्री जसवंतमल सेठिया ट्रस्ट
चैन्नई

ISBN 978-81-7195-147-5

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण : जुलाई २०१० ई. (प्रतियां ५०००)
द्वितीय संस्करण : अगस्त २०१० ई. (प्रतियां ३०००)
तृतीय संस्करण : सितंबर २०१० ई. (प्रतियां ३०००)
चतुर्थ संस्करण : अक्टूबर २०१० ई. (प्रतियां ३०००)

मूल्य : दो सौ पचास रुपये मात्र

आवरण एवं आकल्पन : अडिग

मुद्रक : सांखला प्रिंटर्स
विनायक शिखर, शिवबाड़ी रोड, बीकानेर ३३४००३

YATRA : EK AKINCHAN KI by Acharya Mahapragya Rs. 250.00

पुरोवाक्

जीवन-वृत्त दो प्रकार से लिखा जाता है–

१. किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किसी अन्य व्यक्ति की जीवनी लिखना।

२. स्वयं अपनी जीवनी लिखना।

साहित्य के क्षेत्र में इन दोनों विधाओं का प्रयोग होता रहा है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो दूसरा प्रकार अधिक तथ्यपूर्ण होने की संभावना रहती है। अन्य व्यक्ति किसी के बारे में लिखता है, वह कुछ देखा हुआ, कुछ सुना हुआ, कुछ पढ़ा हुआ हो सकता है। परन्तु जीवनी के पात्र के मनोभाव कब क्या हुए, उसे लिख पाना उसके लिए प्रायः असंभव होता है। दूसरी बात–लिखने वाला श्रद्धातिरेक और द्वेषभाव के कारण अतिशयोक्ति और हीनोक्ति भी कर सकता है।

व्यक्ति स्वयं अपने बारे में तटस्थ भाव से लिखता है तो वह अपने मनोभावों को भी प्रकट कर सकता है और कहीं-कहीं वह अपनी गुप्त घटना को भी उल्लिखित कर सकता है। यह सब स्वयं के द्वारा स्वयं की जीवनी के लेखन से ही संभव है, पर के द्वारा प्रायः नहीं।

महात्मा गांधी आदि अनेक विशिष्ट पुरुषों ने अपनी जीवनी का लेखन स्वयं किया। गुरुदेव तुलसी की आत्मकथा **'मेरा जीवन : मेरा दर्शन'** के रूप में प्रायः सामने आ चुकी है। कुछ अवशिष्ट है। हालांकि यह आत्मकथा अक्षरशः गुरुदेव तुलसी द्वारा लिखित नहीं है परन्तु इस आत्मकथा के लेखन का प्रारंभ गुरुदेव ने स्वयं किया। उसके पश्चात् उसका अधिकांश भाग गुरुदेव तुलसी की हस्तलिखित डायरियां, जैन भारती, विज्ञप्ति, ख्यात आदि के आधार पर साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने तैयार किया है, तैयार किया जा रहा है। इस आत्मकथा के द्वारा गुरुदेव तुलसी को अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

मुझे यह जानकारी मिली कि परमपूज्य गुरुदेव आचार्य महाप्रज्ञजी ने गुरुदेव श्री तुलसी की प्रेरणा से आत्मकथा लिखने का निर्णय किया। उन्होंने आत्मकथा का बहुलांश हिस्सा तो स्वयं अपने मुखारविन्द से डिक्टेशन देकर लिखाया और कुछ हिस्सा अपने ही पूर्व-प्रदत्त प्रवचन आदि से संग्रहण करने का निर्देश फरमाया।

विशेष बात यह है कि सन् २००० में मैंने परमपूज्य आचार्यश्री के आदेश से श्रीगंगानगर अंचल की यात्रा की। लगभग चार मास की उस यात्रा में मेरा परमपूज्यश्री के साथ संवाद-पत्रों का आदान-प्रदान हुआ। पत्रों के उस आदान-प्रदान को भी उन्होंने अपनी आत्मकथा का एक हिस्सा बना लिया और मेरे द्वारा प्रदत्त पत्रों पर टिप्पणियां करके एक सुन्दर मुक्ताहार-सा बना दिया।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने एक अप्रमत्त साधक का जीवन जीया। उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। वे मौलिक चिन्तक, कवि, साहित्य-स्रष्टा और अन्वेषक थे। उन्होंने सामयिक और शाश्वत, दोनों समस्याओं के समाधान के प्रयत्न किए। आगम संपादन का अनुत्तर कार्य परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ की जैन शासन और भारतीय प्राच्य विद्या को अनमोल देन है। अणुव्रत के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करने में वे अग्रणी रहे। उन्होंने विलुप्त जैन साधना पद्धति का संधान कर प्रेक्षाध्यान की पद्धति का प्रणयन किया। जीवन विज्ञान, अहिंसा प्रशिक्षण आदि उपक्रम उनके पारदर्शी चिन्तन के स्फुलिंग हैं। एक विनीत और समर्पित शिष्य के रूप में पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी के चिन्तन और कार्यों को मूर्त रूप देने में अपनी मेधा शक्ति और कर्मजा शक्ति का भरपूर उपयोग किया। पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी के महाप्रयाण के पश्चात् न केवल तेरापंथ धर्मसंघ एवं जैन शासन की समुन्नति के लिए, अपितु समग्र मानवीय चेतना के समुन्नयन के लिए निरंतर चिंतनशील और क्रियाशील रहे। उन्होंने अहिंसा यात्रा के माध्यम से अहिंसक चेतना के जागरण और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रशस्य प्रयत्न किया। ऐसे महामनीषी की आत्मकथा पाठक के लिए बोध और संबोध का हेतु बन सकती है।

मुख्य-नियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी वर्षों से परमपूज्यश्री की सन्निधि में बैठकर उनके साहित्य का श्रुत-लेखन करती रही हैं। यह उनके विशेष सौभाग्य की बात है। इस आत्मकथा के श्रुतलेखन में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनके योग से पाठकों तक यह आत्मकथा पहुंच रही है।

प्रस्तुत आत्मकथा के संयोजन-संपादन में मुनि धनंजयकुमारजी का भी उल्लेख्य योगदान है। वे लम्बे काल से परमपूज्यश्री के साहित्य संपादन में संलग्न रहे हैं। परमपूज्यश्री के साहित्य को जनता तक पहुंचाने में उन्होंने एक सेतु का काम किया है।

काश! यह पुरोवाक् स्वयं परमपूज्य गुरुदेव लिखाते। स्वयं की आत्मकथा का पुरोवाक् स्वयं के द्वारा होता, यह अति शोभनीय होता, परन्तु वैसा संभव नहीं हो सका और यह कार्य करने का अवसर मुझे मिल रहा है। इस प्रकार परमपूज्यश्री की आत्मकथा में मुझे भी सहभागी बनने का मौका मिल रहा है।

इस महनीय आत्मकथा का प्रथम-भाग पाठकों के सामने प्रस्तुत हो रहा है। प्रबुद्ध और बुद्ध सभी लोगों को इससे लाभान्वित होने का मौका मिल सकेगा।

२२.६.२०१०

—आचार्य महाश्रमण

सरदारशहर

संपादकीय

वह शिशु, जिसने जीवन का पहला श्वास भव्य प्रासाद में नहीं, रेतीली भूमि पर उन्मुक्त आकाश में लिया, क्या श्रीसंपन्नता का उच्छ्वास ले सकता है?

वह शिशु, जो ढाई मास की अवस्था में पिता का साया खो कर अनाथ हो गया, क्या तीन लोक का नाथ होने का सपना ले सकता है?

वह शिशु, जिसने केवल अंतरिक्ष के जल का पान किया, क्या अध्यात्म-सागर की गहराई को मापने की कल्पना कर सकता है?

वह शिशु, जिसने स्कूल का दरवाजा नहीं देखा, क्या बौद्धिकता के हिमालय को अतिक्रांत कर प्रज्ञा के जगत् में प्रवेश की बात सोच सकता है?

अनुत्तर श्रद्धा, अप्रतिम विनय, अद्वितीय समर्पण, अद्भुत विवेक, अंतहीन करुणा, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, अप्रतिहत तर्कशक्ति, अप्रकंप पुरुषार्थ, अप्रमत्त जीवन-चर्या, अनवरत सकारात्मक दृष्टिकोण, उपशांत कषाय, अनाविल चरित्र—इन सबके समुच्चय का नाम है आचार्यश्री महाप्रज्ञ।

जिसमें उदात्त चेतना के ये गुण प्रस्फुटित हैं, वह प्रज्ञा की दुनिया में प्रवेश क्यों नहीं कर सकता? अध्यात्म-सागर की गहराई को क्यों नहीं माप सकता? सफलता के शिखर का स्पर्श क्यों नहीं कर सकता? अलौकिक श्री का वरण क्यों नहीं कर सकता?

परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ का जन्म उस छोटे से ग्राम में हुआ, जहां न पीने का मीठा जल सुलभ था, न पढ़ने के लिए विद्यालय था, न सड़कें थीं और न यातायात के साधन थे। आय के समीचीन स्रोत भी उपलब्ध नहीं थे। अविकसित गांव और ग्रामीण परिवेश में पले-बढ़े शिशु ने अपने जीवन में जो विलक्षणता प्राप्त की, वह मानवीय चेतना की असीम क्षमता के प्रस्फोट का जीवंत दस्तावेज है।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ के व्यक्तित्व के अनेक रूप थे। एक रूप योगी और ध्यानी का था। एक रूप मुनि और मनस्वी का था। एक रूप विनम्र, अनुशासित और समर्पित शिष्य का था। एक रूप गुरु और अनुशास्ता का था। एक रूप मौलिक साहित्य स्रष्टा और अन्वेषक का था। एक रूप महान् यायावर और युगीन समस्याओं के समाधायक का था। वस्तुतः वह नब्बे वर्ष तक जलने वाली अध्यात्म की ऐसी अखंड ज्योति थी जिसके जीवन का हर क्षण आलोकमय और प्रभास्वर रहा। उसकी रश्मियों के विकिरण अनेक व्यक्तियों और कृतियों में खोजे जा सकते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के जीवन-तथ्यों का विश्लेषण एक बहुआयामी व्यक्तित्व का रेखांकन है—

* परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ का जन्म टमकोर ग्राम में आषाढ़ कृष्णा १३, वि.सं. १९७७ (१४ जून १९२०) को हुआ।
* आचार्यवर ने साढ़े दस वर्ष की अवस्था में अपनी मां साध्वी बालूजी के साथ माघ शुक्ला १०, वि.सं. १९८७ में पूज्य कालूगणी के करकमलों से सरदारशहर में भंसालीजी के बाग में दीक्षा स्वीकार की।
* आपने स्वल्प समय में संस्कृत, प्राकृत, व्याकरण, दर्शन, न्याय, काव्य आदि का गंभीर अध्ययन कर लिया। आपकी गणना मेधावी मुनियों की पंक्ति में होने लगी।

* आप आचार्य तुलसी के अनन्यतम कृपापात्र शिष्य थे। आपने आचार्य भिक्षु और आचार्य तुलसी के भाष्यकार के रूप में ख्याति प्राप्त की।
* आचार्य तुलसी ने वि.सं. २००१ में आपको अग्रणी, वि.सं. २००४ में साहाय्यपति और वि.सं. २०२२ में निकाय सचिव बनाकर आपकी अर्हताओं का मूल्यांकन किया।
* आचार्य तुलसी ने वि.सं. २०३५, माघ शुक्ला सप्तमी को राजलदेसर में आपको अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर तेरापंथ धर्मसंघ के युवाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।
* वि.सं. २०५०, माघ शुक्ला सप्तमी को सुजानगढ़ में आचार्य तुलसी ने आचार्य पद का विसर्जन कर आपको आचार्य पद का दायित्व संभालने का निर्देश दिया। ५ फरवरी १९९५ को आचार्यश्री महाप्रज्ञ का आचार्य पदाभिषेक कर एक विलक्षण इतिहास रचा।
* आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने १० वर्ष गृहस्थ जीवन एवं ८० वर्ष मुनि पर्याय का पालन किया। आप ४९ वर्ष साधारण मुनि के रूप में, १५ वर्ष युवाचार्य के रूप में तथा १६ वर्ष तीन मास आचार्य के रूप में रहे। इस अवधि में एक वर्ष तक वे अपदाभिषिक्त आचार्य के रूप में रहे।
* आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने महान् दार्शनिक और मौलिक साहित्यकार के रूप में अपनी पहचान बनाई। उन्हें 'जैन न्याय का राधाकृष्णन', 'आचार्य सिद्धसेन' और 'विवेकानन्द' की संज्ञा दी गई।
* आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने 'अणुव्रत की दार्शनिक पृष्ठभूमि' लिखी। अपने शासनकाल में अणुव्रत आन्दोलन को बहुत व्यापक और प्रभावी बनाने का प्रयत्न किया। जीवन के अन्तिम दिनों में भी उन्होंने अणुव्रत कार्यकर्ताओं को इस विषय पर मार्मिक मार्गदर्शन प्रदान किया।
* आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने प्रायः विस्मृत जैन साधना पद्धति का अनुसंधान कर 'प्रेक्षाध्यान' पद्धति का प्रवर्तन किया। आचार्य तुलसी ने आपके अवदान का मूल्यांकन करते हुए आपको 'जैन योग पुनरुद्धारक' के संबोधन से संबोधित किया। आपको इस उपलब्धि के लिए 'जैन ध्यान योग का कोलम्बस' भी कहा गया।
* जीवन-विज्ञान की परिकल्पना शिक्षा के क्षेत्र में एक अभिनव प्रकल्प है। इसे शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा से जुड़ी समस्याओं के समाधान के रूप में स्वीकार किया। अनेक राज्यों के विद्यालयों में जीवन-विज्ञान पाठ्यक्रम की मांग हुई।
* आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अपने जीवन के नौवें दशक में सात वर्षीय अहिंसा यात्रा कर अहिंसक चेतना के जागरण और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का महान् अभिक्रम किया। इस यात्रा से उनके व्यक्तित्व का अभिनव रूप सामने आया।
* अहिंसा यात्रा में साम्प्रदायिक सद्भाव का विलक्षण कार्य हुआ।
* आचार्यश्री महाप्रज्ञ की सन्निधि में १५ अक्टूबर २००३ को तत्कालीन राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने अपना जन्मदिन मनाया। इस अवसर पर जारी 'सूरत अध्यात्म घोषणापत्र' पर विभिन्न धर्मों के प्रबुद्ध धर्मगुरुओं तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने अपने हस्ताक्षर किए। फ्यूरेक का गठन भी इसी कार्य को आगे बढ़ाने के लिए हुआ। आचार्यप्रवर ने डॉ. कलाम के साथ संयुक्त रूप से 'द फैमिली एण्ड द नेशन' पुस्तक का आलेखन किया।
* आचार्यवर ने अहिंसा यात्रा के दौरान अहिंसा प्रशिक्षण का नया आयाम प्रस्तुत किया। उसके चार अंग निर्धारित किए—१. अहिंसा : सिद्धांत और इतिहास, २. हृदय परिवर्तन, ३. अहिंसक जीवनशैली, ४. सम्यक् आजीविका एवं आजीविका प्रशिक्षण।
* आचार्यवर ने इस यात्रा के दौरान देश की समस्याओं का अध्ययन एवं गहन विश्लेषण किया। स्वस्थ व्यक्ति, स्वस्थ समाज और स्वस्थ अर्थव्यवस्था का सूत्र प्रदान करते हुए सापेक्ष अर्थशास्त्र की अवधारणा को विकसित करने की अभिप्रेरणा दी।

इस दृष्टि से अनेक बार चिंतन-मंथन हुआ और सापेक्ष अर्थशास्त्र का एक नया प्रारूप सामने आया। आचार्यवर ने अपने जीवन के अन्तिम दिन सापेक्ष अर्थशास्त्र के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए मार्गदर्शन दिया।

* आचार्यश्री महाप्रज्ञ का एक अवदान है विकास महोत्सव। आचार्य तुलसी द्वारा अपना पट्टोत्सव न मनाने की घोषणा करने पर आचार्य महाप्रज्ञ ने उसे 'विकास महोत्सव' का रूप दिया और आचार्य तुलसी पट्टोत्सव पर्व विकास महोत्सव के रूप में प्रतिवर्ष मनाया जाने लगा। आचार्यवर ने विकास महोत्सव का विस्तृत प्रारूप प्रस्तुत किया। विकास परिषद् का गठन भी इसी विकास महोत्सव की निष्पत्ति है।
* आचार्यश्री महाप्रज्ञ का एक कालजयी कार्य है आगम संपादन। आचार्य तुलसी के वाचना-प्रमुखत्व में जैन आगमों का संपादन कर आचार्य महाप्रज्ञ ने जैन शासन की अतुलनीय सेवा की, श्रुत की विलक्षण समुपासना की।
* आचार्यवर ने 'आचारांग भाष्य' लिखकर भाष्यकारों की विच्छिन्न परंपरा को अविच्छिन्न बनाया। जैन शासन के इतिहास में आचारांग पर भाष्य लिखने वाले वे प्रथम व्यक्ति हैं।
* आचार्यवर के साहित्य की अजस्र धारा प्रवाहित हुई। उनके तीन सौ से अधिक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। पचास से अधिक ग्रंथ अभी अप्रकाशित हैं। उनके साहित्य ने जैन, जैनेतर प्रबुद्ध समाज को सर्वाधिक प्रभावित किया। प्रसिद्ध बांग्ला उपन्यासकार विमल मित्र ने आचार्यश्री के साहित्य के संदर्भ में कहा था—'यदि पंद्रह-बीस वर्ष पहले यह साहित्य मिलता तो मेरी उपन्यास की दिशा दूसरी होती।'
* बीसवीं शताब्दी में संस्कृत और प्राकृत—दोनों में एक साथ आशु वक्तव्य, संस्कृत में आशुकवित्व की सिद्धि आचार्यश्री महाप्रज्ञ को प्राप्त थी। उन्होंने संस्कृत के जटिल छंदों और दुरूह विषयों पर आशुकवित्व कर विद्वद्जगत् को विस्मित कर दिया।
* आचार्यवर ने अहिंसा व विश्व शांति के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों और संस्थाओं में समन्वय की दृष्टि से 'अहिंसा समवाय' मंच की कल्पना की। इसमें अहिंसक शक्तियों को एक मंच पर इकट्ठे होकर एक-दूसरे के कार्यों को समझने और नवीन चिंतन के साथ उसे आगे बढ़ाने की दिशा मिली।
* आचार्यश्री महाप्रज्ञ को तेरापंथ धर्मसंघ में सर्वाधिक उम्र वाले युवाचार्य एवं आचार्य बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने तेरापंथ धर्मसंघ के साधु समुदाय में सर्वाधिक संयम पर्याय वाले मुनि का स्थान आरक्षित किया। तेरापंथ का कोई भी आचार्य अपने जीवन में नौ के अंक का स्पर्श नहीं कर पाया। आचार्यवर ने अत्यन्त स्वस्थमना अपना ९०वां जन्मदिन मनाया।
* आचार्यवर के कार्यों, अवदानों एवं उपलब्धियों का व्यापक मूल्यांकन हुआ। आचार्यश्री तुलसी ने १२ नवम्बर १९७८ को आपको 'महाप्रज्ञ' अलंकरण से अलंकृत किया। युग प्रधान (सन् १९९९), इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार (सन् २००३), राष्ट्रीय साम्प्रदायिक सद्भाव पुरस्कार (सन् २००५) तथा धर्म चक्रवर्ती (सन् २००४) आदि सम्मान मूल्यांकन के स्वयंभू प्रमाण हैं।
* आचार्यश्री महाप्रज्ञ का आचार्यश्री तुलसी के साथ गहरा तादात्म्य रहा। आचार्यश्री तुलसी आपके हर कार्य के साक्षी, प्रेरक और द्रष्टा रहे। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने आचार्यश्री तुलसी से भिन्न अपने व्यक्तित्व की कभी कल्पना भी नहीं की। आचार्य तुलसी का महाप्रयाण आपके जीवन का सर्वाधिक असह्य क्षण था।
* आचार्यश्री ने गंगाशहर चातुर्मास में भाद्रव शुक्ला द्वादशी, वि.सं. २०५४ में एक लाख से अधिक जनता की उपस्थिति में युवाचार्य महाश्रमण को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर धर्मसंघ को निश्चिंत बना दिया। वे अपने उत्तराधिकारी को प्रतिष्ठित करने और सब दृष्टियों से समर्थ बनाने में सदा प्रयत्नशील और जागरूक रहे।

आत्मकथा : एक अनुरोध और निश्चय

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने मौलिक एवं प्राणवान साहित्य का सृजन किया। जहां एक ओर दर्शन, न्याय, योग, अध्यात्म,

मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि के क्षेत्र में कुछ नए पदचिह्न अंकित किए; वहां व्यक्ति, समाज और विश्व की समस्याओं का तलस्पर्शी विश्लेषण करते हुए उनके समाधान सूत्र भी प्रस्तुत किए। आपके साहित्य से युग को नई दिशा और नई दृष्टि मिली।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अनेक महापुरुषों के जीवन-दर्शन लिखे। 'ऋषभायण', 'श्रमण महावीर', 'भिक्षु विचार दर्शन', 'प्रज्ञापुरुष जयाचार्य', 'धर्मचक्र का प्रवर्तन', 'तुलसी विचार दर्शन', 'तुलसी यशोविलास'—ये उनकी कालजयी रचनाएं हैं।

आचार्यवर से अनेक व्यक्तियों ने निवेदन किया—आपने समसामयिक और शाश्वत—दोनों सत्यों का विवेचन किया है। अपने सुदीर्घ साधनाकाल में अनेक प्रयोग किए हैं, अनेक नई सचाइयों को प्राप्त किया है। आपके द्वारा निर्दिष्ट प्रयोगों से सहस्र जन लाभान्वित हुए हैं, अपनी समस्याओं का समाधान पाया है। आप उन प्रयोगों और साधना-सूत्रों को लिपिबद्ध अवश्य कराएं, जिससे ये अनुभूत प्रयोग युगों-युगों तक मार्गदर्शक बन सकें।

आपने जीवन कैसे जीया, कैसे साधना के प्रयोग किए, आपको उनसे क्या अनुभूति हुई? आपके जीवन की सफलता का रहस्य क्या है? उसे आप जितना जानते हैं, दूसरा कोई कैसे जान सकता है? आपके जीवन-रहस्यों का संबोध दूसरों को, हम सबको मिल सके इसलिए अनुरोध है कि आप अपनी आत्म-कथा स्वयं लिखें।

यह अनुरोध अनेक व्यक्तियों ने किया। पूज्य गुरुदेव तुलसी ने भी आत्मकथा लिखने का निर्देश दिया। आचार्यवर ने १४ फरवरी १९९८ की डायरी में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है—

'१४ फरवरी १९९८, साध्वी विश्रुतविभा की मेरे प्रति असीम श्रद्धा और समर्पण है। उसका चिन्तन भी प्रशस्त है। अध्यात्म साधना की गहरी तड़प है। इन विशेषताओं ने मुझे बहुत आकृष्ट किया है इसलिए उसके चिन्तन पर मैं यथासंभव ध्यान देता हूं।

उसका आग्रह रहा—गुरुदेव के महाप्रयाण के समय आचार्यवर ने क्या अनुभव किया? मन पर क्या बीती? अभी ताजा घटना है, फिर विस्मृति में चली जाएगी। सुझाव अच्छा लगा। 'वर्तमान जो अतीत बन गया'—एक संस्मरण शृंखला शुरू हो गई।

दूसरा सुझाव सामने आया—प्रतिदिन का एक वाक्य लिखने का। वह कार्य भी शुरू हो गया है।

तीसरा आग्रहपूर्ण सुझाव आया डायरी लिखने का। डायरी लिखने का चिन्तन पहले भी अनेक बार आया। गुरुदेव डायरी लिखते थे। मैंने इस कार्य को आवश्यक नहीं समझा। अब यह सुझाव स्वीकार कर माघ कृष्णा २ (वि.सं. २०५४) को डायरी लिखना शुरू कर दिया।

चौथा आग्रह रहा आत्मकथा लिखने का। यह मेरे लिए नया नहीं था। गुरुदेव ने अनेक बार मुझसे कहा—तुम अपनी आत्मकथा लिखनी शुरू करो। मैंने प्रार्थना की—ऋषभायण पूरा करने के बाद मैं आत्मकथा लिखना चाहता हूं। ऋषभायण पूरा हो चुका। गंगाशहर चतुर्मास में आत्मकथा प्रारंभ करने का विचार था। किन्तु गुरुदेव का स्वर्गवास होने के बाद सारी योजना बदल गई। अब कुछ दिनों में ही उसे लिखने का संकल्प है। देखें, प्रारंभ कब होता है?

डायरी मुझे स्वयं लिखनी है। 'वर्तमान जो अतीत बन गया' के लिपिकार मुनि धनंजयकुमार हैं। 'प्रतिदिन का एक वाक्य' और 'आत्मकथा' की लिपिकार साध्वी विश्रुतविभा रहेगी, ऐसा चिन्तन किया है।'

आचार्यवर सन् १९९८ का मर्यादा महोत्सव संपन्न कर लाडनूं पधारे। अपने चिन्तन को क्रियान्वित करते हुए आचार्यवर ने संभवतः मई १९९८ में आत्मकथा का आलेखन शुरू कराया। लाडनूं प्रवास और सरदारशहर चतुर्मास में आत्मकथा लेखन का कुछ कार्य हुआ। हरियाणा-दिल्ली के कार्यक्रम-बहुल प्रवास में कार्य की गति धीमी हो गई।

लाडनूं चतुर्मास एवं बीदासर चतुर्मास में आचार्यवर ने कुछ संस्मरण लिखाए। सन् २००१ में अहिंसा यात्रा शुरू हो गई। यात्रा में लेखन कार्य की गति बहुत मंद हो गई। फिर भी कभी-कभी थोड़ा बहुत लेखन होता रहा। आचार्यवर ने भिवानी, उदयपुर चतुर्मास में आत्मकथा के प्रथम भाग का कार्य प्रायः संपन्न करा दिया। उदयपुर चतुर्मास से जयपुर प्रवेश तक आचार्यवर का

स्वास्थ्य प्रायः अनुकूल नहीं रहा। स्वास्थ्य के कारण यात्रापथ भी परिवर्तित हुआ। जयपुर चतुर्मास में जब-जब कुछ स्वस्थता का अनुभव हुआ, आचार्यवर आत्मकथा लिखाते रहे और उसका एक भाग संपन्न हो गया। लाडनूं प्रवास में आचार्यवर ने आत्मकथा का पुनरावलोकन किया और उसे शब्दशः सुना। आचार्यवर ने इस प्रवास में आत्मकथा का दूसरा भाग 'मैं और मेरा गुरु' का भी काफी अंश लिपिबद्ध करा दिया। तीसरे, चौथे और पांचवें खंड की संकलित सामग्री का निरीक्षण और संयोजन का मार्ग भी निर्दिष्ट कर दिया।

नियति का योग

पूज्य गुरुदेव के श्रीडूंगरगढ़ प्रवास में आत्मकथा की पांडुलिपि प्रेस में चली गई। कम्पोजिंग का कार्य पूरा हो गया। प्रूफ निरीक्षण का कार्य भी द्रुत गति से चल रहा था। यह निर्णीत हो चुका था—पूज्य गुरुदेव के जन्म दिन पर 'आत्मकथा' के प्रथम खंड का लोकार्पण किया जाए।

मैंने मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी से कहा—आप आचार्यवर से प्रस्तुति लिखवा लें।

उन्होंने कहा—'मुनिश्री! अभी क्या जल्दी है? हम सरदारशहर पहुंचने के बाद भी इसे लिखवा लेंगे।'

यह किसने सोचा था—अपनी आत्मकथा की प्रस्तुति भी हम आचार्यवर से लिखवा नहीं सकेंगे पर नियति के आगे किसी का वश नहीं चलता। पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री तुलसी ने अपनी आत्मकथा लिखी पर वे उसकी न प्रस्तुति लिख पाए और न प्रकाशित ग्रंथ का लोकार्पण कर पाए। परमाराध्य आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने भी अपनी आत्मकथा लिखी। आप भी उसकी न प्रस्तुति लिख पाए और न आत्मकथा को स्वयं लोकार्पित कर पाए।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ को गुरुदेवश्री तुलसी की आत्मकथा का तथा आचार्यश्री महाश्रमण को परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ की आत्मकथा का पुरोवाक् लिखने का श्रेय मिला। अपने गुरु की कृति को लोकार्पित करने का सौभाग्य भी उनके उत्तराधिकारी को मिला।

एक नया निर्देश

इन महिनों में परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने साहित्य आदि अनेक विषयों पर अनेक निर्देश प्रदान किए। एक दिन श्रीडूंगरगढ़ में गुरुदेव ने कहा—'तुमने मेरे जीवन के संदर्भ में दो ग्रंथ लिखे हैं।'

मैंने कहा—हां, 'महाप्रज्ञः जीवन दर्शन' और 'महाप्रज्ञ : अतीत और वर्तमान'।

आचार्यवर—'अब तुम इन दोनों को एक बना दो।'

मैंने कहा—'मैंने इन पंद्रह वर्षों की सामग्री भी संकलित कर रखी है।'

आचार्यवर—'तुम उसे भी इसके साथ जोड़ दो, एक परिपूर्ण ग्रंथ हो जाएगा।'

मैं—'गुरुदेव! आपकी आत्मकथा प्रकाशित हो रही है। युवाचार्यश्री द्वारा लिखित 'महात्मा महाप्रज्ञ' प्रकाशित हो चुकी है। अब इसकी क्या अपेक्षा है?'

आचार्यवर ने निर्देश की भाषा में कहा—'मेरी आत्मकथा में मैंने स्वयं को अपने कोण से देखा है। महाश्रमण ने जीवनवृत्त अपनी शैली में लिखा है। जीवनवृत्त के प्रस्तुतीकरण और विश्लेषण की तुमने नई शैली विकसित की है। इसलिए तुम्हें अपना कार्य करना है।'

मैंने निवेदन किया—'गुरुदेव! आत्मकथा के प्रकाशन के बाद मैं यह कार्य करूंगा।'

'हां, लेकिन उसे पूरा करने का संकल्प आज कर लो।'

गुरुदेव के इस निर्देश के प्रति मैं प्रणत था।

९ मई २०१० को पूज्य गुरुदेव श्री महाप्रज्ञ ने पूर्ण जागरूकता की स्थिति में इस दुनिया को अलविदा कह दिया। यह भी एक विचित्र संयोग है—मैं सांखला प्रिंटर्स के श्री दीपचन्द सांखला के साथ **'यात्रा : एक अकिञ्चन की'** पुस्तक के मुद्रण, संयोजन, आकार-प्रकार आदि के संदर्भ में विचार-विमर्श कर रहा था। उन्हीं क्षणों में आचार्यवर यकायक अस्वस्थ हुए। हम आत्मकथा की सामग्री को वहीं उसी रूप में छोड़ गुरु-सन्निधि में पहुंचे तो यह देख अवाक् रह गए—हमारी आंखों के सामने अध्यात्म-साधना का ज्योतिदीप बुझ गया है। वे सदेह हमारे बीच नहीं रहे किंतु उनकी उपस्थिति हमारे भीतर बनी हुई है। उनकी प्रकाश रश्मियां हमारे अंतःकरण को युगों-युगों तक आलोकित करती रहेंगी।

उनकी प्रकाश रश्मियों का एक समुच्चय है—**'यात्रा : एक अकिञ्चन की'**। प्रस्तुत ग्रंथ का प्राण है परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ। इस ग्रंथ की संकलना में सर्वाधिक श्रम किया है मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी ने। उनका बार-बार निवेदन, आग्रह और अनुरोध इस आत्मकथा की निष्पत्ति का प्रमुख कारक तत्त्व है। एक महापुरुष की आत्मकथा की प्रस्तुति में श्रेयोभागी बनकर उन्होंने जहां अपने शिष्य-धर्म का निर्वाह किया है वहीं महार्घ्य ज्ञानराशि का संचयन किया है। गुरु-सन्निधि के वे क्षण उनके जीवन की अमूल्य निधि बन गए हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ का पुरोवाक् परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाश्रमणजी ने लिखा है। यह आचार्यवर की अपने गुरु के प्रति विनम्र भावांजलि है। परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाश्रमणजी का प्रस्तुत आत्मकथा के इस रूप में प्रस्तुतीकरण में हमें निरंतर मार्गदर्शन, दिशादर्शन और परामर्श मिलता रहा है। हम उनके अनुग्रह के प्रति अंतःकरण से प्रणत हैं। यही कामना करते हैं—उनके वात्सल्य पूरित मार्गदर्शन में निरंतर गतिशील रहते हुए धर्मसंघ की सेवा करते रहें।

प्रस्तुत कृति की निष्पत्ति में मुनि जयकुमारजी का भी अपेक्षित सहयोग हमें मिला। वे हमारे आत्मीय हैं। उनके लिए हम क्या कहें! प्रस्तुत संदर्भ में मुनि अक्षयप्रकाशजी, मुनि आकाशकुमारजी आदि सहवर्ती संतों का सहयोग भी स्मरणीय है। इस कृति में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से अनेक लोग सहयोगी बने हैं, हम उनके प्रति मंगल प्रमोद भावना व्यक्त करते हैं।

जैन विश्व भारती के अध्यक्ष श्री सुरेन्द्रजी चोरड़िया और सांखला प्रिंटर्स के श्री दीपंचद सांखला आदि ने जिस मनोयोग से इस ग्रंथ के मुद्रण आदि का कार्य किया है, वह उनकी परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ के प्रति घनीभूत आस्था का स्वयंभू साक्ष्य है।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ की आत्मकथा **'यात्रा : एक अकिञ्चन की'** उनके अद्भुत चिन्तन, प्रायोगिक दर्शन, विलक्षण अन्वेषण और अलौकिक अध्यात्म साधना का जीवन्त चित्र है। इस आत्मकथा में सफल और समस्यामुक्त जीवन के मंत्र उपलब्ध हैं।

यह मेरा सौभाग्य है कि परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ के साहित्य-संपादन से पचीस वर्ष से जुड़ा हुआ हूं। मैंने साहित्य संपादन के कार्य से जो पाया है, उसको शब्दायित करना मेरे लिए संभव नहीं है। मेरा यही संकल्प है—आचार्यवर के समग्र साहित्य का संपादन मेरा जीवन व्रत बना रहे।

—मुनि धनंजयकुमार

१ जुलाई २०१०
गोठी भवन, सरदारशहर

प्रकाशकीय

आचार्यश्री महाप्रज्ञ अध्यात्म संस्कृति के पुरोधा थे। उनका अथ से इति तक का सम्पूर्ण जीवन धर्म, दर्शन, कला, इतिहास, साहित्य और संस्कृति से जुड़े जीवन मूल्यों के योगक्षेम में समर्पित रहा। उनका सम्मोहक व्यक्तित्व, मौलिक सर्जनाओं से जुड़ा कर्तृत्व और अनुशासनात्मक नेतृत्व स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण में जागरूक पहरुआ बनकर मानव मन को श्रद्धा प्रणत करता रहा। वे जैन वाङ्मय के व्याख्याता थे। सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक साधना के पक्षधर थे। तत्त्व मीमांसा के सूक्ष्म द्रष्टा और अनुसंधाता थे। शिक्षा, साधना, शोध, संस्कृति एवं संस्कार निर्माण की दिशा में उनका उठा हर कदम, हर संयोजना लक्ष्य प्राप्ति में मील का पत्थर बनती। ग्रन्थों से घिरे एक निर्ग्रन्थ संत थे—**आचार्यश्री महाप्रज्ञ**, जिनके लिए कहा जा सकता है कि शताब्दियों के बाद ऐसे महापुरुषों का जन्म होता है।

ऐसे दुर्लभ गुरु के जीवन की आत्मकथा को जनता के हाथों में सौंपते हुए जैन विश्व भारती प्रकाशक के रूप में अपना सौभाग्य समझती है। यह प्रकाशन कोई आगम ग्रन्थ या साहित्यिक कृति नहीं है, यह साक्षी है उस महापुरुष के जीए गए एक-एक पल की, जिसमें शैशव से लेकर सन्तता की समाधि तक का जीया गया सच स्वयं उनकी लेखनी से उतरा है। उन्होंने ज्यों की त्यों 'धर दिन्ही चदरिया' कबीर की सूक्ति को प्राणपण से स्वीकारा है।

अनगिनत प्रेरक एवं प्रभावी प्रसंगों से भरा गौरव ग्रन्थ **'यात्रा : एक अकिञ्चन की'** जीवन मूल्यों का कभी खत्म न होने वाला वैभव मानव मन को बांटता रहेगा। जैन विश्व भारती को प्रदत्त प्रकाशन के दायित्व के लिए मैं श्रद्धेय आचार्यश्री महाश्रमणजी के प्रति श्रद्धाप्रणत हूं। मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी एवं मुनिश्री धनंजयजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं, जिनकी लक्ष्यनिष्ठा, गुरुनिष्ठा और श्रमनिष्ठा से यह कार्य संपन्न हुआ। प्रकाशन में सहयोगी परिवारों के प्रति आभार ज्ञापित करता हूं। अल्प समय में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के मुद्रण में समर्पित सांखला प्रिंटर्स को भी साधुवाद देता हूं। उन सभी के प्रति आभार ज्ञापन, जिन्होंने इस ज्ञान-यज्ञ में अपना अर्घ्य चढ़ाया।

मेरा विश्वास है इस आत्मकथा का हर अक्षर हमें रोशनी का रास्ता दिखलाएगा।

—सुरेन्द्र चोरड़िया
अध्यक्ष
जैन विश्व भारती

अनुक्रम

नया आकाश : नया नक्षत्र १७-११८

मैं मुनि क्यों बना? १९

जन्मभूमि और परिवार २८

मेरी मां ३३

मेरे दीक्षा गुरु ४२

मेरे विद्या गुरु ५१

मेरा अध्ययन ५८

विकास के नए आयाम ६३

मेरी काव्य-चेतना ८४

मेरा स्वास्थ्य ९९

मेरी डायरी के कुछ पृष्ठ १०४

मेरे जीवन की सफलता के कुछ सूत्र ११०

अन्वेषण और अभिनव उन्मेष ११९-२३३

आगम सम्पादन १२१

प्रेक्षाध्यान १४१

जीवन विज्ञान २०८

अहिंसा प्रशिक्षण २१८

नयी व्यवस्था : नये दायित्व २३५-३५९

संघीय व्यवस्था का दायित्व २३७

निकाय-सचिव २४१

महाप्रज्ञ अलंकरण २४८

युवाचार्य पद पर मनोनयन २५२

अंतरंग परिषद् में प्रथम वक्तव्य २६३

युवाचार्य मनोनयन : क्रिया और प्रतिक्रिया २६९

मनोनयन का इतिहास २७८

जिज्ञासा और समाधान २८३

युवाचार्य-नियुक्ति का उत्तरकाल २८८

आचार्य पदाभिषेक : पृष्ठभूमि २९२

आचार्य पद का विसर्जन और आचार्य पद पर नियुक्ति २९५

आचार्य पदाभिषेक ३०१

विकास महोत्सव ३१४

मंत्रणा के दुर्लभ क्षण ३२१

आचार्य पदाभिषेक का उत्तरकाल ३२८

परिशिष्ट ३६१-३७५

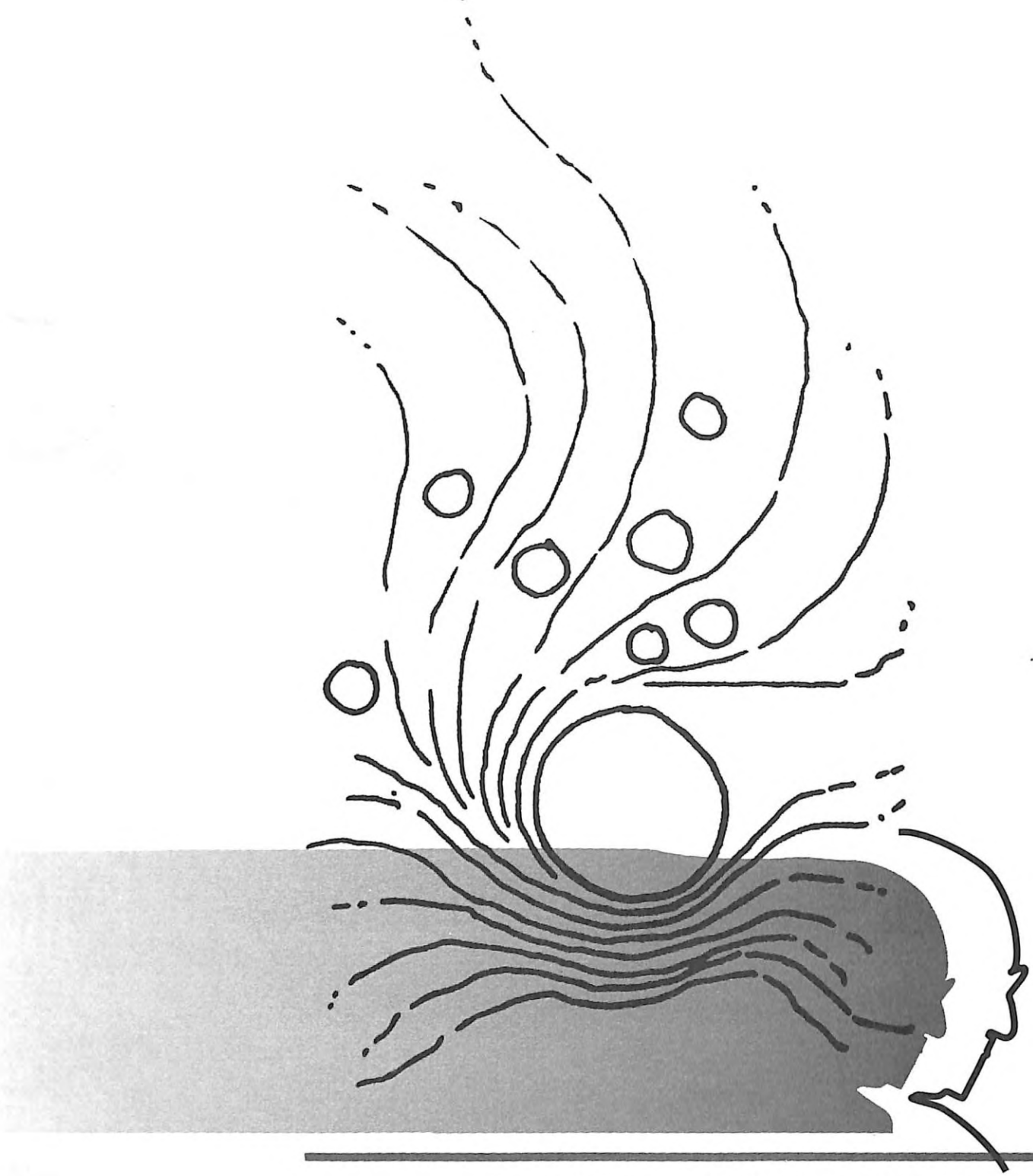

नया आकाश : नया नक्षत्र

मैं मुनि क्यों बना?

मैं मुनि क्यों बना? अनगिनत लोगों ने मुझे पूछा। मैंने कहा–इसका उत्तर मेरे पास नहीं है। इसका उत्तर नियति के पास है। उससे पूछो कि मैं मुनि क्यों बना?

मैं नियतिवादी नहीं हूं, पर उसकी सत्ता को स्वीकार करता हूं। मैं पुरुषार्थवादी हूं, पर मेरा पुरुषार्थवाद नियति को नकारने की वेदी पर अवस्थित नहीं है। मैं कह सकता हूं कि मुनि बनने के लिए मुझे कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं करना पड़ा।

मुनि दीक्षा के प्रसंग में कुछ उत्तर दिए जाते हैं। मैं उस समय इस उत्तर शृंखला को नहीं जानता था। इसलिए मैं नहीं कहता–

१. मुझे संसार असार लगा, इसलिए मैं मुनि बन गया।

२. जन्म-मरण के चक्कर से डरकर मैं मुनि बन गया।

३. नरक के भय और स्वर्ग के प्रलोभन से मैं मुनि बन गया।

मुझे इसका एक ही उत्तर देना पसंद है और वही उत्तर देता रहा हूं कि कोई अज्ञात की प्रेरणा थी, ज्ञात जगत् की घटना घटी और मैं मुनि बन गया।

हम अज्ञात को छोड़कर केवल ज्ञात को समझने का प्रयत्न करते हैं, केवल उसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहते हैं। वह सच होने पर भी अधूरा सच होता है, पूरा सच नहीं होता। मैं मुनि बनने और मुनि तुलसी की छत्रछाया में नयी जीवनयात्रा चलाने को एक अज्ञात की प्रेरणा मानता हूं। ज्ञात जगत् में इसका समाधानकारक उत्तर मुझे उपलब्ध नहीं है।

प्रेरणा

तर्कशास्त्र में दो कारण प्रमुख माने जाते हैं–१. उपादान २. निमित्त।

मुनि बनने का बीज, उपादान कारण मुझमें विद्यमान था। उसे प्रस्फुटित होने के लिए निमित्त की अपेक्षा थी। जीवन के दूसरे दशक के प्रारंभ में उसकी संपूर्ति हो गई।

मैं जीवन का एक दशक पूरा कर चुका था। दूसरे दशक में प्रवेश हो चुका था। उस समय मुनि छबीलजी का चतुर्मास टमकोर में हुआ। उनके सहवर्ती मुनि मूलचंदजी ने मुझे तत्त्वज्ञान पढ़ने के लिए प्रेरित किया। मैंने अध्ययन शुरू किया। एक दिन मुनि द्वय ने मुझे मुनि बनने की बहुत ही हलकी सी प्रेरणा दी। मेरा अंतःकरण झंकृत हो गया। जैसे कोई बीज अंकुरित होना चाहता हो और उस पर पानी की फुहारें गिर जाएं। जैसे मेरा अंतर्मन मुनि बनना चाहता हो और उनकी प्रेरणा की ही प्रतीक्षा हो। मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ।

मैंने अपनी मां बालूजी से कहा–'मैं मुनि होना चाहता हूं।'

मां ने कहा–'मैं साध्वी होना चाहती हूं पर कितना कठिन है यह मार्ग और कितनी कठिन है इसकी साधना! तूने सोचा है?'

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। अनुत्तरित को उत्तरित करना मुझे जरूरी नहीं लगा। मैंने अपनी भावना मेरे संरक्षक बालचंदजी के सामने प्रस्तुत की–मैं साधु बनना चाहता हूं।

श्री बालचंदजी–तुम कांच और कंघी हमेशा अपने पास रखते हो, फिर मुनि बनने के बाद कैसे मुंह देखोगे और कैसे केशों को संवारोगे?

मैं–पात्र में पानी रहेगा, उसमें मुंह देख लूंगा और केशों का तो लुंचन हो जाएगा।

श्री बालचंदजी–साधु को तो पैदल चलना पड़ता है, तुम कैसे चलोगे?

मैं–मैं अभी चार कोस चल सकता हूं।

श्री बालचंदजी–साधु बनने के बाद केशलुंचन कर लोगे?

मैं–मैं अभी करके दिखा सकता हूं।

श्री बालचंदजी–तुम्हें दीक्षा देने से भाई तोलारामजी का वंश कैसे चलेगा?

मैं–बाबाजी गोपीचंदजी का वंश कैसे चलेगा? महालचंदजी को कहां से लाओगे?

मेरा उत्तर सुनकर वे मौन रह गए।

हमने पूज्य कालूगणी के दर्शन करने का निश्चय किया। प्रातःकाल का समय। सूरज की अरुणिम किरणें वातावरण को अरुणिम बना रही थी। मैंने मुनि मूलचंदजी से कहा–'मैं, मेरी मां और मेरे चाचा पन्नालालजी पूज्य कालूगणी के दर्शन करने जा रहे हैं।'

मुनि मूलचंदजी–'वहां जाओ तो मुनि तुलसी के दर्शन जरूर करना। वे अवस्था में छोटे हैं पर बहुत भाग्यशाली हैं। उन पर कालूगणी की असीम कृपा है। उनका स्वर बहुत मधुर है। वे बहुत चतुर हैं। उनका वस्त्र ओढ़ने और पहनने का तरीका भी अनोखा है।'

हम अपनी योजना के अनुसार गंगाशहर पहुंचे। कालूगणी लूणकरणजी चोपड़ा की हवेली में चतुर्मास कर रहे थें। हमने वहां उनके दर्शन किए। उनके प्रदीप्त मुखमण्डल की आभा और उनकी वह मुद्रा अब भी मेरी स्मृति में अंकित है।

मेरे पास खड़े हुए थे नथमलजी बणोट। मैंने उनसे पूछा–'मुनि तुलसी कहां हैं?'

उन्होंने कहा–'वे छत पर हैं।'

मैं उनके साथ वहां गया, दर्शन किए। एकटक उनके सामने देखता रहा।

मुनि तुलसी–'कहां से आए हो?'

'टमकोर से आया हूं'–मैंने उत्तर दिया।

मौखिक प्रश्न और उत्तर बहुत नहीं चला, परन्तु मूक प्रश्नोत्तर बहुत चला और वह गहरे में उतर गया।

आचार्य तुलसी ने अपनी डायरी में इस घटना का उल्लेख किया है। मैं इसे पुनरुक्ति के लिए उद्धृत नहीं कर रहा हूं। किन्तु अपने गुरु के वर्ण-मंत्र से अपनी वार्ता को अभिमंत्रित करने के लिए उसे उद्धृत कर रहा हूं–

'वि. सं. १९८७ में गुरुदेव का चातुर्मास्य गंगाशहर था। उनका प्रवास भैरूंदानजी चोपड़ा के पुत्र लूणकरणजी चोपड़ा की हवेली में था। उस हवेली की छत पर एक कमरा था। कमरे के पास ऊपर जाने की सीढियां थीं। मैं उन सीढ़ियों में बैठा था। वहां बालक नथमल आया और बोला–'तुलसीरामजी स्वामी कौन हैं?'

मैंने पूछा–'क्यों भाई! उनसे तुम्हें क्या काम है?'

वह बोला–'मैं अपनी मां के साथ टमकोर से आया हूं। हम दोनों वैरागी हैं। मुनि मूलचंदजी ने मुझे उनके दर्शन करने के लिए कहा था।'

मेरा परिचय पाकर बालक को मंजिल मिल गई। प्रथम बार हुए साक्षात्कार में मुझे लगा कि बालक भोलाभाला सा दीखता है पर है होनहार।'[1]

मुनि दीक्षा की पूर्व स्वीकृति

तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षा देने का अधिकार एकमात्र आचार्य को है। पूज्य कालूगणी धर्मसंघ के आठवें आचार्य थे। हमने दीक्षा के लिए प्रार्थना की और उसकी पूर्व स्वीकृति (प्रतिक्रमण कंठस्थ करने का आदेश) मिल गई। उस दिन हम वहां रुके और फिर गांव चले आए।

गांव के सब लोग आश्चर्य में थे कि दीक्षा की स्वीकृति इतनी जल्दी कैसे मिल गई! मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। मुझे इस बात का संतोष हुआ कि पूज्य कालूगणी नियति को पढ़ने वाले हैं। नियति की भविष्यवाणी का उन्हें पता नहीं था फिर भी उन्होंने उस सचाई को पकड़ लिया। उस समय मैं जीवन का अर्थ नहीं समझता था, उसकी परिभाषा भी नहीं जानता था। जीवन का उद्देश्य क्या है? इस बारे में भी कोई चिन्तन नहीं था। ज्ञात के पीछे अज्ञात का हाथ रहता है। वह समझा देता है जीवन का अर्थ, उसकी परिभाषा और उसका उद्देश्य। उसी की एक सूचक घटना सामने आई।

भावी के संकेत

एक दिन मैं अपने साथी बच्चों के साथ घर के अहाते में खेल रहा था। उस समय एक व्यक्ति आया। उसने एक बच्चे के सिर पर हाथ रखा और बोला–यह सात दिन के बाद इस दुनिया से विदा हो जाएगा। बात कटु थी फिर भी उसने कह दी।

वह मेरी ओर मुड़ा, मेरे सिर पर हाथ रखकर बोला–'यह बच्चा योगीराज बनेगा।'

उसकी बातें सुनकर बच्चे घबरा गए। योगी का अर्थ नहीं जानते थे पर मौत का अर्थ जानते थे। बच्चों की बात बड़ों तक पहुंची, पर एक अनजाने भिक्षु की बात थी, इसलिए किसी ने उस पर विशेष ध्यान नहीं

१. मेरा जीवन : मेरा दर्शन भाग-१, पृ. १४९

दिया। सप्ताह बीता और मेरा साथी अचानक इस संसार से चल बसा। तब लोगों का ध्यान उस भिक्षु की भविष्यवाणी की ओर गया। उसे खोजा, पर वह कहीं दूसरी जगह जा चुका था। उसका कोई पता नहीं चला।

मैं जब आठ वर्ष का था, उस समय भी इसी प्रकार की एक घटना और घटित हुई।

मैं अपने घर के अहाते में साथियों के साथ खेल रहा था। उसी समय एक 'तेलिया' आया। मां बालूजी कुछ बहिनों के साथ बातचीत कर रही थीं। तेलिये ने राजस्थानी भाषा में कहा—'मांजी! तेल घाल द्यो।' बालूजी ने एक बहिन को तेल लाने का निर्देश दिया। वह रसोईघर में गई। इस बीच वह बोला—'मां! तू बड़ी भागवान है। बाखळ (घर के अहाते) में जिको थांरो बालक खेल रह्यो है, बो बड़ो पुनवान है।'

बालूजी ने कहा—'यदि मैं भागवान हुती तो म्हारा 'घरवाळा' क्यूं जाता?'

तेलिये ने कहा—'थांरो लड़को, जिको बाखळ में खेलै है, बो एक दिन राजा बणसी।' बालूजी का चेहरा खिल उठा।

आस-पास बैठी महिलाओं को उसकी बातों में रस आने लगा। उन्होंने उससे पूछा—'अच्छा! और कांई बतावै है?'

तेलिये ने एक बहिन की ओर इशारा करते हुए कहा—'आ बहिन गर्भवती है। आज स्यूं आठवें दिन इरै बेटो हुसी।' वह बहिन श्री हरखचंदजी चोरड़िया की धर्मपत्नी थी।

तेलिये ने बालूजी की ओर मुड़कर कहा—'मांजी! थांरी बड़ी बेटी थांरी सेवा करसी।'

बालूजी ने कहा—'बा तो पराये घर जासी, आपरै सासरै जासी, म्हांरी सेवा कियां करसी?'

चौथी बार तेलिये ने एक दुःखद बात कह डाली—'सातवें दिन थांरै एक पड़ोसी रे लड़के री मौत होसी।' बहिनों को यह बात बहुत अप्रिय लगी। उन्हें लगा कि यह आदमी ठीक नहीं है। यहां से जितना जल्दी चला जाए, अच्छा है। तेलिये ने स्थिति को समझा, अपने पात्र में तेल का दान लेकर वहां से प्रस्थित हो गया।

सातवां दिन आया। पड़ोस में रहने वाले अग्रवाल परिवार का आठवर्षीय लड़का काल-कवलित हो गया। इस दुःखद घटना के घटते ही उस तेलिये को ढूंढ़ा गया, लेकिन उसका कहीं अता-पता नहीं मिला। उसके दूसरे दिन श्री हरखचंदजी की धर्मपत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। तेलिये द्वारा की गई दो भविष्यवाणियां सच हो गईं।

मालीबाई का विवाह हो चुका था। मां बालूजी दीक्षित हो गई। अकस्मात् एक दुर्घटना घटी—माली बाई के पति का देहान्त हो गया। माली बाई का मन संसार से उद्विग्न हो उठा। संयम के पथ पर चलने का निश्चय प्रबल बन गया। वि. सं. १९९८ में मालीबाई साध्वी मालूजी बन गई। मां-बेटी के अलग हुए रास्ते पुनः एक हो गए। पूज्य गुरुदेव ने साध्वी बालूजी की सेवा में साध्वी मालूजी को नियोजित किया। साध्वी मालूजी ने अंतिम समय तक संसारपक्षीया मां साध्वी बालूजी की सेवा की।

मैं १८ फरवरी, १९९४ को आचार्य बना, चौथी भविष्यवाणी भी कृतार्थ हो गई।

'फलति कपालो न भूपालः' यह पुराना संस्कृत सूक्त है। कपाल फलित होता है—इसका तात्पर्य मैं नहीं जानता था। मेरा कपाल फलित हुआ—यह मैं जानता हूं।

मेरी बहिन के विवाह का प्रसंग था। घर में काफी लोग आए थे। परिवार के सभी लोग कार्य में व्यस्त थे। घर में हलचल का वातावरण था। मेरे मन में एक विकल्प उठा। चंचलता ने उद्दीपन दिया और मैं आंख पर पट्टी बांध कर चलने लगा।

घर के बाहर का आंगन (बाखळ)। उसकी लंबाई में चलने लगा। चलते-चलते बाहरी दरवाजे से पहले जो दीवार थी, उससे सिर टकरा गया। खून आने लगा। मैं जोर-जोर से चिल्लाया पर सब लोग विवाह की तैयारी में व्यस्त थे। किसी ने मेरी ओर ध्यान नहीं दिया। आखिर मैं रोता-रोता अपनी मां के पास गया। मां ने पट्टी खोली। कपड़े से लहू को साफ किया। सिर को सहलाया। पुचकारा और उलाहना मिश्रित प्रेम की भाषा में कहा—'चलो, कोई बात नहीं। थोड़ा कष्ट हुआ, पर भाग्य खुल गया।' वह सौभाग्य का चिह्न आज भी मेरे ललाट पर अंकित है। चोट ललाट के मध्य भाग में लगी, ठीक उसी स्थान पर जो ज्योतिकेन्द्र (पीनियल ग्लैण्ड) का स्थान है। कभी-कभी बाहर का आघात भी भीतर की चेतना को जगाने का निमित्त बन जाता है। चेतना बाहर में नहीं जागी हो, पर भीतर में उसका प्रस्फुटन शुरू हो गया।

रुचि सत्यान्वेषण की ओर

व्यक्ति का भविष्य वर्तमान में बोलता है। यदि उसे हम सुन सकें तो भविष्य का रेखाचित्र बना सकते हैं। हम कुछ शिशु साथी मिल जाते। मिलकर बालोचित क्रीड़ा में लग जाते। क्रीड़ा का एक अंग था—दियासलाई की दो पेटियों को एक लंबे धागे से बांध देते, फिर कुछ दूरी पर खड़े होकर एक-दूसरे की बात को सुनने का प्रयत्न करते। कभी-कभी दहलीज पर लोह की शलाका चलाते और उससे उत्पन्न होने वाली ध्वनि को सुनने का प्रयत्न करते।

छत पर वर्षा का पानी इकट्ठा होता, पानी के बुलबुले बनते। हम इस खोज में लग जाते कि बुलबुला कौन बना रहा है?

हर बालक के मन में जिज्ञासा और कुतूहल का भाव होता है। मेरे मन में भी वही भाव काम कर रहा था। मैं नहीं जानता था कि कभी मुझे सत्य की शोध की गहराई में उतरने का मौका मिलेगा। वर्तमान में अनेक रहस्यों को खोजने का अवसर मिला, फिर भी उस बाल अवस्था में सत्य की एक रश्मि का जो आलोक मैंने देखा, वह आज भी मन को आह्लाद देता है।

आजकल छोटे बच्चों को स्कूल भेजा जाता है। वास्तव में हमारा मस्तिष्क आठ वर्ष की अवस्था के बाद पढ़ाई के योग्य बनता है। आगम साहित्य से इस धारणा का समर्थन होता है। संभव है मेरा मस्तिष्क १० वर्ष के बाद परिपक्व हुआ हो। मेरा अध्ययन व मेरी पढ़ाई उसी अवस्था से प्रारंभ होती है।

एक पहेली

'मेमनसिंह' (वर्तमान में बंगला देश) में मेरी चचेरी बहिन का विवाह था। उस समय उस उद्देश्य से मां और चाचा के साथ मैं वहां गया। बीच में हम कोलकाता पहुंचे। वहां हम सभी बुआ के पास ठहरे।

भोजन के पश्चात् मेरे चाचा और उनकी दुकान के कर्मचारी कोलकाता के बाजार में सामान खरीदने गए। मैं भी उनके साथ चला गया। वे दुकानों में सामान खरीदते रहे और मैं इधर-उधर देखता रहा। रास्ते में चलते-चलते मैं कहीं रुक गया और वे आगे बढ़ गए। न उनको ध्यान रहा और न मुझे ध्यान रहा। मैं अकेला रह गया। मुझे नहीं पता कि मुझे कहां जाना है? न कोठी का पता और न उसके नम्बर का पता। पर पता नहीं मेरी अंतश्चेतना को इन सबका कैसे पता चला? मुझे जब यह लगा कि मैं अकेला रह गया हूं तब मैंने सबसे पहले एक काम किया—मैंने अपने हाथ की घड़ी खोली, गले में से स्वर्णसूत्र को निकाला और दोनों को जेब में रख लिया। मै पीछे मुड़ा और अज्ञात की ओर चल पड़ा। मुझे नहीं पता था—कहां जाना है, कहां जा रहा हूं। पर अंतश्चेतना को कोई पता था। मैं ठीक स्थान पर पहुंच गया।

कुछ समय बाद मेरे चाचा को पता चला कि मैं उनसे बिछुड़ गया हूं। तब उन्होंने मुझे ढूंढ़ने के लिए दौड़-धूप की। पुलिस-स्टेशन पर आए। मेरे गुम होने की रिपोर्ट लिखाई और वे मुझे खोजते-खोजते घर गए। नीचे से ही उन्होंने चिल्लाना शुरू कर दिया—'नत्थू हमसे बिछुड़ गया। उसका कोई पता नहीं चला।' उनकी आंखें डबडबाई हुई थी। वे बहुत परेशान दिखाई दे रहे थे। उनकी बहिन ने उन्हें कुछ क्षणों तक कोई बात नहीं बताई। फिर अचानक मुझे भीतर से बाहर लाकर उनके सामने खड़ा कर दिया। उनकी सारी परेशानी दूर हो गई। उन्होंने पूछा—'तू यहां कैसे पहुंचा?' मेरे पास इसका कोई उत्तर नहीं था। जीवन में सब कुछ उत्तरित नहीं होता। कितना अच्छा होता कि मनुष्य अनुत्तरित का उत्तर दे पाता।

घर की व्यवस्था

मेरी बड़ी बहिन (मालूजी) का विवाह चूरू के बैद परिवार में हुआ था। उनका परिवार रंगून (बर्मा) में रहता था। वहां से उन्हें लाने के लिए मुनीम सुरजोजी ब्राह्मण को भेजा। ससुराल वालों ने भेजने से इन्कार कर दिया, कहा—हम मुनीम के साथ नहीं भेजेंगे। मुनीम खाली हाथ लौट आया। दूसरी बार मुनीमजी और मेरे मामा टीकमचंदजी दोनों गए, तब उन्हें भेजा। मालूजी बचपन में मेरे पालन-पोषण का बहुत ही ध्यान रखती थी। अब फिर उन्होंने अपना काम संभाल लिया। ये बहुत सौम्य प्रकृति वाली थी। बहुत कम बोलती। मैंने उन्हें शांतमुद्रा में ही देखा। मेरी छोटी बहिन पारीबाई बहुत तेज थी। घर में गाय रहती। पारी बाई दूध दुहती। मैं कटोरा लेकर उसके पास बैठ जाता। दूध दोहन से जो झाग आते, उनसे मेरा कटोरा भर देती। मैं वहीं पी लेता। माता, बहिन और परिवार का अत्यधिक प्यार मुझे मिला। छोटे गांवों में जितना पारस्परिक संबंध होता है उतना बड़े शहरों में दुर्लभ है, शायद उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

पिताश्री विद्यमान नहीं थे। फिर भी पारिवारिकजनों का इतना स्नेह-वात्सल्य था कि किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं हो रहा था। माताश्री को घर का काम चलाने में अवश्य कठिनाई रही होगी। दीक्षा लेने का विचार हुआ। फुलवाड़िया की दुकान बंद कर दी। पास में जो भूमि, भवन और संपत्ति थी, उसका बंटवारा कर दिया। कुछ संपत्ति परिवारवालों को और कुछ छोटी बहिन 'पारी बाई' को दे दी। बड़ी बहिन स्वयं हमारे साथ दीक्षा लेना चाहती थी पर ससुरालवालों ने दीक्षा के लिए स्वीकृति नहीं दी। तेरापंथ धर्मसंघ का यह अनुशासन है कि निकट संबंधियों की स्वीकृति के बिना दीक्षा नहीं दी जा सकती। बड़ी बहिन अकेली किसके पास रहे, एक समस्या थी। उस समस्या का समाधान दो चरणों में हुआ। हमारी दीक्षा के पांच वर्ष बाद तक वे अपनी बुआ जड़ावबाई मणोत के पास रही। उनके स्वर्गवास के बाद

रायचंदजी सुराणा (चूरू) की पत्नी के पास रही। उन्होंने मालूजी को बड़े सौहार्दपूर्ण ढंग से रखा। पूरे परिवार ने उनके साथ सम्मानपूर्ण आत्मीय व्यवहार किया।

दीक्षा की स्वीकृति

घर की पूरी व्यवस्था करने के बाद हम कालूगणी के दर्शन करने गए। उस समय कालूगणी श्रीडूंगरगढ़ और सरदारशहर के बीच भादासर गांव में विराज रहे थे। सांझ का समय। एक तिबारी, उसके मध्यवर्ती द्वार में पूज्य कालूगणी विराज रहे थे। उसके बाहर गणेशदासजी गधैया बैठे थे। मैं आगे आया और गुरुदेव से प्रार्थना की। मुझे दीक्षा का आदेश दें। गुरुदेव बोले–दीक्षा कौन लेगा?

मैंने कहा–'मैं और मेरी मां।'

गुरुदेव–'पहले तुम ले लो। तुम्हारी मां के लिए फिर सोचेंगे।'

मैं–'दोनों साथ ही लेंगे। मां को छोड़कर दीक्षा नहीं लूंगा।'

गुरुदेव ने एक दो बार वही बात दोहराई पर मैं अपनी बात पर दृढ़ रहा।

गुरुदेव–'तो साथ में लेना है?'

मैंने कहा–'हां।'

गुरुदेव–'ठीक है। माघ शुक्ला दशमी के दिन तुम्हारी दीक्षा हो जाएगी।'

उत्सव वैराग्य का

कुछ दिन गुरुदेव की सेवा में रहकर हम लोग टमकोर आ गए। मेरे साथ कुछ मेरे साथी भी दीक्षा के लिए तैयार हुए थे, पर साथ कोई नहीं दे सका। खेलकूद, बातचीत, खाना-पीना–इन सबमें हम पांच सात मित्र साथ ही रहते थे, पर त्याग के मार्ग पर कोई साथ नहीं चला। बहुत सरल है सुविधा में साथ देना। बहुत कठिन है त्याग में साथ देना।

मैं वैरागी बन गया। गांव के लोगों ने उत्सव मनाना शुरू किया। पूरे गांव के साथ निकट का संबंध था। अग्रवाल, ब्राह्मण, राजपूत, जाट, नाई, कुम्हार आदि सभी जातियों के साथ अपनत्व था। पूरे गांव में एक नया वातावरण बन गया। 'नत्थू' गांव छोड़कर जा रहा है। सर्वत्र यही चर्चा।

दीक्षा के लिए प्रस्थान

सबकी शुभाशीष लेकर हमने सरदारशहर की ओर प्रस्थान किया। टमकोर में रेलवे स्टेशन नहीं था इसलिए हम लोग ऊंट पर चढ़कर 'हड़ियाल' गए। सैकड़ों लोग साथ हो गए। ऊंटों का काफिला हो गया। रास्ते में लोग मिले। उन्होंने पूछा–क्या टमकोर खाली हो रहा है? उन्हें दीक्षा के बारे में जानकारी दी गई।

सरदारशहर पहुंचकर हमने गुरुदेव की उपासना की। वहां महफिल में ठहरे। दीक्षा की तैयारियां शुरू हो गईं। गणेशदासजी गधैया ने गहने पहना कर मुझे अलंकृत किया। उनके साथ सागरमलजी बरड़िया, बभूतमल दूगड़ काम कर रहे थे। बरनोला निकालने का प्रसंग आया, तब गधैयाजी ने कहा–वैरागी छोटा

है, घोड़ा ऊंचा है। यह कैसा लगेगा? चिंतन करते-करते हल निकल आया—सेठ सुमेरमलजी के यहां एक विशेष जाति की छोटी घोड़ी है। उस पर वैरागी को बिठा देंगे।

मेरे साथ दो वैरागी, छह वैरागिन थे। भीखमचंदजी चोरड़िया ने आग्रह किया—यह वैरागी चोरड़िया परिवार का है। इसलिए एक बरनोला हमारे घर से होगा। दीक्षा के आसपास का समय बड़ा विचित्र होता है। हर व्यक्ति वैरागी को अपने घर ले जाना चाहता है और हर व्यक्ति उसको कुछ न कुछ खिलाना चाहता है। पता नहीं वह कैसा समय है कि दीक्षार्थी सबके लिए आकर्षण का विषय बन जाता है।

मैं द्विज बन गया

माघ शुक्ला दशमी की पावन वेला। भंसालीजी का बाग। पूज्य कालूगणी साधु-साध्वियों से परिवृत होकर वहां पधारे। हम सब दीक्षार्थी अपने-अपने पारिवारिकजनों से घिरे हुए वहां पहुंचे। गुरुदेव को वंदना की। वेश परिवर्तन किया। तेरापंथ में दीक्षा पारिवारिकजनों की स्वीकृतिपूर्वक होती है। परिषद् के बीच लिखित आज्ञा-पत्र या स्वीकृति पत्र पढ़ा गया। पूज्य कालूगणी ने हम सबको दीक्षा की कठिन साधना के प्रति आगाह किया। हमने अपना संकल्प व्यक्त किया। पारिवारिकजनों की मौखिक स्वीकृति भी ली गई। सारी औपचारिकता सम्पन्न हुई।

हम सब गुरुदेव के सामने खड़े हो गए। बद्धांजलि और विनय से झुका हुआ अग्र मस्तिष्क। वह क्षण आंतरिक उल्लास से भरा हुआ था। उस क्षण की जीवन के सामान्य क्षणों से तुलना नहीं की जा सकती। आगम का सिद्धांत है—दीक्षा का क्षण अप्रमत्त अवस्था का क्षण होता है। वह क्षण अपूर्व आनंद और त्याग के प्रति पूर्ण समर्पण का क्षण होता है। उस समय बाहर की चेतना अन्तर् की चेतना में विलीन हो जाती है।

एक नया जन्म। सामाजिक जीवन से संबंधविच्छेद। ब्राह्मण यज्ञोपवीत के साथ द्विज बनता है। जैन मुनि दीक्षा के साथ द्विज बनता है। पूज्य कालूगणी ने मंत्रोच्चार के साथ दीक्षा के विधि विधान सम्पन्न किए। हम सबका पुनर्जन्म हो गया।

उस पावन दिन की स्मृति मेरी अमूल्य धरोहर है और वह दिन मेरे लिए अविस्मरणीय है। मैंने उसकी स्मृति में अष्टक लिखा, उसका एक श्लोक प्रस्तुत है—

तद् ध्यायामि दिनं स्वजीवनधनं धन्यं महोमंगलं,
श्रीकालोः करुणानिधेरमलयोः पादाब्जयोः सन्निधौ।
सद्भक्त्यानतकन्धरोऽञ्जलिवरः प्रोत्साहदीक्षापटु-
र्दीक्षां स्वीकृतवान् विरक्तहृदयो मात्रा समं पर्षदि।।

मुझे उस जीवन-धन, धन्य, उत्सवमय और कल्याणकारी दिन की स्मृति हो रही है, जिस दिन मैं करुणा के सागर श्रीमत् कालूगणी के पवित्र चरण-कमलों में आया। उस समय मेरे चित्त में दीक्षा लेने का परम उत्साह था। विरक्त हृदय वाले मैंने अपनी मां (बालूजी) के साथ भरी परिषद् में दीक्षा स्वीकार की। उस समय मैं आचार्यदेव के समक्ष सिर झुकाए, हाथ जोड़े खड़ा था।

मुनि दीक्षा एक सौभाग्य है। उसके भविष्य का निर्माण अनेक घटक तत्त्वों पर निर्भर है। उस सौभाग्य का प्रथम स्वस्तिक है स्वाध्याय और दूसरा स्वस्तिक है ध्यान। जिसे योग्य गुरु का सान्निध्य मिलता है उसके भाल पर प्रथम स्वस्तिक अंकित हो जाता है। मुझे उसका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

सिद्ध हो गई समापत्ति

बाग से प्रस्थान कर हम गधैयाजी के नोहरे में आए। वहां पहुंचते ही कालूगणी ने मुझे निर्देश दिया—'तुम तुलसी के पास जाओ। वहीं तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा होगी।' गंगाशहर में अज्ञात की उर्वरा में एक बीज-वपन हुआ था, उसे अब अंकुरित होने का अवसर उपलब्ध हो गया।

मुनि दीक्षा स्वीकारने के पश्चात् क्या करना चाहिए—इसकी दिशा मेरे सामने स्पष्ट नहीं थी। अज्ञात जब सक्रिय होता है तब ज्ञात की दिशा स्पष्ट नहीं होती। शायद ऐसा भी होता होगा कि ज्ञात की दिशा स्पष्ट होने पर अज्ञात की सक्रियता कम हो जाती है।

दीक्षा का दूसरा दिन। संघीय परम्परा के अनुसार सूर्योदय के पश्चात् साध्वियां पूज्य कालूगणी के दर्शन करने आई। मैं पूज्य कालूगणी की उपासना में बैठा था। उठा और मेरी मां साध्वी बालूजी के पास गया, बाल सुलभ स्वर में मैंने कहा—'मां! मेरा तो साधुपन में मन लग गया, तुम्हारा भी लग गया?' साध्वीप्रमुखा कानकुमारीजी बोली—'नान्हा साधुजी! आपका लग गया तो इनका भी लग गया।' संयम यात्रा आगे बढ़ने लगी। हम सबके साथ घुलमिल गए। मेरा पूज्य कालूगणी और मुनि तुलसी के साथ तादात्म्य जुड़ गया। महर्षि पतंजलि की भाषा में समापत्ति सिद्ध हो गई।

जन्मभूमि और परिवार

आज मैं नब्बे वर्ष में हूं। कभी एक क्षण का था। क्षणों ने मिल घड़ी का बनाया, घड़ियों ने पहर का, पहरों ने दिन का, दिनों ने महीनों का, महीनों ने वर्ष का। एक पर एक वर्ष आते गए। जीवन का नौवां दशक संपन्नता की ओर है। समय की सूई सदा घूमती है, वह कभी नहीं रुकती।

मनुष्य अज्ञात प्रदेश से आता है और अज्ञात प्रदेश में चला जाता है। मध्य का विराम ज्ञात होता है। उसमें कितने ही अज्ञात संबंध जुड़ जाते हैं।

जन्म के समय मनुष्य क्या जानता है, यह हम लोग, जो बड़े हो गए हैं, नहीं जान पाते। जन्म क्यों होता है? यह प्रश्न उस समय नहीं होता। यह प्रश्न तब उठता है, जब जीवन की दूसरी मंजिल की ओर हमारे चरण बढ़ चलते हैं। वह दूसरी मंजिल है—मृत्यु। मृत्यु की मीमांसा भी मृत्यु के परिपार्श्व में उग्र बन जाती है। ये दोनों अज्ञातवास की धाराएं हैं। इनका रहस्योद्घाटन तर्क की पृष्ठभूमि पर नहीं होता। मनुष्य ज्ञात के किंवाड़ों को भी पूरा नहीं खोल पाता। शब्दों को चुनने वाला माली कोई विरला ही होता है। भावों की ऊर्मियां प्रायः सागर के भीतर ही विलीन हो जाती हैं।

जन्म स्थल

एक छोटा गांव। नाम टमकोर। पूरा ग्रामीण वातावरण। न सड़क, न रेल। न कार, न बस और न ट्रक। किसी ने पेट्रोल नहीं देखा और पेट्रोल से चलने वाले वाहनों का धुआं किसी की आंख में नहीं समाया। यात्रा के लिए दो ही साधन थे—बैलगाड़ी और ऊंट।

कुएं थे पर पानी खारा। पीने का पानी दुर्लभ। पानी की समस्या। एक गांव में ही नहीं, राजस्थान के हजारों-हजारों गांव ऐसे हैं जहां पीने का पानी बाहर से लाया जाता है और कुछ गांव ऐसे हैं जहां के निवासी वर्षा के जल को कुण्ड में इकट्ठा कर लेते हैं। वहां कोई विद्यालय नहीं था। उस गांव में मेरा जन्म हुआ।

अजन्मा का जन्म

आत्मा अजन्मा है। वह विदेह नहीं है इसलिए देह की पुनरावृत्ति होती रहती है। उस पुनरावृत्ति के चक्र में मेरा जन्म हुआ। मैं भीतर से बाहर की दुनिया में आया। खुला आकाश खुला वातावरण। मेरा जन्म किसी भवन के प्रकोष्ठ में नहीं हुआ। घर के पीछे छोटा सा अवकाश है। वहां मेरी मां प्रस्रवण के लिए गई। वहीं मेरा जन्म हो गया। आकाशीय ग्रहों से मेरा सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया। इस प्रसंग ने स्थापित कर दिया कि मुझे मुक्त वातावरण में रहना पसंद है। आज भी खुले आकाश को देखना अच्छा लगता है। आकाश दर्शन का एक प्रयोग भी प्रेक्षाध्यान में चल रहा है।

मेरा जन्म एक असाधारण घटना बन गया। मैं जन्मा तब मेरे दो बहिनें थी। भाई नहीं थे। दो भाई हुए थे पर वे जीवित नहीं रहे।

नामकरण

मेरी सुरक्षा के लिए कुछ विशेष विधियां अपनाई गई। जिसका पुत्र बचपन में ही चला जाता है उसके लिए वे विधियां अपनाई जाती हैं। मेरा जन्म होते ही मेरी बुआ ने छत पर चढ़कर जोर से शोर मचाया– चोर आ गया, चोर आ गया। चोरड़िया परिवार के लोगों ने सुना और लाठियां लेकर एकत्रित हो गए। घर में आने पर उन्हें वास्तविकता की जानकारी हुई। नाक बींधकर उसमें नत्थ पहनाई गई और उसी आधार पर मेरा नाम नथमल रखा गया।

नमक से तोलना, डाकोत को देना–इन विधियों का भी प्रयोग किया गया। भारतीय जीवन पद्धति में पुत्र की सुरक्षा के लिए क्या नहीं किया जाता? 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' इस सूक्त में पुत्रैषणा और पुत्ररक्षा के प्रयत्नों की प्रतिध्वनि है।

पिता की स्मृति

मैं ढाई मास का हुआ तब मेरे पिताश्री तोलारामजी का स्वर्गवास हो गया। मुझे स्मृति है मैंने अपने पिता को देखा है और मुझे स्मृति है मैंने उन्हें मृत्यु शय्या पर लेटे हुए देखा। ढाई मास के शिशु को क्या स्मृति का अधिकार है? अधिकार की व्याख्या मैं नहीं कर सकता। अपनी स्मृति का अविश्वास भी कैसे कर सकता हूं? गर्भस्थ शिशु के बारे में भी अनेक रहस्यपूर्ण बातें आगम साहित्य में मिलती हैं। आज का विज्ञान भी इस विषय पर नया प्रकाश डाल रहा है। जीवन के हर नियम को समझना अब तक भी हमारे लिए संभव नहीं बना है। हम जितना जानते हैं वह हमारी ज्ञान की सीमा नहीं है। ज्ञात सत्य से अज्ञात सत्य बहुत ज्यादा है।

मेरा ज्ञात जगत् से संबंध बढ़ने से पहले ही टूट गया। मेरी माता के लिए अब एकमात्र आलंबन मैं ही था। एक ढाई मास का बच्चा क्या कर सकता है और क्या सहारा दे सकता है? किन्तु आलंबन कुछ कर सकने और देने में नहीं होता। वह होता है प्यार में, सुनहले सपनों में। वैसी माताएं अपवाद रूप ही होंगी जिनका अपनी सन्तान से प्यार न हो और अपनी सन्तान के भविष्य के लिए आशाओं का ताना-बाना न बुनती हो। समय की दूरी को काटने की कोई कैंची है तो वह है आशा। आशा ही आशा में मैं शिशु से किशोर हो गया।

परिवार

मेरे पिता चार भाई थे। तीन भाई विद्यमान थे। उनका हमें पूरा-पूरा सहयोग था। चोरड़िया परिवार के अन्य अनेक मुख्य लोगों का भी सहयोग था पर मेरा और मेरी दोनों बहिनों के लालन-पालन का पूरा दायित्व मेरी मां पर ही था।

वि. सं. १९७७ का समय। सब चीजें सस्ती थीं। कुछ पास में था और दुकान भी चलती थी। भरण-पोषण में कोई आर्थिक संकट नहीं आया पर भारतीय पद्धति से परिवार में पुरुष का न होना अपने आपमें सबसे बड़ा संकट है। उसका अनुभव अपनी संतान को नहीं होने देना यही है मातृत्व।

मेरे दादा का नाम था बींजराजजी। वे बहुत सरल और भद्र प्रकृति के व्यक्ति थे। वे ऊंटों को लेकर भिवानी (हरियाणा) जाते। वहां से सामान खरीद कर लाते और टमकोर में व्यवसाय करते। उन्होंने एक बार

कहा था मेरे घर में कोई भाग्यशाली व्यक्ति पैदा होगा। मैंने उन्हें नहीं देखा। उनके चारों पुत्रों को देखा। सबसे बड़े पुत्र का नाम था गोपीचंदजी। वे भद्र प्रकृति के व्यक्ति थे।

दूसरे पुत्र का नाम था तोलारामजी। वे मेरे आने के बाद शीघ्र दिवंगत हो गए। उनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे हमारे गांव के एक सुन्दरतम व्यक्ति थे। व्यापार में भी कुशल थे।

उन्होंने एक दिन मेरी संसारपक्षीया मां बालूजी से कहा–'तुम एक पुत्र को जन्म दोगी, पर मैं नहीं रहूंगा।' बालूजी तत्काल बोल उठी–'ऐसा बेटा मुझे नहीं चाहिए, जिसके आने पर आप न रहें।'

तीसरे पुत्र का नाम था बालचंदजी। पिताश्री के स्वर्गवास के बाद वे हमारे संरक्षक बने। चौथे पुत्र का नाम था पन्नालालजी। उनका व्यवहार बहुत ही मृदु और करुणापूर्ण था।

गोपीचंदजी के पुत्र महालचंदजी थे। उनके प्रति मेरा बहुत लगाव था। मेरा दिन का काफी भाग उनके साथ बीतता। एक बार वे बंगाल में अपनी दुकान संभालने गए। वापस आए तब मेरे लिए एक घड़ी व टॉर्च लाए। घड़ी मुझे दी। मैंने अनुभव किया जैसे कालबोध मेरे हाथ में आ गया।

उस समय गांव के बच्चों के लिए हाथ घड़ी एक बहुत बड़ा उपहार था। टॉर्च को पाकर मैंने अनुभव किया–प्रकाश मेरी मुट्ठी में आ गया। जब चाहता तब मेरे साथियों के मुंह पर टॉर्च का प्रकाश फेंककर उन्हें विस्मित कर देता। गांव के लोग लालटेन और मशाल से परिचित थे, टॉर्च से परिचित नहीं थे। बिजली का तो नाम ही नहीं था। हम कुछ साथी रात को गलियों में खेलते। पूरा अंधकार छा जाता। मुझे अंधेरे में डर लगता था। मेरे बाल साथी मुझे घर पर छोड़ने के लिए मेरे साथ आते। कभी-कभी घर के दरवाजे तक छोड़कर चले जाते तो घर के आंगन को पार कर भीतर जाना कठिन होता। पता नहीं क्यों? भय का संस्कार मुझमें प्रबल था।

महालचंदजी का युवावस्था में ही स्वर्गवास हो गया। पिता दुःखी, माता दुःखी। सारा परिवार दुःखी। मुझसे वे बहुत स्नेह रखते थे। मुझे भी बड़ा दुःख हुआ। अंतर्मन में एक चोट लगी। जीवन के प्रति किसी अज्ञात कोने में एक अनास्था का भाव पैदा हो गया।

मेरी दोनों बहिनें १. माली बाई २. पारी बाई—अपने-अपने ससुराल में थीं। घर में मेरी मां और मैं दो ही थे। रात्रि में सोने के लिए वेतनभोगी महिला आती थी। एक ओर मां, दूसरी ओर वह महिला और बीच में मैं सोता था। यह भय वर्तमान जन्म से उपजा हुआ नहीं था। प्रतीत होता है मैं अतीत के जन्म से ही यह संस्कार लेकर आया था।

अध्ययन

मैंने स्कूल का दरवाजा भी नहीं देखा। उस समय छोटे गांवों में प्रायः विद्यालय नहीं होते थे। बच्चों की रुचि खेलकूद में ज्यादा होती है। पढ़ने के प्रति आकर्षण नहीं होता। गुरुजी विष्णुदत्तजी एक पाठशाला चलाते। उनकी पाठशाला में व्यापारी समाज के बच्चों को आजीविका के उपयोगी वर्णमाला, पहाड़े और महाजनी का गणित सिखाया जाता था।

मेरे ननिहाल वाले खिंयासर को छोड़ सरदारशहर में बस गए। एक बार हम लगभग छह मास तक वहां रहे। वहां नेमनाथ सिद्ध पाठशाला चलाते थे। उनकी धार्मिक आस्था का केन्द्र 'तेरापंथ' था। वे शास्त्रों

के अच्छे ज्ञाता थे। शास्त्रीय चर्चाओं में उनका अच्छा उपयोग होता था। आचार्य तुलसी ने 'कालूयशोविलास' में उनका उल्लेख किया है। उनकी पाठशाला में कुछ महीनों तक मैं जाता रहा, पर क्या पढ़ा यह मुझे याद नहीं है।

पढ़ने का अवसर तो ज्यादा नहीं मिला, फिर भी मन में जिज्ञासा, नई-नई बातों को जानने की उत्सुकता, कहानी सुनने की प्रबल इच्छा बनी रहती थी। मेरी मां, मेरी बुआ और घर में काम करने वाली नौकरानी समय-समय पर कहानियां सुनाया करती थी। एक दिन नौकरानी ने कहानी सुनाते हुए कहा—पत्थर भी बोलते थे। घास-फूस के तिनके भी बोलते थे। गाय, भैंस आदि पशु और पक्षी भी मनुष्य की भाषा में बोलते थे। फिर एक जमाना ऐसा आया कि उन सबने बोलना बंद कर दिया। केवल मनुष्य के पास ही बोलने की शक्ति शेष रह गई।

इस प्रसंग को सुनकर मेरा बाल मन आंदोलित हो उठा। मैंने पूछा—क्या अब पत्थर बोल सकते हैं? क्या गाय अपने सुख-दुःख की बात मनुष्य को बता सकती है? इस प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं मिला पर मानसिक उद्वेलन ने अज्ञात रहस्य को खोजने की वृत्ति जागृत कर दी। यह स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि आज भी अज्ञात रहस्यों को खोजने में जितनी आनंद की अनुभूति होती है, उतनी ज्ञात के पुनरावर्तन में नहीं होती।

महालचंदजी की बहिन छोटीबाई विवाह के बाद (लाडनूं) अपने ससुराल गई। पहली बार ससुराल जाने के समय भाई साथ में जाता है। इस प्रथा के अनुसार मैं भी उनके साथ गया। मैं स्थिरवासी साध्वियों के दर्शन करने गया। सीढ़ियों के नीचे खड़ा था। उस समय एक विचित्र सा अनुभव हुआ। मुझे आज भी उसकी स्मृति है। पूज्य गुरुदेव का जन्मस्थल साध्वियों के निवास स्थान के पास ही है। उसके प्रकंपन मुझे प्रकंपित कर रहे थे अथवा कोई भविष्य की सूचना दे रहा था, वह मैं नहीं जानता। इतना जानता हूं मैं उस स्थान को प्रतिमा की भांति स्थिर होकर अनिमेष दृष्टि से देखता रहा। मैंने साध्वियों के दर्शन किए। इतनी साध्वियों को एक साथ पहली बार देखा था। एक नए संस्कार का निर्माण हो गया। व्यक्त की राशि से अव्यक्त की राशि बहुत विशाल है पर उसका अंकन करना सुकर नहीं है।

कोलकाता की यात्रा

नौ वर्ष की अवस्था में मैं कोलकाता गया। कोलकाता से हम मेमनसिंह जलपोत से गए। स्थल पर चलने का अनुभव था, पर जल पर चलने का पहला अवसर था। वह बड़ा अजीब सा लग रहा था। मनुष्य में जल और स्थल दोनों पर अधिकार करने की क्षमता है, इसका अज्ञात में विश्वास हो गया। वह आकाश में भी उड़ सकता है, इसकी उस समय मुझे कल्पना भी नहीं थी। आकाशगामिनी विद्या और लब्धि के बारे में बहुत वर्षों बाद पढ़ा। कोकास यंत्र के सहारे चलने वाले विमान का निर्माण कर मनुष्य आकाश में उड़ान भरता। ईंधन के सहारे चलने वाले विमान के विषय में मैंने न सुना, न देखा।

मेमनसिंह में हम कुछ दिन रहे। विवाह का कार्य सम्पन्न होने पर मुझे फुलवाड़िया ले जाया गया। वहां मेरे पिताश्री की दुकान थी। उनके स्वर्गवास के बाद मुनीम उसकी देखभाल करते। वह कोई विचित्र समय था कि मालिक के बिना मुनीम ईमानदारी के साथ सारा काम चलाते। वर्तमान में इसकी कल्पना करना भी

कठिन हो रहा है। आसपास के गांवों में 'बाकी' (उधार) वसूल करने के लिए मुझे ले जाते थे। ग्रामीण 'चाचा बाबू तोलाराम का पुत्र आया है'—यह जानकर प्रेमपूर्वक स्वागत करते। उनका प्रेम देखकर मैं गद्‌गद् हो जाता। उनसे मांगने की बात भूल जाता। कुछ गांवों में घूमकर मैं फिर फुलवाड़िया आ गया। वहां मैंने पहली बार 'हाट' देखी। उसमें अन्न खाद्य आदि वस्तुओं के साथ टोकरों में मछलियों को देखा, पेड़ पर लटकते हुए बकरों को देखा। मन ग्लानि से भर गया। सोचा—मैं यहां क्यों आया? **'जीवो जीवस्य जीवनम्'** यह पुराना सूक्त पढ़ा बाद में, पर दृश्य पहले ही देख लिया। संवेदनशीलता ने चेतना को झकझोर दिया।

फुलवाड़िया से मैं प्राणगंज गया। नौका से यात्रा की। राजस्थान के एक बालू के टीलों से घिरे हुए गांव में रहने वाला बालक नदी, जलपोत और नौका देखता है तो उसे आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। सोचने की शक्ति भले ही कम हो पर आश्चर्य की शक्ति तो नैसर्गिक है। एक अनपढ़ व्यक्ति भी नई वस्तु को देखकर आश्चर्य में निमग्न हो सकता है।

प्राणगंज से हम फिर मेमनसिंह आए। कुछ दिन वहां रहे। मैं वहां कुछ दिन एक स्कूल में भर्ती हुआ। कुछ बंगला भाषा पढ़ी। वहां मेरे छोटे चाचा पन्नालालजी के व्यवहार ने मुझे बहुत आकृष्ट किया। वे अपने पुत्र जोरावरमल और मेरे साथ समान व्यवहार करते। दोनों को एक-एक रुपया हाथ खर्च के लिए देते। बीदासर के बेगराज भंवरलाल की दुकान पास में थी। वहां भी जाने आने का क्रम रहता। चोरड़िया होने के कारण उन्होंने मुझे अपने परिवार का सदस्य ही मान लिया। मेमनसिंह से प्रस्थान कर हम लोग टमकोर आ गए।

मेरी मां

मां का अर्थ है ममता। ममता ने आकार लिया और मां की सृष्टि हो गई। ममतामयी मां अपनी संतान के लिए क्या नहीं करती? इसका उत्तर उस गाय से मिलता है, जिसके वत्स पर सिंह के खूनी पंजे आक्रमण कर रहे हों।

इसका उत्तर उस स्त्री से मिलता है जिसकी संतान के सिर से पिता का साया उठ गया हो। इसका उत्तर मेरी मां ने भी दिया। घर में हम चार प्राणी थे—मैं, मेरी मां और दो मेरी बहिनें।

मेरी मां का नाम था बालूजी। वे मेरे साथ ही दीक्षित हुई थी। बालू का अर्थ है विवेक, समझदारी, संयम, साहस और अभय। आदि से अन्त तक उनके कार्य की मीमांसा विवेक की मीमांसा है।

पिताश्री के स्वर्गवास के पश्चात् वे अपनी मां के पास चली गईं। उस समय यह विवेकपूर्ण निर्णय था। पति के चले जाने के बाद विधवा स्त्री की समाज में जो दशा होती है वह अज्ञात नहीं है। यद्यपि मेरे संसारपक्षीय चाचा बालचंदजी काफी ध्यान रखते थे। कुछ दिन हम उनके साथ ही रहे फिर भी मेरा लालन-पालन ननिहाल के स्वतंत्र वातावरण में जैसा हो सकता था वैसा शायद पितृपक्ष में संभव नहीं था।

उस समय ननिहालपक्ष का परिवार खिंयासर रहता था। वहां के बच्छावत परिवार के पास बहुत जागीर थी। खूब खेती, खूब गाएं, बहुत दूध। मेरी मां ने बताया—'ढाई वर्ष तक मुझे अन्न नहीं दिया, केवल दूध पर ही पालन-पोषण किया।

मैं ढाई वर्ष का हो गया। हम फिर अपने गांव आ गए। हम घर में दो ही प्राणी थे। शेष तीन भाई अपने-अपने मकान में रहते थे। मेरी मां अभय थी पर मेरी सुरक्षा के लिए आशंकित रहती थी। इसलिए एक महिला को वैतनिक रूप में रखने का निर्णय लिया। साध्वी बालूजी की अभय की घटनाएं सचमुच सुखद हैं।

अभय की चेतना

घटना पचपदरा की है। अर्धरात्रि का समय था। सब साध्वियां सोयी हुई थीं। एक सर्प आया और साध्वीश्री बालूजी के दोनों पैरों में लिपट गया। वे जाग गईं और उन्हें ज्ञात भी हो गया कि सांप पैरों में लिपटा बैठा है। वे डरीं नहीं, वैसी की वैसी स्थिति में सोयी रहीं। न तो पैरों को हिलाया और न शोर मचाया। पास में सोयी साध्वी बग्घूजी से कहा—महाराज! मेरे पैरों को सर्प ने जकड़ लिया है। उस समय साध्वीश्री बग्घूजी और साध्वीश्री बालूजी—दोनों नवकार मंत्र का जाप करने लगीं। कुछ ही क्षणों में देखते ही देखते सर्प उतरने लगा। फिर साध्वी बालूजी ने हाथ से पकड़कर उसे दूर फेंक दिया। साध्वियों ने पूछा—क्या भय नहीं लगा? बालूजी ने उत्तर दिया—भय किसका? नवकार मंत्र का बल अपने पास है, फिर भय किसका? ऐसा लग रहा था नवकार मंत्र के जप से उनका मनोबल जाग रहा था।

श्रद्धा की चेतना

बालूजी में श्रद्धा का भाव बहुत सघन था। इस भयाकुल दुनिया में वही व्यक्ति अभय रह सकता है जिसके पास श्रद्धा का बल होता है। दिव्य तपस्विनी साध्वी पन्नाजी ने उनकी श्रद्धा और श्रद्धाजनित अभय का यथार्थ अंकन किया है।

'हरियाणा का एक छोटा सा गांव ऊमरा। वहां हमारा चातुर्मासिक प्रवास था। जिस स्थान पर हम ठहरे हुए थे वह स्थान भय से भरा हुआ था। लोग उसे भूत-भूतनियों का स्थान कहते थे। एक दिन मुझको एक औरत खड़ी दिखाई दी। मैंने कहा—बहिन! साध्वियों को वन्दना क्यों नहीं करती? मेरी आवाज सुन उसने वंदना नहीं की और जाने लगी। मैं भी उसके पीछे-पीछे चलने लगी। वह कुछ दूर आगे बढ़ी कि अदृश्य हो गई। उसके बाद मैं वापस आयी। साध्वी बालूजी को देखते ही अचेत होकर उनके चरणों में गिर पड़ी। इस दृश्य को देख वे घबरायी नहीं। मुझे स्तुति और भजन सुनाने लगी। वे अडिग खड़ी रही, न तो पैरों को हिलाया और न बैठीं। जब मुझे होश आया तो मैंने उनसे प्रश्न किया—क्या मैं यहीं सोयी थी। उन्होंने कहा—गुरुदेव के प्रताप से अब सुध-बुध आयी है। गुरुदेव अपने रखवाले हैं, अपना कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।'

साध्वी बालूजी की अभयवृत्ति पर साध्वी मालूजी ने एक रोचक प्रसंग प्रस्तुत किया। उनकी बात उन्हीं के शब्दों में—'बोरियापुर मेवाड़ की घटना है। मुझमें कभी-कभी एक देव आत्मा का प्रवेश होता था। उसने अनेक बार कहा—'बालूजी! मैं तुम्हें ले जाऊंगा। तुम अनशन कर लो।' बालूजी ने कहा—'तुम्हारे कहने से मैं न आज अनशन करूंगी और न कल। तुम्हारे में ताकत है तो ले जा, मेरे साथ भिक्षु स्वामी हैं। तुम मुझसे क्या लोगे? यह शरीर मेरा नहीं है। आत्मा मेरी है। उसका तुम कुछ बिगाड़ नहीं सकते। एक दिन जाना है पर आयुष्य के बिना कोई ले जाने वाला नहीं है।'

उनके मनोबल को देखकर देवता भी चकित था। कभी भी उनके चेहरे पर घबराहट दिखाई नहीं दी। वे कहती थी—'देवता भी अपनी शक्ति से अधिक कुछ नहीं कर सकता। वे अपना अधिकांश समय स्वाध्याय, ध्यान और जप में लगाती थी।'

विवेक चेतना

मनुष्य की विकास यात्रा के तीन पड़ाव हैं—मन, बुद्धि और विवेक। मन का काम है चिंतन करना, बुद्धि का काम है निर्णय करना और विवेक का काम है हेय और उपादेय का विज्ञान करना। बुद्धि मन से परे है और विवेक बुद्धि से परे है।

बालूजी का विवेक बहुत प्रवर था। उनकी विवेक शक्ति ने मुझे स्वस्थ बनाए रखा। मेरे आहार-विहार का वह बहुत ध्यान रखती थी। साथ-साथ संस्कारों के निर्माण का भी ध्यान रखती थी। एक दिन मैंने पूछा—बचपन में मुझे आपने क्या संस्कार दिए? मां ने कहा—

१. प्रतिदिन साधु दर्शन की प्रेरणा देती थी, साधु दर्शन के बिना कलेवा भी नहीं देती।

२. सत्य बोलने पर जोर देती।

३. जप करना सिखाती थी।

मेरी मां रात के पिछले प्रहर में सामायिक किया करती थी। उसमें जयाचार्य की चौबीसी, आराधना और भिक्षु स्वामी की स्तुति गाया करती थी। मैं सोया-सोया उन्हें सुना करता था। मेरे मन में भिक्षु स्वामी और उन रचनाओं के प्रति तब से ही आकर्षण उत्पन्न हो गया।

संवेदनशीलता की छाया में बुद्धि का निर्णय सही होता है और विवेक भी महनीय होता है। मेरी संसार पक्षीया छोटी बहिन एक कमरे में सो रही थी। वह अकेली थी। अकस्मात् चिल्लाहट सुनाई दी। हम दूसरे कमरे में थे। मां ने वह आवाज सुनी और तत्काल सबको जगा दिया। सब गए पर भीतर से कमरा बंद किया हुआ था। दो क्षण सब मौन खड़े रहे। मां ने कहा—'लालटेन बुझाई नहीं, उसकी गैस हो गई है इसीलिए वह चिल्ला रही है और बेहोशी की दशा में वह उठ नहीं पाएगी। दरवाजा कौन खोलेगा?' कई बार आवाज दी पर वह उठी नहीं। मां ने कहा—'दरवाजा नहीं खुल पाएगा। खिड़की को तोड़ दो।' खिड़की तोड़ दी गई। उससे भीतर जाकर लालटेन को बुझाया। दरवाजा खोला। गैस निकल गई। कुछ समय बाद मेरी बहिन को होश आया। सब कुछ ठीक हो गया। मां के निर्णय और विवेक ने एक होनेवाली दुर्घटना को टाल दिया।

साध्वी बालूजी प्रारंभ में साध्वी बग्घूजी के साथ रही। उसके बाद साध्वी पन्नाजी के साथ अनेक वर्षों तक रही। साध्वी पन्नाजी के साथ जीवन के अंतिम क्षण तक एकात्मकता रही। अपनी संसारपक्षीया पुत्री साध्वी मालूजी के अग्रणी बनने के पश्चात् उन्हीं के साथ रही। बहुत वर्षों तक यात्राएं की। जीवन के आठवें दशक में साध्वी बालूजी का स्वास्थ्य कमजोर हो गया। गले में कैंसर था। उन दिनों वे गंगाशहर में प्रवास कर रही थी। हम लोग चार वर्ष की दक्षिण यात्रा सम्पन्न कर राजस्थान आए। चर्चा चली—मुझे उनके पास गंगाशहर जाना चाहिए। मेरा कर्तव्य भी था और परम धर्म भी था कि मैं वहां जाऊं। आचार्यवर भी मुझे वहां भेजना चाहते थे पर सामने मर्यादा-महोत्सव का कार्यक्रम था इसलिए शीघ्रतया वहां जाना मेरे लिए संभव नहीं था। मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आचार्यवर अस्वस्थ हो गए। कफ और श्वास का प्रकोप बढ़ गया। इस स्थिति में मेरा गंगाशहर जाना संभव नहीं हो सका। मर्यादा-महोत्सव के बाद कुछ संघीय कार्य सामने थे इसलिए जाने में विलंब हो गया। आचार्यवर की इच्छा थी और मेरी भी इच्छा थी इसलिए जाना संभव बन सका।

आचार्यवर ने कहा—लगभग एक महीने रह जाना। वि. सं. २०२८ वैशाख कृष्णा द्वितीया को आचार्यश्री की सन्निधि से विहार कर हम लोग चतुर्दशी को गंगाशहर पहुंचे। मुझे अनेक मुनियों और श्रावकों ने परामर्श दिया—'बालूजी की अंतिम अवस्था है, अतः वहां पूरा समय लगाना और उन्हें खूब-खूब चित्तसमाधि उपजाना।' मैंने बड़े कृतज्ञभाव से इस परामर्श को स्वीकार किया।

पहले गुरु फिर मां

गंगाशहर पहुंचने पर मुझे प्रसन्नता हुई। मैंने सोचा—मेरे लिए यह ऋणमुक्त होने का अवसर है। उसके लिए मैं जो कर सकूं वह मुझे करना चाहिए।

मुनि दुलहराजजी ने उन्हें आचार्यश्री का मौखिक संदेश सुनाया जो सुजानगढ़ से प्रस्थान के समय आचार्यश्री ने दिया था। आचार्यवर ने अपने मौखिक संदेश में कहलवाया—कुछ जरूरी कामों से मैं मुनि नथमलजी को पहले नहीं भेज सका। अब वे तुम्हारे पास पर्याप्त समय लगाएंगे। उन्हें इस संदेश से पर्याप्त सान्त्वना मिली।

साध्वी बालूजी ने पूछा–'आप यहां कितने दिन रहेंगे?'

'मैं तीन सप्ताह यहां रहना चाहता हूं।'

साध्वी बालूजी–'आचार्यवर ने एक मास के लिए कहा है फिर तीन सप्ताह क्यों? एक मास तो रहें, उससे अधिक नहीं रोकूंगी।'

मैंने उनकी भावना को स्वीकार कर लिया। मासिक प्रवास सम्पन्न होने वाला था। स्थानीय श्रावक समाज ने आग्रहपूर्ण शब्दों में कहा–'यदि आप प्रार्थना करें तो मुनिश्री यहां कुछ दिन अधिक ठहर सकते हैं।'

साध्वी बालूजी बोली–'मैं अर्ज नहीं करूंगी।' मेरी ओर अभिमुख होकर बोली–'अब आपको विहार करना है।'

कुछ श्रावक बोले–'हम आचार्यवर के दर्शन करने जाते हैं। मुनिश्री के चातुर्मासिक प्रवास के लिए प्रार्थना करेंगे।'

उन्होंने दृढ़ता के स्वर में कहा–'चौमासा यहां नहीं होगा। आचार्यवर के साथ ही होगा। पहले गुरु फिर मां।'

गंगाशहर में विद्यमान सभी साधुओं और साध्वियों का आग्रहपूर्ण निवेदन रहा–आप चतुर्मास यहां करें। साध्वी बालूजी से भी बार-बार चतुर्मास के लिए अनुरोध किया। उन्होंने हर बार दृढ़ता के साथ कहा–'चतुर्मास यहां नहीं होगा। आचार्यवर के पास होगा।' उनकी दृढ़ता के सामने सब मौन हो गए।

आचार्यवर ने वहां रहने की अवधि लंबी कर दी। ५० दिन रहने का निश्चय हो गया। ४४ दिन बीते। मैंने कहा–अब काफी दिन हो गए। वे सहसा बोली–'यह कृपा आचार्यवर की है, आपकी नहीं।'

अस्वस्थता की स्थिति में भी चतुर्मास का अनुरोध न करना, अनुरोध करने वालों की भावना को अस्वीकार करना–विवेक का उत्कृष्ट उदाहरण है।

एक बार मैं और कुछ संत-साध्वी बालूजी के पास बैठे थे। उनके शरीर में काफी पीड़ा थी। मुनि छत्रमलजी बोले–आप अनशन कर लें। साध्वी बालूजी ने कहा–'नहीं, अभी मैं अनशन करना नहीं चाहती। मैं समाधिमरण को अनशन से भी अधिक महत्त्व देती हूं।'

सहिष्णुता की चेतना

आचार्य तुलसी ने लिखा–'साध्वी बालूजी बहुत पढ़ी-लिखी नहीं थी, पर अपनी आत्मसाधना में बहुत सजग थी। उनके जीवन में संयम था इसलिए वे पंडिता भी थी।'

संयम सहिष्णुता को जन्म देता है। साध्वी बालूजी का संयम अनुत्तर था इसलिए उनकी सहिष्णुता अनुत्तर बन गई। मैंने गंगाशहर पहुंचकर देखा–उनका शारीरिक रोग मानसिक आरोग्य से दब गया है। न कोई भय, न कोई चिंता। मैंने उनका मनोबल पहले से हजार गुना बढ़ा हुआ पाया। मैंने पूछा–'तुम्हारे मन में कुछ इच्छाएं हैं?'

उन्होंने कहा—'आप आ गए, एक इच्छा पूरी हो गई। आचार्यश्री के दर्शन की इच्छा है, वह पूरी होगी या....और कोई इच्छा मेरे मन में नहीं है। कालूगणी ने दीक्षा देकर मेरे पर उपकार किया। आचार्यश्री तुलसी ने संयम का सहयोग देकर मुझे उपकृत किया। साध्वियां मेरी सेवा कर मुझ पर उपकार कर रही हैं। गंगाशहर के श्रावक-श्राविकाएं भी मुझे बहुत सहयोग दे रहे हैं।'

ऊपर टंगी हुई घड़ी की ओर संकेत कर कहा—'यह घड़ी भी मेरे लिए उपकारी है। इसके योग से ही त्याग और ध्यान के समय का पता लगता है।'

मैंने देखा—उनकी चेतना में नई स्फुरणा और नए उन्मेष आ रहे हैं। मैंने मन ही मन सोचा—ये कहां से आए? ये बुद्धि के व्यायाम से उत्पन्न नहीं थे। ये उत्पन्न हुए थे अंतरात्मा की अनुभूति के प्रवाह से।

रोगी के मन में दवा लेने की भावना बनी रहती है। उनका मन दवा से विरत हो गया था। मेरे विशेष आग्रह पर उन्होंने होम्योपैथिक दवा लेना स्वीकार किया। एक दिन डॉ. डांडिया ने बिजली का सेक कराने का परामर्श दिया। मैंने कहा—'यह कठिन लगता है। वे इसे स्वीकार नहीं करेंगी।' फिर भी उनकी भावना को मैंने नहीं रोका। कुछ दिन बाद डॉक्टर साहब स्वयं आ गए। उन्होंने बालूजी से कहा—'आप बिजली के सेक ले लीजिए। उससे आप ठीक हो जाएंगी।' उन्होंने सधा-सधाया उत्तर दिया—'क्या मुझे ठीक होकर सौ वर्ष और जीना है? मैं नहीं लूंगी।' डॉ. साहब चकित होकर उनकी ओर देखने लगे।

उनकी निस्पृहता देख मैं बहुत प्रसन्न था। साधु जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है निस्पृहता। जो साधक निस्पृहता के अंतस्तल का स्पर्श कर लेता है वह धन्य हो जाता है।

सत्यनिष्ठा

सत्यनिष्ठा और संयमनिष्ठा, इन शब्दों में दूरी है तात्पर्य में नहीं। सत्यनिष्ठ हुए बिना कोई संयमनिष्ठ नहीं हो सकता और संयमनिष्ठ हुए बिना कोई सत्यनिष्ठ नहीं हो सकता। एक दिन मैंने पूछा—'क्या आपको कोई आभास होता है या कोई दिखाई देता है?'

उन्होंने उत्तर दिया—'मुझे न कोई दिखाई देता है और न कोई आभास ही होता है। असत (असत्य) का दोष मैं नहीं लगाऊंगी। मैंने जीवन में कभी असत का दोष नहीं लगाया, अब भी नहीं लगाऊंगी। जब दीखेगा तो बता दूंगी।'

उनका उत्तर सुन मुझे ऐसा लगा—वे नहीं बोल रही हैं, सत्यनिष्ठा बोल रही है। समाधिमरण से १०-१५ दिन पूर्व उन्हें कुछ आभास होने लगा। एक दिन अचानक उन्होंने कहा—बाई! मुझे ऊपर ले जाओ। साध्वियों ने पूछा—ऊपर कहां?

उन्होंने कहा—'कालूगणी के पास।'

एक दिन कहा—'बाई! अब हम ऊपर जाएंगे। अपने स्थान पर जाएंगे।'

ये शब्द अचेतन अवस्था में नहीं पूर्ण सजगता की अवस्था में उनके मुंह से निकले थे। कभी-कभी वे उच्च स्वर में 'कालूगणी-कालूगणी' आवाज देती। बार-बार कहती—मुझे कालूगणी की गीतिका सुनाओ।

जीवन की संध्या के अंतिम आठ वर्षों में साध्वीश्री बालूजी का गंगाशहर, बीकानेर परिसर में प्रवास हुआ। इस अवधि में मैं तीन बार उस प्रदेश में गया। एक बार नोखा (वि. सं. २०२०), दूसरी बार गंगाशहर (वि. सं. २०२३) और तीसरी बार (वि. सं. २०२८) फिर गंगाशहर। दूसरी बार मैं गंगाशहर गया उस समय मुनिश्री चंपालालजी (मीठिया) वहां थे। उन्होंने मेरा जो आदरपूर्ण सम्मान किया, उस पर चिंतन कर मैं अतीत की प्रेक्षा में चला गया। आचार्य भिक्षु ने अनुशासन, विनय, सहिष्णुता, सौहार्द और प्रमोद भावना का जो मंत्र दिया, वह आज भी प्राणवान है, सचेतन है।

साक्षात् विनम्रता की परिभाषा का

मुनि चम्पालालजी स्वामी बहुत पुराने और अनुभवी संत थे। धर्मसंघ में उनका सम्मान था, प्रतिष्ठा थी। उनकी वाणी में मृदुता और मधुरता दोनों का योग था। इसलिए जनमानस में उनके प्रति आकर्षण था। उनकी विनम्रता को देखकर मुझे जयाचार्य का एक प्रसंग याद आ गया।

एक बार जयाचार्य ने साधुओं से पूछा–बताओ, विनीत कौन? साधुओं ने अपनी-अपनी मति के अनुसार विनीत की परिभाषाएं बतलाई–

१. जो गुरु के आदेश का सम्यक्तया पालन करता है वह विनीत है।

२. जो गुरु के इंगित की आराधना करता है वह विनीत है।

३. जो अहंकार को उपशांत करता है वह विनीत है।

विनीत की परिभाषाएं अच्छी थी, पर जयाचार्य जो चाहते थे वह परिभाषा सामने नहीं आई। साधुओं ने कहा–'गुरुदेव! हम आपके अभिप्राय को समझने में असमर्थ रहे हैं। आप कृपा करें और विनीत की परिभाषा बतलाएं।'

जयाचार्य ने कहा–'तुम्हारी परिभाषाएं सही हैं, किन्तु मैंने जिस आशय से पूछा, वह आशय अभी स्पष्ट नहीं है।'

मुनिवृंद–'आपका आशय क्या है?'

जयाचार्य–'आचार्य की जिस पर अनुग्रह या कृपा दृष्टि है, उसके प्रति विनम्र रहने वाला, उसे बहुमान देने वाला विनीत है।'

जयाचार्य द्वारा बताई हुई परिभाषा को मैंने पढ़ा था। मुनि चंपालालजी के व्यवहार ने उसका साक्षात् करा दिया।

अलगाव का मनोभाव

गंगाशहर प्रवास में साध्वी बालूजी से मैंने एक दिन कहा–'तुम्हारा सारा क्रम ठीक चल रहा है। अब तुम्हें आत्मा और शरीर के भेद की भावना को पुष्ट कर लेना है।'

उन्होंने अपनी सहज भाषा में कहा–'वह कैसे होती है, मैं नहीं जानती।'

मैंने कहा–'आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है–इसका उच्चारण किया जाए और उच्चारण के साथ-साथ मन में वैसा अनुभव किया जाए। तुम माला जपती हो। उसमें एक दो माला इसकी जपी जाए।'

उन्होंने उस बात को पकड़ा और गहराई से पकड़ा। कुछ दिनों बाद उनकी भावना में अकल्पित परिवर्तन आ गया। स्वास्थ्य के विषय में पूछने पर उनका उत्तर हो गया—'मुझे कोई रोग नहीं है। यह शरीर ही मेरा नहीं है तब रोग-मुक्त कैसे हो सकता है?' उनकी वेदना की अनुभूति में अंतर आ गया। मानसिक प्रसन्नता बढ़ गई।

एक दिन उन्होंने कहा—'साध्वियों से मेरा कोई संबंध नहीं है।'

मैंने कहा—'फिर सेवा कौन करेगी?'

उन्होंने कहा—'यह तो इनका गुण है पर मेरे मन में कोई लगाव नहीं है।'

मैंने कहा—'मालूजी तुम्हारी संसारपक्षीया पुत्री है। क्या इनके प्रति भी कोई लगाव नहीं है?'

उन्होंने स्पष्ट कहा—'किसी के प्रति भी नहीं है।'

लगाव के वातावरण में अलगाव का मनोभाव उन्हें सहज उपलब्ध हो गया।

जीवन मंत्र

एक दिन बालूजी ने कहा—आप दो गीतिकाएं बना दें—एक आचार्य भिक्षु और दूसरी आचार्य तुलसी से संबद्ध। मैंने उनकी इच्छा को स्वीकार किया। मैं कविता प्रारंभ से ही लिखता रहा, गीतिका कम लिखता था। साधुओं का आग्रह होता तो कभी-कभार गीतिका लिख देता। पहली बात—गीतिका बनाने में रुचि कम थी। दूसरी बात—आचार्यश्री बहुत गीतिकाएं रचते थे। उनका गीतिका निर्माण और संगान दोनों पर एकाधिकार प्रभुत्व था। इसलिए इस क्षेत्र में सदा उदासीन ही रहा। मां की मांग थी इसलिए मैंने दो गीतिकाएं लिखी—

१. चैत्य पुरुष जग जाए। २. देव दो हस्तावलंबन

इन दोनों गीतिकाओं का मैंने उनके सामने सस्वर संगान किया। साधु-साध्वियां सब स्वर में स्वर मिला रहे थे। अध्यात्म के प्रकंपनों से उनका वह स्थान प्रकंपित हो गया। सब लोग आनंद और उल्लास से भर गए।

'आत्मा भिन्न शरीर भिन्न है' चैत्य पुरुष का यह पद साध्वी बालूजी का जीवन मंत्र बन गया। इस पद ने उनकी शारीरिक पीड़ा को भी कम कर दिया। मैं उनकी बीमारी को मिटा नहीं सका पर मुझे संतोष है उनकी वेदना को कम करने में मैं सहायक बन सका।

व्याधि, परिस्थितियां और मौत हर व्यक्ति को आती हैं। धर्म की कसौटी उसी समय होती है कि वह किस प्रकार उनको सहन करता है। कष्टों से न घबराकर समभाव का परिचय देना ही धर्म का मंत्र है।

जागरूकता का जीवन

एक दिन उन्होंने कहा—'हम पर आचार्यश्री का बहुत उपकार है। आपका निर्माण उनके हाथों हुआ है। उन्होंने आप पर बहुत परिश्रम किया है। उससे उऋण नहीं हुआ जा सकता। आपको सदा उनके प्रति कृतज्ञ रहना है।'

उन्होंने साधु-साध्वी संघ तथा श्रावक संघ के विषय में कुछ ऐसी बातें कहीं जो मुझे बहुत ही उपयोगी लगीं। उनकी गहरी समझदारी से मैं प्रभावित हो गया। उनके जीवन के अंतिम क्षण हजारों-हजारों लोगों को प्रभावित कर गए।

एक दिन उन्होंने मुझसे कहा–'आप आचार्यश्री के पास रहते हैं। संघ में बहुत से साधु-साध्वियां वृद्ध हैं, उनकी भलाई का भी ध्यान रखना चाहिए।' अर्थात् वे स्वयं आत्मा से संतुष्ट थी और संघ की भलाई के लिए भी उनमें अटूट निष्ठा का भाव था।

अमावस का दिन। दोपहर का समय। साध्वियां पास में बैठी थी। साध्वी बालूजी ने सहसा कहा–मुझे अपने 'ठौर ठिकाने' जाने दो। तुम क्यों रोक रहे हो? साध्वियों ने पूछा–आपका 'ठोर ठिकाना' कौन सा है?

उत्तर नहीं मिला।

श्वास की गति तेज हो गई। अनशन स्वीकार किया। रात्रि के चार बजे उनका स्वर्गवास हो गया। उस समय मैं पूज्य आचार्यवर की सन्निधि में था। संवाद मिला और एक आंतरिक कंपन सा प्रतीत हुआ। जिस समय स्वर्गवास हुआ उस समय मैं जागृत अवस्था में नहीं था। यदि जागृत होता तो संभवतः साक्षात्कार हो जाता।

उनके स्वर्गवास के पश्चात् आचार्यवर की सन्निधि में स्मृति-सभा हुई। मैंने कहा–साध्वी बालूजी चली गई हैं, किन्तु मैं अनाथ नहीं हूं। उनके चले जाने पर भी प्रसन्नता है। वह इसलिए कि उन्होंने समाधिमरण प्राप्त किया। मेरे जीवन के दो ही सूत्र थे–जो कुछ करूं, उससे पहले सोचूं कि इसका आचार्यश्री और बालूजी के मन पर क्या असर होगा?

इन दोनों सूत्रों ने ही मुझे समय-समय पर आगे बढ़ने में योग दिया है। एक सूत्र चला गया है तो दूसरा और अधिक पुष्ट हो गया है।

साध्वी बालूजी ने स्वर्गवास के १५ दिन पूर्व साध्वी मालूजी की ओर संकेत करते हुए कहा–'तुम्हारा भाई राजा (आचार्य) बनेगा। मैं तो कुछ नहीं देख सकूंगी, तुम लोग सब कुछ देखोगे।'

साध्वी बालूजी का पूरा संयम जीवन जागरूकता से परिपूर्ण रहा। अंतिम चार मास में और अधिक जागरूकता रही। अंतिम सप्ताह अधिक जागरूकता से बीता।

मस्तिष्क में मणि

ज्ञाता सूत्र का प्रसंग है। तेतलिपुत्र ने एक वाक्य को बार-बार दोहराया–को मेयं सद्दिस्सई–मेरी इस बात पर कौन श्रद्धा करेगा?

कुछ बातें श्रद्धा से परे होती हैं, विश्वास से परे होती हैं किन्तु जो श्रद्धा या विश्वास से परे है वह सत्य नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। साध्वी बालूजी के अंतिम समय की एक घटना इसी कोटि की घटना है।

खेमचंदजी सेठिया की धर्मपत्नी गुलाबबाई ने एक बात बताई–'साध्वीश्री बालूजी ने जीवन की सन्ध्या के समय मेरे पिताश्री आसकरणजी चौपड़ा से कहा–'मेरे ललाट के मध्य भाग में रत्न है–मणि है। मृत्यु के बाद देख लेना।'

गुलाबबाई ने अपने पिता से पूछा–'आपने दाह-संस्कार के समय उसे देखा या नहीं।'

आसकरणजी ने कहा–'हजारों की भीड़ थी। मैं देख नहीं सका। पर इतना मुझे अवश्य याद है–दाह संस्कार के समय एक पटाखा छूटने जैसी आवाज हुई। इस विषय में जो जागरूकता बरतनी थी वह नहीं बरती जा सकी।'

एक अनुस्मृति है–यदि दूध का प्याला हाथ में हो तो मस्तक की मणि उसमें आकर गिर जाती है। यदि ऐसा न हो तो वह अन्यत्र कहीं गिरकर अदृश्य हो जाती है।

साध्वी बालूजी ने मस्तक में मणि होने की बात मुझे कभी नहीं बताई। हो सकता है पहले उनको उसका आभास न हो। जीवन के संध्याकाल में जो रहस्य अनावृत होते हैं वे जीवन के मध्याह्न में नहीं होते। अंतिम समय में अनेक लोगों को अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। उन अनुभवों का संकलन नहीं हो रहा है। यदि उनका संकलन किया जाए तो परामनोविज्ञान की उपयोगी सामग्री बन सकती है।

मेरे दीक्षा गुरु

महापुरुष के जीवन में विकल्प नहीं होता। उसमें कुशल कलाकार की तूलिका और कवि की मनोहारी लेखनी चरम नहीं बनती, तब दूसरा क्यों कुछ सोचे।

उस महापुरुष के बारे में लिखना कठिन होता है जो अपने अंतर्जगत् में निखरकर संसार के सामने आए, जिसे अपनी श्रीवृद्धि में बहिर्जगत् का प्रत्यक्ष सहयोग न मिले।

मेरे दीक्षा गुरु कालूगणी ऐसे धर्माचार्य थे जो आत्मलीन रहकर ही जनता को अपने में लीन कर पाए।

विक्रम सं. १९३३ में जनमे, एकाकी माता के प्यार-दुलार में पले-पुसे, ग्रामीण शिशुओं की पंक्ति में बालक्रीड़ा की, विक्रम सं. १९४४ में ग्यारह वर्ष की अवस्था में आचार्यश्री मघवागणी (पांचवें आचार्य) के पास दीक्षित हुए। श्याम-गौरवर्ण, गहरे बाल, लंबा कद, गोल चेहरा, बड़ी और चमकती आंखें, सुडौल, सुगठित और मजबूत शरीर, गंभीर और तेज वाणी, मौन प्रवृत्तियां जहां दूसरों के लिए विस्मय का कारण थीं वहां आचार्यश्री के लिए आत्मतुष्टि का।

अध्ययन

जीवन की वृत्तियां प्रत्येक क्रिया के साथ संबंध किए चलती हैं, अतएव आचार्यश्री का अध्ययन-क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा। भगवान महावीर ने कहा—साधु योगजन्य विभूतियों का गोपन करे। यह आदर्श हमें कालूगणी की अध्ययन विभूति में ही मिल जाता है। आचार्यश्री का अध्ययन इतना प्रच्छन्न हुआ कि दूसरे क्या, वर्तमान आचार्य भी उसका पूरा परिचय नहीं पा सके। उस समय तेरापंथ संघ में संस्कृत अध्ययन की परंपरा बहुत कम थी और जो थी, वह भी आगे जाकर कुछ समय के लिए प्रायः लुप्त हो चुकी थी। मघवागणी के सुकुमार अनुशासन और वात्सल्यपूर्ण प्रेरणा ने कालूगणी के मानस में विद्या के व्यापक अध्ययन और संस्कृत के व्यापक प्रसार का बीजारोपण कर दिया।

जयाचार्य के अनन्य शिष्य, सतत अंतेवासी और सुयोग्य उत्तराधिकारी होने के कारण मघवागणी में जो विशाल अनुभूति और गंभीर पांडित्य आया, वह अपने आप में पूर्ण था। आचार्यश्री कालूगणी के लिए वह एक स्वर्णिम अवसर था। मघवागणी की सूक्ष्म दृष्टि और कालूगणी की सर्वग्राही प्रतिभा के मेल से एक नया रंग खिलता, किंतु मघवागणी की स्वभाव-कोमलता और कालूगणी की आत्म-निर्भरता या अतिरिक्त शालीनता से यह कल्पना साकार नहीं बन सकी। ऐसे प्रसंग में हमें नियति के सफल दर्शन होते हैं। जो कुछ होता है वह ठीक ही होता है—इसमें कहीं-कहीं तथ्य मिलता है। शायद इसीलिए वैसा नहीं हुआ। आगे चलकर बाईस वर्ष की चिर-प्रतीक्षा के बाद वह एक विशाल वट-वृक्ष के रूप में परिणत हुआ।

विकास क्रम

मघवागणी के स्वर्गवास के बाद कालूगणी करीब साढ़े चार वर्ष तक माणकगणी के शासन में रहे। कालूगणी की जागरूकता उत्तरोत्तर बढ़ती रही। माणकगणी का आकस्मिक देहावसान जहां समूचे संघ के

लिए चिंता का विषय बना वहां आचार्य कालूगणी के लिए कुछ और अधिक। कालूगणी वहीं मौजूद थे और समस्या की गहराई तक पहुंचने की योग्यता रखते थे। आचार्यश्री डालगणी के संघ द्वारा निर्वाचित न होने तक ढाई मास के अंतरिम काल में संघ की अंतरंग व्यवस्था में कालूगणी का महत्त्वपूर्ण योग रहा। इस प्रसंग में मंत्री मुनिश्री मगनलाल स्वामी को नहीं भुलाया जा सकता, जो कालूगणी के अभिन्न सहयोगी रहे।

कालूगणी बारह वर्ष तक डालगणी के शासनकाल में अपनी योग्यता बढ़ाते रहे। इस काल में प्रकाश-किरणें गुप्त रखने की चेष्टा किए जाने पर भी गुप्त नहीं रह सकीं। मानस जगत् में कालूगणी की प्रतिभा निखर उठी। डालगणी ने युवाचार्य का पत्र लिख दिया पर उसको प्रकाशित नहीं किया। उनका स्वर्गवास हो जाने पर साधारण जन यह नहीं जान सके कि आचार्य कौन होंगे? इधर कालूगणी की लीला भी निराली थी। कालूगणी की प्रवृत्ति से यह विश्वास होना कठिन था कि वे ही आचार्य होने वाले हैं। युवाचार्य का पत्र पढ़ा गया तो भी बहुतों ने आश्चर्य के साथ सुना कि हमारे भावी आचार्य आचार्यश्री कालूगणी हैं।

वि. सं. १९६६ भाद्रपद शुक्ला १५ को कालूगणी का पट्टाभिषेक हुआ। तेतीस वर्ष की अवस्था में पूज्य कालूगणी तेरापंथ के अधिनायक बने।

वय और विद्या

विद्याध्ययन के लिए काल की कोई मर्यादा नहीं है। समूचा जीवन उसी के लिए है और होना चाहिए। ज्ञान-विज्ञान की अनंत-चर्चा में स्वल्प जीवन गोचर नहीं होता, फिर भी विद्योन्मुख व्यक्ति बहुत कुछ आगे बढ़ जाता है, नई-नई शाखाओं पर अधिकार कर लेता है। कालूगणी का समूचे जीवनकाल में विद्या के प्रति प्रबल अनुराग बना रहा। साठ वर्ष की आयु में भी हाथ में पन्ने का सतत योग दर्शकों के लिए आश्चर्य का विषय था। आचार्य बनने के बाद तेतीस वर्ष की अवस्था में कालूगणी ने ढाई महीनों में समग्र 'सिद्धांत चंद्रिका' कंठस्थ की। आचार्यश्री हेमचंद्रकृत 'अभिधान चिंतामणिकोष' को पहले ही वे कंठाग्र कर चुके थे। यथासमय कालूगणी की शिक्षा संबंधी बहुमुखी प्रवृत्तियां सजीव हो उठीं। अपने शिष्य-समुदाय को शिक्षा-विकास की प्रेरणा दी। अनेक अर्द्धवयस्क या वयस्क साधु इस महायज्ञ में जुट गए।

महान् कृति

आचार्य कालूगणी की इच्छा हुई—एक बाल सुबोध व्याकरण बनाई जाए, जिससे ज्ञान की कमी न रहे और समय कम लगे। उसके अभाव में अंतर-काल में 'सिद्धांत चंद्रिका' का अध्ययन चालू रहा। वि. सं. १९८० में व्याकरण की रचना का कार्य प्रारंभ हुआ। इस विशाल कार्य में मुनिश्री चौथमलजी और आशुकविरत्न पं. रघुनंदनजी ने अपना पूर्ण सहयोग दिया। उस महाव्याकरण का नाम है 'भिक्षुशब्दानुशासन।' तेरापंथ की शिक्षा-प्रणाली में उसी का प्रयोग होता है। वह सांगोपांग महाव्याकरण कालूगणी के शासन-काल की महान् कृति और तेरापंथ के विद्या-विकास का राजद्वार है। व्याकरण-निर्माण के बाद आप साहित्य, दर्शन आदि-आदि विषयों को एक-एक कर व्यापक बनाते चले गए। साहित्य-रुचि के कारण साधु-संघ में कविता की अविरल धारा बह चली। राजस्थानी भाषा के अच्छे-अच्छे कवि

कालूगणी के संपर्क में आए और साहित्य-निधि को देखकर बड़े आश्चर्यान्वित हुए। उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कवियों ने जो गीत और श्लोक लिखे, वे उनकी हार्दिक श्रद्धा को व्यक्त करने वाले हैं।

निर्माण के कुशल शिल्पी

महामनस्वी कालूगणी का व्यक्तित्व विराट् था। केवल अपनी विशेषताओं के कारण ही विराट् नहीं था, किंतु दूसरों के व्यक्तित्व-निर्माण में सिद्धहस्त होने के कारण भी विराट् था। उन्होंने अनेक व्यक्तियों के जीवन का निर्माण किया। उनके जीवन की क्षमताओं को पल्लवित, पुष्पित और फलित होने का अवसर दिया। व्यक्तित्व निर्माण की मुख्य सामग्री थी—प्रेम, अनुशासन और विकास के प्रति जागरूकता। अनुशासन करना बहुत लोग चाहते हैं, पर अनुशासन करना बहुत कम लोग जानते हैं। जितना विराट् प्रेम, उतना सुदृढ़ अनुशासन।

संदर्भ हस्तलिपि का

आचार्यवर के हृदय में प्रेम या वात्सल्य की अजस्र धारा बहती थी। उसमें स्नान कर व्यक्ति सहज ही निष्णात हो जाता था।

उन दिनों की घटना है। हम अनेक बाल-साधु अध्ययन कर रहे थे। हमारे संघ में हस्तलिपि की कला विकसित थी और प्रत्येक विद्यार्थी साधु हस्तलिपि करने में कौशल अर्जित करता था। नव-सिखुओं के लिए रेत में वर्णमाला लिखी जाती। वे उसे देख-देख अक्षर जमाने का अभ्यास करते। आचार्यवर की हस्तलिपि बहुत सुंदर थी। उन्होंने वर्णमाला की अनेक काठ-पट्टियां लिख रखी थीं। जो साधु हस्तलिपि का अभ्यास करते, वे हरताल से लिखी हुई वर्णमाला पर खडिया मिट्टी और बरू की कलम से लिखते। हम लोग एक दिन में अनेक बार वे पाटियां लिखते और लिखकर आचार्यवर को दिखाते। इसके बाद स्वतंत्र लिखकर आचार्यवर को दिखाते।

वि.सं. १९८९ की घटना है। आचार्यवर बीदासर में विराज रहे थे। हम सबने अपनी-अपनी हस्तलिपि आचार्यवर के सामने प्रस्तुत की। मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी वहीं उपस्थित थे। वे सबकी हस्तलिपि को सराहते गए। जब मेरा लिखा हुआ पन्ना उनके सामने आया तो वे बोले—'नत्थू का अक्षर तो डागले सुखावे जिसा है।' अर्थात् गोबर के उपले जैसे हैं। यह सुनकर आचार्यवर ने कहा—'कोई चिंता की बात नहीं है, इसके अक्षर अपने आप ठीक हो जाएंगे।'

मैं आचार्यवर के आत्म-विश्वास पर मुग्ध हो गया। मैंने मन ही मन संकल्प किया कि मैं हस्तलिपि को सुंदर बनाकर रहूंगा।

संकल्प की पूर्ति

आचार्यवर की मारवाड़ यात्रा शुरू हुई। छोटी खाटू में हम सबकी हस्तलिपि की फिर परीक्षा हुई। उसमें भी मुझे छोड़कर सब उत्तीर्ण हुए। उस समय भी आचार्यवर ने मुझे प्रोत्साहित किया। कुछ दिनों बाद मेरी आंखों में दाने हो गए। कई महीनों तक मैं लिख-पढ़ नहीं सका। उस वर्ष का चतुर्मास जोधपुर में हुआ। आंखों के दाने कुछ कम हुए। मैंने लिखना-पढ़ना शुरू किया। चतुर्मास संपन्न होने पर आचार्यवर

पाली पधारे। वहां मैंने भगवान पार्श्व की यमक स्तुति लिखी। वह मैंने मेरे विद्यागुरु मुनि तुलसी को दिखाई। उन्होंने उसे देखकर हर्ष प्रकट किया। उनके स्मित चेहरे को देखकर मैं समझ गया कि मेरा संकल्प पूर्ण हो गया है। मैं अपने संकल्प की पूर्ति का हर्ष लिए हुए आचार्यवर के पास पहुंचा और वह प्रति आचार्यवर के हाथों में रखी। आचार्यवर उसे देखते ही प्रसन्न हो गए। वे बोले–'अब तुम्हारी हस्तलिपि ठीक हो गई है। अब तुम कुछ हस्तलिपियां तैयार करो।'

आचार्यवर का आत्म-विश्वास सफल हुआ और मेरा संकल्प पूर्ण हुआ। मैं हस्तलिपि करने में भी दक्ष माना जाने लगा। मैंने मुनिवर तुलसी के आदेशानुसार 'उपदेश की चौपई' लिखनी शुरू की। उसका एक पन्ना लिखता और उसे आचार्यवर को दिखा देता। प्रत्येक पन्ने पर आचार्यवर हर्ष प्रकट करते। आचार्यवर की उस हर्षित मुद्रा ने मेरी हस्तलिपि का ही परिष्कार नहीं किया, किंतु मेरे विकास की लिपि को भी परिष्कृत कर दिया। कितना अच्छा होता कि उनकी उपस्थिति में ही मैं इस अज्ञात रहस्य को ज्ञात कर पाता।

व्यक्तित्व की व्याख्या : दो रूप

'ज्योति राख से आवृत न हो'–यह था उस व्यक्तित्व का केंद्र, जिसका अनुभव प्रथम दर्शन में ही हो जाता था।

'ज्योति की रश्मियां सुदूर तक फैलें'–यह थी उस व्यक्तित्व की परिधि, जिस तक पहुंचना सबके लिए सुलभ था।

आचार्यवर कालूगणी के व्यक्तित्व की संपूर्ण व्याख्या इन दो सूत्रों में है। इनसे हटकर हम उनके व्यक्तित्व को व्याख्यायित नहीं कर सकते।

जिसके पास पहुंचकर कोई अनावरण का अनुभव नहीं करता वह कैसा संत और कैसा उसका व्यक्तित्व?

जिसके पास पहुंचकर कोई प्रकाश का अनुभव नहीं करता वह कैसा संत और कैसा उसका व्यक्तित्व?

आचार्यवर इस कसौटी पर उत्तीर्ण संत थे। उनके पास जो कोई भी पहुंचा उसकी ज्योति अनावृत हुई और उसने अपना जीवन-पथ आलोक से आलोकित देखा।

करुणा का स्रोत

आचार्यवर करुणा के धारावाही स्रोत थे। उनकी वाणी, आंखों, हाथों और कर्म से करुणा की धारा प्रवाहित होती रहती थी। उससे सब लोग लाभान्वित होते रहते थे। ऐसा तेजस्वी नक्षत्र किसी विरल व्यक्ति की ही कुंडली में होता है जिसके प्रभाव से हर कोई यह अनुभव करे कि मेरे नेता का अनुग्रह मुझ पर बहुत है। कोई हीनता का अनुभव न करे, दूरी का अनुभव न करे, यह कितनी बड़ी बात है। वह बड़ी बात आचार्यवर कालूगणी के व्यक्तित्व में घटित थी। उन्होंने करुणा का इतना दान दिया कि जितना हर कोई नहीं दे पाता। उनके करुणा-जल का सिंचन पाकर मेरे जैसे अनेक बीज विराट् की दिशा में गतिशील हुए हैं। अतीत का अवगाहन करने पर कुछ स्मृतियां उभर रही हैं। वे साक्ष्य हैं उनकी करुणा की धारा के प्रवाह की।

गुरु का वात्सल्य

पूज्य कालूगणी को मैं बहुत प्रिय था। वे मुझ पर अनुशासन कम करते, करुणा-दृष्टि से प्लावित अधिक करते। श्रीडूंगरगढ़ की घटना है। सर्दी का मौसम था। मैं पूज्य गुरुदेव के सामने बैठा था। उन्होंने मेरे भावों को पढ़ा और पूछा–'क्या नाश्ता नहीं मिला?'

मैंने कहा–'नहीं मिला।'

'क्या आजकल बन्द हो गया?'

मैंने कहा–'हां, अभी बन्द है।'

पूज्य गुरुदेव ने तत्काल साध्वी सोनांजी से कहा–'नाश्ता ला दो।'

टूटी हुई शृंखला फिर जुड़ गई। नाश्ता कोई बड़ी बात नहीं थी। प्रश्न है स्नेह का, करुणा का। यदि बालक को स्नेहपूर्ण वातावरण मिलता है तो विकास की संभावनाएं बढ़ जाती हैं। ताड़ना में सिकुड़न पैदा होती है और स्नेह में विकास। ताड़ना परिस्थिति विशेष में होने वाली विवशता है। स्नेह मनुष्य का निसर्ग है। स्नेह की भावना के साथ जल का सिंचन पाकर एक पौधा भी लहलहा उठता है तब मनुष्य की तो बात ही क्या! मैंने ताड़ना बहुत कम पायी और स्नेह बहुत अधिक पाया। विकास का निमित्त पाने में मैं सचमुच सौभाग्यशाली रहा हूं।

मैं पूज्य कालूगणी के विनोद का साधन भी था। विनोद के क्षणों में पूज्य कालूगणी मुझे अनेक संबोधनों से पुकारते थे। उनके प्रिय संबोधन थे–बंगू, शम्भु, हाबू, वल्कलचीरी, नत्थू। गुरुदेव ने 'कालूयशोविलास' में पूज्य कालूगणी के इस विनोदी स्वभाव का वर्णन इस रूप में किया है–

नानकियां सन्तां स्यूं, सतियां स्यूं विनोद की बातां रे
करता परम-प्रमोद में।
वल्कलचीरी, बंगू, हाबू, नत्थू नै बतलाता रे
गुण भरता नई पौध में।

गतिमान बनाने के प्रयत्न

मेरी गति व्यवस्थित नहीं थी। मैं चलता तब पैर इधर-उधर पड़ते। दोपहर के समय जब एकान्त होता तब पूज्य गुरुदेव कहते–तुम चलो। मैं चलता तब उनका निर्देश मिलता–पैर ठीक ढंग से रखो। न जाने कितनी बार चलने का अभ्यास कराया।

मैं मानता हूं कि यह मुझे गतिमान बनाने का ही प्रयत्न था। बहुत छोटी-छोटी बातों से जीवन का निर्माण कैसे होता है, इसे केवल बड़ी बातों में विश्वास करने वाले नहीं समझ पाते।

हम लोग स्थान से बाहर जाते हैं तब 'पछेवड़ी' के गांठ लगाकर जाते हैं। मैं प्रातःकाल पूज्य गुरुदेव के साथ बाहर जाने के लिए तैयार होकर वहां चला जाता। पूज्य गुरुदेव कहते–'गांठ ठीक से नहीं लगी।' वे उसे अपने हाथों से खोलते और फिर अपने हाथों से ही गांठ लगाते। लंबे समय तक यह सिलसिला चला। इस छोटी-सी घटना ने क्या यह पाठ नहीं पढ़ाया कि मन की जटिल ग्रंथियों को

खोलना हम सीख जाएं और कोई गांठ पड़े तो भी वह इतनी उलझी हुई न हो, जिसे खोलना कठिन बन जाए।

बड़ा बनने का गुर

पूज्य कालूगणी का एक विशेष स्वभाव था। अपने पास बैठे बाल मुनियों को वे कुछ न कुछ सिखाते रहते।

वि. सं. १९८९ की घटना है। आचार्यवर टमकोर से विहार कर राजगढ़ पधार रहे थे। एक छोटे से गांव में प्रवास था। मैं और मुनि बुद्धमल्लजी आचार्यवर की सन्निधि में बैठे थे। उस समय कालूगणी ने हमें एक श्लोक सिखाया–

बालसखित्वमकारणहास्यं स्त्रीषु विवादमसज्जनसेवा।
गर्दभयानमसंस्कृतवाणी, षट्सु नरो लघुतामुपयाति।।

बच्चों के साथ मित्रता, बिना कारण हंसना, स्त्रियों के साथ विवाद, दुर्जन की सेवा, गधे की सवारी और अशुद्ध वाणी–इन छह बातों से आदमी छोटा बनता है।

आचार्यवर ने कहा–'जो बड़ा बनना चाहे, उसे इन बातों से बचना चाहिए।'

आचार्यवर का यह सहज स्वर हमारे अवचेतन मन तक पहुंच गया। हम छुटपन की एक बीमारी से मुक्त हो गए। हम दोनों में अकारण हंसने की आदत थी। आहार और अध्ययन करते समय भी बैठे-बैठे हंसने लग जाते। कोई छोटी-मोटी बात होने पर भी अपनी हंसी को रोक नहीं पाते। तारानगर में आहार करते समय हम हंस पड़े। मुनि पूनमचंदजी उसमें साथ थे। उसके लिए हमें मंत्री मुनि मगनमलजी का उलाहना सहना पड़ा। हम चाहते थे कि हम अकारण ही न हंसें या छोटी-सी बात पर आने वाली हंसी को रोक सकें। किंतु सहज ही कोई ऐसी आदत अर्जित हो गई थी कि हम अपनी हंसी पर रोक नहीं लगा पा रहे थे।

इस श्लोक का कुछ अनुदान हमें मिला। हम लघुता की दिशा में नहीं बढ़ना चाहते थे। संस्कृत के प्रति हमारा अनुराग बढ़ा और अकारण हंसने की आदत भी बदलने लगी।

आचार्यवर द्वारा प्रदत्त बोधपाठ जैसे-जैसे अवचेतन की गहराइयों में उतरा वैसे-वैसे हम उस आदत से मुक्त होते चले गए और एक दिन उससे पूर्ण मुक्त हो गए।

एक बार उन्होंने हमें दोहा सिखाया–

हर डर गुरु डर गाम डर, डर करणी में सार।
तुलसी डरै सो ऊबरे, गाफिल खावै मार।।

इस दोहे ने एक भावना पैदा की। हम मुनि तुलसी से डरने लगे। मैं गोस्वामी तुलसी से परिचित नहीं था। मुनि बुद्धमल्लजी भी परिचित नहीं थे। हमने उसका यही अर्थ लगाया कि पूज्य गुरुदेव हमें यह संबोध दे रहे हैं कि जो तुलसी से डरता है वह उबर जाता है। सचमुच हमने इस संबोध को अपनाया और हम उबर गए।

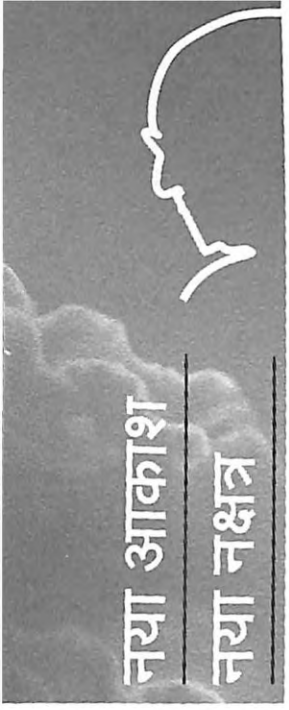

स्वावलंबन का पाठ

पूज्य कालूगणी जोधपुर की ओर विहार कर रहे थे। डीडवाना से प्रस्थान होना था। सूर्योदय हो गया। प्रस्थान की तैयारी हो रही थी। मैं आचार्यवर के पास जाकर खड़ा हो गया। उन्होंने मुझे देखा और ध्यान से देखा। फिर पूछा–'तुम्हारा बोझ कहां है?' यह प्रश्न स्वाभाविक था। हर मुनि अपना बोझ स्वयं उठाता है। मेरे कंधे खाली थे। इसलिए उन्हें यह प्रश्न पूछना आवश्यक लगा।

मैंने उस प्रश्न के उत्तर में कहा–'मैं आज अस्वस्थ हूं इसलिए दूसरे संतों ने मेरा बोझ ले लिया है।'

आचार्यवर ने स्वर को तेज करते हुए कहा–'क्या इतने अस्वस्थ हो कि कुछ बोझ लेकर चल नहीं सकते?'

मैंने कहा–'ऐसा तो नहीं है, पर संत मुझे बोझ लेने नहीं दे रहे हैं, तब मैं क्या करूं?'

आचार्यवर ने कहा–'सामान्य अवस्था में खाली नहीं चलना चाहिए।'

आचार्यवर ने मुनि तुलसी (आचार्य तुलसी) को बुलाकर कहा–'इसे अपनी निश्रा का बोझ दे दो। यह खाली कैसे चलेगा?' मुझे अपनी निश्रा का बोझ मिल गया और डीडवाना से प्रस्थान हो गया।

मैंने अनुभव किया–वात्सल्य और निर्माण की दिशा में कहीं-कहीं दूरी भी होती है। केवल वात्सल्य ही व्यक्तित्व के निर्माण का हेतु नहीं है, उसके साथ-साथ यथार्थ की अनुभूति कराना आवश्यक है।

करुणा का निदर्शन

लाडनूं में मर्यादा-महोत्सव हो रहा था। सर्दी तेज पड़ रही थी। बर्फीली हवा चल रही थी। मुनि तुलसी के लिए सूरजमल बैंगानी के घर से होमियोपैथी दवा की पुड़िया लानी थी। मैं दवा लेने गया।

आचार्यवर जंगल में घूमकर स्थान पर आए। उन्होंने आते ही पूछा–'नत्थू कहां है?'

संतों ने कहा–'दवा लाने गए हैं।'

आचार्यवर ने कहा–'आज सर्दी बहुत है। देखो! वह कंबल ओढ़कर गया है या नहीं?'

संतों ने मेरे निश्रा के उपकरण देखे, कंबल वहीं पड़ा था। मैं उसे ओढ़कर नहीं गया था। संतों ने आचार्यवर को इसकी सूचना दी। उन्होंने कहा–'वह सर्दी से ठिठुर जायेगा। कंबल लेकर उधर चले जाओ, जिधर वह गया है।' दो मुनि कंबल लेकर मेरे सामने पहुंचे। मैं आचार्यवर की करुणा से अभिभूत हो गया। उन्होंने मुझे सर्दी की ठिठुरन से ही नहीं बचाया किंतु उस प्रकंपन से भी बचा लिया जिसके आघात से हर आदमी प्रकंपित है।

इस घटना की मेरे किशोर-मन पर एक प्रतिक्रिया हुई। मन में अनुशासन का भाव जागा। पूज्य गुरुदेव मेरे हितों का ध्यान रखते हैं। उनका प्रत्येक आदेश-निर्देश हित की दृष्टि से ही होता है।

समता का मूल्य

एक बार दो कंबल आए। एक मुझे लेना था और एक मुनि बुद्धमल्लजी को। दोनों एक-जैसे थे। एक बिल्कुल साफ था। एक पर कुछ धब्बे थे। मैंने कहा–यह साफ कंबल मैं लूंगा। मुनि बुद्धमल्लजी ने भी

वैसा ही आग्रह किया। हम दोनों का आग्रह देख पूज्य गुरुदेव ने वह किसी को नहीं दिया। दोनों कंबल अपनी पछेवड़ी (चादर) से ढांक लिये। उनके केवल दो सिरे बाहर निकाले और हम दोनों से कहा—जो इच्छा हो वह एक सिरा पकड़ लो। हमने एक-एक सिरा पकड़ लिया। जो साफ-सुथरा था वह मुनि बुद्धमल्लजी के हिस्से में चला गया। फिर भी मैं अप्रसन्न नहीं हुआ। सहज ही मेरे मन पर एक छाप पड़ी कि समता का मूल्य प्रियता से भी ज्यादा है।

मूल्यांकन किसका?

वि. सं. १९८९ की घटना है। आचार्यवर श्रीडूंगरगढ़ में विराज रहे थे। मैं उनके उपपात में बैठा था। उन्होंने अपने पुट्ठे से भर्तृहरि के 'नीतिशतक' की एक बहुत सुंदर हस्तलिखित प्रति निकाल कर मुझे दी। मैं मेरे सहपाठियों के बीच गया। मैंने वह प्रति मुनि बुद्धमल्लजी को दिखाई। वे तत्काल आचार्यवर के पास गए और 'नीतिशतक' की एक प्रति मांगी। आचार्यवर ने कहा—'अब उसकी प्रति कहां है? वह तो दे दी गई।' उन्होंने फिर मांग की। आचार्यवर का करुणाशील मानस पसीज गया। उन्होंने मुनिश्री चौथमलजी के पुट्ठे में जो 'नीतिशतक' की प्रति थी, वह मंगाकर मुनि बुद्धमल्लजी को दी।

ऐसी ही एक घटना कविता के एक पत्र को लेकर हुई। मुनि बुद्धमल्लजी को वह मिल गया। मैं वहां उपस्थित नहीं था। मुझे नहीं मिला। मुनि बुद्धमल्लजी ने वह पत्र मुझे दिखाया। मैंने आचार्यवर के पास जाकर वैसा ही पत्र मांगा। वैसा कविता-पत्र उपलब्ध नहीं था तब आचार्यवर ने उन्हीं कविताओं का एक नया पत्र लिखवा कर मुझे दिया।

घटनाएं बहुत छोटी-छोटी सी लगती हैं। हम लोग घटनाओं की दुनिया में अधिक जीते हैं इसलिए उनका मूल्यांकन करना जानते हैं। घटना के पीछे जो प्राण होता है, जो चेतना होती है, जो घटना को जन्म देती है, उसका मूल्यांकन करना नहीं जानते। इसीलिए बड़ी घटनाओं पर हमारा ध्यान जाता है। छोटी घटनाओं की हम उपेक्षा कर जाते हैं। यही हमारे जीवन की सबसे भयंकर भूल होती है।

जीवन का निर्माण बड़ी या छोटी घटना से नहीं होता। उसके पीछे छिपी हुई करुणा से होता है, हृदय की सद्भावना से होता है। पौधे भी सद्भावना से भरे व्यक्ति के हाथों से जलाभिषेक पाकर लहलहा उठते हैं और क्रूर हाथों से जल-सिंचन पाने वाले मुरझा जाते हैं। फिर विकसित चेतना वाले मनुष्यों की जीवन-संरचना की सरणि इस विधि का अपवाद कैसे हो सकती है?

श्रम और अनुशासन

आचार्यवर की करुणा छत्र बनी हुई थी उन सबके लिए, जो मानसिक ताप से संरक्षण चाहते थे। दूसरों की सुरक्षा उनका पवित्र कर्तव्य हो गया था। वे स्वयं में बहुत सुरक्षित थे। उनका संयम इतना सघन था कि वे सहज ही दूसरों को त्राण दे सकते थे।

एक बार कालूगणी तारानगर से विहार कर सरदारशहर पधार रहे थे। रास्ते में बूंदाबांदी होने लगी। बादल मंडरा रहे थे। उस समय प्लास्टिक के आवरण सुलभ नहीं थे। कपड़े पर मोम लगाकर खोलियां बनाते थे और उनसे हस्तलिखित प्रतियों की सुरक्षा करते थे। तेज वर्षा में उनकी सुरक्षा कठिन हो जाती। आचार्यवर हस्तलिखित ग्रंथों की सुरक्षा के लिए बहुत सजग थे। वर्षा तेज हो गई। आचार्यवर ने सब

साधुओं को एक जगह खड़े रहने का आदेश दिया। सब साधु खड़े हो गए। पुस्तकें उनके कंधों पर थी। ऊपर से दो चिलमिलियां तान दीं। आचार्यवर घुटने के दर्द के कारण हाथ में गेडिया रखते थे। उन्होंने गेडिया ऊंचा कर उन चिलमिलियों को ढलवां कर दिया। पानी नीचे सरकता गया। आचार्यवर आधा घंटा तक खूब परिश्रम करते रहे। उनके श्रम ने पुस्तकों को भीगने से बचा लिया।

उस करुणा की मिट्टी में निर्माण के बीज नहीं उगते जिसमें श्रम और अनुशासन के तत्त्व नहीं होते। आचार्यवर श्रम के देवता और अनुशासन के अधिष्ठाता थे। उनकी अनुशासनात्मक कठोरता कम नहीं थी। वे अनुशासन के पक्ष में वज्र से भी कठोर थे, पर वह कठोरता कटुता का रूप नहीं ले सकी। इसका कारण भी उनकी करुणा की व्यापकता है।

अपेक्षा है—हमारे मानस की करुणा के सुप्त बीज उनकी करुणा के महास्रोत से कुछ सिंचन पाएं। उनकी स्मृति का परिणाम हमारे जीवन की एक परिणति बन जाए।

एक मनोव्यथा

पूज्य कालूगणी मालवा की यात्रा सम्पन्न कर चित्तौड़ पधारे। आचार्यवर के पुट्ठे में टब्बा सहित भक्तामर की प्रति थी। कुछ समय पहले आचार्यवर ने वह मुझे दे दी। एक दिन प्रातःकाल गुरुदेव ने कहा—वह भक्तामर की प्रति लाओ। आचार्यवर वह प्रति क्यों मंगा रहे हैं? मेरे मन में यह प्रश्न हुआ। मैं प्रति ले आया। गुरुदेव ने भक्तामर का पाठ शुरू किया। रहस्य का मुझे पता लग गया। आचार्यवर के बायें हाथ की उंगली में फुन्सी हो गई थी। उस आकस्मिक उपद्रव की शांति के लिए गुरुदेव ने भक्तामर का पाठ किया। यह देखकर मुझे तोष का अनुभव हुआ कि मेरी प्रति का आचार्यवर उपयोग कर रहे हैं।

आचार्यवर चित्तौड़ से प्रस्थान कर गंगापुर पधारे। हाथ का व्रण उत्तरोत्तर विकराल रूप ले रहा था। मैं मध्याह्न काल में घंटा-दो-घंटा आचार्यवर की सेवा में बैठता था। दोपहर में व्याख्यान होता। प्रारंभ में मैं उपदेश देता। एक दिन मैं उपदेश देकर आया और आचार्यवर ने कहा—'तू उपदेश कैसा देता है? हमें यहां सुनाई नहीं देता। सुनाई देता तो पता चलता कि ठीक देते हो या नहीं।' उस समय मुझे लग रहा था कि कितनी करुणा, कितना वात्सल्य और कितनी परिष्कार की आकांक्षा।

गुरु गुरु होता है। कालूगणी में मैंने जिस गुरुता का अनुभव किया वह अलौकिक है। पता नहीं क्या हुआ? मध्याह्न काल में मैं गुरुवर की उपासना में बैठता था वह क्रम टूट गया। वह क्यों टूटा? इसका कारण स्मृति में नहीं है। स्मृति में इतना शेष है कि गुरुवर के स्वर्गवास के बाद मुझे अपनी भूल का अहसास हुआ। मैंने वह उपासना का क्रम क्यों बंद किया? गुरुदेव ने क्या सोचा होगा? जिस गुरु ने मुझ पर निरंतर वात्सल्य की वर्षा की उनके मन में मेरे प्रति क्या भाव आया होगा? उस भूल के परिष्कार का कोई उपाय मेरे हाथ में नहीं है। जो हुआ सो हो गया। बस यहीं विराम लेना पड़ेगा।

मेरे विद्या गुरु

मैं जिस दिन दीक्षित हुआ, उसी दिन पूज्य कालूगणी ने मेरे शिक्षण-प्रशिक्षण और देख-रेख का दायित्व मुनि तुलसी को सौंप दिया। गुरुदेव ने कहा—तुम मुनि तुलसी के पास रहो। मैं इस आदेश के आशय को नहीं जानता था फिर भी मेरा मन पुलकित था। मैं शिशु-हृदय था। मुनिवर की उदार प्रवृत्ति ने मुझे अपना सा बना लिया। प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन साधु-चर्या के आवश्यक अंग हैं। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद उनका सम्यक् आचरण होने लगा।

आत्मानुशासन से उपजा अनुशासन

षोडशवर्षीय युवा शिक्षक की योग्यता को देखकर हम विद्यार्थी साधुओं के अंतस् में एक निष्ठा पैदा हो गई। कुछ बाल-साधु हमसे पहले मुनि तुलसी के पास शिक्षा ग्रहण करते थे परन्तु परिस्थितिवश उनकी अध्ययन परम्परा पूर्ण नहीं हुई। मैं मानता हूं कि स्थायी रूप से पहला विद्यार्थी मैं ही था। छोटे-बड़े सभी मुनियों की दृष्टि में आप सम्मानित थे। मैंने अनेक बार यह साक्षात् अनुभव किया कि अधिक अवस्था वाले मुनि भी आपके सामने गौरवपूर्ण संकोच का अनुभव करते थे। आपमें अनुशासन शक्ति नैसर्गिक थी। आपके भ्रूभंग के दर्शन मात्र से हम शिशुमुनियों के मन कितने आशंकित हो जाते थे, यह शब्दों द्वारा कहा नहीं जा सकता।

मैंने अनुभव किया कि मैं उपालंभ और साधुवाद, भय और प्रेम—दोनों का मिश्रित जीवन जी रहा हूं। मुनि तुलसी प्रमाद होने पर उलाहना भी बहुत देते और सही काम करने पर साधुवाद भी देते। मेरे प्रति उनके अंतःकरण में आकर्षण भी था और वे अनुशासनात्मक भय भी बनाए रखते थे। नीति का वचन है—भय के बिना प्रीति नहीं होती। मेरा अनुभव है—प्रीति के बिना भय नहीं होता। दोनों सचाइयां अधूरी हैं, पर दोनों में सत्यांश अवश्य है।

अनुशासन का रहस्य

पूज्य कालूगणी जोधपुर में चतुर्मास कर रहे थे। उस समय मुनि तुलसी की पूरी पाठशाला चल रही थी। उसमें आठ-दस साधु पढ़ रहे थे। अनुशासन कठोर था। केवल अध्ययन। परस्पर बातचीत करने के लिए समय नहीं था। पढ़ते-पढ़ते थक जाते। मन होता परस्पर मिलें और बातचीत करें। मुनि तुलसी के सामने बातचीत कर नहीं सकते थे। वे प्रयोजनवश जब दूसरे स्थान पर जाते तो हम बातचीत करने बैठ जाते। उनके आने का पता चलता तब फिर सब अपना पाठ कंठस्थ करने लग जाते। कभी पता नहीं चलता तो उलाहना मिलता।

कभी-कभी हम एक साधु को सीढ़ियों के पास बिठा देते। वह मुनि तुलसी के आने की सूचना देता और हम सब अपने अध्ययन में लग जाते। यदि हमारे मन में उनके प्रति प्रीति नहीं होती तो हम उलाहने के भय से मुक्त हो जाते। जो केवल डरता है वह ढीठ बन जाता है। डर के पीछे भी एक बंधन सूत्र होता है और वह है प्रीति।

छापर की घटना है। एक दिन मुनिवर ने मुझे कहा–'आज तुम्हें विगय नहीं खानी है।' यह एक भूल का प्रायश्चित्त था। मेरे जीवन में ऐसे प्रायश्चित्त का यह पहला ही अवसर था। भोजन का समय हुआ। मुनिश्री चंपालालजी, मुनिवर और मैं–तीनों एक साथ भोजन करते। गोचरी में आम का रस आया। 'मैं नहीं खाऊं और वे खाएं'–यह उन्हें अच्छा नहीं लगा। उन्होंने कहा–'तुम खाओ।'

मैंने कहा–'नहीं खाऊंगा। आपने कहा था कि तुम्हें विगय नहीं खानी है तो अब मैं कैसे खाऊं?' मैं अपनी बात पर अड़ गया। हमारी भोजन की मंडली बड़ी थी। मुनिश्री मगनलालजी की सन्निधि में लगभग बीस-पचीस साधु एक मंडली में भोजन करते थे। उन सबके बीच कोई बातचीत नहीं की जा सकती थी। मुनिवर ने कुछ शब्दों के संकेतों से मुझे विवश कर दिया और मैं अपना बालहठ छोड़ने को तैयार हो गया।

एक किशोर के विकास में सहयोगी बनना बहुत कठिन बात है। उसके मन को तोड़कर चलने वाला भी उसका सहयोगी नहीं हो सकता। सहयोगी वह हो सकता है जो सब कुछ उसका मनचाहा न करे और सब कुछ अनचाहा भी न करे, दोनों के बीच संतुलन स्थापित कर सके।

अनुशासन : क्रिया और प्रतिक्रिया

एक बार हम पूज्य कालूगणी के पास पहुंचे। हमने उनके चरणों में एक विनम्र प्रार्थना रखी। हमने कहा–गुरुदेव! तुलसी स्वामी हम पर कड़ाई बहुत करते हैं।

पूज्य गुरुदेव ने पूछा–किसलिए?

हमने कहा–'पढ़ाई के लिए।'

गुरुदेव–'और किसी के लिए तो कड़ाई नहीं करता?'

हमने कहा–'नहीं।'

तब गुरुदेव बोले–'पढ़ाई के लिए तो वह करेगा, इसमें तुम्हारी नहीं चलेगी।'

हम अवाक् रह गए। आए थे आशा लिए, हाथ लगी निराशा।

आचार्यवर ने कहानी सुनाई–राजा के पुत्र के सिर पर अध्यापक ने अनाज की पोटली रख दी। पढ़ाई समाप्त हुई। विद्यार्थी की परीक्षा के लिए अध्यापक राजसभा में जा रहा था। बीच में अनाज की दुकान आई। गेहूं खरीदे। उनकी पोटली बांधी और विद्यार्थी राजकुमार को उसे उठाने को कहा। वह अस्वीकार कैसे करता, पर वह दब गया भार से और लज्जा से। परीक्षा हुई। वह उत्तीर्ण हो गया। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। अध्यापक से पूछा–'राजकुमार ने विद्यार्जन कैसे किया?'

अध्यापक ने कहा–'बहुत अच्छे ढंग से किया, विनयपूर्वक किया।'

राजकुमार से पूछा–'गुरुजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया?'

राजकुमार बोला–'बारह वर्ष तक तो अच्छा किया पर आज....।'

राजा ने पूछा–'आज फिर क्या हुआ?'

राजकुमार ने पोटली की घटना सुनाई और राजा का चेहरा तमतमा उठा। अध्यापक से पूछा तो उत्तर दिया—'वह भी पढ़ाई का एक अंग था। वह पाठ राजकुमार को ही पढ़ाना था। आगे चलकर दंड वही देगा। भार उठाने में कितना कष्ट होता है, इसका भान कराना था। यह भान हो गया है। अब वह किसी से अधिक भार नहीं उठवाएगा।' राजा का आक्रोश विलीन हो गया।

आचार्यवर ने कहा—'अध्यापक राजकुमार से भी पोटली उठवा सकता है तब फिर....।'

हमारे पास अब कहने को कुछ नहीं था। हम वहां से अपने स्थान पर आ गए। अब मन में चिंता हो गई कि मुनिवर को जब ज्ञात होगा तो वे क्या कहेंगे? उनके पास पढ़ने को कैसे जाएं? सूर्योदय हुआ। श्लोक-वाचन के लिए सकुचाते से गए और वाचन कर बिना कुछ उलाहना लिए आ गए। कई दिनों तक मन में भय रहा, पर आपने कभी हमें भयभीत नहीं किया। आपको उस स्थिति का पता चल गया पर हमें यह पता नहीं चलने दिया कि आपको सारी स्थिति ज्ञात है।

अनुशासन एक कला है। उसका शिल्पी यह जानता है कि कब कहा जाए और कब सहा जाए। सर्वत्र कहा जाए तो धागा टूट जाता है और सर्वत्र सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है। इसलिए वह मर्यादाओं की रेखाओं को जानकर चलता है।

अनुशासन : क्वचित् हां क्वचित् नां

मुनि छत्रमलजी व्याख्यान की सामग्री का संकलन करते थे। मेरे मन में भी यह भावना जगी। मैंने भी उसके संकलन का निर्णय किया। मुनिवर को पता चला। उन्होंने मनाही कर दी। मुझे ठेस लगी। उस समय उसकी जरूरत नहीं थी, पर विद्यार्थियों में होड़ चलती थी। कोई एक विद्यार्थी साधु व्याख्यान की सामग्री संकलित करे तो दूसरा कैसे नहीं करे? मैंने फिर आग्रह किया। मुनिवर अप्रसन्न हो गए। मैं इस विषय में बहुत जागरूक रहता कि वे अप्रसन्न न हों। पर कभी-कभार वे अप्रसन्न हो जाते तो उन्हें प्रसन्न किए बिना मुझे चैन नहीं मिलता।

एक बार सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं उन्हें वंदना करने गया। मैंने विनम्र स्वर में कहा—'मुझसे कोई भूल हुई हो तो मुझे बताएं। मुझे क्षमा करें पर आप अप्रसन्न न रहें।' वे नहीं बोले। मैं अपना हाथ उनके पैरों में टिकाए हुए वंदना की मुद्रा में बैठा रहा। फिर भी वे नहीं बोले। लगभग दो घंटे बीत गए। प्रहर रात आ गई। सोने का समय हो गया। वे पूज्य कालूगणी के पास चले गए और मैं मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी के पास सोने के लिए चला गया।

तादात्म्य और अनुशासन

मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी मुनिवर के बड़े भाई थे। हमारी रहन सहन की सारी व्यवस्था वे ही करते थे। हम दो व्यक्तियों के कठोर अनुशासन में चल रहे थे। मुनिश्री चम्पालालजी का अनुशासन भी बड़ा कठोर था। वे हम लोगों पर काफी कड़ा नियंत्रण रखते और थोड़ी सी भूल होने पर बहुत अप्रसन्न हो जाते। उन्हें प्रसन्न करना भी कोई सरल काम नहीं था। गाय दूध देती है तो उसकी लात भी सह ली जाती है। हमें निरन्तर दूध मिलने का अनुभव हो रहा था इसलिए हम उनकी अप्रसन्नता भी सह लेते और उन्हें प्रसन्न

करने में हमें अधिक प्रसन्नता का अनुभव होता। अनुशासन में रहने वाला व्यक्ति कितना पकता है और कैसे पकता है, इसका हमें अच्छा अनुभव है। अनुशासन की सबसे पहली शर्त है—तादात्म्य। उसके बिना अनुशासन करने वाला और उसे सहने वाला—दोनों ही सफल नहीं हो सकते।

अनुशासन का फलित है आत्मानुशासन

अनुशासन को मैं बहुत व्यापक अर्थ में स्वीकार करता हूं। वह केवल निषेधात्मक नहीं है। अवांछनीय आचरण और व्यवहार से रोकना ही अनुशासन नहीं है, वह उसका छोटा सा पक्ष है। अनुशासन का व्यापक स्वरूप है—विवेक शक्ति का विकास और नियंत्रण शक्ति का विकास। विवेक और नियंत्रण की शक्ति का विकास होने पर व्यक्ति का जीवन स्वयं शासित हो जाता है। फिर उसके लिए दूसरे का शासन जरूरी नहीं है। अनुशासन कुंठा पैदा करने की प्रक्रिया नहीं है। वह प्रक्रिया है आत्मानुशासन को जगाने की। हम कभी-कभार कुंठा पैदा करने वाले अनुशासन की सीमा में भी रहे, पर अधिकांशतः हम आत्मानुशासन जगाने वाले अनुशासन में ही पले। इसीलिए अच्छाइयों को पकड़ने में हमारी अन्तश्चेतना सदा गतिशील रही।

मेरे जैसे बनोगे?

पूज्य कालूगणी की जन्मभूमि छापर में मर्यादा-महोत्सव का आयोजन हो रहा था। मुनिवर वहां नहीं थे। शारीरिक अवस्थता के कारण लाडनूं में ही रह गए थे। मुनि सुखलालजी स्वामी और मुनि अमोलकचंदजी लाडनूं से छापर आए। उन्होंने आचार्यवर से प्रार्थना की—मुझे वहां भेजा जाए। आचार्यवर ने उसे स्वीकार कर लिया। साध्वीप्रमुखा झमकूजी को इसका पता चला। मेरे रजोहरण का प्रतिलेखन वे करती थीं। मध्याह्न के समय मैं उनके पास गया। उन्होंने कहा—'आप लाडनूं जा रहे हैं?'

मैंने कहा—'जा रहा हूं।'

साध्वीप्रमुखा बोली—'फिर आपको गुरुदेव अपने पास नहीं रखेंगे, सदा के लिए अलग विहार करने वाले साधुओं के साथ भेज देंगे।'

मैं कुछ असमंजस में पड़ गया। मैं पूज्य गुरुदेव के पास पहुंचा, साध्वीप्रमुखा ने जो बात कही, वह बता दी। पूज्य गुरुदेव ने मृदु मुस्कान के साथ कहा—'तुम तुलसी के पास लाडनूं चले जाओ। कोई चिंता मत करो।'

मैंने मुनि-द्वय के साथ लाडनूं के लिए विहार किया। बीच में हम लोग एक दिन सुजानगढ़ रुके। वहां नथमलजी स्वामी का आतिथ्य स्वीकार किया। दूसरे दिन लाडनूं पहुंचे। मुनिवर ने तथा अन्य सभी साधुओं ने हमारी अगवानी की। अलग रहने में मुझे जो कठिनाई अनुभव हो रही थी, उसका समाधान हो गया। अध्ययन फिर से चालू हो गया। मुनिवर को भी पूज्य कालूगणी से अलग रहने के कारण एक रिक्तता अनुभव हो रही थी। उसे यत्किंचित् मात्रा में भरने का श्रेय मुझे उपलब्ध हुआ, यह मैं मानता हूं।

एक दिन की घटना है। सभी साधु गोचरी के लिए गये थे। मैं मुनिवर के पास बैठा था। उन्होंने मुझे अध्ययन के लिए प्रेरणा दी, जीवन-विकास के कुछ सूत्र बताए और फिर कहा—तुम भी मेरे जैसे बनोगे? मैंने कहा—मुझे क्या पता? आप बनायेंगे तो बन जाऊंगा।

जीवन के आलोक-सूत्र

मुझे दूसरे साधु बहुत भोला समझते थे। मैं भोला अवश्य था, पर वे जितना समझते थे उतना नहीं था। सरलता मुझे प्रिय थी। कपट, प्रपंच, छलना और प्रवंचना से मुझे बहुत घृणा थी। मैं सबके प्रति निश्छल व्यवहार करना पसंद करता था। मैं अपने प्रति, अपने हितों के प्रति सतत जागरूक था। मैंने अपने लिए सफलता के कुछ सूत्र निश्चित किए थे।

o मैं ऐसा कोई काम नहीं करूंगा जो मेरे विद्यागुरु को अप्रिय लगे।

o मैं ऐसा कोई काम नहीं करूंगा जिससे मेरे विद्यागुरु को यह सोचना पड़े कि मैंने जिस व्यक्ति को तैयार किया, वह मेरी धारणा के अनुरूप नहीं बन सका।

o मैं किसी भी व्यक्ति का अनिष्ट-चिंतन नहीं करूंगा। मेरी यह निश्चित धारणा हो गई थी—दूसरे का अनिष्ट चाहने वाला उसका अनिष्ट कर पाता है या नहीं कर पाता, किन्तु अपना अनिष्ट निश्चित ही कर लेता है।

इन सूत्रों ने मेरा जीवन-पथ सदा आलोकित किया। मुझे कभी भी दिग्भ्रांत होने का अवसर नहीं मिला।

स्वस्थता चर्म-चक्षुओं की

मैं बचपन में आंख की समस्या से पीड़ित रहा। अनेक बार अध्ययन भी प्रभावित हुआ। मैंने जोधपुर में आंखों की चिकित्सा कराई। कुछ लाभ हुआ पर पर्याप्त लाभ नहीं हुआ। दानों की चुभन और पानी गिरना—ये दोनों चलते रहे। मुनिवर ने अनेक उपाय किए। वे केवल अध्ययन ही नहीं, जीवन की सारी व्यवस्था को संभाले हुए थे। आंख का प्रश्न बहुत बड़ा प्रश्न है। हम लोग 'खेरवा' में थे। आंखों की चुभन के कारण नींद नहीं आ रही थी। मन उद्वेलित हो उठा। मन में संकल्प और विकल्प का जाल-सा बिछ गया। सोचा, आंखों की यही स्थिति रही तो जीवन व्यर्थ ही चला जाएगा। मैं अध्ययन नहीं कर पाऊंगा और न ही विकास कर पाऊंगा। पूज्य गुरुदेव के साथ भी कैसे रह सकूंगा? क्या मुझे मुनिवर से भी अलग रहना पड़ेगा? लंबे समय तक ये संकल्प मुझे सताते रहे। फिर अचानक आस्था का स्वर जागा। रात के चार बजे होंगे। मन में अकल्पित शक्ति उतर आयी। मन ही मन मैंने कहा—मैं बिल्कुल ठीक हो जाऊंगा। मेरी आंखों की बीमारी ठीक हो जाएगी और मैं अपने लक्ष्य तक पहुंच पाऊंगा। दिन में मैंने सारी बात मुनिवर को बताई। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया। मेरा मन और अधिक हलका हो गया। उन्होंने उपचार की ओर अधिक ध्यान दिया। अनेक औषधियों का प्रयोग किया, पर लाभ नहीं हुआ। उदयपुर में दानों को मिश्री से घिसना शुरू किया। उससे कुछ लाभ हुआ और बीमारी की भयंकरता समाप्त हो गई।

मैं अनुभव करता हूं कि मेरे विद्या-गुरु ने मुझे अंतश्चक्षु का ही दान नहीं किया, चर्म-चक्षुओं का भी दान दिया है।

उपाय की मनीषा

मालवा की यात्रा हो रही थी। सर्दी का मौसम था। हमारी संघीय व्यवस्था के अनुसार सोने का स्थान विभाग से निश्चित होता है। हम दीक्षा पर्याय में बहुत छोटे थे। दीक्षा पर्याय में बड़े साधुओं को अच्छा

स्थान मिल गया और हमें सोने के लिए खुला स्थान मिला, जिसके कई दरवाजे थे। किवाड़ एक भी नहीं था। मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी को पता चला, तब वे आए और उन्होंने हम सबको कहा—'अपने-अपने सिरहाने में जो नया कपड़ा है, वह निकालो।' हमने नए वस्त्र निकाल दिए। उन्होंने कपड़ों को तानकर एक तंबू सा खड़ा कर दिया। चारों ओर से बंद कपड़े का कमरा बन गया।

हमने सीखा—हर अपाय के लिए उपाय होता है। यदि उपाय की मनीषा जाग जाए तो अपायों को निरस्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

संधि-काल

वि. सं. १९९३ में गंगापुर में पूज्य कालूगणीजी का स्वर्गवास हो गया। समूचे संघ को वह वज्रपात जैसा लगा। मुनि तुलसी अब आचार्य तुलसी हो गए। पहले वे हमसे बहुत निकट थे। अब कुछ दूर-से लगने लगे। पहले केवल हमारे थे, अब वे सबके हो गए। ऐसा लगा, पहले जो करुणा की सघनता थी वह छितरा गई। पहले उसके भागीदार हम कुछेक साधु ही थे, अब हजारों-हजारों व्यक्ति हमारे सहभागी हो गए। उनसे अलग आहार करना भी अच्छा नहीं लग रहा था, पर अब सह-भोज भी संभव नहीं था। अध्ययन की व्यवस्था भी कुछ समय के लिए गड़बड़ा गई। ये सारे संधिकाल के अनुभव हैं। जैसे-जैसे समय बीता, वैसे-वैसे स्थितियों का नवीनीकरण होता गया।

अनुशासन से होता है जीवन का निर्माण

'संकल्पजा सृष्टिः' यह एक सचाई है। कार्य का पहला बिन्दु है कल्पना। उसका दूसरा बिन्दु है संकल्प, दृढ़ निश्चय। संकल्प की शक्ति से अपरिचित व्यक्ति सफलता के द्वार तक नहीं पहुंच सकता। इसलिए आवश्यक है संकल्प शक्ति का विकास। अनुशासन, सहिष्णुता और संयम—ये संकल्प शक्ति के विकास के प्रमुख सोपान हैं।

गंगापुर से विहार कर आचार्यवर बागोर पहुंचे। वहां मुझे एक नया अनुभव हुआ। आदेश की घोषणा की गई। पांच मिनिट के भीतर सब साधु जहां गोचरी का विभाग होता है वहां चले जाएं, कोई अपने स्थान पर बैठा न रहे। हमारे संघ में आचार्य के आदेश का पालन बड़ी तत्परता के साथ होता है। सभी साधु अपने-अपने पात्र लेकर उस स्थल पर पहुंच गए। मैं भी पहुंच गया। जिस स्थान पर गोचरी का विभाग हो रहा था उसके पास ही एक केलू का छपरा था। मैं वहां जाकर बैठ गया। शिवराजजी स्वामी ने मुझे देखा और बोले—'बैठने की मनाही है फिर तुम कैसे बैठे?'

मैंने कहा—'यह विभाग का स्थल है। यहां बैठने की मनाही नहीं है। अपने-अपने स्थान पर बैठने की मनाही थी। मैं वहां से यहां आ गया। यह विभाग का स्थल है। यहां कोई खड़ा रहे या बैठे, इससे आपको क्या?'

वे हमारे संघ में 'कोतवाल' कहलाते थे। वे अनुशासन की क्रियान्विति का पूरा ध्यान रखते थे। बड़े जागरूक व्यक्ति थे। मेरा तर्क बहुत साफ था फिर भी उनके गले नहीं उतरा। वे आचार्यश्री के पास पहुंचे, सारी घटना आचार्यश्री के सामने रख दी। आचार्यश्री ने मुझे बुलाकर कहा—'तुम वहां क्यों बैठे?' मैंने

अपना तर्क दोहराया। आचार्यश्री को मेरा तर्क मान्य नहीं हुआ। उन्होंने मुझे बहुत कड़ा उलाहना दिया। मैंने विनम्र भाव से उसे सुना और सहन किया। मैं कुछ भी नहीं बोला।

मैं मन ही मन सोचता रहा—मेरा कोई प्रमाद नहीं हुआ। मैंने कोई गलती नहीं की। शिवराजजी स्वामी ने अपने आवेश के कारण मुझे फंसा दिया। आचार्यवर ने भी उनकी बात मानकर मुझे उलाहना दे दिया। यह प्रतिक्रिया लंबे समय तक मेरे मन पर होती रही। मैं काफी समय तक इस घटना को मन से नहीं निकाल सका। यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं थी पर मेरे लिए यह बड़ी बात इसलिए बन गई कि मेरी भावना पर दोहरी चोट पहुंची। मैं कल्पना नहीं करता था कि आचार्यश्री की इतनी प्रियता होते हुए भी उनसे इतना कड़ा उलाहना सुनना पड़ेगा। दूसरी बात, मेरे मन पर एक छाप थी कालूगणी के व्यवहार की। मैंने सुना था—पूज्य कालूगणी को आचार्यों से कभी उलाहना नहीं मिला। मेरे मन का भी संकल्प था कि मैं कभी आचार्यवर से उलाहना नहीं सुनूंगा। मेरा संकल्प टूटता सा लगा; इससे मुझे बहुत आघात पहुंचा।

मैं कोई प्रमाद न करूं, कभी उलाहना न सुनूं, किसी के प्रति कोई अनिष्ट चिंतन न करूं, अध्ययन में किसी से पीछे न रहूं—इन छोटे-छोटे संकल्प सूत्रों ने मेरी चेतना के जागरण में योग दिया, ऐसा मैं अनुभव करता हूं। जीवन निर्माण में छोटी-छोटी बातें बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी के पास गया। उन्होंने सहज भाव से दो बोल कहे, जो मेरी अहंकार-मुक्ति की साधना में संबल बन गए। उन्होंने कहा—विद्या का और गुरु-कृपा का अहंकार नहीं होना चाहिए। हम मुनि हैं। हम किस बात का अहंकार करें। मांगना बहुत छोटा काम है। हम रोटी के लिए दूसरों के सामने हाथ पसारते हैं, फिर अहंकार किस बात का? न जाने कितनी बार जीव बेर की गुठली बनकर पैरों से रौंदा जा चुका है। फिर अहंकार किस बात का? इन छोटे-छोटे बोलों ने मन की गहरी परतों को छू लिया। अहंकार मेरी मृदुता पर कभी आक्रमण नहीं कर सका।

गुरु से मिला पाथेय

उत्तराध्ययन का एक सुन्दर सूक्त है—जो मनुष्य लंबा मार्ग लेता है और साथ में संबल नहीं होता, वह भूख-प्यास से पीड़ित होकर दुःखी होता है। जो मनुष्य लंबा मार्ग लेता है और संबल के साथ चलता है, वह भूख-प्यास से रहित होकर चलता हुआ सुखी होता है।

प्राचीन समय का हिन्दुस्तान, बड़े-बड़े भयावने जंगल, न राजपथ, न पगडण्डियां, न रेलें, न बसें और न वायुयान। उस स्थिति में कितना दुर्गम था जंगल का रास्ता। एक आदमी यात्रा पर गया। पास में न भोजन और न जल। उसकी जो दशा हुई उसे हम जान सकते हैं, अनुभव नहीं कर सकते।

एक दूसरा आदमी गया। उसके पास था पाथेय। भूख लगी, भोजन कर लिया। प्यास लगी, पानी पी लिया। जंगल का रास्ता आराम से पार कर लिया।

साधना का मार्ग एक भयानक जंगल है और बहुत लंबा रास्ता है। उसे पार करना अति कठिन काम है। इस अवस्था में गुरु से प्राप्त होने वाला पाथेय कितना सुखद होता है इसकी कल्पना हर कोई व्यक्ति नहीं कर सकता। वही व्यक्ति कर सकता है जिसने गुरु से पाथेय पाने का सौभाग्य प्राप्त किया है।

मेरा अध्ययन

अध्ययन का आदि सूत्र

मेरे अध्ययन का प्रारंभ दशवैकालिक से हुआ, वह एक जैन आगम है। उसकी भाषा प्राकृत है। उसमें मुनि की जीवनयात्रा सांगोपांग निरूपित है। मेरा अध्ययन बहुत मंथर गति से चला। पूरे दिन में उसके दो-तीन श्लोक कंठस्थ कर पाता था। इस मंथर गति से मुनि तुलसी भी प्रसन्न नहीं थे और पूज्य कालूगणी भी प्रसन्न नहीं थे। वे चाहते थे—मैं त्वरित गति से आगे बढ़ूं। कुछ दिनों तक मैं उनकी चाह को पूरा नहीं कर सका। संस्कृत और प्राकृत का कभी नाम भी नहीं सुना था। अपरिचित होने से प्रारंभिक कठिनाई होती है। मैंने भी उस कठिनाई का सामना किया। थोड़े दिनों बाद वह कठिनाई दूर हो गई। मेरी गति तेज हुई और मैं प्रतिदिन आठ-दस श्लोक कंठस्थ करने लगा। अब सब प्रसन्न थे।

मुनि दीक्षा के बाद पहला चतुर्मास वि. संवत् १९८८ में बीदासर में हुआ। उस चतुर्मास में मुनि दुलीचंदजी और मुनि बुद्धमल्लजी की मुनि दीक्षा हुई। मुनि दुलीचंदजी अवस्था में बड़े थे और मुनि बुद्धमल्लजी सवया। वे मेरे सहपाठी बन गए।

हमने (मैंने तथा मुनि बुद्धमल्लजी ने) अभिधान चिंतामणि को कंठस्थ करना शुरू किया। हम बड़ी मुश्किल से दो-तीन श्लोक कंठस्थ कर पाते। हमारी रुचि इधर-उधर घूमने और बातें करने में ज्यादा रही। हमें इस स्थिति से बचाने के लिए मुनिवर हमारे साथ श्लोक रटते थे। दो-तीन श्लोक रटने में आधा घंटे का समय बीत जाता। फिर हम पूरे दिन की छुट्टी ही मनाते। हंसना और मुस्कानाॅ—यह कोई सहज आदत बन गई थी। बहुत बार ऐसा होता कि हम शब्दों के उच्चारण काल में हंस पड़ते।

तारानगर की घटना है। मुनि तुलसी के पास वाचन करते समय 'पेढालः पोट्टिलश्चापि' जैसे विचित्र उच्चारण वाले नाम हमारे सामने आए। वे हमारे लिए कुतूहल का विषय बन गए। बहुत प्रयत्न करने पर भी हम हंसी को रोक नहीं पाए। उसी क्षण मुनि तुलसी ने हमारा वाचन बंद कर दिया। हम वहां से अपने स्थान पर चले गए। लगभग १०-१५ दिनों तक वाचन स्थगित रहा। हम दोनों ने बहुत प्रार्थना की, बार-बार निवेदन किया। तब मुनिवर ने पुनः पढ़ाना स्वीकार किया। मैं मानता हूं कि आपको कहने और बहुत उलाहना देने में विश्वास नहीं था। मुनिवर की आस्था सक्रिय दंड में थी इसीलिए विद्यार्थियों में अनुशासनात्मक भय था।

संस्कृत का अध्ययन

हमारे संघ में उन्हीं दिनों व्याकरण के दो ग्रंथ तैयार हुए। मुनि चौथमलजी स्वामी और रघुनंदनजी के संयुक्त प्रयास से **'भिक्षुशब्दानुशासनम्'** तैयार हुआ। उसका लघु ग्रंथ **'कालु कौमुदी'** मुनि चौथमलजी ने तैयार किया। मैंने उसका पाठ कंठस्थ करना शुरू किया और साधनिका भी प्रारंभ की। मेरी स्मृति और बुद्धि—दोनों का विकास नहीं हुआ था। मेरे सब साथी साधनिका को हृदयंगम कर रहे थे, पर मुझे उसे समझने में बड़ी कठिनाई हो रही थी।

बीदासर की घटना है। स्वरांत पुल्लिंग की साधनिका चल रही थी। हमें बताया गया 'जिन' शब्द की प्रथम विभक्ति के एकवचन में 'सि' प्रत्यय का योग करने पर 'जिनः' रूप बनता है। मैंने पूछा—हम 'सि' ही क्यों जोड़ें? इसके स्थान पर 'ति' क्यों न जोड़ें? कितना अजीब प्रश्न था। कोई मेधावी छात्र ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता। पर मैं बहुत छोटे गांव से निष्क्रमण कर आया था। गांव में मेधा या बुद्धि को विकसित करने का अवसर नहीं मिला इसलिए यह कठिनाई आ रही थी।

आचार्य हरिभद्र ने ग्राम शब्द की व्युत्पत्ति की है—जो बुद्धि आदि गुणों का ग्रास करता है वह ग्राम है। बौद्धिक विकास के लिए एक वातावरण चाहिए। ग्राम में वैसा वातावरण नहीं मिलता, इसलिए ग्राम में रहने वालों की बुद्धि कुंठित हो जाती है। उनमें बुद्धि का बीज नहीं होता, ऐसा नहीं है। उसे प्रस्फुटित होने की सामग्री नहीं मिलती, यह एक सचाई है। मैं एक छोटा बच्चा था। मुझे बुद्धि के विकास और कुंठा—ये दोनों अवसर नहीं मिले। मेरी मन्दता का कारण शायद अवस्था के साथ जुड़ा हुआ था। एक निश्चित अवस्था से पहले बुद्धि का विकास नहीं होना मेरी नियति को मान्य था।

अध्ययन : अवरोध और संकल्प

पूज्य कालूगणी बीकानेर राज्य के थली प्रदेश से प्रस्थान कर जोधपुर चतुर्मास करने जा रहे थे। डीडवाना पहुंचते-पहुंचते मेरी आंखों में 'दाने' पड़ गए। उपचार किया गया पर कोई लाभ नहीं हुआ। आंखों से पानी गिरने लगा। मेरा अध्ययन बंद हो गया। मेरे सहपाठी साधुओं को आगे बढ़ने का अच्छा मौका मिल गया। डीडवाना में मुनि तुलसी को नाममाला सुना रहा था। उच्चारण में अशुद्धियां आने लगी। मुनिवर ने उलाहने की मुद्रा में कहा—'मैं तुम्हें आगे कुछ नहीं पढ़ाऊंगा। अध्ययन बंद करो। जो ग्रंथ कंठस्थ किए हुए हैं, उन्हें शुद्ध करो, फिर आगे बढ़ो।'

हम विहार करते-करते लूनी जंक्शन पहुंचे। पूज्य कालूगणी ने बालोतरा की ओर विहार किया। मेरी आंखों से पानी ज्यादा गिरने लगा इसलिए मुझे मुनिश्री हेमराजजी के साथ जोधपुर भेज दिया। मेरी पढ़ाई बंद थी। मुनिश्री हेमराजजी ने मुझे प्रोत्साहित किया—'तुम प्रतिदिन कंठस्थ पाठ का जितना पुनरावर्तन करोगे, उतना मैं अंकित करता जाऊंगा और पूज्य कालूगणी के यहां पधारने पर सब निवेदित कर दूंगा।'

मैंने पुनरावर्तन शुरू किया। अभिधान चिंतामणि के पन्द्रह सौ से अधिक श्लोक हैं। मैं एक दिन में कई बार उनका पुनरावर्तन कर लेता। ढाई मास के पश्चात् पूज्य गुरुदेव चतुर्मास के लिए वहां पधारे। मुनिश्री हेमराजजी ने मेरे पुनरावर्तन का लेखा-जोखा उनके चरणों में प्रस्तुत किया। वह पुनरावर्तन कई लाख श्लोकों की संख्या का हो गया। पूज्य कालूगणी बहुत प्रसन्न हुए और मुझे साधुवाद दिया, साथ-साथ मुनि हेमराजजी को भी साधुवाद मिला।

मैं अपने विद्यागुरु के पास गया। मैंने पाठ के पुनरावर्तन की बात बताई। वे प्रसन्न हुए पर पूरे प्रसन्न नहीं हुए। उन्हें पता था कि मैंने गलतियों से भरे पाठ का ही पुनरावर्तन किया है। जब उन्हें दशवैकालिक, कालुकौमुदी पूर्वार्ध और अभिधान चिंतामणि का पाठ सुनाया तो वे प्रसन्न ही नहीं हुए, आश्चर्य से भर गए।

'पाठ शुद्ध कैसे हुआ'—इस आश्चर्यपूर्ण प्रश्न का उत्तर कौन देता? मैं पुस्तक पढ़ता नहीं था, केवल पुनरावर्तन करता था। मुझे स्वयं भी पता नहीं कि पाठ शुद्ध कैसे हो गया। आज उस घटना का उत्तर

आसान लगता है। आंखें बाह्य जगत् के साथ अधिकतम सम्पर्क स्थापित करती हैं और अधिकतम विक्षेप उत्पन्न करती हैं। उन दिनों आंखों का सहज ही संयम हो रहा था। बाहर जाने वाली चेतना भीतर लौट रही थी और भीतर की सक्रियता बढ़ रही थी। कोई आश्चर्य नहीं कि जिस शुद्ध रूप में पाठ कंठस्थ किया था, उसी पाठ की चेतना जाग गई और पाठ-शुद्धि अपने आप घटित हो गई।

अब मेरी अवस्था बदल चुकी थी। सबसे पीछे रहने वाला मैं अब दौड़ में आगे जाने की तैयारी करने लगा। मैंने निश्चय किया—अब मैं सबसे आगे रहूंगा। मैंने अपने साथियों से पूछा कि वे 'कालु कौमुदी' के उत्तरार्द्ध का कौन सा हिस्सा कंठस्थ कर रहे हैं पर किसी ने नहीं बताया। मैंने कंठस्थ करने की गति तेज कर दी। चतुर्मास पूरा होते-होते मैं प्रायः सबसे आगे चला गया। चतुर्मास के मध्य एक बार कालूगणी ने हम सब विद्यार्थियों की परीक्षा ली। उसमें मेरा स्थान अच्छा रहा।

पूज्य कालूगणी कहा करते थे—'बातेरी की बिगड़े', जो बातूनी होता है, बातों में ही रस लेता है, पढ़ने में रस नहीं लेता, वह बिगड़ जाता है।' इस उक्ति ने मन पर चोट की और बातों में रस कम होने लगा।

मुनिवर ने कितनी बार इस सचाई को समझाया—'अभी तुम बातें करोगे तो जीवन भर दूसरों के नियंत्रण में रहना होगा। इस समय अध्ययन करोगे तो बड़े होने पर स्वतंत्र हो जाओगे। फिर चाहे कितनी बातें करना, कोई टोकने वाला नहीं होगा।'

युक्तिसंगत बात मन को प्रिय लगती है। कोरा आक्रोश या कोरा उलाहना जहां प्रतिक्रिया पैदा करता है, वहां युक्तिसंगत बात अंतःकरण को छू लेती है। सचमुच आकर्षण की धारा बदल गई। मन अधिक से अधिक ज्ञानार्जन के लिए उत्सुक हो गया।

सफलता और बोधपाठ

पूज्य कालूगणी हमारे अध्ययन के बारे में कभी-कभी जानकारी लेते थे। वे मुख्य रूप से मुनि तुलसी पर ही निर्भर थे। पूज्य गुरुदेव ने सभी बालसाधुओं को हस्तलिपि दिखलाने को कहा। मेरे सहपाठी और समवयस्क सभी साधुओं की हस्तलिपि सुन्दर हो गई थी, पर मेरी हस्तलिपि सुन्दर नहीं बन पायी। मेरी हस्तलिपि जैसे ही सामने रखी गई, पूज्य गुरुदेव मुस्करा दिए। उन्होंने कोई टिप्पणी नहीं की। मुझे कुछ संकोच का अनुभव हुआ। बात वहीं समाप्त हो गई। पर अंतर्मन में बात समाप्त नहीं हुई। 'मैं पीछे नहीं रहूंगा, सबसे आगे जाऊंगा'— अन्तश्चेतना में यह संकल्प जाग गया और दीक्षा पर्याय के तीन वर्ष पश्चात् वह संकल्प बाह्य जगत् में प्रकट होने लगा।

मांडा गांव में पूज्य कालूगणी स्वयं पाठ के उच्चारण की परीक्षा ले रहे थे। मंत्री मुनि मगनलालजी पास में बैठे थे। कुछ विद्यार्थी साधुओं की परीक्षा हो चुकी थी। मैं शौच से निवृत्त होकर कुछ विलंब से आया। मंत्री मुनि ने कहा—'नाथूजी! आओ और इस पाठ का उच्चारण करो।' मैंने उस पाठ को पढ़ा और उसमें सफल रहा। मंत्री मुनि बोले—'आज तो यह बहुत सफल रहा।' तब पूज्य कालूगणी ने कहा—'अभी बच्चा है। अभी सफलता का क्या पता चले।' गुरुदेव ने उस समय एक दोहा सुनाया—

लाखा लोहां चम्मड़ा, पहला किसा बखाण।
बहू, बछेड़ा डीकरा, नीवडियां निरवाण।।

संगान और पुरस्कार

मेरी दीक्षा के बाद कालूगणी ने पहला चतुर्मास बीदासर में किया। रात का समय। पूज्य कालूगणी ने कहा—छोटे-छोटे संत यहां आओ। आज तुम्हारे गाने की परीक्षा होगी। अनेक संतों ने गीत सुनाए। मैंने भी—**'चेत चतुर नर कहै तनै सतगुरु, किसविध तूं ललचाना है'**—यह गीतिका सुनाई। पूज्य कालूगणी ने निर्णय किया कि नत्थू ने सबसे अच्छा गाया है। एक कल्याणक पुरस्कार मिला। उस पुरस्कार को प्राप्त कर अन्तस्तोष का अनुभव हुआ। न अहं और न कुछ और। मैंने हर पुरस्कार को प्रेरणा माना। 'ठाणं' का एक सूक्त उस समय मैं नहीं जानता था पर अज्ञात अवस्था में भी वह मुझे ज्ञात हो गया था। ऐसा मैं मानता हूं। सूक्त की भाषा यह है—अनात्मवान् के लिए पूजा, प्रतिष्ठा और पुरस्कार अहितकारक होता है और आत्मवान के लिए वह हितकारक होता है। आत्मवान बनूं—यह नैसर्गिक अंतःप्रेरणा थी।

प्राकृत का अध्ययन

उन दिनों कंठस्थ करने की परंपरा बहुत प्रचलित थी। मैं एक दिन पूज्य गुरुदेव के समीप पहुंचा। उन्होंने पूछा—अभी धातु पाठ कंठस्थ किया या नहीं? मैंने कहा—नहीं किया। गुरुदेव ने निर्देश दिया—उसे कंठस्थ करो। मैंने धातु पाठ कंठस्थ कर लिया।

वि. सं. १९९२, उदयपुर चतुर्मास। प्रातःकाल का समय। मैं पूज्य गुरुदेव को वंदना कर अपने प्रवास स्थान पर जा रहा था। अकस्मात् गुरुदेव ने कहा—'तूने आठवां अध्याय (हेमशब्दानुशासन का आठवां अध्याय, जिसमें जो प्राकृत, शौरसेनी आदि भाषाओं का व्याकरण है) कण्ठस्थ किया या नहीं?'

मैंने कहा—'नहीं किया।'

गुरुदेव ने कहा—'आज से कण्ठस्थ करना शुरू करो।'

मैंने गुरुदेव के आदेश को शिरोधार्य कर उसी समय उसका अध्ययन करना शुरू कर दिया।

मुनि तुलसी उसे कण्ठस्थ कर रहे थे। मैं गुरुदेव के पास गया और मैंने कहा—'मुनि तुलसी ने आचार्य हेमचंद्र का प्राकृत व्याकरण कंठस्थ करना शुरू कर दिया है। मैं अपने विद्यागुरु के साथ कैसे चल पाऊंगा?' पर मुनिवर तुलसी ने चाहा कि मैं उनके साथ प्राकृत व्याकरण सीखूं। व्याकरण को कंठस्थ करने में उन्होंने मुझे अपना साथी बना लिया। पूज्य कालूगणी के दो विशेष निर्देशों (धातु पाठ और प्राकृत व्याकरण कंठस्थ) में भविष्य झांक रहा था। इसे आगम सम्पादन का काम करना है—संभवतः नियति की इस लिपि को उन्होंने पढ़ लिया।

दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश

हमारी परम्परा में कंठस्थ करने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। आचार्यवर ने लगभग तीस हजार श्लोक कंठस्थ किए। मैंने भी लगभग इतने श्लोक कंठस्थ किए हैं। प्रातःकाल का समय कंठस्थ करने का, मध्याह्न का समय अर्थबोध और शब्द-सिद्धि का तथा रात्रि का समय पुनरावर्तन का होता। हम लोग प्रतिदिन दस से लेकर बीस, तीस, चालीस श्लोक कंठस्थ कर लेते और रात्रि के समय ५०० से १००० तक श्लोकों का पुनरावर्तन हो जाता। मैंने वि. संवत् १९९६ में उत्तराध्ययन कंठस्थ करने का निश्चय

किया। प्रतिदिन एक अध्ययन कंठस्थ करता। छत्तीस दिन में पूरा उत्तराध्ययन कंठस्थ हो गया। हमारी शिक्षा में पंक्तिपाठ को बहुत महत्त्व दिया जाता है। हमने इस प्रणाली के आधार पर अपने अध्ययन को आगे बढ़ाया।

संस्कृत और प्राकृत के अध्ययन के पश्चात् दर्शन के अध्ययन का क्रम शुरू हुआ। गुरुदेव के पास स्याद्वादमंजरी पढ़ी। प्रमाणनयतत्त्वालोक गुरुदेव के साथ पढ़ा। वि. सं. १९९५, सरदारशहर में चतुर्मास, पंडित रघुनंदनजी का आगमन। प्रमाणनयतत्त्वालोक के अध्ययन का प्रारंभ। एक विचित्र योग। पंडितजी संस्कृत के धुरंधर विद्वान्, आशुकवि और आयुर्वेदाचार्य थे। दर्शन उनका विषय नहीं था। जैन न्याय और दर्शन से सर्वथा अपरिचित। न्याय और दर्शन के अध्ययन का गुरुदेव का पहला प्रयास। समस्या का समाधान खोजा गया। भाषा का अर्थ पंडितजी करते और अर्थ का प्रतिपादन गुरुदेव करते। इस पारस्परिक योग ने दर्शन के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। मैं और मुनि बुद्धमल्लजी—हम दोनों मूक श्रोता के रूप में बैठे रहते। चार मास तक अध्ययन चला। हम दर्शन की वर्णमाला नहीं पकड़ पाए। अव्यक्त के रहस्य को समझना बहुत कठिन है। श्रम व्यर्थ नहीं जाता, यह भी सचाई है। एक दिन हमें लगा कि दर्शन के रहस्य अपने आप अनावृत हो रहे हैं, दर्शन के क्षेत्र में हमारा प्रवेश हो रहा है।

वि. सं. १९९७, लाडनूं में चतुर्मास। हमने 'भिक्षुशब्दानुशासन' का अध्ययन शुरू किया। पण्डित रघुनन्दनजी हमें पढ़ा रहे थे। साहित्य, काव्य और विनोद सब साथ-साथ चलते थे। पता नहीं नियति का कोई विचित्र लेख है—पढ़ते समय लगा—व्याकरण का विषय स्पष्ट नहीं हो रहा था। पढ़ने के बाद लगा—सारा विषय बहुत स्पष्ट है। मैं समझता हूं मेरे जीवन में ज्ञात की अपेक्षा अज्ञात अधिक काम करता रहा है।

हमने काव्यानुशासन का अध्ययन सम्पन्न किया। गुरुदेव ने कहा—हमारे अध्ययन का प्राथमिक क्रम सम्पन्न हो गया।

विकास के नए आयाम

अध्ययन का व्यापक क्षेत्र

ग्यारह वर्षों के बाद हमने अपने आप ग्रंथों का अध्ययन शुरू कर दिया। संस्कृत, प्राकृत और दर्शन– ये हमारे अध्ययन के प्रधान विषय थे। वर्तमान की समस्याओं से जुड़े हुए साहित्य को भी पढ़ने की रुचि जागृत हुई। जैन साहित्य से हटकर लौकिक साहित्य को पढ़ना शुरू किया। हमने पश्चिमी विचारकों के विचार पढ़े। स्वेट मार्डन की दो पुस्तकें पढ़ी, उनमें एक पुस्तक का नाम था लोक व्यवहार। इन पुस्तकों ने हमें काफी प्रभावित किया। व्यवहार कौशल के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ। सामाजिक जीवन में व्यवहार कौशल सर्वाधिक उपयोगी है। मृदुता, विनम्रता, सहिष्णुता और अनाग्रह यदि हमारे व्यवहार में नहीं हैं तो कोरा जीवन आकाश-कुसुम बन जाएगा।

कोलकाता में जापान की बमबारी हुई। तेरापंथी महासभा के पुस्तकालय की हजारों-हजारों पुस्तकें गंगाशहर लाई गईं। आचार्यवर का वहां चतुर्मास हुआ। मुझे संस्कृत और प्राकृत की बहुत पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिला। मैं मानता हूं, उस चतुर्मास में मेरे अध्ययन की नयी दिशाएं उद्घाटित हुई।

मैं सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् आचार्यवर को वंदना करने गया। पास में मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी बैठे थे। वंदना के अनंतर उन्होंने पूछा–'आजकल क्या कर रहा है?'

मैंने कहा–'कर्म ग्रंथ पढ़ रहा हूं। तत्त्वार्थ सूत्र की टीका पढ़ रहा हूं। और भी कुछ नाम गिनाए।'

वे तत्काल आचार्यश्री की ओर मुड़े और बोले–'महाराज! यह इतने ग्रंथ पढ़ रहा है। मूल धारणा में तो पक्का है न? कोई खतरा तो नहीं है?'

आचार्यवर ने कहा–'कोई खतरा नहीं है। सब ठीक है।'

विश्वास से विश्वास बढ़ता गया। गुरु जब इतना विश्वास करे तो शिष्य जी भर कर उस विश्वास की सुरक्षा का प्रयत्न करता है। मैंने इस सचाई को जीवन में अनेक बार साकार होते देखा है।

हिन्दी लेखन

वि. सं. २००० मेरे जीवन में नये उन्मेष का वर्ष था। चौबीसवें वर्ष में प्रवेश के साथ-साथ मुझे संस्कृत, प्राकृत और दर्शनशास्त्र के अनेक ग्रंथों के अध्ययन का सहज अवसर मिला। उसी वर्ष मैंने हिन्दी में लिखना शुरू किया। मैं संस्कृत से एक साथ हिन्दी में आया, इसलिए उस समय की मेरी हिन्दी संस्कृत-निष्ठ ही रही, फिर भी हिन्दी में लिखना मुझे अच्छा लगा। कुछ मुनियों का आग्रह था कि मैं 'पचीस बोल' की हिन्दी में व्याख्या लिखूं। मेरे मन में संकोच था। हिन्दी में मैंने कभी कुछ लिखा नहीं था। जो कुछ लिखना होता, वह सारा संस्कृत में ही लिखता। कभी-कभी प्राकृत में भी लिखता। ये दोनों पुरानी भाषाएं हैं। लोग इन्हें मृतभाषा कहते हैं। अतीत जीवित कैसे होगा? वह मृत ही होगा। जीवित केवल वर्तमान होता है। मैं भाषा के साथ-साथ दर्शन का विद्यार्थी रहा हूं। वह मेरा सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है। उसे मैंने अनेकांत

के आलोक में पढ़ा। अनेकांत का विद्यार्थी किसी को सर्वथा जीवित अथवा सर्वथा मृत कैसे मान सकता है? मैंने वर्तमान के साथ सम्पर्क स्थापित किया, पर अतीत के साथ स्थापित संपर्क को कभी कम नहीं किया। दोनों में संतुलन बना रहा। मैंने हिन्दी में 'पचीस बोल' की व्याख्या लिखी और वह ग्रंथ 'जीव-अजीव' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह मेरी पहली रचना थी हिन्दी के क्षेत्र में और दर्शन के क्षेत्र में भी।

प्रो. हीरालाल रसिकदास कापड़िया अहिंसा के बारे में एक ग्रंथ का संकलन कर रहे थे। उन्होंने आचार्यश्री के पास एक प्रस्ताव भेजा—आचार्य भिक्षु के अहिंसा संबंधी विचारों को उस ग्रंथ में मैं देना चाहता हूं। मुझे हिन्दी में उनके विचारों का एक संकलन उपलब्ध कराएं।

यह वि. सं. २००२ की बात है। मैं गोचरी करके आया। प्रथम दर्शन में ही आचार्यश्री ने पूछा—'क्या तुम लिखोगे? लिख सकोगे?' मैंने कहा—'हां!' मेरी स्वीकारोक्ति में आत्मविश्वास और आचार्यश्री के आशीर्वाद का संकेत था। आचार्यश्री कुछ संदिग्ध थे। उन्हें मेरी लेखनी के बारे में कोई संदेह नहीं था, संदेह था भाषा के बारे में। उससे पूर्व आचार्यश्री नहीं जानते थे कि मैंने हिन्दी में कुछ लिखा है या मैं लिख सकता हूं। मैं भी नहीं जताना चाहता था कि मैंने कुछ हिन्दी में लिखा है। उस समय तक मैं अधिकांशतः संस्कृत में ही लिखता रहा। मन में संकोच था कि हिन्दी में लिखूं तो उसे आचार्यश्री क्या समझेंगे?

आचार्यश्री ने कहा—'हीरालाल रसिकदास कापड़िया का पत्र आया है। वे अहिंसा के विषय में एक पुस्तक लिख रहे हैं। उन्होंने आचार्य भिक्षु की व्याख्या के अनुसार एक अहिंसा विषयक निबंध मांगा है। हिन्दी में मांगा है। हिन्दी में लिखना है। लिख लोगे?'

मैंने कहा—'हां।'

कार्य की तात्कालिक क्रियान्विति में मेरा विश्वास रहा है, इसलिए किसी भी कार्य को अधर में लटकाये रखना मेरी प्रकृति में नहीं था। निबंध लिखने का कार्य शीघ्र सम्पन्न हो गया। यह 'अहिंसा' शीर्षक से एक लघु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ।

अहिंसा के संबंध में आचार्य भिक्षु के विचार बहुत मौलिक हैं। शुद्ध साध्य की सिद्धि के लिए शुद्ध साधन का होना जरूरी है—इस सिद्धांत पर आचार्य भिक्षु ने बहुत बल दिया। मेरा अभिमत है कि इस सिद्धांत पर बल देने वाले और इस पर तार्किक पद्धति से विश्लेषण करने वाले भारतीय मनीषियों में आचार्य भिक्षु का स्थान अग्रणी है। महात्मा गांधी भी इस क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं। 'अहिंसा' पुस्तिका उनके पास पहुंची। उन्होंने उस पर कई टिप्पणियां भी लिखी और आचार्य भिक्षु के बारे में उनके मन में एक जिज्ञासा भी जागी।

साहित्य का स्पर्श

अध्ययन अपनी रुचि और अपनी क्षमता पर निर्भर है। उपादान और निमित्त को विभक्त करके नहीं देखा जा सकता। प्रोत्साहन और अनुमोदन—ये निमित्त हैं, अध्ययन की रुचि को बढ़ा देते हैं। सुप्त क्षमता जागृत हो जाती है। यह अनुभूत सत्य है इसलिए इसकी सचाई में मुझे कोई संदेह नहीं।

आचार्यश्री का बीकानेर में चातुर्मासिक प्रवास। भाद्रपद शुक्ला नवमी। आचार्य पदारोहण का दिवस। मैंने और मुनि बुद्धमल्लजी ने पट्टोत्सव के अवसर पर बोलने के लिए श्लोक बनाए और परिषद् में सुनाए।

मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी हर्षोत्फुल्ल हो गए। वे संस्कृत श्लोकों की रचना के विकास पूर्ण भविष्य को देख रहे थे। उन्होंने गुरुदेव से कहा–'इन बालमुनियों को अनुग्रह राशि दी जाए।' पूज्य कालूगणी ने संस्कृत का बीज वपन किया था। मंत्री मुनि की उसमें सहभागिता थी इसलिए संस्कृत का पल्लवन देखकर वे प्रमुदित हो जाते।

गुरुदेव का प्रथम चतुर्मास। प्रातःकाल प्रवचन में आगम का वाचन किया जाता। कुछ समय के लिए व्याख्यान का वाचन किया जाता, उसे 'उपरलो बखाण' कहा जाता था। गुरुदेव ने मंत्री मुनि से पूछा– 'बोलो किसका व्याख्यान करना है।'

मंत्री मुनि ने कहा–'व्याख्यान तो बहुत सुने हैं, आप तो हमें काव्य सुनाएं।' गुरुदेव ने मंत्री मुनि का अनुरोध स्वीकार कर 'पद्मानंद महाकाव्य' का वाचन शुरू किया।

गुरुदेव प्रवचन से पूर्व पद्मानंद महाकाव्य के श्लोकों का अध्ययन करते। मैं और मुनि बुद्धमल्लजी गुरुदेव की उपासना में बैठ जाते। गुरुदेव हमें श्लोकों का अर्थ पूछते रहते। कभी-कभी हम स्वयं श्लोकों के अर्थ पर ध्यान देते। इस प्रकार हुआ हमारे काव्य पढ़ने का प्रारंभ। यह क्रम निरंतर चलता रहा। हमने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र' अपने आप पढ़ा। 'पद्मानंद महाकाव्य' और 'ऋषभ चरित्र' के कुछ श्लोकों ने मुझे बहुत प्रभावित किया। ये मेरे जीवन सूत्र बन गए। पद्मानंद महाकाव्य का एक श्लोक–

भारे यथा रोहति भूरिरावाः निरस्यमाने रवणास्तथैव।
सदैव सर्वाङ्गबहिर्मुखानां हिताहितज्ञानपराङ्मुखत्वम्।।

अंतर्मुखी होने के लिए यह प्रेरणा सूत्र बन गया। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा–

गुरौ प्रशस्यो विनयो गुरुर्यदि गुरुर्भवेत्।
गुरौ गुरुगुणैर्हीने विनयोऽपि त्रपास्पदम्।।

(त्रिषष्टिशलाकापुरुष)

इस श्लोक से विनय की अवधारणा हृदयंगम हो गई। कुछ लोगों की सोच है–विनम्रता दासता की मनोवृत्ति है। उनकी सोच में भी सत्यांश है। सत्यांश को समग्र मान लेना बहुत बड़ी भूल है। गुरु के प्रति विनम्रता सदाचार का उत्कर्ष है। गुरुता से हीन व्यक्ति के प्रति विनम्रता अपकर्ष और प्रतिक्रिया पैदा करने वाली है।

गुरुदेव ने 'पद्मानंद महाकाव्य' का वाचन सम्पन्न कर 'शांतिनाथ चरित्र' महाकाव्य का वाचन शुरू किया। हमारे अध्ययन का क्रम पूर्ववत् चलता रहा। संस्कृत का महाकाव्य पढ़ने में परिपक्वता आती रही। अध्ययन की अपेक्षा गुरु का सान्निध्य अधिक फलद होता है। इसका हमने अनुभव किया।

संस्कृत में वक्तव्य

वि. सं. २००० तक हमारा अध्ययन संस्कृत और प्राकृत प्रधान रहा। लेखन भी उन्हीं भाषाओं में रहा। संस्कृत भाषा मेरे लिए मातृभाषा से भी अधिक सहज थी। इसलिए जो कुछ भी लिखना होता, वह संस्कृत भाषा में लिखता। वि. सं. २००० से हिन्दी में लिखना शुरू किया। संस्कृत से हिन्दी में आया था।

इसलिए कुछ वर्षों तक हिन्दी संस्कृत प्रधान रही। धीमे-धीमे हिन्दी लेखन का स्वरूप बदल गया। हिन्दी साहित्य की कुछ पुस्तकें भी पढ़ी। हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामधारीसिंह दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त आदि की कुछ रचनाएं पढ़ी। मुझे लगा—संस्कृत और प्राकृत साहित्य पढ़ने में जो आनंद की अनुभूति होती है, वह हिन्दी साहित्य पढ़ने में नहीं होती। हिन्दी साहित्य को आज भी प्राकृत और संस्कृत साहित्य की प्रौढ़ता और गंभीरता तक पहुंचना है, ऐसा मेरा अभिमत है। व्यंजना तथा थोड़े में बहुत कहने की कला उन प्राच्य भाषाओं में विकसित हुई थी। हिन्दी में उस प्रकार के विकास की ओर हिन्दी लेखकों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए।

वि. सं. २००२ का आचार्यवर का चातुर्मासिक प्रवास श्रीडूंगरगढ़ में हुआ। एक दिन बुद्धदेव आर्य वहां आए। उन्होंने प्रातःकालीन प्रवचन में संस्कृत में भाषण किया। उनका धाराप्रवाह भाषण सुन गुरुदेव के मन में एक चिंतन आया—हमारे संघ में संस्कृत के विद्वान् साधु, साध्वियां अनेक हैं, पर संस्कृत बोलने का अभ्यास कम है। यदि संस्कृत में धाराप्रवाह भाषण करना हो तो कठिनाई अनुभव होती है। यह चिंतन प्रकर्ष पर पहुंच गया। आचार्यवर ने हम विद्यार्थी साधुओं को निर्देश दिया—'तुम संस्कृत में धाराप्रवाह बोलने का अभ्यास करो।' हम सबने आचार्यवर का इंगित समझकर संस्कृत में बोलने का अभ्यास शुरू कर दिया। श्रीडूंगरगढ़ में कस्बे के बाहर रेत के बहुत ऊंचे-ऊंचे टीले हैं। मैं एक ऊंचे टीले पर खड़े होकर संस्कृत में भाषण करने लगा। कोई श्रोता नहीं था। ऊपर आकाश नीचे धरती। चारों तरफ बालू के टीले। मैं ही वक्ता, मैं ही श्रोता। यह सिलसिला लगभग दो मास तक चला। हमने गुरुदेव से निवेदन किया—'अब हम संस्कृत में धाराप्रवाह बोल सकते हैं।'

चतुर्मास सम्पन्न कर गुरुदेव आडसर पहुंचे। वह एक छोटा गांव है। रात्रि के समय हमने आचार्यवर के समक्ष संस्कृत में बोलने का क्रम शुरू किया। हमारे वक्तव्यों को सुनकर आचार्यवर को प्रसन्नता हुई। एक बार प्रसन्नता के क्षण में आचार्यवर ने कहा—'तुम सब संकल्प करो—एक मास तक प्रतिदिन संस्कृत में बोलना है। इस अवधि में जिसके भाषण में एक भी अशुद्धि नहीं आएगी, उसे पुरस्कृत किया जाएगा।' प्रतियोगिता का कार्य शुरू हुआ। उसमें बीस साधुओं ने भाग लिया। कुछ पुराने साधु थे और कुछ हम लोग नए। प्रतिदिन संस्कृत भाषण आचार्यवर की सन्निधि में चला। निरंतर नए-नए विषय और उन पर वक्तव्य। प्रतियोगिता का निष्कर्ष यह रहा कि पूरे मास के वक्तव्य में मैं त्रुटि से मुक्त रहा। मुझे पुरस्कार मिला। आचार्यवर बहुत प्रसन्न हुए। गुरु की प्रसन्नता ही शिष्य के लिए सबसे बड़ा पुरस्कार होता है।

अनुसंधान का पहला प्रयोग

आडसर में प्रारंभ हुई प्रतियोगिता का कार्य सरदारशहर में सम्पन्न हुआ। उसकी सम्पन्नता के बाद आचार्यवर ने मुझे **'भरत बाहुबलि महाकाव्य'** के त्रुटित पदों को संपादित करने का निर्देश दिया। उस काव्य के प्रति आकर्षण का एक इतिहास है। उसकी भूमिका में मैंने विस्तार से लिखा है—

तेरापंथ के पंचम आचार्यश्री मघवागणी के शासनकाल में तेरापंथ संघ में प्रस्तुत काव्य की पंजिकायुक्त एक हस्तलिखित प्रति थी। मघवागणी संस्कृत के प्रखर विद्वान् थे। वे परिषद् में प्रस्तुत काव्य का वाचन करते थे। अतः यह बहुत लोकप्रिय हो गया। एक साधु संघ से अलग हुआ। वह प्रस्तुत काव्य

की प्रति को अपने साथ ले गया। पता चलने पर उसकी खोज की गई तब उसके ४३ पत्र मिले, शेष कहीं खो गए। पूज्य प्रवर कालूगणी ने उस काव्य की खोज की। पर कहीं कोई प्रति नहीं मिली। मघवागणी का आकर्षण कालूगणी में संक्रांत था और कालूगणी का आकर्षण तुलसीगणी में संक्रांत था। आचार्य तुलसी ने भी इसकी खोज चालू रखी। तेरापंथ महासभा के मंत्री, विद्वान् श्रावक स्व. श्री छोगमलजी चोपड़ा ने एक दिन सूचना दी कि प्रस्तुत काव्य की एक प्रति आगरा के 'विजयधर्मसूरि ज्ञान मन्दिर' नामक जैन पुस्तकालय में उपलब्ध है। इस सूचना से एक संतोष का अनुभव हुआ। चोपड़ाजी ने उस पुस्तकालय की प्रति से प्रतिलिपि करवाई। वह भी बहुत अशुद्ध थी। आचार्यश्री ने उसका संशोधन कर एक प्रति तैयार करने का मुझे आदेश दिया। यह वि. सं. २००२ की बात है। उस समय हमारा मर्यादा-महोत्सवकालीन मासिक प्रवास सरदारशहर में था। मैंने हमारे संघ की प्रति और आगरा की भंडारगत प्रति की प्रतिलिपि—दोनों के आधार पर प्रस्तुत काव्य का सम्पादन किया। हमारे संघ की प्रति में जितना अंश है, उसके सम्पादन में मुझे विशेष कठिनाई नहीं हुई। किन्तु प्रतिलिपि के सम्पादन में मुझे पर्याप्त श्रम करना पड़ा। उसमें कहीं वर्ण और कहीं चरण के चरण त्रुटित थे। किसी दूसरी प्रति से पूर्ण पाठ प्राप्त होने की संभावना नहीं थी। इसलिए अपूर्ण चरणों तथा अप्राप्त अक्षरों को मैंने पूर्ण किया। वि. सं. २००६ में हम आगरा गए तब 'विजयधर्मसूरि ज्ञान मन्दिर' की प्रति को देखा। उसकी लिपि दुर्बोध और पाठ खंडित थे। फिर भी वह प्रस्तुत काव्य की सुरक्षा का एकमात्र आधार बनी।

प्राकृत व्याकरण : प्रक्रिया ग्रंथ का निर्माण

संस्कृत और प्राकृत भाषा के प्रति मेरा सहज आकर्षण रहा। यह प्रारंभ की बात है। कुछ वर्षों के बाद मैंने इस आकर्षण को वास्तविकता में बदल दिया। प्राचीन साहित्य संस्कृत और प्राकृत भाषा में निबद्ध है। संस्कृत और प्राकृत की उपेक्षा करने वाला प्राचीन भारत की आत्मा के साथ सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकता। इसलिए इन दोनों भाषाओं का गहन अध्ययन जरूरी है।

जैन आगम प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। उनका अध्ययन मैंने विद्यार्थी जीवन में किया था। नियति के अभिलेख को पढ़ना सरल नहीं है। आगम सम्पादन की नियति को मैं नहीं जानता था फिर भी आगम के अध्ययन के प्रति बचपन से ही आकर्षण था। आगमों की टीकाएं संस्कृत में लिखी हुई हैं। मेरी इच्छा प्राकृत भाषा के माध्यम से ही आगमों को पढ़ने की रहती थी। प्राचीनकाल में आगम के अधिकांश व्याख्या ग्रंथ—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि प्राकृत में ही लिखे गए थे। इसलिए प्राकृत भाषा पर भी संस्कृत भाषा जितना अधिकार करना मुझे इष्ट रहा।

विद्यार्थी साधु-साध्वियों को प्राकृत भाषा पढ़ाने के लिए आचार्य हेमचन्द्र की प्राकृत व्याकरण का उपयोग किया जाता था। सिद्धहेमशब्दानुशासन का आठवां अध्याय प्राकृत भाषा से संबद्ध है। अध्ययन की सुविधा के लिए उसकी प्रक्रिया का निर्माण आवश्यक था। इस दृष्टि से प्रक्रिया ग्रंथ का निर्माण किया गया। जिस समय (वि. सं. १९९८) इसका निर्माण किया गया, उस समय मैं स्वयं विद्यार्थी था। आचार्यश्री ने चाहा कि मैं प्राकृत व्याख्या की प्रक्रिया तैयार करूं। मैंने वह तैयार कर दी। उसका नाम रखा गया—'तुलसी मंजरी।' उस समय न विशेष अनुभव था और न प्राकृत का गंभीर अध्ययन, अतः इसमें अपनी ओर से नया कुछ भी नहीं जोड़ सका। इसलिए मैं इसे कोई महत्त्वपूर्ण कृति नहीं मानता।

प्राकृत में पहला वक्तव्य

प्राकृत भाषा में मैंने कोई काव्य या ग्रंथ नहीं लिखा। स्फुट पद्य समय-समय पर लिखे। संस्कृत में बोलना मेरे लिए सहज था। प्राकृत में बोलने का कोई प्रसंग नहीं आता था। आचार्यवर बम्बई (सन् १९५४) में प्रवास कर रहे थे। अमेरिका से पेनस्लिवेनिया यूनिवर्सिटी के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. नार्मन ब्राउन दर्शन करने आए। आगम सम्पादन के विषय में चर्चा हुई। डॉ. नार्मन ब्राउन ने उत्तराध्ययन का सम्पादन किया था। उसके विषय में भी वार्तालाप चला। वार्तालाप के पश्चात् उन्होंने कहा—'आचार्यवर! मैंने प्राकृत और आगम के क्षेत्र में कार्य किया। मेरे मन का एक मनोरथ अधूरा है। अनेक बार प्रयत्न किया पर पूरा नहीं हुआ।' जिज्ञासा करने पर उन्होंने बताया—'भगवान महावीर जिस भाषा में बोलते थे उस भाषा को मैं सुनना चाहता हूं।' यह बात कहते-कहते वे गद्‌गद हो गए।

आचार्यवर ने कहा—'आज आपका मनोरथ पूरा हो जाएगा।' मैं उस बातचीत में भाग ले रहा था। आचार्यवर ने डॉ. नार्मन ब्राउन से पूछा—'आप किस विषय पर सुनना चाहते हैं?' उन्होंने कहा—'स्याद्‌वाद पर।' आचार्यवर का इंगित पाकर मैंने २० मिनट तक स्याद्‌वाद विषय पर वक्तव्य किया।

डॉ. नार्मन ब्राउन ने भूरि-भूरि कृतज्ञता ज्ञापित की और बोले—'मेरा जीवन धन्य हो गया। चिरकाल से संजोया हुआ मेरा सपना आज पूर्ण हो गया।'

प्राच्य भाषा और उसका साहित्य मेरे अध्ययन का मुख्य विषय रहा। राजस्थानी और हिन्दी का मैंने कोई स्वतंत्र अध्ययन नहीं किया। इन दोनों भाषाओं का साहित्य मैंने पढ़ा। इनके कवियों को पढ़ा, पर क्रमबद्ध कोई अध्ययन नहीं किया। अंग्रेजी का वातावरण हमारे आसपास बहुत कम था। उसका कुछ-कुछ अध्ययन किया। पर इतना नहीं हुआ कि मैं अंग्रेजी में लिख सकूं और प्रभावी ढंग से बोल सकूं। पढ़ने और समझने की स्थिति बनी। इतने में ही संतोष मान लिया। मेरे सामने साहित्य, लेखन और आगम सम्पादन आदि के अनेक कार्य थे इसलिए मैं अंग्रेजी के विशेष अध्ययन के लिए समय भी नहीं निकाल सका।

शिक्षा की नई योजना

हमारे धर्मसंघ में शिक्षा का क्रम प्रारंभ से ही चल रहा था। आचार्य भिक्षु ने आगमों का गहन अध्ययन किया। उत्तरवर्ती सभी आचार्य और साधु-साध्वियां आगमों का अध्ययन करती रहीं। आगमों के स्वाध्याय की परम्परा हमारे संघ में पुष्ट रही। प्रवचन के विषय में भी प्रशिक्षण होता रहा। संस्कृत, प्राकृत का अध्ययन नहीं हो रहा था। जयाचार्य ने संस्कृत पढ़ी। उनके उत्तराधिकारी आचार्य मघवा उसके पंडित बने। वह परम्परा आगे नहीं बढ़ी। एक बार अवरोध आ गया। अष्टमाचार्य पूज्य कालूगणी ने स्वयं संस्कृत का अध्ययन किया। साधु-साध्वियों को संस्कृत अध्ययन में नियोजित कर दिया। प्राकृत के अध्ययन का भी क्रम शुरू हुआ। मेरी शिक्षा प्रारंभ में संस्कृत और प्राकृत से शुरू हुई। दोनों भाषाओं के गंभीर अध्ययन का अवसर मिला। संस्कृत और प्राकृत के ग्रंथों को पढ़ने के बाद यह धारणा बनी कि संस्कृत और प्राकृत के ग्रंथों का अध्ययन किए बिना प्राचीन भारत की आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। प्राचीन भारत की संस्कृति का आकलन भी नहीं किया जा सकता। वर्तमान की शिक्षा में चार सौ वर्षों का ज्ञान है और वह भी बाहर से आया हुआ है। उसमें भारत का अपना कुछ नहीं है। इसीलिए भारतीय मानस में अपने अतीत के प्रति जो गौरव होना चाहिए वह नहीं है। भारतीय लोग युवा अथवा प्रौढ़

अवस्था में संस्कार निर्माण का प्रयोग करते हैं। यह अवस्था संस्कार निर्माण की नहीं, संस्कार के क्रियान्वयन की अवस्था है। संस्कार निर्माण की अवस्था है शैशव। शिक्षा के साथ संस्कार निर्माण की युति हो तो वास्तव में व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है।

आचार्यवर के पदारोहण दिवस का कार्यक्रम था। आचार्यवर कार्यक्रम के अंतराल में एक पत्रिका पढ़ रहे थे। उसमें सोवियत संघ में चलने वाली शिक्षा और उसके पाठ्यक्रम का विवरण था। मैं पास में ही बैठा था। आचार्यवर ने मुझे कहा—अपने साधु-साध्वियों के लिए भी एक पाठ्यक्रम तैयार करो। मैंने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया। कुछ ही दिनों में एक सप्तवर्षीय पाठ्यक्रम तैयार कर दिया। वह तीन भागों में विभक्त था—१. योग्य २. योग्यतर ३. योग्यतम। उसमें संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण, साहित्य, जैन दर्शन, भारतीय दर्शन आदि विषयों का समावेश किया। इस पाठ्यक्रम का प्रयोग शुरू हुआ। अध्ययन और परीक्षाएं शुरू हो गईं। बौद्धिक विकास को एक नया आयाम मिल गया।

हमारा अध्ययन गुरु परम्परा की पद्धति से चलता है। पढ़े हुए साधु-साध्वियां नए शिक्षार्थियों को पढ़ाते हैं। इस प्रणाली से ज्ञान गंभीर और तलस्पर्शी बनता है। प्रारंभिक वर्षों में परीक्षा के नियामक मुनि दुलहराजजी थे। अध्यापन में अनेक साधु-साध्वियां संलग्न थे। परीक्षा के अवसर पर मेरा समय भी काफी लगता। यह अतिशयोक्ति के बिना कहा जा सकता है कि उस अध्ययन के आधार पर प्रबुद्ध साधु-साध्वियों की एक पंक्ति बन गई। वर्तमान के साधु-साध्वियां और समणी वर्ग आज की विश्वविद्यालय शिक्षा प्रणाली के आधार पर पढ़ रहा है। इस प्रणाली से अनेक ग्रंथों का अध्ययन कराया जाता है। पूर्ण ग्रंथ संभवतः एक भी नहीं पढ़ाया जाता। शिक्षार्थी को पल्लवग्राही ज्ञान हो जाता है पर गंभीर ज्ञान नहीं होता। भावार्थ समझ लिया जाता है किन्तु पंक्ति-पाठ की क्षमता विकसित नहीं होती। इसलिए कुछ साधु-साध्वियों को पुनः हमारे सप्तवर्षीय पाठ्यक्रम का अध्ययन कराया जा रहा है।

प्रथम पृथक् चतुर्मास

सूर्य उगता है। सूर्य विकासी कमल विकस्वर हो जाते हैं। विकास की क्षमता पुष्प में है। निमित्त का मूल्य कम नहीं है। हर व्यक्ति में विकास के बीज होते हैं पर उनका अंकुरण अनेक परिस्थितियों, निमित्तों और हेतुओं से होता है। प्रारंभ में कड़वाहट का अनुभव होता है। जैसे-जैसे सफलता मिलती है वैसे-वैसे मिठास की अनुभूति होने लग जाती है।

वि. सं. २००१ का चातुर्मासिक प्रवास मैंने सरदारशहर में किया। आचार्यश्री के पास रहकर मैं जो अध्ययन कर सकता था, वह वहां नहीं हुआ। स्वतंत्र चतुर्मास करने को हमारी भाषा में 'न्यारां का चतुर्मास' कहते हैं। उसका कार्यक्रम भिन्न होता है—

१. क्षेत्र की सार-संभाल
२. श्रावक समाज को तत्त्वज्ञान सिखाना
३. जनता की समस्या का समाधान करना
४. व्याख्यान देना।

उस युग में तीन समय व्याख्यान होता था। मध्याह्न का व्याख्यान दूसरा साधु देता था। प्रातःकाल और रात्रि में प्रायः अग्रणी ही व्याख्यान देता था। रात्रि में जैन रामायण का व्याख्यान करना अनिवार्य था। उसका ग्रंथमान लगभग ५००० गाथाएं हैं। उस समय मुझे 'न्यारां' का कोई अनुभव नहीं था। पहला

चतुर्मास था। व्याख्यान कभी दिया नहीं था। २३ वर्ष की अवस्था थी। प्रतिदिन ५०-६० गाथाएं कंठस्थ करता और रात्रि में उनका वाचन करता। बचपन से ही 'रामचरित' सुनने में रस रहा। पांच वर्ष तक पूज्य कालूगणी से 'रामचरित' सुना। वह नाना गीतिकाओं और रागिनियों में निबद्ध है। कालूगणी के कंठ में माधुर्य था, ओज था। वे गीतिकाओं का संगान करते, परिषद् झूम उठती। सात वर्ष तक आचार्य तुलसी से भी मैंने रामचरित को सुना। आचार्यवर उसका वाचन करते, रस टपकता-सा लगता। श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते। बारह वर्ष तक उस ग्रंथ का श्रवण किया हुआ था। प्रायः रागिनियां भी हस्तगत थी।

सरदारशहर में एक सुविधा भी थी और एक समस्या भी थी। गाथाओं का सह संगान करने के लिए १०-१५ धुरीण लोगों की एक टोली थी। उसमें दुलीचंदजी सामसुखा, रावतमलजी गोठी, महालचंदजी डागा, महालचंदजी छाजेड़, नेमीचंदजी बोरड़ (पंच) आदि-आदि व्यक्ति थे। इसलिए गाने की सुविधा थी और समस्या यह थी कि एक भी गाथा छूट जाती तो तत्काल कहते–'महाराज! यह गाथा छूट गई।' मुझे संतोष है कि मैं 'रामचरित' के पारायण में सफल रहा। उस समय न बिजली थी और न माइक का प्रयोग होता था। रात को देखकर वाचन करना संभव भी नहीं था। साधन सामग्री की सुलभता में मनुष्य अपनी शक्ति का प्रयोग कम करता है। आज से १-२ शताब्दी पूर्व स्मृति के विकास की चिंता और प्रक्रिया चलती थी। आज वे दोनों शून्य की ओर जा रही हैं।

चतुर्मास के पश्चात् मैं फिर आचार्यवर के पास पहुंचा और अध्ययन का क्रम पुनः चालू हो गया। एक मुनि ने आचार्यश्री से पूछा–'आपने इनको पृथक् चतुर्मास के लिए क्यों भेजा?

आचार्यश्री ने कहा–'इनका स्वभाव संकोचशील बहुत है। संकोच को कम करने के लिए मैंने इन्हें अलग भेजा। व्याख्यान देना बहुत जरूरी है। यहां मेरे पास व्याख्यान की कला भी नहीं सीखी जाती। इसलिए भी अलग भेजना था।'

मैं ये सारी बातें तटस्थ श्रोता की भांति सुन रहा था। मैंने सोचा–मेरे आचार्य मेरे लिए जो भी प्रिय-अप्रिय करते हैं, वे विशेष चिंतन के साथ करते हैं, मेरे हितों को ध्यान में रखकर करते हैं। इसलिए आचार्यश्री जो भी करें, उसमें तार्किक बुद्धि का प्रयोग अपेक्षित नहीं लगता। मैं दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र का विद्यार्थी था, फिर भी आचार्यश्री के आदेशों-निर्देशों को प्रायः बिना तर्क के स्वीकार करने में सफल रहा हूं। मुझे आचार्यवर पर विश्वास रहा है और वे मुझ पर विश्वास करते रहे हैं।

क्रांति सूत्रों की व्याख्या

आचार्य भिक्षु क्रांतिकारी पुरुष थे। उन्होंने धर्म के क्षेत्र में कुछ नई स्थापनाएं कीं। तत्कालीन समाज उसे समझ नहीं सका। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं। अन्तर्द्रष्टा जिस सत्य का प्रतिपादन करता है उसे बहिर्द्रष्टा लोगों को समझने में कठिनाई होती है। दूरदर्शी की वाणी को तत्कालदर्शी व्यक्ति न पकड़ पाए, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। आचार्य भिक्षु के साथ भी ऐसा ही हुआ था। उनकी वाणी को कुछ लोगों ने बहुत हलके स्तर पर प्रस्तुत किया। उनके पंथ–तेरापंथ को 'चूहा-बिल्ली वाला पंथ' की उपाधि से विज्ञापित किया।

जयाचार्य ने उस उपाधि को निरस्त करने का समर्थ प्रयत्न किया। शताब्दी पूर्व किया गया प्रयत्न नए प्रयत्न की मांग कर रहा था। वर्तमान भाषा, वर्तमान की चिंतन शैली में आचार्य भिक्षु के क्रांति सूत्रों की

व्याख्या की जाए। इस मांग को आचार्य तुलसी ने पढ़ा। उनका अन्तस् आन्दोलित हो उठा। क्रांति सूत्रों को भ्रांति सूत्रों का रूप दिया जा रहा था, यह उन्हें असह्य लगा। उन्होंने एक नया प्रयत्न शुरू किया। आचार्य भिक्षु के विचारों को परिभाषा से मुक्त कर दर्शन और चिंतन की सहज, सरल शैली में उनकी व्याख्या करने लगे। यह क्रम लंबे समय तक चला। मैं व्याख्यान में जाता और आचार्य तुलसी के व्याख्या सूत्रों को नोट कर लेता।

उन्हीं दिनों आचार्यश्री 'जैन सिद्धांत दीपिका' की रचना कर रहे थे। उसका एक अध्याय आचार्य भिक्षु के क्रांति सूत्रों के लिए समर्पित था। मैंने आचार्यश्री के व्याख्या सूत्रों के आधार पर 'अहिंसा और उसके विचारक' नामक पुस्तक लिखी। वस्तु दर्शन (जैन सिद्धांत दीपिका की भूमिका का एक प्रकरण) लिखा। इस प्रयत्न की प्रतिक्रिया होने लगी—भीतर भी बाहर भी। भीतर की प्रतिक्रिया यह थी—आचार्यश्री आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों से दूर जा रहे हैं। बाहर की प्रतिक्रिया यह थी—आचार्य तुलसी अपनी मूल मान्यताओं को पकड़े हुए हैं। शब्दों का जाल बिछाकर हम लोगों को उसमें फंसा रहे हैं।

यात्रा के प्रारंभिक वर्षों में अणुव्रत का कार्य अहिंसा, दान, दया की छाया में चलता रहा। साधारण जन ही नहीं, बड़े-बड़े विचारक भी सिद्धांत की उलझन में थे। जोधपुर का चातुर्मासिक प्रवास। दया, दान के सिद्धांतों की चर्चा और प्रबल चर्चा। गुरुदेव की सन्निधि में अणुव्रत का कार्यक्रम आयोजित था। अणुव्रत में रुचि रखने वाले जैन और अजैन सभी उपस्थित थे। कार्यक्रम के मध्य एक दिन एक भाई खड़ा हुआ और आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों की आलोचना शुरू कर दी। मैंने कहा—'अभी यह प्रासंगिक नहीं है। आप स्वतंत्र समय लेकर इस विषय की जानकारी लें।' ऐसा लगा—उस भाई की चेष्टा जिज्ञासा का समाधान पाने की नहीं, जनता को भ्रांत बनाने की थी। जनता में फैली भ्रांतियों के निरसन के लिए मैंने दो लघु पुस्तिकाएं लिखी—

१. धर्म और लोक व्यवहार २. उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार

आचार्य भिक्षु ने एक सूत्र दिया था—'बड़े जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों को मारना अहिंसा नहीं है। छोटे जीवों को मारकर बड़े जीवों का पोषण करना अहिंसा नहीं हैं।' इस सूत्र ने मुझे बहुत आंदोलित किया।

आकर्षण समाजवादी प्रणाली के प्रति

मैंने मार्क्स और लेनिन के साहित्य को देखा। सामाजिक शोषण और असमर्थ लोगों के प्रति होने वाली क्रूरता के प्रति एक विशेष संवेदना जाग उठी। दान के नाम पर चलने वाले छद्म के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण निर्मित हुआ। 'उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार' पुस्तक जनता के हाथ में पहुंची। इस पुस्तक पर प्रतिक्रिया शुरू हुई। जोधपुर से प्रकाशित होने वाले 'तरुण जैन' में अनेक बार यह प्रचारित किया गया—मुनि नथमलजी कम्युनिस्ट हो गए। मुझे कम्यूनिज्म से घबराहट नहीं थी। साम्यवादी प्रणाली को मैं अच्छा मानता रहा हूं। उसके अधूरेपन से परिचित हूं। उसके साथ अध्यात्म की धारणा नहीं है। यह सबसे बड़ी त्रुटि है। उसका समाज-व्यवस्था का दर्शन बहुत समीचीन है। शोषण करो, धन कमाओ, थोड़ा सा दान करो और धर्म कमाओ—धर्म की इस मिथ्या धारणा का उसमें कोई अवकाश नहीं है।

वि. सं. २००३ के राजगढ़ चातुर्मासिक प्रवास में हमने राजनीतिशास्त्र के कुछ ग्रंथ पढ़े। ब्रिटेन के समाजवादी चिंतक लूई पूने की पुस्तक पढ़ी। समाजवादी चिंतन मुझे अच्छा लगा। हमारी संघीय व्यवस्था प्रारंभ से ही समाजवाद पर आधारित थी। इसलिए समाजवादी प्रणाली के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है।

शुद्ध साध्य और शुद्ध साधन

राजनीतिक प्रणाली के अर्थ में मैं साम्यवादी नहीं बना परन्तु मार्क्स की विचारधारा के प्रति मेरा झुकाव निश्चित ही रहा। अच्छे साध्य के लिए अशुद्ध साधन को काम में लाया जा सकता है—इस साम्यवादी सिद्धांत के साथ मैं कभी सहमत नहीं हो सका। आचार्य भिक्षु के 'शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन' के सिद्धांतों की अमिट छाप मेरे मन पर अंकित थी। उन दिनों गांधीजी के विचार बहुत चर्चित हो रहे थे। वे भी शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन के सिद्धांत पर बल दे रहे थे। दार्शनिक संदर्भ में आचार्य भिक्षु ने और राजनीतिक प्रणालियों के संदर्भ में महात्मा गांधी ने इस सिद्धांत पर जितना बल दिया, उतना शायद कम विचारकों ने दिया। इसलिए हरिभाऊ उपाध्याय कहा करते थे कि अध्यात्म और राजनीति की पृष्ठभूमि को अलग रखने पर आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के अहिंसा संबंधी विचार में मुझे कोई अन्तर नहीं लगता। आचार्य भिक्षु को पढ़ने के पश्चात् मैंने महात्मा गांधी को पढ़ा। अहिंसा के विषय में दोनों के विचारों में अद्भुत समानता पाई। अहिंसा मेरा प्रिय विषय बन गया और वर्षों तक मैं इसी विषय पर लिखता रहा और जीवन में प्रयोग भी करता रहा।

अहिंसा तत्त्व दर्शन

आचार्य भिक्षु के विचारों पर व्यापक चर्चा आवश्यक थी। चारों ओर भ्रांति का वातावरण फैला हुआ था। उसके लिए तीव्र प्रयत्न जरूरी था। गुरुदेव अपने प्रवचनों में इस विषय को स्पष्ट कर रहे थे। हम लोग ग्रंथ लेखन के द्वारा उसकी दार्शनिक व्याख्या कर रहे थे। इस क्रम में मैंने एक पुस्तक लिखी 'अहिंसा तत्त्व दर्शन'। अहिंसा के सैद्धांतिक आधारों को विद्वद् जगत् के सामने प्रस्तुत करना अपेक्षित था। इस पुस्तक से उस अपेक्षा की यत्किंचित् पूर्ति हुई।

स्तरीय आलोचना और समीक्षा

वि. सं. २०११ में मुंबई चातुर्मासिक प्रवास था। हम पहली बार वहां गए। कुछ लोग परिचित थे, कुछ लोग अपरिचित। अणुव्रत के कारण नए-नए लोग सम्पर्क में आ रहे थे। कुछ ही दिनों में एक सशक्त वातावरण बन गया। शायद कुछ लोगों को यह अच्छा नहीं लगा। क्रिया की प्रतिक्रिया हुई। मुनि सुशीलकुमारजी ने तेरापंथ के सिद्धांतों को भ्रामक रूप में प्रस्तुत किया। कुछ लेख लिखे, प्रकाशित हुए। कुछ भ्रांतियां फैली। उनके लेखों में विरोध की गंध अधिक थी इसलिए हमने उनका कोई प्रतिवाद नहीं किया। विरोध में साहित्य लिखा जाता रहा। हम उसकी उपेक्षा करते रहे।

विरोध और संघर्ष आचार्य तुलसी की जन्मकुंडली से जुड़े हुए थे। इसी संघर्ष की धारा में एक और धारा प्रवाहित हुई। परमानन्दभाई कापड़िया उच्चकोटि के विचारक और 'प्रबुद्ध जीवन' (गुजराती) के सम्पादक थे। उन्होंने 'अहिंसा की अधूरी समझण' शीर्षक से एक लेख लिखा और अपने पत्र में प्रकाशित

किया। उसमें तेरापंथ की अहिंसा दृष्टि पर एक समीक्षा थी। उसमें छिछली आलोचना नहीं थी, आलोचना का स्तर अच्छा था। इससे पूर्व तेरापंथ के अहिंसा विषयक सिद्धांत की इस स्तर की आलोचना नहीं निकली थी। आचार्यश्री तुलसी ने वह लेख पढ़ा और मुझे बुलाकर कहा–'अब तक हमने आलोचना का प्रत्युत्तर नहीं दिया। पहली बार स्तर की आलोचना निकली है, जिसमें गाली-गलौज नहीं, किन्तु एक चिंतन है।' मैंने उस पर 'अहिंसा की सही समझ' शीर्षक लेख लिखा। उसकी एक प्रति परमानन्दभाई के पास भेजी। उसकी प्रतिक्रिया 'प्रबुद्ध जीवन' के अंक में प्रकाशित हुई। उसमें परमानन्दभाई ने लिखा–'मुनि नथमलजी द्वारा प्रस्तुत की हुई विचार-सरणि मुझे स्वीकार नहीं है, फिर भी उन्होंने जिस उदात्त शैली में अपने विचारों को प्रस्तुत किया, उसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता। मेरी आलोचना में किसी स्थान पर थोड़ा बहुत कटाक्ष या आक्षेप मिल सकता है, पर उनकी प्रत्यालोचना में कोई कटाक्ष, आक्षेप, आवेश या असमता नहीं है। भाषा और निरूपण में एक विद्वान् और प्रसन्नचित्त मुनि को शोभा दे वैसा माधुर्य, संयम, गांभीर्य और बहुश्रुतता दृष्टिगोचर होती है। उनके लेख को पढ़कर मैंने गहरी प्रसन्नता का अनुभव किया है। विचारभेद यदि इस प्रणाली से प्रस्तुत किया जाए तो परस्पर कभी कटुता उत्पन्न न हो। मतभेद में मनभेद जन्म ही न ले और समाज के विचार वैभव में सत्कारार्ह इष्ट वृद्धि होती रहे।'

भिक्षु विचार दर्शन

आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों को दर्शन की भाषा और शैली में प्रस्तुत करना शुरू किया। आचार्य भिक्षु के अहिंसा सूत्रों की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करने में काफी विरोध का सामना करना पड़ा। तीन दशक के बाद इस प्रयत्न में सफलता मिली। आचार्य भिक्षु एक दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित हो गए।

मुझे प्रारंभ से ही यह सौभाग्य मिला कि मैं आचार्य तुलसी की हर कृति में उनके साथ रहा। जयाचार्य को आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला तो मुझे आचार्य तुलसी का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला और साथ-साथ आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य भी मुझे उपलब्ध हुआ।

आचार्य भिक्षु को पढ़ने का अर्थ था अहिंसा को पढ़ना। मेरे लिए अहिंसा और आचार्य भिक्षु एकार्थक जैसे बन गए। अब हिन्दी में लिखने का द्वार खुल गया। अहिंसा की गहराई में पैठने की भावना बल पकड़ती गई। निमित्त और अवसर मिलते गए।

वि. सं. २०१७, तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह का भव्य आयोजन। उसके लिए आचार्य भिक्षु के साहित्य की सम्पादन की योजना बनी। 'भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर' के दो खंडों का प्रकाशन हुआ। आचार्यश्री तुलसी के मन में एक संकल्प ने जन्म लिया–इस अवसर पर आचार्य भिक्षु के जीवन दर्शन पर एक ग्रंथ तैयार होना चाहिए। उस संकल्प की संपूर्ति हुई। 'भिक्षु विचार दर्शन' नामक एक ग्रंथ तैयार हो गया। आचार्यश्री ने स्वयं अपने संकल्प की पूर्ति पर प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने लिखा–'बहुत दिनों से मेरा एक चिंतन चल रहा था कि तेरापंथ द्विशताब्दी के अवसर पर आचार्य संत भीखणजी के जीवन का दार्शनिक रूप जनता के समक्ष आना चाहिए। मैंने यह विचार शिष्य मुनि नथमल (वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ) से कहा। उन्होंने उसी दिन से इसकी रूपरेखा अपने मन में तैयार कर ली और कोलकाता–चतुर्मास के अंतिम दिनों में मेरी इस भावना को मूर्तरूप देते हुए ग्रंथ लिख डाला।

इसके सातों अध्यायों में स्वामीजी के सिद्धांतों, मंतव्यों, विचारों एवं निष्कर्षों का खूब गहराई से प्रतिपादन किया गया है। लेखक की भाषा-शैली गंभीर एवं दार्शनिक है, फिर भी स्वामीजी के विविध जीवन-प्रसंगों का तुलनात्मक चिंतन एवं जीवन के व्यावहारिक पक्ष को जिस सरलता से रखा है, उससे भाषा की जटिलता सुगमता में परिणत हो गई है।

वास्तव में ही यह ग्रंथ तेरापंथ-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखेगा। मैं समझता हूं ठीक मेरी भावना के अनुरूप ही यह ग्रंथ तैयार हुआ है। मेरा विश्वास है कि जहां यह बौद्धिक लोगों की ज्ञान-पिपासा को शांत करेगा, वहां स्वीमीजी के सिद्धांतों को सही समझने में भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।'

'भिक्षु विचार दर्शन' विद्वानों के पास पहुंचा। उस पर अनेक समीक्षाएं हुई। प्रोफेसर प्रेमसागर जैन ने एक विस्तृत समीक्षा लिखी। वह आचार्यश्री के पास पहुंची। उसे पढ़कर आचार्यवर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'हम जो चाहते थे वह कार्य हो रहा है। भिक्षु स्वामी अब जनमानस में दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। चूहे-बिल्ली की किंवदन्तियों से मुक्ति मिल रही है।'

दो दशक पहले तेरापंथ की पहचान चूहे-बिल्ली से होती थी। विपक्ष के लोगों ने जनसाधारण में एक धारणा फैला दी—'बिल्ली चूहे को मारती है, कोई उसे बचाता है, बचाने वाले को पाप लगता है। यह आचार्य भिक्षु का सिद्धांत है।' इस प्रकार की मिथ्या धारणाएं बहुत व्यापक बन गई। मैंने अपनी आंखों से देखा, तेरापंथ के अष्टम आचार्य पूज्य कालूगणी ने मेवाड़, मारवाड़ और मालवा की यात्रा की। जावरा, रतलाम आदि नगरों में जहां भी गए, वहीं इस तूफान का सामना करना पड़ा। आचार्यश्री तुलसी ने इसका दो श्लोकों में सजीव चित्रण किया।

लोक बहकान हेत बात यूं बणाय कहै,
तेरापंथी दान-दया मूल स्यूं उखाड़ दी।
गउवन को बाड़ो तामे आग को लगाई नीच,
ताको कोउ खोलै तामे मनाही पुकार दी।।
भूखे और प्यासे दीन दुखियन को देवै दान,
ताको मत देवो ऐसी अंतराय डार दी।
'तुलसी' भनंत ताको तेरापंथ मतहू की,
बाकवी न पूरी यूं ही कूड़ी गप्प मार दी।।१।।
ऐसी-ऐसी व्यर्थ बात तान मत पक्षपात,
करते हमेश जाकी बुद्धि जो बिगड़गी।
ताकी सुन वाच नहिं साच-झूठ जांच करै,
लोकन में एक 'लहतान' आन बड़गी।।
एक भेड़ बोलै 'भ्यां' दूजी पिण बोलै 'भ्यां',
तीजी और चौथी सब भाज-भाज भड़गी।

'तुलसी' भनंत समझावै अब काकों काकों,
सारै ही जहान आ तो कुवै भांग पड़गी।।२।।

तत्त्व नहीं बदला, सिद्धांत नहीं बदले, प्रतिपादन की शैली बदली, प्रस्तुतीकरण की भाषा बदली। चूहे और बिल्ली सब क्षितिज के उस पार चले गए। जयाचार्य ने भिक्षु स्वामी के सिद्धांतों की स्थापना और व्याख्या में अपनी पूरी शक्ति लगाई। फलतः भिक्षु स्वामी के सिद्धांत प्रतिष्ठित हो गए। आचार्य तुलसी ने विरोध के तूफान पर नई दृष्टि का जलाभिषेक किया। वह तूफान शांत हो गया। मुझे इस बात का संतोष रहा कि आचार्यश्री द्वारा अपनाई गई प्रतिपादन शैली को मैंने समझा और उसे वाङ्मय का रूप देने का यत्किंचित् प्रयत्न किया। आचार्यश्री का एक बहुत बड़ा उपकार मानता हूं—उन्होंने मुझे भिक्षु स्वामी को समझने का अवसर दिया।

डा. मुखर्जी का कथन

आचार्यश्री ने 'जैन सिद्धांत दीपिका' नामक एक संस्कृत ग्रंथ लिखा। उसके एक अध्याय में आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। दर्शन के स्तर पर सूत्र की शैली में आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों को प्रस्तुत करने का यह पहला प्रयत्न था। एक दिन डॉ. सतकोड़ि मुखर्जी को मैंने वह अध्याय सुनाया। उसे सुनकर डॉ. मुखर्जी ने कहा—'यह बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। इतने दिन प्रकाश में क्यों नहीं आया? खेद है आचार्य भिक्षु मारवाड़ में जनमे। यदि वे जर्मनी में जनमे होते तो उनका महत्त्व इम्युनल कान्ट से कम नहीं होता।'

डॉ. मुखर्जी के विचारों से मुझे संतोष का अनुभव हुआ। आचार्य भिक्षु के जिस दृष्टिकोण को आचार्य श्री तुलसी दार्शनिक शैली में प्रस्तुत कर रहे हैं और मैं जिसका भाष्य कर रहा हूं, वह दृष्टिकोण सारयुक्त और वर्तमान की समस्या का समाधान देने वाला है। प्रारंभ से ही मेरी यह दृष्टि रही कि जो दर्शन या धर्म वर्तमान की समस्या का समाधान नहीं देता, वह उपयोगी नहीं हो सकता और जो उपयोगी नहीं हो सकता, वह चिरजीवी नहीं हो सकता। बासी चीज की उपयोगिता कम होती जाती है और एक दिन वह फेंक दी जाती है।

नए युग की पृष्ठभूमि

वि. सं. २००४ का वर्ष व्यापकता की दिशा में प्रस्थान का वर्ष था। आजादी का प्रथम वर्ष। चारों ओर स्वतंत्रता का उल्लास। उस समय आचार्य तुलसी ने स्वतंत्रता की आध्यात्मिक व्याख्या की। जनमानस पर उसका बहुत सुन्दर प्रभाव रहा। भौतिक आजादी को नैतिकता की प्रतिष्ठा करके ही असली आजादी का रूप दिया जा सकता है। इस वक्तव्यता ने अणुव्रत आंदोलन की पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

वि. सं. २००५ में 'आदर्श साहित्य संघ' की स्थापना हुई। 'आदर्श साहित्य संघ' प्रचार-प्रसार, साहित्य प्रकाशन, वितरण और विक्रय, जनसम्पर्क आदि सब प्रवृत्तियों का दायित्व निभाने लगा। उसके कार्यकर्ता पथदर्शन के लिए मुझसे जुड़े रहे। उस प्रवृत्ति ने दृष्टिकोण को और अधिक व्यापक बनने का अवसर दिया। अब तक तेरापंथ अपने समाज की सीमा में था। चिंतन और दृष्टिकोण भी उसी में सीमित था। विराट् समाज और विश्व से हमारा सम्पर्क नहीं जैसा था। उस सीमा को पार कर बाहर की दुनिया को

देखना शुरू किया। इस कार्य में सर्वाधिक सहयोगी बने शुभकरण दसानी और देवेन्द्रकुमार कर्णावट। 'आदर्श साहित्य संघ' के नियामक बने हणुतमल सुराणा, जयचंदलाल दफ्तरी और सुगनचंद आंचलिया।

उसकी साहित्यिक गतिविधियां मेरे परिपार्श्व में चलने लगी। 'आदर्श साहित्य संघ' के संस्थापक कार्यकर्ताओं का मेरे पास चिंतन मंथन होता रहा। तेरापंथ की परम्परा में अनेक आचार्य और मुनि साहित्यकार हुए हैं। आचार्य भिक्षु और जयाचार्य ने विपुल मात्रा में ग्रंथों का निर्माण किया। उनका गद्य-पद्य साहित्य राजस्थानी भाषा की महत्त्वपूर्ण धरोहर है। आचार्य तुलसी भी 'आदर्श साहित्य संघ' की स्थापना से पूर्व राजस्थानी भाषा में अनेक ग्रंथ लिख चुके थे। हिन्दी साहित्य में हमारा प्रवेश नहीं था। मैंने तथा मेरे साथी मुनियों–मुनि बुद्धमल्लजी आदि ने हिन्दी में लिखना शुरू किया। हमारी कुछ पुस्तकें 'आदर्श साहित्य संघ' से प्रकाशित हुई।

संतोष यथार्थ की प्रस्तुति का

मैं जैन मुनि बना। जैन दर्शन मेरे अध्ययन का विषय बना। फिर भी इस स्वीकृति को मैं अवश्य मानता हूं कि गांधी साहित्य से मुझे जैन धर्म को आधुनिक संदर्भ में पढ़ने की प्रेरणा मिली। मैंने 'आंखें खोलो' पुस्तक लिखी। उसके पांच अध्याय थे। उसमें एक अध्याय था जातिवाद। आचार्यश्री तुलसी ने उसे देखकर कहा–'यह पुस्तक बाहर जायेगी तो समाज में बहुत चर्चा होगी। अभी इसे रहने दो।' फिर दो क्षण के चिंतन के बाद कहा–'यह वास्तविकता है। जैन धर्म में जातिवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर चर्चा से क्यों डरना चाहिए?' पुस्तक सामने आ गई। कुछ ऊहापोह हुआ, साथ-साथ यथार्थ को प्रस्तुत करने का मुझे संतोष भी मिला।

अणुव्रत के प्रवर्तन का आधार

गांधी साहित्य के माध्यम से मैंने रस्किन और टॉलस्टाय को पढ़ा तो मुझे और अधिक व्यापक संदर्भ में चिंतन करने का अवसर मिला। आचार्य भिक्षु ने सम्प्रदायातीत धर्म की नींव को बहुत मजबूत किया था। उन्होंने इस पर बहुत बल दिया कि धर्म मुख्य है, सम्प्रदाय गौण। यही सूत्र अणुव्रत के प्रवर्तन का आधार बना। आचार्यश्री ने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया तब उसकी समीक्षा इन स्वरों में हुई–'आचार्यश्री जैन और अजैन–सभी को एक पंक्ति में ला रहे हैं।' यदि आचार्य भिक्षु के दृष्टिकोण का सुदृढ़ आधार उपलब्ध नहीं होता तो काफी समस्याएं सामने आतीं। पर उस उदार दृष्टि ने सामने आने वाली हर समस्या को चिरजीवी नहीं बनने दिया। अणुव्रत आंदोलन को दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत करने का अवसर मिला। उससे मैं बहुत लाभान्वित हुआ। अतीत के चिंतन को वर्तमान की समस्याओं के संदर्भ में देखने की एक दृष्टि मिली और कुछ मौलिक विचार स्थापित हुए।

अणुव्रत का कल्पना स्रोत

मैं आचार्यवर की सन्निधि में बैठा था। कुछ समय तक वे चिंतन की मुद्रा में रहे। अचानक मौन खोला और बोले–'हमारे पास इतने लोग आते हैं, श्रद्धा के साथ आते हैं, हम उन्हें क्या दे पाते हैं? उनके जीवन का रास्ता नहीं बदलता तो उन्हें क्या लाभ मिला? हमें कुछ ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे वे जीने की

कला सीख सकें? ऐसा जीवन जी सकें जो स्वयं के लिए तथा समाज के लिए श्रेयस्कर हो। हमें श्रावक समाज के लिए एक आचार-संहिता तैयार करनी चाहिए। बारह व्रतों की आचार-संहिता है। उसे आधुनिक रूप देना जरूरी है। वह सरल और सुगम हो सकती है।' आचार्यवर ने इस विषय में विस्तार से कहा। डालमचंदजी सेठिया, जो बेरिस्टर थे, लंदन में रहते थे वहां उपस्थित थे। बातचीत सम्पन्न होने के बाद मेरे पास आए और बोले–'धर्माचार्य ऐसे ही सपने देखते हैं। क्या व्यक्ति को बदलना संभव है? क्या समाज को बदलना संभव है? वर्तमान आर्थिक युग में नैतिकता की आचार-संहिता क्या सफल हो सकती है?'

मुझे लगा–भविष्य-द्रष्टा होना कठिन है। भविष्य-द्रष्टा की वाणी का अर्थ समझना भी सरल नहीं है।

आचार-संहिता के विषय में चिंतन आगे बढ़ा। व्रतों की सूची बनी। छोगमलजी चोपड़ा अपने समय के प्रख्यात आध्यात्मिक पुरुष थे। उन्होंने कुछ व्रत सुझाए। कुछ संतों ने इस पर चिंतन किया। नैतिकता की आचार-संहिता तैयार हो गई।

छापर का चतुर्मास युगपरिवर्तन की पृष्ठभूमि बन गया। व्यसन-मुक्ति, जातिवाद विरोधी अभियान आदि कार्यक्रम ने अणुव्रत के प्रत्यूष काल का आभास करा दिया।

धर्म के विषय में यह प्रसिद्ध धारणा है–धर्म करो, परलोक सुधर जायेगा। धार्मिकों को वर्तमान की कोई चिंता नहीं, केवल परलोक को सुधारने की चिंता है।

धार्मिक व्यक्ति उपासना में विश्वास करता है, चरित्र में विश्वास कम करता है। नैतिकता का आचरण आवश्यक नहीं माना जाता। नैतिकताविहीन धर्म भी चलता है।

अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से बहुत सारे प्रबुद्ध विचारक व्यक्ति संपर्क में आए और पारस्परिक आदान-प्रदान में कालातीत और सामयिक–दोनों प्रकार की सचाइयों को समझने का अवसर मिला। अणुव्रत के मंच पर सभी धर्मों और विचारधाराओं के लोग आने लगे और सभी को सुनने का अवसर मिलता गया। उससे समन्वय की दृष्टि को बहुत बल मिला। मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा। जैन दर्शन को पढ़ा। साथ-साथ अन्य दर्शन भी पढ़े। अनेकांत को पढ़ने के कारण अन्य दर्शनों के प्रति अन्यत्व का भाव नहीं रहा। सत्य सत्य है, फिर उसे किसी भी दर्शन ने अभिव्यक्त किया हो। यही दृष्टि निष्पन्न हुई। अब मेरे सामने दर्शन दर्शन है, सत्य सत्य है और सब भेद गौण हैं।

जैन दर्शन : मनन और मीमांसा

साहित्य और दर्शन–इन दोनों विषयों में मेरी सहज रुचि रही है। साहित्य में अधिक रुचि अथवा दर्शन में? इसका निर्णय करने में मैं स्वयं ही असमर्थ हूं। दोनों ही मेरे अध्ययन के प्रिय विषय रहे हैं। संस्कृत और प्राकृत भाषा के गंभीर अध्ययन का अवसर मिला। दर्शन के ग्रंथों को पढ़ने में मुझे कोई कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ।

वि. सं. २००५ तक मैं दर्शन के अनेक ग्रंथों का अध्ययन कर चुका था। छापर चतुर्मास में एक विकल्प उठा–मैं जैन दर्शन के विषय में कोई ग्रंथ लिखूं। संकल्प जल्दी ही क्रियान्विति में बदल गया। मैंने जैन दर्शन पर एक ग्रंथ लिखना शुरू कर दिया। उसका लेखन यात्रा के साथ-साथ चला इसलिए समय कुछ लंबा लगा। उसकी सम्पन्नता में लगभग ५-६ वर्ष लग गए। बीच-बीच में अन्य लेखन का कार्य भी चलता

रहा। इस ग्रंथ का नाम रखा गया–**'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व'** कुछ वर्षों बाद उसका नाम परिवर्तन किया गया। उसका परिवर्तित नाम है–**'जैन दर्शन : मनन और मीमांसा'**।

जैन दर्शन का समग्रता से अध्ययन करने के लिए यह ग्रंथ सर्वमान्य हो गया। इसके लेखन में अनेकांत दृष्टि का प्रयोग किया गया इसलिए इसमें विरोध का सूत्र नहीं खोजा जा सकता। समन्वय का सूत्र सर्वत्र खोजा जा सकता है।

आचार्यवर वि. सं. २०१५ का चातुर्मास कानपुर में बिता रहे थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् कैलासचन्द्र जैन आए। आचार्यवर के साथ अनेक विषयों पर बातचीत हुई। वार्तालाप के दौरान उन्होंने कहा–'आचार्यश्री! मुनि नथमलजी ने श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के बारे में जो लिखा है, उसमें जो कहना था वह कह दिया पर हमें अखरा नहीं। इस समन्वय दृष्टि का सबमें विकास होना चाहिए।'

परिवर्तन का प्रत्यूष काल

वि. संवत् २००५ का मर्यादा-महोत्सव राजलदेसर में हुआ। उस अवसर पर भावी यात्रा की योजना और कार्यक्रम की कल्पना आचार्यवर के मस्तिष्क में स्पष्ट हो रही थी। एक दिन आचार्यवर ने कुछ साधुओं को बुलाकर कहा–'एक गोष्ठी करो, सब एक साथ बैठकर सामूहिक चिंतन करो।' हम लोग बैठे और परिवर्तन के विषय में चिंतन किया। परम्परा, व्यवस्थागत नियम–ये कुछ सामयिक होते हैं। देश-काल के अनुसार उनमें परिवर्तन किया जा सकता है।

चिंतन गोष्ठी में दोनों प्रकार के मुनि थे–कुछ परिवर्तनवादी, कुछ परम्परावादी। पराम्परावादी मुनियों का तर्क था कि यदि हम एक चीज को बदलेंगे तो बदलने का क्रम शुरू हो जाएगा। परिवर्तन का चक्र कहां रुके? चिंतन गोष्ठी में आचार्यवर स्वयं उपस्थित नहीं थे। उनके विचारों का प्रतिनिधित्व परोक्ष में मैं कर रहा था। मैंने आगम, भिक्षु स्वामी, जयाचार्य आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के साहित्य तथा अपेक्षित परिवर्तन की अनिवार्यता के विषय में विस्तार से चर्चा की। अपेक्षित परिवर्तन होना चाहिए–इस विषय में प्रायः हम सहमत हो गए। आचार्य तुलसी ने जितने परिवर्तन किए, वे चिंतनपूर्वक किए। मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आवश्यक विषयों पर चिंतन चलता। चिंतन का निष्कर्ष हम आचार्यवर के समक्ष प्रस्तुत कर देते। निर्णय की घोषणा आचार्यवर करते।

मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर साधु-साध्वियों की गोष्ठियां होती रहतीं। उनमें आचार्यवर संघीय व्यवस्थाओं, मर्यादाओं, आचार आदि अनेक विषयों पर शिक्षण-प्रशिक्षण करते। सुदूर प्रदेश से यात्रा कर आने वाले साधु-साध्वियों को नई प्रेरणा मिलती। एक दिन मध्याह्न के समय सामूहिक गोष्ठी हो रही थी। उसमें आचार्यवर से अनुमति प्राप्त कर मैंने एक बात कही। उसका संबंध हमारी आहार व्यवस्था से था। हमें आहार भिक्षाचरी से प्राप्त होता है। साधु-साध्वियां व्यवस्था के अनुसार भिक्षा के लिए जाते हैं और भिक्षाचरी में जो प्राप्त होता है उससे जीवन-यात्रा चलाते हैं।

उस समय भिक्षा में जो प्राप्त होता उसे एक स्थान पर इकट्ठा कर दिया जाता। फिर उसका साधु-साध्वियों में विभाग होता। ४००-५०० साधु-साध्वियों के आहार का विभाग करना जटिल कार्य था। जो वर्ग दीक्षा पर्याय में छोटे होते, उन्हें आहार का विभाग अंत में मिलता। शायद वैसा भोजन स्वास्थ्य के लिए अनुकूल नहीं था।

इस समस्या को मैंने सामूहिक गोष्ठी में प्रस्तुत किया और आचार्यवर से प्रार्थना की—'आहार की व्यवस्था पर चिंतन होना चाहिए।' आचार्यवर ने मेरी बात को ध्यान से सुना। अधिकांश साधु-साध्वियों को यह विषय बहुत अच्छा लगा। बहुत सारे इस विषय में सोचते ही नहीं थे। कुछ सोचते वे प्रस्तुत करने का साहस नहीं जुटा पाते। मैंने जो विषय रखा वह चर्चा का विषय बन गया। भावी चिंतन का दरवाजा खुल गया।

व्यापक चिन्तन : व्यापक क्षेत्र

आचार्यश्री आचार्य पद का दायित्व संभालने के बाद ग्यारह वर्ष तक थली प्रदेश (बीकानेर राज्य) में रहे। इस समय को मैं यात्रा की तैयारी का समय कहना अधिक पसंद करूंगा। आचार्यवर २२ वर्ष की अवस्था में आचार्य बने। वे भी अपनी क्षमताओं के विकास में सतत संलग्न रहे। साथ-साथ हम लोगों का, विद्यार्थी साधु-साध्वियों का शिक्षण-प्रशिक्षण करते रहे। इसे मैं यात्रा में होने वाली सफलता का आधार मानता हूं।

वि. सं. २००६ में आचार्यवर फतेहपुर, सीकर होते हुए जयपुर पहुंचे। हमारे लिए सारा रास्ता नया था। सीकर को देखा। वहां से चौमूं गए। गर्मी के दिन थे। ठहरने का स्थान भी छोटा था। हम आहार के पश्चात् विश्राम के लिए आम के बगीचों में गए। वहां विश्राम किया। पेड़ आमों से लदे थे। कुछ शाखाएं इतनी झुकी हुई थीं कि लेटे-लेटे भी आम तोड़े जा सकते थे। हमें आम से मतलब नहीं था। आम के पेड़ों की ठंडी छांह हमारे लिए पर्याप्त थी। हमने पहली बार जयपुर देखा। वह बहुत सुन्दर लगा। प्राचीनकाल में वर्तमान युग जैसे शिक्षित इंजीनियर नहीं थे, पर वास्तुकला, स्थापत्यकला, ग्राम रचना और नगर रचना में दक्ष व्यक्तियों की कमी नहीं थी। महाराज जयसिंह और उनके नगर निर्माण के विशेषज्ञों का कौशल इसका साक्ष्य दे रहा था।

दीक्षा : हमारा चिंतन हमारा दृष्टिकोण

जयपुर का चतुर्मास संघर्ष का चतुर्मास था, नए क्षितिज और नए आयाम का चतुर्मास था। हम लोग प्रायः थली (बीकानेर राज्य) के क्षेत्र में रहे। जयपुर में व्यापक संपर्क हुआ। ख्याति-प्रख्याति बढ़ने लगी। साथ-साथ विरोध भी बढ़ने लगा। दीक्षा हो रही थी। प्रतिपक्ष के लोगों ने विरोध के वातावरण का निर्माण किया। बालदीक्षा के प्रश्न को उभारा और धीमे-धीमे वातावरण गरमाता गया। पूरणचंद जैन, सिद्धराजजी ढढ्डा तथा अन्य सार्वजनिक कार्यकर्ता विरोध में खड़े हो गए।

तत्कालीन सरकार के मुख्मंत्री हीरालाल शास्त्री तथा मंत्रिमंडल के सभी व्यक्ति विरोध के सहभागी बन गए। सोहनलालजी दूगड़ उनका साथ दे रहे थे। विरोध करने वाले व्यक्तियों ने पं. सुखलालजी, मुनि जिनविजयजी को भी विरोधी वातावरण को बल देने के लिए आमंत्रित किया था। पं. सुखलालजी ने 'तेरापंथी मित्रों के प्रति' इस शीर्षक का लेख लिखा। जयपुर के दैनिक पत्र 'लोकवाणी' में वह प्रकाशित हुआ। उसमें विरोध और व्यंग्य दोनों मुखर हो रहे थे। वह लेख हमने पढ़ा। गुरुदेव ने मुझे कहा—'इसके उत्तर में तुम एक लेख लिखो।' मैंने गुरुदेव से प्रार्थना की—'गुरुदेव के निर्देशानुसार में लेख लिख दूंगा। पर इसका समुचित उत्तर होगा—अपनी शक्ति का संवर्धन।' गुरुदेव ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

विरोध दिन प्रतिदिन उग्र होता जा रहा था। हम लोग शांति के साथ उसे देख रहे थे। केवल द्रष्टा नहीं थे, शांतिपूर्ण प्रतिरोध भी कर रहे थे। हमारा विश्वास था—प्रतिक्रियात्मक विरोध अपने आप शांत हो जायेगा। शांतिपूर्ण प्रतिरोध के सामने वह टिक नहीं पाएगा। लोग संभावना कर रहे थे कि दीक्षा पर सरकार प्रतिबंध लगा देगी। हमारे श्रावक बहुत जागरूक थे। उन्होंने भारत सरकार के गृह मंत्रालय से संपर्क साधा। सरदार पटेल गृहमंत्री थे। गृह मंत्रालय के सचिव श्री ए. के. बेलोड़ी का फोन आया—आचार्य तुलसी दीक्षा दे रहे हैं। उसमें कोई विक्षेप न हो इसलिए सरकार सतर्कतापूर्ण व्यवस्था करे। गृह मंत्रालय का निर्देश मिला और विरोध अपने आप शांत हो गया।

तेरापंथ समाज की महिलाओं ने एक विशाल जुलूस निकाला जिसमें चार हजार महिलाएं शामिल थीं। महिलाओं का इतना बड़ा जुलूस हमारे लिए भी नया था और शायद जयपुर के लिए भी नया था। उसका चमत्कारी प्रभाव हुआ। महिलाओं के दीक्षा समर्थक घोष आकाश से ही नहीं टकरा रहे थे, जनता के कानों से भी टकरा रहे थे। वे कानों से ही नहीं टकराये, उन घोषों ने जनता के मस्तिष्क को भी प्रभावित किया।

कभी-कभी विरोध विरोध के लिए होता है और कभी-कभी अपने आपको समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए भी होता है। वास्तव में बालदीक्षा का विरोध कुछ समाज सुधारकों की सुधारक मनोवृत्ति से उपजा हुआ था। दीक्षार्थियों में बहुत छोटा कोई नहीं था फिर भी उसे भयंकर रूप में प्रस्तुत किया गया। वैचारिक स्तर पर हमारा प्रतिरोध भी कम नहीं था। अनेक व्यक्तियों ने दीक्षा के समर्थन में लेख लिखे। लघु पुस्तिकाएं लिखीं। मैंने भी 'बालदीक्षा का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण' इस विषय पर लघु पुस्तिका लिखी। होने वाली दीक्षाओं में बालदीक्षा नहीं थी, फिर भी बालदीक्षा के नाम पर विरोध किया जा रहा था इसलिए मैंने बालदीक्षा के विषय को छुआ। आचार्य तुलसी ने चिंतनपूर्वक एक नीतिसूत्र निर्धारित किया था—हम न बालदीक्षा के समर्थक हैं और न वृद्धदीक्षा के समर्थक हैं। हम योग्य दीक्षा के समर्थक हैं। यदि बालक योग्य हो तो उसे दीक्षा दी जा सकती है और वृद्ध योग्य न हो तो उसे भी दीक्षा नहीं दी जा सकती। हमारी कसौटी अवस्था नहीं योग्यता है।

दीक्षा के विषय में अपने संघीय अभिमत के कुछ बिंदु लिखे। बाल विरोधी सदस्यों से कुछ प्रश्न भी पूछे—

चिंतन के बिन्दु

१. चरित्र निर्माण के लिए बाल जीवन महान् उपयोगी है।
२. ज्ञान विज्ञान की परम्पराओं को जीवित रखने के लिए बाल ब्रह्मचारी रहना आवश्यक है।
३. दीक्षा की कसौटी योग्यता है, अवस्था नहीं।
४. संस्कारी बालक सही अर्थ में प्रौढ़ होता है।
५. अयोग्य दीक्षा समाज का कलंक है।
६. योग्य बालदीक्षा राष्ट्र के कल्याण का साधन है।

७. योग्य दीक्षा भारतीय संस्कृति का महान् आदर्श है।

८. संयमी बालक हजारों बालकों के लिए प्रकाश-स्तंभ होता है।

९. बालक योग्य ही नहीं हो सकता, यह मानना बालक जाति का घोर तिरस्कार है।

१०. दीक्षा लेने का अधिकार विरक्त आत्मा को है। बालक, युवक और बूढ़े को नहीं।

११. आत्म साधना के पथ में वही बालक माना जाता है जिसके हृदय में विरक्ति नहीं।

१२. योग्य बालदीक्षा कोई समस्या नहीं।

१३. मानस शास्त्री कहते हैं–१० वर्ष के बालकों में विचित्र सयानापन आ जाता है।

१४. तेरापंथ अयोग्य दीक्षा का घोर विरोधी है।

१५. जिण तिण नै मत मूंडज्यो, दीक्षा दीज्यो देख देख। (आचार्य भिक्षु)

१६. बालक की ही दीक्षा होनी चाहिए, यह मेरा आग्रह नहीं। (आचार्य तुलसी)

१७. योग्य बालक की भी दीक्षा नहीं होनी चाहिए यह आग्रह रखना भी उचित नहीं। (आचार्य तुलसी)

वि. सं. २००६ जयपुर में बालदीक्षा विरोधी समिति के सदस्यों से पूछे गए प्रश्न–

१. क्या आप जैन शास्त्रों में विश्वास रखते हैं?

२. जैन शास्त्रों में दीक्षा के लिए आयु की जो व्यवस्था की है, क्या वह आपकी दृष्टि में अनुपयुक्त है?

३. हजारों या सैकड़ों वर्षों का जीवन होता तब २ वर्ष के व्यक्ति में दीक्षा ग्रहण की योग्यता आ जाती, अब जीवनकाल घटा है, क्या इसीलिए उनकी योग्यता में ९ वर्ष और जोड़ने होंगे?

४. क्या आप आधार और अनुभवहीन तर्क को सत्य के निरूपण का हेतु मानते हैं?

५. क्या आप दीक्षा की प्रणाली का विरोध करते हैं? दीक्षित होने वाले की अल्पवयस्कता का विरोध करते हैं अथवा दीक्षा मात्र का विरोध करते हैं?

६. तेरापंथ की दीक्षा प्रणाली से आप सहमत हैं या नहीं?

७. वर्तमान में होने वाली ८ दीक्षाओं में से आप किसी एक का विरोध करते हैं या सबका?

८. क्या आपकी दृष्टि में आत्मा की साधना अथवा आध्यात्मिक उपदेशों की कोई आवश्यकता है?

९. क्या आप आध्यात्मिक उन्नति को विकास मानते हैं? यदि हां, तो आत्मसाधना के पथ पर चलने वाले बालकों का विकास कैसे रुक जाता है, क्या यह बताने का कष्ट करेंगे? यदि नहीं, तो आपके मतानुसार विकास की क्या परिभाषा है?

१०. क्या आप यह बतलाने की कृपा करेंगे कि बाल वय में दीक्षित साधुओं से समाज, राष्ट्र तथा धर्म की अमुक-अमुक हानियां हुई हैं।

११. क्या आपकी दृष्टि में जैन, वैदिक तथा बौद्ध परम्परा के त्यागी श्रमण-संन्यासी और ६-७ लाख भीखमंगे एक कोटि के हैं?

१२. क्या पूर्वजन्म के संस्कारों में आपकी श्रद्धा है?

१३. आपके विचारानुसार जीवन का चरम लक्ष्य क्या है?

अणुव्रत विचार परिषद् और प्रतिष्ठित व्यक्तियों से संपर्क

जयपुर का चतुर्मास जनसंपर्क, नवचिंतन, संघर्ष और विकास—इन दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। अणुव्रत विचार परिषद् की आयोजना प्रति सप्ताह होने लगी। अनेक विद्वान्, साहित्यकार, पत्रकार उसमें वक्ता के रूप में आते। समाज में एक संघर्ष का स्वर उभरा—हम आचार्य तुलसी को सुनने आते हैं, दूसरे लोगों को नहीं। विरोध का स्वर काफी प्रखर हो गया। पर एक उद्देश्य के साथ कार्य शुरू किया गया था, इसलिए विरोध बाधक नहीं बना।

कोई भी नई प्रवृत्ति शुरू होती है उसका विरोध होता है। जमी हुई धारणा नई बात स्वीकार करने को तैयार नहीं होती। यह स्वाभाविक मनोवृत्ति है। जो नया काम करना चाहे, उसे विरोध से घबराना नहीं चाहिए। आचार्यश्री का मनोबल अमाप्य था। परिस्थिति से जूझने की क्षमता अद्भुत थी। इसलिए विरोध का झोंका ही नहीं, तूफान भी उन्हें विचलित नहीं कर पाता।

एक दिन अणुव्रत विचार परिषद् में एक प्रश्न उपस्थित हुआ—अणुव्रत द्वारा प्रतिपादित नैतिकता का आधार क्या है? वह सामाजिक उपयोगिता पर टिकी हुई है अथवा आध्यात्मिकता पर? लंबी चर्चा और चिंतन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे—अणुव्रत द्वारा प्रतिपादित नैतिकता का आधार आध्यात्मिकता है। इस विषय पर मैंने एक लघु पुस्तिका लिखी।

'देशाटनं पण्डितमित्रता च' देशाटन का एक सुफल है पंडितों के साथ मैत्री। यात्रा के प्रथम चरण में हमें इसका अनुभव हुआ। जयपुर प्रवास में हिन्दुस्तान के अनेक जाने-माने विद्वान्, राजनेता, साहित्यकार और पत्रकार मिले। उनमें डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, जयप्रकाश नारायण, गुरु गोलवल्कर, गिरधर शर्मा और पंडित चैनसुखदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उनके साथ होने वाले वार्तालाप और विचार-विमर्श से चिंतन शक्ति और तर्क शक्ति दोनों के विकास का अवसर मिला।

डॉ. राजेन्द्रप्रसाद उस समय विधान परिषद् के अध्यक्ष थे। उनका जीवन नैतिकता का मूर्तरूप था। अणुव्रत की आचार-संहिता और उसका तत्त्वदर्शन उनके सामने रखा गया। वे भावप्रवण हो गए। उनकी अन्तर् आत्मा बोल उठी—हमारे नवोदित राष्ट्र के लिए यह बहुत जरूरी है। मैं उनकी आकृति को पढ़ रहा था। मुझे लगा वे अणुव्रत के सहभागी बन गए। उन्होंने आजीवन अणुव्रत के कार्य को गति देने का आयास किया।

आचार्यश्री ने जयप्रकाश नारायण को तेरापंथ धर्मसंघ के दर्शन और गतिविधियों से परिचय कराया। वे समाजवाद की प्रणाली में विश्वास करते थे। तेरापंथ साधु-साध्वी समुदाय की संविभागी प्रणाली का परिचय पाकर बोले—'आचार्यश्री! आपके यहां सवा सोलह आना समाजवाद है। अब यह नीचे उतरना चाहिए। समाज के स्तर पर उसका प्रयोग होना चाहिए।'

गुरु गोलवल्करजी के साथ भारतीय संस्कृति, प्राचीन भारत के वैभव और व्रतनिष्ठा आदि विषयों पर विस्तृत चर्चा हुई। चर्चा के दौरान हमने अनुभव किया—उनमें सिद्धांत के प्रति दृढ़ निष्ठा है। साथ-साथ उतनी ही मृदुता और उतना ही विनम्र व्यवहार। सिद्धांतनिष्ठा और मृदुता के संगम ने हमारे मन को आकृष्ट किया और उनके प्रति हमारा आकर्षण निरंतर बना रहा। विचार-काल में यह नहीं होता कि दोनों पक्ष एक-दूसरे के विचारों से सर्वथा सहमत हों। यह अवश्य होना चाहिए कि प्रतिपक्ष के विचार को भी आदर-मति से सुना जाए और उस पर तटस्थ दृष्टि से चिंतन किया जाए। विचार का नियम है सत्यांश की खोज। जिस विचार-काल में सत्यांश की खोज नहीं होती, वह क्षण विचार का नहीं, विवाद का क्षण है।

पंडित गिरधर शर्मा संस्कृत के धुरंधर विद्वान् थे। उनका मिलन संस्कृत के विकास की चर्चा का मिलन था। उन्हें नवनिर्मित 'भिक्षुशब्दानुशासनम्' तथा अन्य संस्कृत साहित्य का परिचय दिया गया। गुरुदेव ने बताया—मुनि नथमलजी संस्कृत में आशुकविता करते हैं। पंडितजी ने विषय दिया और मैंने तत्काल प्रदत्त विषय पर संस्कृत में पद्यों की रचना की। पंडितजी बहुत प्रसन्न हुए।

संस्कृत में आशुकविता का प्रयोग बहुत विरल रहा है। पंडित रघुनंदनजी शर्मा कुशल आशुकवि थे। उनके जैसा सरस पदावलि की रचना करने वाला हमने नहीं देखा। उनकी आशुकविता को देखकर हम लोगों ने अभ्यास शुरू किया। थोड़े ही समय में हमें उसमें सफलता मिल गई।

पंडित चैनसुखदासजी अनेक वर्षों से हमारे मुनियों को दर्शन के ग्रंथ पढ़ाते थे। तेरापंथ संघ के प्रति उनमें बहुत आकर्षण था। आचार्यवर के पास वे अनेक बार आए।

संबोधि के आठ अध्याय मैंने राणावास में लिखे। फिर उसका रचना कार्य एक बार स्थगित हो गया। जयपुर (वि. संवत् १९१४) में वे आठ अध्याय मैंने चैनसुखदासजी को सुनाए। उन्होंने कहा—ग्रंथ पूरा हो गया या अधूरा है? मैंने कहा—अधूरा है पर अभी एक बार इसे स्थगित कर दिया है। पंडितजी बोले—बहुत उपयोगी ग्रंथ है। आप इसे जल्दी से पूरा करें। उनका अनुरोध मैंने स्वीकार किया और उत्तरार्द्ध के आठ अध्यायों की रचना हो गई।

मेरी काव्य-चेतना

मेरी साहित्यिक रुचि और दार्शनिक रुचि में किसको प्राथमिकता दूं, यह निर्णय कठिन है। इतना निर्णय दे सकता हूं कि दोनों रुचियां साथ-साथ पलती रही हैं। प्रारंभ में साहित्यिक रुचि प्रबल थी और दार्शनिक रुचि कमजोर। दो दशक तक यह स्थिति बनी रही। उसके बाद दार्शनिक रुचि प्रबल हो गई और साहित्यिक रुचि कमजोर। प्रवृत्ति में कुछ अन्तर आया, पर क्षमता में अन्तर नहीं आया। आज भी दोनों रुचियां, दोनों प्रवृत्तियां और दोनों क्षमताएं एक साथ हैं—ऐसा मैं अनुभव करता हूं।

कविता : विवाद से उपजा संवाद

पूज्य कालूगणी जोधपुर में चतुर्मास बिता रहे थे। भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा को उनका पट्टारोहण दिवस था। हम विद्यार्थी साधु भी गुरुदेव के अभिनंदन में कुछ बोलना चाहते थे। हमने मुनिवर से श्लोक बनाने की प्रार्थना की। उन्होंने सबके लिए श्लोक बना दिए। मुझे श्लोक पसंद नहीं आए।

मैंने कहा—'आपने दूसरे साधुओं के लिए श्लोक अच्छे बनाए हैं, मेरे श्लोक उन जैसे नहीं हैं।'

मुनिवर ने कहा—'तुम्हारे श्लोक अच्छे हैं।' मैं अपने आग्रह पर अड़ा रहा और आप मुझे समझाते रहे। आखिर मैं माना ही नहीं तब आप बोले—'आज से प्रतिज्ञा है कि भविष्य में फिर तुम्हारे लिए श्लोक नहीं बनाऊंगा।'

इस प्रतिज्ञा ने मेरे लिए कविता का द्वार खोल दिया। जब-जब मैं इस श्लोक को पढ़ता हूं तो मुझे मेरे अज्ञान पर हंसी आती है। मैं मानता हूं—मुनिवर ने जो निष्ठा का वरदान देना चाहा, उसे मैं समझ नहीं सका। मेरे न समझने पर भी उन्होंने वह वरदान मुझे दे दिया। तब मैं समझ सका कि श्लोक कितना मूल्यवान है—

तात के पुत्र अनेक हुवै पर नन्दन के पितु एक कहावै,
ज्यूं घन के बहु इच्छु हुवै पिण चातक तो चित्त मेघ ही ध्यावै।
सागर के हुवै मच्छ कच्छ बहु मीन तो चित्त समुद्र ही चावै,
त्यों गुरु के बहु शिष्य हुवै पिण एक गुरु नित शिष्य के भावै।।

प्रत्येक व्यक्ति के मन में विकास करने की, आगे बढ़ने की भावना रहती है। एक किशोर में भी यह भावना बीज रूप में रहती है। उसे प्रोत्साहन मिलता है तो वह प्रस्फुटित हो जाती है।

मुनिवर मुझे बार-बार कहते—'तुम श्रम नहीं करोगे तो पीछे रह जाओगे और पूरा श्रम करोगे तो सबसे आगे जा सकते हो।' पीछे रहने की बात कभी अच्छी नहीं लगती। मन में एक स्पर्धा जाग गई और मैं सदा इस स्थिति में जागरूक हो गया। एक दृढ़ संकल्प जाग गया—मैं किसी से पीछे नहीं रहूंगा। मैंने पट्टोत्सव और चरमोत्सव के अवसर पर हिन्दी में अतुकान्त कविता लिखी। हमारे यहां तुकान्त कविता लिखने का ही प्रचलन था। कुछ साधुओं को वैसा लिखना अटपटा लगा। हर नई बात प्रारंभ में अटपटी लगती है।

आचार्यवर परिवर्तन और नवीनता में बहुत विश्वास करते थे। उन्होंने मेरी कविता का समर्थन किया और प्रोत्साहन दिया। कुछ वर्षों बाद अतुकान्त कविता की रचना साधु समाज में व्यापक हो गई।

वि. सं. २००१ से हिन्दी में कविता लिखने का सिलसिला आगे बढ़ता गया। मैंने स्थूलिभद्र के प्रयास पर 'राग-विराग' शीर्षक से कविता लिखी।

अभिवादन योगीराज!
आज
धन्या
अनन्या
कृतपुण्या
अहंमन्या
बीते वर्ष
विरह संघर्ष
कृश हर्ष
उत्कर्ष
घनाघन
जीवन
प्रफुल्लतानिकर
प्रफुल्लतर
रही विराज
महाराज
अभिवादन योगीराज!

(२)

आज्ञा हो तुम्हारी
चित्रशाला
विशाला
मदनालय-सी
मलयाचल-सी
मोहक-सी
मादक-सी
अतीत स्मृति-सी
प्रियंकरा।

कल्पना-सी
मनोहरा।
उसमें
चाहता हूं करना
निवास
जब तक
पूर्ण न हो चार मास
तब तक
कार्तिक पूर्णिमा तक
हेमंत तरुणिमा तक
इच्छा है हमारी
आज्ञा हो तुम्हारी

यात्रा में अनेक बार कवि सम्मेलनों का आयोजन होता रहता। वे भी कविता लिखने के हेतु बने। रुचि और प्राकृतिक वातावरण स्वयं उस ओर प्रेरक बन जाते। आचार्य तुलसी के पास समय-समय पर कवि आते रहते। कविता सुनाने का क्रम भी चलता रहता। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में एकदिवसीय प्रवास। रात्रि का समय। हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि अनेक विद्वान् कवि उपस्थित थे। कविता पाठ का क्रम चला। उस समय मैंने एक कविता पढ़ी–

बीज में विस्तार होता,
बीज क्या विस्तार क्या है?
चित्त में संसार होता,
चित्त क्या संसार क्या है?
मृत् सलिल का योग पाकर,
बीज ही विस्तार बनता।
वासना का भोग पाकर
चित्त ही संसार बनता।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसे बहुत ध्यान से सुना। हमारा वार्तालाप भी हुआ। उस समय से हमारे साथ उनका एक आत्मीय संबंध भी हो गया। बालकृष्ण शर्मा नवीन, मैथिलीशरण गुप्त, सीयारामशरण गुप्त, हरिवंशराय बच्चन, रामधारीसिंह दिनकर आदि उस समय के प्रौढ़ कवियों का बार-बार सम्पर्क होता रहा। कविता सुनाने के अवसर भी आते रहे। फलतः कविता लिखने की प्रेरणा मिलती रही।

संस्कृत में लिखना मुझे अधिक प्रिय था। उसमें मेरी गति भी सहज थी। जनता की मांग से समझौता करना पड़ा। फलतः हिन्दी में लिखने की प्रवृत्ति अधिक हो गई। गद्य, पद्य और निबंध–तीनों दिशाओं में

लेखन का काम चलता रहा। दर्शन की पुट तीनों में बराबर बनी रही। मेरी कविता में पाठक काव्य-तत्त्व को कम खोजते, दर्शन को अधिक।

मैंने कविताएं लिखनी शुरू की उस समय पहले से ही अनेक लब्धप्रतिष्ठ कवि थे। उनके ग्रंथ भी प्रकाशित होकर धड़ल्ले से बिक रहे थे। मेरा लेखन न प्रकाशन से जुड़ा था, न बाजार से। वह स्वान्तः सुखाय चल रहा था फिर भी कुछ कार्यकर्ताओं ने लेखन का प्रकाशन शुरू कर दिया। 'विजय यात्रा' और 'विजय के आलोक में' ये दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। विजय यात्रा गद्य काव्य की शैली में लिखी गई थी। उसमें काव्य दर्शन के दर्पण में प्रतिबिम्बित सा लग रहा था।

मैंने सुना है, अनुभव किया है–
स्वतंत्रता की कुंजी स्वयं मैं हूं,
मैंने सुना है, अनुभव किया है–
फूलों की सुगंध और कांटों की चुभन स्वयं मैं हूं।
मैंने सुना है, अनुभव किया है–
प्रलय और सृजन स्वयं मैं हूं,
मैंने सुना है, अनुभव किया है–
सागर की बूंद और सागर स्वयं मैं हूं।

'विजय यात्रा' भगवान महावीर के द्वारा इन्द्रभूति गौतम को दिया गया संदेश है। गौतम शास्त्रज्ञ थे किन्तु अपने अस्तित्व के विषय में, आत्मा के विषय में उन्हें संदेह था।

भगवान महावीर आत्मज्ञ थे। उन्होंने सूक्ष्म ध्यान की साधना द्वारा आत्मा का साक्षात् किया। वे अस्तित्व के विषय में, आत्मा के विषय में असंदिग्ध थे।

पावापुरी के उद्यान में गौतम महावीर के पास आए। महावीर ने कहा–'गौतम! तुम इतने बड़े शास्त्रज्ञ हो फिर भी तुम्हें अपने अस्तित्व के प्रति संदेह है।' महावीर के इस एक वाक्य ने उनके अंतस्तल में छिपे हुए संदेह को अनावृत कर दिया। गौतम नास्तित्व से अस्तित्व की दिशा में गतिशील हो गए। 'विजय यात्रा' में प्रतिबिम्ब है महावीर की वाणी का और संक्रमण है गौतम की मानसिक ऊर्मियों का।

जामनगर आयुर्वेद कॉलेज के दो प्रोफेसर आए–धन्वन्तरि और एम. कृष्णमूर्ति। दोनों ही बहुत विद्वान् और बहुश्रुत थे। प्रोफेसर कृष्णमूर्ति का अंग्रेजी भाषा पर बहुत अधिकार था। उन्होंने 'विजय यात्रा' का अंग्रेजी में अनुवाद करने की इच्छा प्रकट की। आदर्श साहित्य संघ उसका प्रकाशक था। उसने अनुवाद करने की स्वीकृति दे दी। प्रो. कृष्णमूर्ति ने कुछ गद्यों का अनुवाद किया। March to Victory इस नाम से पुस्तक प्रकाशित हुई। अंग्रेजी अनुवाद की यह पहली लघु पुस्तिका बनी।

यात्रा काव्य की एक आंतरिक प्रेरणा है। आचार्य तुलसी महान् परिव्राजक थे। उन्होंने लंबी-लंबी यात्राएं कीं। उन यात्राओं में अनेक गांव, अनेक नगर हमने देखे। पर्वत देखे, चट्टानें देखी, निर्झर देखे। नदियों को देखा, समुद्र को देखा। वृक्षों को देखा, जंगल को देखा। अट्टालिकाओं को देखा और उनकी छाया में बसी हुई झुग्गी झोंपड़ियों को देखा। हजारों-हजारों ग्रामीणों से मिलने और बातचीत करने का

मौका मिला, सैकड़ों-सैकड़ों विद्वानों, साहित्यकारों, विचारकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, साधु-संतों और आध्यात्मिक नेताओं से संपर्क और विचार-विमर्श करने का अवसर मिला। आचार्यवर की प्रेरणा रही और मेरी आंतरिक रुचि बन गई। मैं घटना का मात्र द्रष्टा नहीं रहता, स्रष्टा भी बन जाता। उसे शब्दों में बांध देता। कभी गद्य में, कभी पद्य में और कभी निबंध में।

राजघाट का प्रसंग है। आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत के प्रथम अधिवेशन के अवसर पर दिल्ली आए। आचार्य विनोबा भावे भूदान आंदोलन की यात्रा प्रारंभ करने दिल्ली पहुंचे। राजघाट पर दोनों का आकस्मिक मिलन हो गया। उस मिलन को देखकर मैंने लिखा–

राजघाट के पुण्य घाट पर
दो संतों का मेला
खोज रहे थे
पथ अपथ में
कितनी मंगल वेला।

आचार्य तुलसी पटना पधारे। पटना विश्वविद्यालय में उनका स्वागत किया गया। डॉ. जाकिर हुसैन उस समय बिहार के राज्यपाल थे। उन्होंने स्वागत के क्षण में कहा–'आचार्यश्री! स्वतंत्रता के बाद हमारे देश में बड़े-बड़े कारखाने लग रहे हैं। पंडित नेहरू इस देश को औद्योगिक बनाना चाहते हैं। मनुष्य के निर्माण का कोई कारखाना नहीं खुल रहा है। आपने अणुव्रत का आंदोलन शुरू कर मानव निर्माण का कारखाना खोला है। यह विकास की सही दिशा है। इसके बिना विकास समस्या पैदा करने वाला बन जाता है।'

मैंने डॉ. जाकिर हुसैन के लंबे वक्तव्य का काव्य की भाषा में गुंफन कर दिया–

विकास का मंत्र?
गति
गति का मंत्र?
गहरी नींद
गहरी नींद का मंत्र?
उफनती हुई चांद की चांदनी।

राष्ट्रकवि दिनकर ने अभ्यर्थना के स्वर में कहा–'आचार्यश्री! आप श्रमण परम्परा के प्रतिनिधि हैं। श्रमण परम्परा में निवृत्ति का बहुत मूल्य है। वर्तमान युग में प्रवृत्ति का अतिरेक हो गया। मनुष्य अणुबम के निर्माण तक पहुंच गया। इस बिन्दु तक पहुंचने के बाद लौटने की जरूरत है, अन्यथा मनुष्य प्रलय की स्थिति में पहुंच सकता है। आचार्यवर! आप संयम, व्रत और त्याग की बात कहते हैं इसलिए मैं आपका स्वागत करता हूं।'

राष्ट्रकवि की भावना को काव्य की भाषा में प्रस्तुत करते हुए मैंने लिखा–

प्रवृत्ति?
धुएं से लिपटी हुई आग

निवृत्ति?
उसी आग से जला हुआ चिराग।

आचार्यश्री तुलसी दिल्ली में विराज रहे थे। एक दिन संसद सदस्य राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के आवास पर पधारे। लगभग आधा घंटे तक राष्ट्रीय चरित्र, नैतिकता और साहित्य के विषय में वार्तालाप हुआ। बातचीत के दौरान गुप्तजी ने कहा–'आचार्यजी! कहीं-कहीं हमारे शासक वर्ग का प्रमाद हो रहा है। इसीलिए नैतिक मूल्य विखंडित हो रहे हैं।' राष्ट्रकवि ने कहा–छोटा प्रमाद भी बड़ा भयंकर होता है। इस प्रसंग में उन्होंने दो पंक्तियां सुनाई–

एकमात्रा के प्रमाद से सखे!
मेरा क्षीर सिंधु क्षार सिंधु बन गया।।

वार्ता को आगे बढ़ाते हुए गुप्तजी ने कहा–'मैंने अनेक पुरुषों के चरणों में अपनी काव्यात्मक श्रद्धांजलि अर्पित की है। मेरी चिरकाल से अभीप्सा है कि मैं भगवान महावीर के चरणों में अपनी काव्यमय भावांजलि अर्पित करूं। किन्तु इस कार्य में श्वेताम्बर दिगम्बर का मतभेद आड़े आ रहा है। इसलिए मैं कुछ कर नहीं पा रहा हूं। क्या कोई समन्वय का मार्ग निकल पाएगा? मेरी भावना पूर्ण हो सकेगी?' उनकी वेदना इन शब्दों में व्यक्त की गई–

महाश्रमण के पुण्य चरण में
काव्यांजलि अर्पित करने की
मेरी चिर अभिलाषा
किन्तु द्वन्द्व से
निर्मित अंतर्द्वन्द्व
क्या गुत्थी यह सुलझ सकेगी?

यात्रा के दौरान हमने अनुभव किया–वर्तमान में चलने वाला धर्म कोरी उपासना से जुड़ा हुआ है। चरित्र से उसका कोई संबंध नहीं है। इस स्थिति ने एक मानसिक वेदना पैदा की और सहसा एक स्वर निकला–

शीर्षासन कर रहा है
आज का धर्म
सिर नीचे
पैर ऊपर।

कोलकाता यात्रा (वि. सं. २०१६) में मैंने गद्य काव्य लिखना शुरू किया। उसकी पहली पुस्तक 'अनुभव चिंतन मनन' नाम से प्रकाशित हुई। उस पर अनेक साहित्यकारों और विद्वानों की समीक्षाएं आई। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसका प्राक्कथन लिखा–

''मुनिश्री नथमलजी द्वारा लिखित गद्य गीतों और लघु निबंधों का संकलन–'अनुभव चिंतन मनन' देखा। छोटे-छोटे गद्य गीतों में उन्होंने बहुत ही प्रेरणादायक अनुभव और चिंतन का प्रकाश भर दिया है।

अनुभव क्या है? मुनिश्री जी ने बताया है कि 'अनुभव का अर्थ है–देश, काल और परिस्थिति की दूरी की समाप्ति और अपने में बाहर की संक्रांति। कांच जितना स्वच्छ होता है, प्रतिबिम्ब उतना ही स्वच्छ होता है; मन संवेदना से जितना भरा होता है, अनुभूति उतनी ही तीव्र होती है।' मुनिश्री ने इसी स्वच्छ संवेदनशील चित्त से प्राकृतिक व्यापारों को देखा है और उससे बहुमूल्य निष्कर्षों पर पहुंचे हैं। अपने देश में तत्त्वज्ञान के लिए 'दर्शन' शब्द का प्रयोग हुआ है। दर्शन अर्थात् देखना।

परन्तु क्या सबका देखना दर्शन है? जो चित्त योग शुद्ध है, जिसमें मलिनता और आविलता नहीं है उसी का देखा हुआ तत्त्व 'दर्शन' की कोटि में आ सकता है। जो व्यक्ति पक्ष-विपक्ष की माया से छुटकारा नहीं पा सका, उसका देखना सही देखना नहीं होता। इसीलिए 'चिंतन' सहज ही स्फुरित होता है। विकृत से प्रकृत की ओर होने वाली स्फुरणा ही चिंतन है। मुनिजी ने बहुत ठीक लिखा है–'सिद्धांतवादिता से मौलिकता नहीं आती। मौलिकता के आधार पर सिद्धांत स्थिर होते हैं। क्योंकि सिद्धांतवादिता से आलोचना प्रतिफलित होती है और अनुभूति से मौलिकता।'

इस आलोचना-जर्जर युग में इस सहृदय संवेदन और स्वानुभूति का बल क्षीण हो गया है। मनुष्य के सहानुभूतिपरायण निर्मल चित्त में स्नान करने के बाद ही सिद्धांत ग्राह्य हो सकते हैं।

मुनिजी ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है वह सरल और प्रेषणधर्मी है। कभी-कभी उन्होंने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो पारम्परिक अर्थों से कुछ भिन्न लगते हैं। यह उनके स्वतंत्र चिंतन का परिणाम है। मैं जिस बात को 'सहज' समझता हूं, कदाचित् मुनिजी उससे भिन्न अर्थ में उसका प्रयोग करते हैं। इससे मैं चिंतित नहीं हूं। भारतीय चिंतन-साहित्य में ऐसा और भी होता रहा है। मूल भाव पर जाना चाहिए।

इस छोटी सी पुस्तक को पढ़कर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। मुझे आशा है कि सहृदयों को इस पुस्तक से आनंद और प्रेरणा, दोनों की प्राप्ति होगी।''

राजस्थानी, हिन्दी और संस्कृत–इन तीनों भाषाओं में मैं कविता लिखता था। राजस्थानी में कम, हिन्दी में उससे ज्यादा और संस्कृत में उससे भी ज्यादा। कविता लिखने का प्रारंभ राजस्थानी भाषा से हुआ था। बीकानेर और जोधपुर में राजस्थानी का वातावरण संपुष्ट था। बीकानेर में विद्याधर शास्त्री, अम्बिका प्रसाद शास्त्री और रतनलाल शास्त्री आदि विद्वान् कभी संस्कृत और कभी राजस्थानी कविता की गोष्ठी करते रहते थे।

राजस्थानी भाषा की कुछ कविताएं यहां उद्धृत हैं–

o दिल तो है पण दर्द कोनी। दर्द कोनी जद ही दिल है। नहीं तो आज तांई रेतो ही कोनी, कदेई टूट जातो....परायो दर्द कुण देखे....

o मर्द तो है पण रीस कोनी। रीस कोनी जद ही मर्द है। नहीं तो आज तांई रेतो ही कोनी, पेल्ही ही मर जातो.....पग पग पर गम खाणी पड़ै....

o बड़ो सीधो है पण कने सत्ता कोनी। सत्ता कोनी जणाई सीधो है। नहीं तो आज तांई रेतो ही कोनी, पेल्ही ही सीधाई पूरी हो ज्याती।

o बड़ो सादो है पण कने धन कोनी। धन कोनी जदेई सादो है। नहीं तो आज तांई रेतो ही कोनी, सादगी कदेई टूट जाती।

o बड़ो धीरो है। बार बार फिरै पण घूंस कोनी देवै। घूंस कोनी देवै, जदेई बार बार फिरै, नहीं तो आज तांई फिरतो ही कोनी, पेल्ही काम बण ज्यातो।

o बड़ो स्याणो है पण बही-खाता झूठा राखै है। बही -खाता झूठा राखै जदेई स्याणो है। नहीं तो आज तांई रेतो ही कोनी। इन्कमटेक्स रो अफसर पेल्ही ही बावलो बणाय देतो।

o बड़ो समझदार है, पण कोई नै कीं केवै कोनी। केवै कोनी जदेई समझदार है। नहीं तो आज तांई रेतो ही कोनी, पेल्ही ही समझदारी पूरी हो ज्याती।

राजस्थानी में सरसता, मृदुता, अभिव्यंजना की अर्हता–ये तीनों विशेषताएं पाई जाती हैं। समय का प्रभाव–इस शीर्षक के गद्य में इन तीनों विशेषताओं का दर्शन होता है–

एक दुरजन आदमी बाग में गयो
सिंज्या री सी बात ही
हाल सूरज आथम्यो कोनी हो।
कंवल रा फूल खिल रह्या हा–
वां पर भंवरा नाच रह्या हा–
सूरज री किरण्यां पड़ रही ही।
वीं (दुरजण) ने आ बात आछी कोनी लागी।
वो सूरज ने बोल्यो–'सूरज! तू तो बण्यो बणायो मूरख है।
देख–कंवल थारै पर रीस कर लाल मुंडो कर राख्यो है।
तो ही तूं वीं रै कनै जावै।'
कंवल ने कह्यो–'सूरज था स्यूं उपरलो हेज दिखावै और
मायने स्यूं के करै है तूं कोनी जाणे।
देख–थारी जड़ काटे, पाणी और कादो सुकावै।'
भंवरे नै इसी घूंट पाई–'रे भंवरा!
ओ कंवल थारै वास्ते कोनी खिल्यो है, सूरज रे वास्तै खिल्यो है।
तू आ बात मत भूल ज्याई।''
दिन ढलतो हो।
तीनां रा मन फाटग्या।
तीनूं न्यारा न्यारा होग्या।
सूरज जाकर पाणी में डूबग्यो।
कंवल आपरो मूंडो लुको लियो।
भंवरो कठेई दूर भाजग्यो।

वीं (दुरजन) रो कालजो हरग्यो
वो तो सेर घी पीयोड़ो सो होग्यो।
रात रात में तीनां री अकल ठिकाणै आगी–
दिन ऊग्यो
तीनूं पाछा मिलग्या।
वो आदमी दूजै दिन बाग में आयो।
तीनां ने मिल्योड़ा देख्या।
माथै हाथ देकर बोल्यो–'म्हारो कात्यो पींन्यो कपास होग्यो।'
अब दिन चढ़तो हो।
ईं वगत वीं खोटै आदमी री बात कुण मानै।

संस्कृत काव्य

गुरुदेव ने हिन्दीभाषी प्रान्तों की यात्रा बहुत लंबे समय तक की इसलिए हिन्दी में कविता लिखने की रुचि अधिक रही। बीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध संस्कृत विद्वानों का परिशिष्ट था। बड़े-बड़े पंडित समाधि-लीन हो चुके थे। कुछेक बचे, उनसे सम्पर्क समय-समय पर होता रहा। संस्कृत के विद्वान् आते तब आचार्यवर का इंगित होता–'मुनि नथमलजी संस्कृत के आशुकवि हैं। आप कोई विषय दें अथवा कोई समस्या दें। ये तत्काल आपको श्लोक बनाकर देंगे।' कभी किसी विद्वान् ने आशुकविता के लिए विषय दिया, कभी समस्यापूर्ति के लिए मैंने उनकी भावना के अनुरूप संस्कृत श्लोक प्रस्तुत किए। यह सिलसिला लंबे समय तक चला। कुछ श्लोक तत्काल लिखे गए और कुछ अंतरिक्ष के गह्वर में विलीन हो गए। उस समय न टेपरिकॉर्डर की व्यवस्था थी और न लिखने वालों की नियोजित व्यवस्था। फिर भी कुछ श्लोक साधुओं ने सुरक्षित कर लिए।

आशुकविता के सैकड़ों-सैकड़ों प्रसंग आए, उनमें कुछ प्रसंग कसौटी के थे। उनमें बंबई, पूना, वाराणसी के प्रसंग आज भी स्मृति के सामने स्फूर्त हैं।

आचार्यवर तिलक विद्यापीठ पधारे। डॉ. के. एन. वाटवे, एम. ए. पीएच-डी, संस्कृत विभागाध्यक्ष, एस. पी. कॉलेज, पूना ने आशुकवित्व के लिए विषय देते हुए यह श्लोक कहा–

मिलिताः पण्डिताः सर्वे, काव्यस्य श्रवणेच्छया।
अतो हि काव्यमाश्रित्य, वर्ण्यतां विदुषां सभा।।

सभी पण्डित काव्य सुनने की इच्छा से यहां एकत्रित हुए हैं। इसलिए आप (मुनिश्री) 'विद्वत्सभा' इस विषय पर आशुकवित्व करें।

विषय पूर्ति

स्वातन्त्र्यं यज्जन्मसिद्धोऽधिकारः,
येषां नादः सर्वथा श्रूयमाणः।

तेषां नाम्ना मंदिरं विद्यमानं,
विद्वद्वर्या अत्र सर्वे प्रभूताः।।१।।

जिस महामनीषी ने यह नारा दिया था कि 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' और जो नाद आज सर्वत्र गूंज रहा है, उनकी नाम-स्मृति में यह 'तिलक-विद्यापीठ' बना है। आज सभी पंडित यहां उपस्थित हैं।

विलोक्य सर्वान् विदुषः प्रमोदे,
विराजमाना गुरवो ममातः।
इतो विराजन्ति मुमुक्षवोऽमी,
साहित्यपाण्डित्यकलाप्रपूर्णाः ।।२।।

मैं विद्वानों को देखकर परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूं। एक ओर मेरे गुरुदेव आचार्यश्री तुलसी विराजमान हैं और इधर साहित्य के विद्वान् और कला में निपुण ये मुमुक्षु बैठे हुए हैं।

ये ये विचारा मनसोद्भवन्ति,
ज्ञातास्तथा ज्ञाततमा लसन्ति।
आविष्करोमि प्रमनाश्च ताँस्तान्,
ज्ञेयः ससीमः समयो ममास्ति।।३।।

जो विचार मन में उत्पन्न हो रहे हैं, वे ज्ञात और सुज्ञात हैं। फिर भी मैं प्रसन्न मन से उन्हें अभिव्यक्त करता हूं। मेरे बोलने का समय ससीम है, यह सब जान लें।

नाहं क्वचित् कांश्चन वेद्मि विज्ञान्,
न तेऽपि जानन्तितमां च मां च।
पूर्वोऽयमेवास्ति समागमोऽत्र,
परं प्रमोदोऽस्ति महान् समन्तात्।।४।।

यहां उपस्थित किसी विद्वान् को मैं नहीं जानता और न कोई विद्वान् मुझे पहचानता है। यह हमारा पहला ही समागम है, फिर भी चारों ओर हर्ष का वातावरण है।

येषां विचाराः प्रकृतिप्रसन्नाः,
सद्भावना स्फूर्तिमती विभाति।
श्रोतुं विचारान् यतिनां वरेण्यान्,
समागतांस्तान्न विदन् प्रवेद्मि।।५।।

जिनके विचार स्वभावतः निर्मल हैं, जिनकी सद्भावना स्फूर्तिमती है, जो मुनियों के वरेण्य विचार सुनने के लिए समागत हैं, उन्हें न जानता हुआ भी अच्छी तरह से जानता हूं।

प्रमोदराशिर्नयने निमग्नो,
विलोक्यते तत्त्वमिदं महत्तत्।

अप्रेम्णि ये प्रेम सभाजयन्ति,
ते पण्डिता एव न संशयोऽत्र।।६।।

सबकी आंखों में प्रमोद भरा हुआ दीखता है, यह यहां की मुख्य बात है। जो व्यक्ति अप्रेम में भी प्रेम का प्रभुत्व स्थापित करते हैं, वे सब पंडित होते हैं, इसमें कोई भी संशय नहीं है।

नाज्ञेषु शान्तिः स्थिरताप्रसक्तिः,
शान्ताः स्थिराः सन्ति समे यदेते।
विद्वत्सभेयं लसतेऽत्र रम्या,
सर्वेऽपि विद्वांस इति ब्रवीमि।।७।।

अज्ञ व्यक्तियों में शांति और स्थिरता नहीं होती। यहां शांति और स्थिरता दोनों हैं, अतः यह विद्वत्सभा अत्यंत रमणीय है और यहां उपस्थित सभी व्यक्ति विद्वान् हैं, ऐसा मैं कहता हूं।

(तिलक विद्यापीठ, पूना, २६-२-५५)

आचार्यवर वाग्वर्धिनी सभा में पधारे। डॉ. के. एन. वाटवे, एम. ए. पीएच.-डी. ने आशुकवित्व के लिए विषय देते हुए निम्न श्लोक कहा–

समयज्ञापकं नित्यं, नव्यानां हस्तभूषणम्।
स्रग्धरावृत्तमालम्ब्य, घटीयन्त्रं हि वर्ण्यताम्।।

'जो सदा समय बताती है, जो नौजवानों के हाथ का आभूषण बनी हुई है, उस घड़ी का स्रग्धरा छंद में वर्णन करें।'

विषय पूर्ति

यद्वा ज्ञातः पुराणैर्निखिलऋषिवरैर्व्योमवीक्ष्यापि कालः,
ज्ञाता तज्ज्ञायते वा प्रकृतिविवशता साम्प्रतं वर्धमाना।
स्वातन्त्र्यस्य प्रणादो बहुजनमुखगः किन्तु नो कार्यरूपे,
हस्ते बद्ध्वा घटीस्ता भवति च मनुजश्चित्रमासामधीनः।।१।।

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने आकाश को देखकर काल का ज्ञान किया था। किन्तु आज बढ़ती हुई प्रकृति की विवशता स्वयं ज्ञात है या ज्ञात हो सकती है। वर्तमान में स्वतंत्रता का स्वर जन-जन के मुख पर है, किन्तु वह कार्यरूप में परिणत नहीं है। आश्चर्य है कि मनुष्य हाथ पर घड़ी बांधकर उसके अधीन हो रहा है।

चक्षुर्यद् वान्तरालं स्फुरितमपि भवेत्तन्न यंत्रस्य चेष्टा,
विज्ञाः पश्यन्तु सर्वे वयमिह मुनयः कस्य हस्तेऽस्ति यंत्रम्?
चक्षुष्मानत्र बुद्धो भरतजनपदे स्वात्मना स्वं प्रपश्येत्,
बाह्ये दृष्टिं वितन्वन् बहिरपि सुदृश! स्यात्पराधीनचेताः।।२।।

अंतराल का चक्षु खुल जाता है, वह कोई यंत्र की चेष्टा नहीं मानी जाती। सारे विद्वान् यह देखें कि हम मुनियों के हाथ में कौन सा यंत्र है? भारत में उसे ही चक्षुष्मान माना है जो अपनी आत्मा से अपने आपको देखता है। चक्षुष्मान विद्वानो! बाहर की ओर झांकने वाले का चित्त बाह्य वस्तुओं के अधीन हो जाता है।

लोकोऽयं नाम चित्रो भवति च सततं नात्र सन्देहलेशः,
शृंगारार्थं प्रयत्नो भवति नवनवो ज्ञातमेतत् प्रसिद्धम्।
स्त्रीणां हस्ते हि दृष्टा भवति च मनुजैः साप्यलंकाररीतिः,
घट्या व्याजेन लब्धा व्रजति च किमसौ साम्प्रतं स्त्रीत्वमेतुम्।।३।।

उसमें कोई संदेह का अंश भी नहीं है कि यह मनुष्य बहुत विचित्र है। यहां शृंगार के लिए नए-नए प्रयत्न होते हैं—यह सबको ज्ञात है। स्त्रियों के हाथ शृंगारित होते हैं किन्तु मनुष्यों ने भी घड़ी के मिष से हाथ को अलंकृत किया है। इससे यह आशंका होती है कि क्या मनुष्य स्त्रीत्व की ओर जा रहा है?

लोकेऽयं जायमानो नहि नहि विदुषा विस्मयः कोपि कार्यः,
स्त्रीत्वं पुंस्त्वे कदाचिद् भवति दृशिगतं पुंस्त्वमेवापि तत्त्वे।
कालोऽसीमो विभाति प्रकृतिविलसितो यद् रुचिश्चापि चित्रा,
बुद्धेर्भेदोऽपि जातस्तदघटितघटा मन्यतामत्र सत्या।।४।।

'स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री बनना'—लोक में यह होता रहता है। इसमें किसी विद्वान् को विस्मित नहीं होना चाहिए। काल असीम है। यह प्राकृतिक है। लोगों की रुचि भी भिन्न-भिन्न है, बुद्धि का तारतम्य भी है, इसलिए किसी भी अघटित घटना को सत्य माना जा सकता है।

वाग्वर्धिनी सभा, पूना—वि. सं. २०११, फाल्गुन शुक्ला ६ (२६-२-५५)

बनारस संस्कृत महाविद्यालय में हमारा एक कार्यक्रम आयोजित था। उसमें मैंने संस्कृत में 'स्याद्वाद' पर प्रवचन किया। सब विद्वानों और छात्रों ने तन्मयता से सुना। प्रतीत होता है कि एक विद्वान् के मन में कुछ विरोधी प्रतिक्रिया हुई। लंबे समय तक वाद, प्रतिवाद होता रहा। उसकी समाप्ति पर आचार्यवर ने कहा—आशुकविता के लिए कोई विषय या समस्या दें। तीन विद्वानों ने तीन समस्याएं दीं—

समस्या—कर्दन्त्यमी मानवाः

प्राणो नृत्यति विश्वगः प्रतिपलं सर्वान् जनान् जीवयन्,
नीतेर्भ्रंश इहाजनिष्ट सततं सोप्यस्ति निष्प्राणितः।
वायुर्नृत्यति साम्प्रतं च गगने सर्वास्वस्थास्वपि,
निष्प्राणा भुवने भवन्ति सकलाः कर्दन्त्यमी मानवाः।।

यह विश्वव्यापी प्राण सब जनों को जीवन देता हुआ नृत्य करता है। किन्तु आज नीति का विनाश हो गया, इसलिए वह प्राण भी निष्प्राण हो गया। अभी सब अवस्थाओं में इस नीलगगन में केवल वायु नृत्य कर रही है। प्राण चला गया, केवल वायु रह गई है। जब विश्व में सब पदार्थ निष्प्राण हो जाते हैं, तब मनुष्य कांख को बजाया करते हैं।

समस्या—सरस्यामालस्यादिव पतति पाटीरपवनः

श्रमो विश्रामार्थी भवति यदिदानीं प्रतिजनं,
जनाः सर्वे खर्वं निदधतितमां गर्वमतुलम्।
इयं वृत्तिः प्रादुर्भवति यदि वा चेतनजने,
सरस्यामालस्यादिव पतति पाटीरपवनः।।

आज श्रम मानो प्रत्येक मनुष्य में प्रविष्ट होकर विश्राम करने की बात सोच रहा है। सब मनुष्य निकृष्ट कोटि का अतुलनीय गर्व कर रहे हैं। यदि चैतन्यमय मनुष्यों में इस प्रकार की वृत्ति प्रकट हो रही है तो कहना होगा कि चन्दनवन का पवन सरोवर में अलसाया हुआ सा सुस्ता रहा है।

समस्या—न रजनी न दिवा न दिवाकरः

स्पृशति दृष्टिरियञ्च बहिर्जगत्तिमिरमस्ति तथेतरदस्ति च।
स्पृशति दृष्टिरियं जगदान्तरं, न रजनी न दिवा न दिवाकरः।।

जब यह दृष्टि बहिर्जगत् का स्पर्श करती है तब उसे अंधकार और प्रकाश दोनों मिलते हैं। किन्तु जब वह अंतर्जगत् का स्पर्श करती है तब वहां न रात है, न दिन है और न सूर्य।

(वि. सं. २०१५, मृ. शु. ११-१२, बनारस संस्कृत महाविद्यालय)

अनेक स्थानों, अनेक विषयों, अनेक जटिल समस्याओं पर आशुकवित्व की कसौटी हुई, पर गुरुदेव का प्रसाद ही मानता हूं कभी मन में विचलन नहीं हुआ, कभी भय नहीं हुआ और कहीं भी असफलता नहीं मिली। वाग्वर्धिनी सभा पूना में के. एन. वाटवे ने स्रग्धरा छंद में विषय का वर्णन करने को कहा। गुरुदेव मेरी ओर मुड़कर बोले—'अभी तक स्रग्धरा छन्द में आशुकविता नहीं की। प्रायः वसन्ततिलका, उपजाति आदि छंदों में आशुकविता करते रहे हो। यदि इसमें कठिनाई का अनुभव होता हो तो वाटवेजी को छन्द बदलने की बात कह दें।' मैंने उसी क्षण गुरुदेव को निवेदन किया—कोई चिंता नहीं।

मुझे गुरु का अनुग्रह और आत्मविश्वास—ये दोनों सिद्धियां प्राप्त थीं। इसलिए सफलता ने सदा मेरा वरण किया।

मैं दूसरों द्वारा प्रदत्त विषय व समस्यापूर्ति के लिए ही काव्य नहीं करता था। काव्य रचना का प्रमुख प्रेरणा स्रोत था प्रकृति और प्राकृतिक दृश्यों का सूक्ष्म निरीक्षण। मैं किसी भी वस्तु के स्थूल रूप पर नहीं अटकता, उसके सूक्ष्म तक जाने की सहज प्रवृत्ति का प्रयोग करता हूं। मैं किसी वस्तु के बाहरी आकार पर नहीं अटकता, उसके अंतस्तल को छूने की सहज प्रवृत्ति का प्रयोग करता हूं। प्रकृति और प्राकृतिक दृश्यों ने मुझे बहुत प्रेरित किया। हम रणथम्भोर की यात्रा पर गए। वहां एक मन्दिर में गणेशजी की मूर्ति देखी। उसके केवल सूंड है, उदर नहीं। उसे देखकर मन में कल्पना का उद्भव हुआ—

धान्याभावे वसति न जनस्तत्कुतः क्षुत्समाधि-
रालोच्यैवं मनसि सुतरां यत्र लम्बोदरोऽपि।

संकोच्य स्वं वपुषि धरते केवलं वारणास्यं,
राहू राहोः शिर इति नयो द्वैतमापच्च येन।।

धान्य का अभाव होने के कारण वहां कोई मनुष्य नहीं रहता। ऐसी स्थिति में भूख समाहित कैसे हो—मन में ऐसा सोचकर गणेशजी भी अपने आपका संकोच कर, शरीर पर केवल हाथी का मुंह (सूंड) मात्र धारण करने लगे।

तर्कशास्त्रीय न्याय के अनुसार राहु का सिर नहीं कहा जाता। राहु का केवल सिर ही होता है, वह राहु शब्द से गृहीत हो जाता है। किन्तु उस गणेश की मूर्ति का केवल सिर देखने के बाद यह लगा कि वह तर्कशास्त्रीय न्याय दोहरा हो गया है—एक राहु के लिए और एक गणेश के लिए।

(रणथम्भोर यात्रा—वि. सं. २००६, पौष)

आचार्य तुलसी महान् पदयात्री थे। उन्होंने चार दशक तक लंबी-लंबी यात्राएं की। पदयात्री जो देखता है वह यान और वाहन यात्री नहीं देख पाता। पदयात्री का मिट्टी के हर कण, पथ, वृक्ष, पर्वत, नदी, पशु-पक्षी और मनुष्यों के साथ जितना सीधा संपर्क होता है उतना अपदयात्री का नहीं होता।

पदयात्री प्रकृति के प्रांगण में जीता है, श्वास लेता है। कवि के लिए इससे अधिक उपयोगी साधन सामग्री और कहीं नहीं मिल सकती।

हम घोलवड़ (महाराष्ट्र) पहुंचे। वह समुद्र के तट पर बसा हुआ था। हम एक अतिथि-गृह में ठहरे। एक विचित्र दृश्य देखा। कल्पना तैयार हो गई।

सिन्धुर्गर्जिं व्यधित विपुलां विक्षिपन् वीचिमालां
शान्ता श्यामा विधुधवलिता तत्सहाया प्रजाता
प्रासादानामपि विटपिनां तीरदेशे स्थितानां,
भीतिर्दृष्टा न खलु वदने तत्र हेतुः समुद्रः।।१।।

समुद्र लहरों को उछालता हुआ जोर से गर्जन कर रहा था। चांद की चांदनी से धवलित नीरव रात समुद्र के गर्जारव को फैलाने में सहायक हो रही थी, किन्तु तट पर स्थित बड़े-बड़े मकान और वृक्ष निष्प्रकंप खड़े थे। उनमें भय का लवलेश नहीं था। उसका मूल कारण था समुद्र। क्योंकि समुद्र अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता।

उत्कीर्याद्रिं लयननिवहः संस्कृतो दृष्टपूर्वः
छित्त्वा स्कन्धं वरशिखरिणो निर्मितो नोटजश्च
दृष्टादृष्टे यदिह तुलनाऽधीयते तर्हि दृष्टं,
नादृष्टस्यार्हति किल कलां षोडशीं चापि विश्वे।।२।।

पहाड़ को कुरेद कर बनाए गए मकानों की पंक्ति हमने देखी थी। किन्तु वृक्ष के स्कंध को छीलकर एक उटज का निर्माण हमारे लिए अदृष्ट पूर्व था। दृष्ट और अदृष्ट में यदि तुलना की जाए तो जो दृष्ट है वह अदृष्ट के सोलहवें भाग में भी नहीं आ सकता।

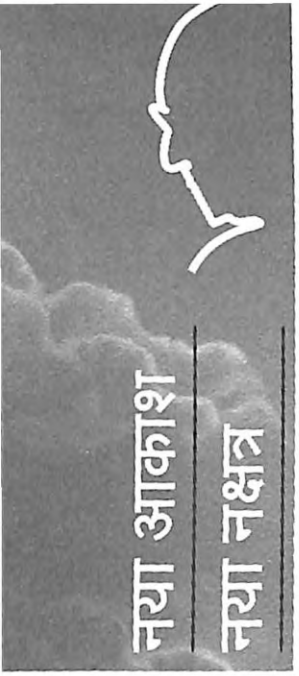

ताजमहल, त्रिवेणी संगम, वैभार पर्वत, सम्मेद शिखर, श्रवणबेलगोला आदि विभिन्न क्षेत्रों तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों और विद्या संस्थाओं में गए और वहां अनेक आशुकवित्व के प्रसंग बने, उन सबका आकलन करना यहां संभव नहीं है।

मैंने जितने श्लोक बनाए उतने लिखे नहीं गए। जितने लिखे गए उतने अभी प्रकाशित नहीं हुए। 'अश्रुवीणा', 'रत्नपालचरितम्' आदि पद्य काव्य लिखे और 'मुकुलम्' आदि गद्य काव्य। साहित्यिक रुचि प्रारंभ से थी। संस्कृत में कविताएं, कहानियां लिखता ही था। फिर हिन्दी में कविताएं लिखनी शुरू की। निबंध भी लिखे। तब हिन्दी जगत् के जैनेन्द्रकुमार, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सियारामशरण गुप्त, रामधारीसिंह 'दिनकर', कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', विष्णु प्रभाकर, सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय, मंगलदेव शास्त्री, शिवमंगलसिंह सुमन, काका कालेलकर आदि साहित्यकारों से सम्पर्क बढ़ने लगा। देश के प्रतिष्ठित साहित्यकारों से संपर्क और विचार-विमर्श से सृजन में नए उन्मेष आए।

मेरा स्वास्थ्य

संस्कृत का सूक्त है–स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति। स्वस्थ चित्त में बुद्धि की स्फुरणा होती है। आरोग्य मनुष्य की पहली आकांक्षा है। 'पहला सुख निरोगी काया'– इस सूत्र में इसी आकांक्षा का प्रतिबिम्ब है।

शरीर के दो पक्ष हैं। आरोग्य की अवस्था में वह सुखद है। रोगावस्था में वह सुखद नहीं है। वह धर्म का साधक भी है और धर्माराधना का बाधक भी है।

शरीर का आत्मा के साथ निकट का संबंध है इसलिए उस पर भी ध्यान देना जरूरी है। यदि कोई मनुष्य आहार का संयम नहीं करता तो शरीर सुखद नहीं रहता। कोई मनुष्य श्रम नहीं करता, आसन का प्रयोग नहीं करता तो शरीर सुखद नहीं रहता। कोई मनुष्य प्राणायाम करना नहीं जानता, दीर्घश्वास लेना नहीं जानता तो शरीर सुखद नहीं रह सकता।

शरीर को सुखद बनाये रखने के लिए आवश्यक है श्वास का संयम, आवश्यक है आसन का सम्यक् प्रयोग और आवश्यक है मन का सम्यक् प्रयोग।

औषध की प्रतिक्रिया

वि. सं. २००५ का वर्ष, स्वर्णिम युग का वर्ष। नई कल्पनाएं, नई योजनाएं, नए कार्य सामने आते हैं, नए युग का प्रवर्तन होता है। तेरापंथ धर्मसंघ के लिए वह नए युग का वर्ष रहा। आचार्यवर लाडनूं विराज रहे थे। मुझे प्रतिश्याय हो गया। कुछ तेज था इसलिए चिकित्सा की बात सोची गयी। डॉक्टर विभूतिभूषण ने एक गोली दी, वह संभवतः सल्फा की थी। उसकी प्रतिक्रिया (Reaction) हो गई। प्रतिश्याय प्रकुपित हो गया। बहुत इलाज किए पर उसका प्रकोप बढ़ता ही गया। ज्वर रहने लगा। यह सिलसिला ढाई मास तक चला। दो, तीन डिग्री तापमान रहने लगा। कफ का भारी प्रकोप होने के कारण शरीर दुर्बल हो गया। दैनिक कार्य में अवरोध आ गया। आचार्यवर चिन्तित थे।

सुजानगढ़ का प्रवास। रात्रि का समय। मैं आचार्यवर को वंदना करने गया। आचार्यवर ने पूछा–कैसे है? नाड़ी देखी और कहा–ज्वर अभी भी है। मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी वहां बैठे थे। आचार्यवर ने कहा–'मगनलालजी स्वामी! बड़ी चिन्ता की बात है। क्या करें?' मेरी अस्वस्थता ने सचमुच आचार्यवर को चिन्तित बना दिया। चिन्ता की सघनता में से समाधान निकल आया।

स्वास्थ्य की दिशा में प्रस्थान

लाडनूं से हुलासीबाई भूतोड़िया आई। उसने कहा–मैं प्राकृतिक चिकित्सा करा रही हूं। एक प्राकृतिक चिकित्सक आया हुआ है। बहुत कुशल है। उसका नाम है मातादीन। उससे चिकित्सा कराएं। दूसरे दिन वे आ गए। देखा और चिकित्सा शुरू कर दी। उन्होंने धूपस्नान का प्रयोग किया। दो, तीन दिन में ज्वर टूट गया। सबको आश्चर्य हुआ। आचार्यवर ने भी प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग शुरू किया। मिट्टी की पट्टी

और आहार का परिवर्तन किया। एक शांति का अनुभव हुआ। जैन मुनि साधना करते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा साधना में बहुत सहयोगी है। इस बात को बहुत कम लोग जानते हैं। वास्तव में यह चिकित्सा नहीं है। यह प्राकृतिक जीवन शैली का प्रयोग है। इस प्रयोग के प्रत्यक्ष परिणाम सामने आए।

योग जीवन का प्रारंभ

मैंने प्राकृतिक चिकित्सा का साहित्य पढ़ना शुरू किया। अनेक पुस्तकें पढ़ी। उनके अध्ययन से आहार के विषय में नए दृष्टिकोण का निर्माण हुआ। वहीं से मेरे योग जीवन का प्रारंभ हुआ। आसन और प्राणायाम के साथ-साथ ध्यान की रुचि भी जागृत हुई। मैंने ध्वनि चिकित्सा का भी प्रयोग किया। उदात्त स्वर में बीज-मंत्रों की ध्वनि करने पर मैं कुछ हास्यास्पद भी बनता रहा, फिर भी कोई अन्तःप्रेरणा काम कर रही थी। मैं उस प्रयत्न को छोड़ नहीं सका। आचार्यश्री की मुझ पर अनन्त करुणा रही। मैं जो काम करता, उसमें उनका अनुमोदन मिल जाता। आचार्यश्री ने स्वयं प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग किया। आसन, प्राणायाम और ध्यान के प्रयोगों का भी उन्होंने सर्वात्मना समर्थन किया। धीरे-धीरे उन सबकी जड़ें हमारे संघ में गहरी होती चली गईं।

ध्यान संतुलन की ओर

हमारा मुख्यतः विहार क्षेत्र थली प्रदेश (बीकानेर राज्य) रहा। पूर्ववर्ती आचार्यों का विहार क्षेत्र प्रमुखतः मेवाड़ और मारवाड़ रहा। पूज्य कालूगणी के शासनकाल में क्षेत्र का परिवर्तन हुआ। थली के समाज का भोजन अम्लता प्रधान था। भोजन के मुख्य तत्त्व थे दूध, दही, घी, मिठाइयां, तली हुई चीजें और प्रधानतया अन्नमय व्यंजन। इनमें क्षारप्रधान भोजन के तत्त्व बहुत कम थे। इसलिए बुढ़ापा भी जल्दी आता था। हरे साग, सब्जी और फलों का प्रचलन कम था। भोजन संतुलित नहीं था। संतुलन की ओर ध्यान दिया। अम्लप्रधान खाद्य पदार्थों को कम करने की दिशा में चिंतन किया।

लाभ आहार परिवर्तन से

अब हम प्रयोग की भूमिका पर आ गए। मैंने मैदा, मावा, तली हुई वस्तुएं, मिठाइयां—इन सबका वर्जन कर दिया। लगभग ५० वर्ष हो गए। वह वर्जना आज भी यथावत् है। इस खाद्य परिवर्तन से मुझे लाभ का अनुभव हुआ। दीर्घकालीन प्रतिश्याय के कारण पाचन तंत्र गड़बड़ा गया था। उसमें कुछ सुधार हुआ। एक बार पाचन तंत्र की स्थिति बहुत चिन्तनीय बन गई थी। पंडित रघुनंदनजी ने नाड़ी देखी। उन्होंने कहा—आप जी कैसे रहे हैं? मेरा दृढ़ संकल्प था स्वास्थ्य को ठीक करना, कुछ काम करना। यह धारणा भी पुष्ट हो गई थी कि मस्तिष्क से काम लेना है तो जीभ और पेट की हर मांग को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

वि. सं. २०१० का चतुर्मास हम जोधपुर में बिता रहे थे। वहां एक जैन श्रावक हस्तरेखाविद् था। उसने मेरा हाथ देखा। बहुत बातें बताई। साथ-साथ यह भी बताया—आपको चने की बनी हुई वस्तुएं नहीं खानी चाहिए और चावल भी कम। मैंने इन दोनों की वर्जना कर दी। स्वास्थ्य की समस्या धीरे-धीरे सुलझती गई। हर नया वर्ष स्वास्थ्य के नए रूप को लेकर सामने आने लगा। भोजन मेरे अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गया।

आचार्यवर का जीवन प्रयोगधर्मा था। उन्होंने भोजन के बहुत प्रयोग किए। उन प्रयोगों के कारण श्वास जैसी भयंकर बीमारी को अपने नियंत्रण में रखा। प्रारंभ में आहार परिवर्तन की किंचित्-किंचित् आलोचना भी हुई। हर नई वस्तु का प्रारंभ आलोचना से आच्छन्न रहता। धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ। सम्पूर्ण साधु-साध्वी समाज में भोजन का परिवर्तन हो गया।

....तो शतायु होते

जोधपुर की घटना है। आचार्यवर पहाड़ियों का पर्यटन कर सरदारपुरा की ओर आ रहे थे। आते-आते बीच में रुक गये। मेरा हाथ पकड़ कर बोले—'नथमलजी! हम कुछ देरी से चेते। अगर जल्दी चेत जाते तो शतायु होते।' सीमित और संतुलित आहार यौवन को चिरस्थायी और आयुष्य को दीर्घ बनाता है। कम खाने वाला अल्प ग्लूकोज से काम चलाता है। फलतः शरीर के अन्दर के प्रोटीन आपस में चिपक नहीं पाते। जो कम कैलोरी लेता है उसके ऊर्जा का चयापचय अच्छे ढंग से होता है। आवारा रसायनों की मात्रा घट जाती है। परिणामस्वरूप लंबी और रोगमुक्त आयु होती है।

आहार परिवर्तन के बाद स्वास्थ्य की समस्या सामने नहीं आई, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु आहार के असंयम से बढ़ने वाली स्वास्थ्य की समस्या सामने नहीं आई।

मैंने आहार संयम के अनेक प्रयोग किए इसलिए मेरा आरोग्य अपेक्षाकृत अच्छा रहा। मैं ऋतुजन्य प्रभाव से कभी-कभी आक्रांत होता रहा। कभी कफ, कभी पित्त और कभी वायु की समस्या हो जाती किन्तु ये समस्याएं कभी कार्य में बाधा उत्पन्न नहीं कर सकीं।

जीवन के नौवें दशक में गैस की समस्या काफी प्रबल बनी। उसने मेरे स्वास्थ्य को भी कुछ प्रभावित किया। घोषित यात्रा में परिवर्तन भी अपेक्षित हो गया।

श्रम और विश्राम का संतुलन

मेरे स्वास्थ्य का एक हेतु रहा—श्रम और विश्राम का संतुलन। मेरे लिए कार्यान्तर ही विश्राम रहा।

मुझे अनेक बार यह प्रश्न पूछा गया—आप दिनभर श्रम करते हैं। क्या आप क्लान्त नहीं होते? क्या आपको विश्राम की अपेक्षा महसूस नहीं होती?

मैंने कहा—मैं किसी कार्य का बोझ महसूस नहीं करता। थकान तब आती है जब कार्य का भार महसूस किया जाता है।

दूसरी बात यह है—जब मैं एक कार्य से निवृत्त होता हूं, दूसरे कार्य में लग जाता हूं। मेरे लिए कार्यान्तर ही विश्राम है।

मैं अपने जीवन की चर्या का निर्धारण करता रहता हूं। आज मुझे क्या करना है और कब करना है—यह पहले निश्चित कर लेता हूं। प्रतिदिन अनेक कार्यों में समय का नियोजन होता है इसलिए कार्य के साथ समय का निर्धारण भी कर लेता हूं। प्रत्येक कार्य के लिए एक निश्चित समय होता है। ज्योंही एक कार्य के लिए निर्धारित समय पूरा होता है, उस कार्य को वहीं विराम दे देता हूं। फिर उस कार्य का मन पर कोई भार नहीं होता।

निःशेषम्

आगम सम्पादन के संदर्भ में मैंने अपने जीवन का एक सूत्र निर्धारित किया—निःशेषम्। निश्चित समय पर कार्य के लिए प्रस्तुत होना, निश्चित समय पर कार्य से विरत हो जाना और इस भावना के साथ विरत होना—आज का कार्य शेष हो गया, कुछ भी बाकी नहीं बचा। उस कार्य की स्मृति पुनः दूसरे दिन उसी निश्चित समय पर ही करना—उससे पूर्व उस कार्य के संदर्भ में न सोचना, न चिन्तन करना और न अनावश्यक कार्यों में उलझना। मेरी इस चर्या का समग्रता से वाचक शब्द है—निःशेषम्।

दिनचर्या

मेरी दिनचर्या सदा नियमबद्ध और समयबद्ध रही है। दिनचर्या को भी मैंने स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण माना। दिनचर्या स्वास्थ्य एवं साधना को पुष्ट बनाने वाली हो, यह चिन्तन सदा मेरे सामने स्पष्ट रहा। मेरी दिनचर्या के प्रमुख अंग इस प्रकार हैं—

o प्रातः चार बजे जागरण।

o जागरण के पश्चात् सूर्योदय तक जप एवं ध्यान के विशेष प्रयोग, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि।

o सूर्योदय के पश्चात् साध्वियों का वंदना के लिए आगमन। उनसे कुछ समय वार्तालाप।

o शौचकार्य से निवृत्त होकर आसन, प्राणायाम और कायोत्सर्ग का प्रयोग।

o स्वल्प प्रातराश।

o प्रातराश के पश्चात् लेखन आदि का कार्य। मध्य में आगंतुक दर्शनार्थियों से वार्तालाप।

o प्रायः प्रातः दस बजे प्रातःकालीन प्रवचन। जनता को दर्शन और उपासना।

o प्रवचन के पश्चात् युवाचार्य महाश्रमण, साध्वीप्रमुखा, मुख्यनियोजिका आदि के साथ संघीय समस्याओं पर चिंतन, विचार-विमर्श और निर्णय।

o बारह से दो बजे तक—मध्याह्नकालीन आहार, समाचार-पत्र पठन, कभी-कभी आवश्यक विचार-विमर्श एवं विश्राम।

o दो से चार बजे—आगम सम्पादन, साहित्य लेखन। शोक संतप्त परिवारों अथवा आगत श्रद्धालुओं को उपासना का अवसर।

o चार बजे के पश्चात्—देह चिन्ता से निवृत्ति, कुछ अध्ययन और स्वाध्याय, मालिश आदि का उपक्रम।

o सायं पांच बजे के पश्चात्—आहार, मुख-शोधन। कुछ समय नियमित जप अनुष्ठान। सूर्यास्त से पूर्व लगभग आधा घंटा सृजन। मैंने ऋषभायण और तुलसी यशोविलास की रचना प्रतिदिन इसी समय की।

o सायं प्रतिक्रमण के पश्चात्—पहले गुरुदेव तुलसी से और वर्तमान में युवाचार्य महाश्रमण से संघ-समाज एवं वर्तमान युग से जुड़ी समस्याओं पर विचार-विमर्श।

o अर्हत्-वंदना के पश्चात्—ध्यान एवं जप के प्रयोग।

प्रातः चार बजे से रात्रि नौ-दस बजे तक का यह दैनिक क्रम निर्धारित रहा। विहार अथवा किसी परिस्थिति विशेष के अतिरिक्त इस दैनिक क्रम में कभी परिवर्तन अपेक्षित नहीं लगा। नियमबद्ध और समयबद्ध चर्या के कारण मेरा स्वास्थ्य अच्छा रहा। नब्बे वर्ष की अवस्था में भी दिनचर्या का यह क्रम प्रायः व्यवस्थित बना हुआ है।

अवस्था के साथ कुछ समस्याएं आती हैं। उनका मैं अनुभव भी कर रहा हूं। जो शक्ति और ऊर्जा एक युवा में होती है वह वृद्धावस्था में नहीं रह पाती। फिर भी मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूं–इस अवस्था में भी मेरा वक्तृत्व, मेरी चिन्तन शक्ति, मेरी कर्मजा शक्ति और मेरा स्वास्थ्य संतोषजनक है। मेरी क्रियाशीलता, मेरे उत्साह और अध्यात्म-बल से आज भी मेरे जीवन का हर पल सार्थक, सफल और समाधिमय बना हुआ है। जीवन की इससे बड़ी उपलब्धि और क्या हो सकती है?

मेरी डायरी के कुछ पृष्ठ

अनेक लोग अपनी दैनंदिनी लिखते हैं। आचार्यश्री तुलसी डायरी लेखन का कार्य नियमित करते रहे। मेरे सामने भी डायरी लेखन के अनेक बार प्रस्ताव आए। मेरे मन में भी कभी-कभी यह विकल्प उठा किन्तु कभी मेरा मानस नहीं बन पाया।

राणावास (सन् १९९०) में पूज्य गुरुदेव ने डायरी लेखन के लिए स्पष्ट इंगित किया। मैंने उसे शिरोधार्य किया। कुछ समय तक डायरी-लेखन का क्रम चला और पुनः स्थगित हो गया। मैं जितने दिन लिख पाया, वह पृष्ठभूमि के साथ प्रस्तुत है–

३ जून, १९९०
राणावास

अर्हम्

अनेक लोगों ने सुझाव दिया–मैं डायरी लिखूं।

मन नहीं हुआ–मैं डायरी लिखूं। कारण अनेक हो सकते हैं। यथार्थ लिखना कठिन है। बड़ी तपस्या है। मूल्यांकन का दृष्टिकोण भी वीतरागी नहीं है। इसलिए न लिखना ही अच्छा है, यह मानता रहा।

एक दिन आचार्यवर ने कहा और आग्रहपूर्वक कहा–तुम डायरी अवश्य लिखो।

मैंने विनम्र प्रार्थना की–बहुत सारी बातें मेरी स्मृति में हैं और रहती हैं। कभी लिख लूंगा।

आचार्यश्री ने कहा–स्मृति पर भरोसा करना अच्छा है पर अतिविश्वास करना अच्छा नहीं है। कुछ बातें याद रहती हैं और कुछ बातें विस्मृति के गर्त में चली जाती हैं।

यह वार्ता प्रसंग वि. सं.. २०४७, ज्येष्ठ कृष्णा दशमी, ई. २/६/१९९० का है।

उस समय हमारा प्रवास राणावास के महाविद्यालय में था।

आचार्यवर के इंगित को शिरोधार्य कर ३/६/१९९० को मैंने डायरी लिखनी शुरू कर दी।

३ जून

आज अजमेर विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. रामबलि उपाध्याय आए। अभी-अभी अजमेर विश्वविद्यालय की सीनेट ने जीवन विज्ञान और जैन विद्या के स्नातक स्तरीय पाठ्यक्रम को अपनी स्वीकृति दी है।

आचार्यश्री का प्रभाव है–इन सबकी युति हुई और एक कमी की पूर्ति हो गई। जैन धर्म के सार्वभौम सिद्धांतों को पढ़ने की सुविधा हो गई।

४ जून

समणी नियोजिका स्मितप्रज्ञा और समणी अक्षयप्रज्ञा आध्यात्मिक यात्रा के लिए प्रस्थान कर रही हैं।

वे पहले यूरोप की यात्रा करेंगी, फिर अमेरिका की। आज उन्हें विदेश में आने वाली समस्या का समाधान दिया गया। आचार्यवर ने कहा–कितना साहस है! ये छोटी अवस्था की समणियां सुदूर प्रदेश की यात्रा कर रही हैं। हमारा भी कितना साहस है कि हम इन्हें सुदूर प्रदेश भेज रहे हैं।

५ जून

आचार्यश्री ने कहा–तुमने 'कैसे सोचें' पुस्तक लिख दी। इतनी पुस्तकें और आवश्यक हैं–

१. कैसे पढ़ें? २. कैसे लिखें? ३. कैसे बोलें?

आचार्यश्री का निर्देश बहुत उपयोगी है। यदि ये पुस्तकें एक शृंखला में उपलब्ध हों तो नए व्यक्तित्वों के निर्माण में काफी योग मिल सकता है।

आज श्रुत सामायिक के समय जैन भारती (अप्रैल १९९०) में प्रकाशित मेरा लेख पढ़ा गया। बीच-बीच में आचार्यवर ने अनेक टिप्पणियां कीं। वे बहुत मार्मिक थीं। आचार्यवर ने कहा–'केवल शब्दों को मत पकड़ो। प्रत्येक शब्द का अर्थ समझने का प्रयत्न करो।' कितना अच्छा हो, आचार्यवर का सूचन सबके हृदयंगम हो जाए।

६ जून

राणावास विद्या का महत्त्वपूर्ण संस्थान है। यह जीवन विज्ञान की प्रयोगभूमि बने, इस विषय पर चिंतन चला। जीवन विज्ञान का प्रयोग अनेक विद्यालयों में चल रहा है। अब अपेक्षा है–वह सघन रूप में चले।

७ जून

आज जैन विश्व भारती के मंत्री श्रीचंद बैंगानी और अनेकांत शोधपीठ के निदेशक प्रो. नथमल टांटिया आए। जैन विश्व भारती की गतिविधियों की जानकारी दी।

आचार्यश्री जैन विश्व भारती के कल्पनाकार हैं, स्वप्नद्रष्टा हैं। जैन विद्या का विकास और प्रसार आचार्यवर के पथदर्शन में हो रहा है। इसलिए जानकारी आवश्यक है।

८ जून

समणी स्मितप्रज्ञा और अक्षयप्रज्ञा ने आज विदेश यात्रा के लिए प्रस्थान किया। मैंने अनुभव किया—आचार्यश्री की सन्निधि सहज आनंद का निर्झर है। उससे दूर जाने वाले साधु-साध्वियां—सभी कठिनाई का अनुभव करते हैं। आचार्यवर के व्यक्तित्व में कोई विशेष आकर्षण है।

९ जून

विद्याभूमि से विहार कर आचार्यवर राणावास गांव पधारे। ऐसा लगा जैसे मुक्ति से बंधन में आ गए हैं। जिसे मुक्त आकाश और छत का अनुभव है, वह बंधन और मुक्ति का अनुभव कैसे नहीं करेगा?

१० जून

दो दिन (१०, ११) हम गादाणा में रहे। छोटा गांव स्वच्छ वातावरण।

१२ जून

११ जून को मैंने एक लेख लिखा। पहले मैं स्वयं लिखता था। आजकल मैं बोलता हूं, मुनि धनंजयकुमारजी लिखते हैं। यह लेख श्रुत सामायिक के समय सुनाया गया। चमत्कार और नियम के विश्लेषण ने सबका ध्यान आकर्षित किया।

१४ जून

आज दिनांक १४ को मेरा जन्मदिन है। ७० वर्ष पूरे हो चुके हैं, इकहत्तरवें वर्ष में प्रवेश हो रहा है। ज्योतिषी कहते हैं—यह वर्ष बहुत शुभ है।

१. आचार्यश्री तुलसी जैसे महान् आचार्य की छत्रछाया में लंबा जीवन जीना।

२. उनका उत्तराधिकारी होना।

३. तेरापंथ जैसे महान् धर्मसंघ की संपदा का योग मिलना।

४. आगम सम्पादन के गुरुतर कार्य में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करना।

५. अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान जैसे सार्वजनिक कार्यक्रमों का संचालन करना।

६. जैन दर्शन, तुलनात्मक दर्शन के प्रख्यान और संख्यान में प्रतिष्ठापूर्ण स्थान पाना।

७. साहित्य का निर्माण करना।

ये सब शुभताएं मुझे प्राप्त हैं फिर और क्या शुभता प्राप्त होगी? इनमें से एक-एक का सौभाग्य मिलना भी शुभता है। मुझे ये सारी उपलब्ध हैं। इसे मैं आचार्यवर की कृपा का प्रसाद मानता हूं।

विशेष शुभ होने का अर्थ है कि कोई नया आयाम खुलेगा। एक ही आकांक्षा है कि अनुशासन, अध्यात्म और ज्ञानाराधना के क्षेत्र में मेरी और मेरे संघ की अधिक प्रगति हो। इस वर्ष मुझे ध्यान के विशेष प्रयोग करने हैं।

अहिंसा प्रशिक्षण की पद्धति को विकसित करना है।

आचार्यवर बार-बार कहते हैं—तुम संघीय व्यवस्था में अधिक समय लगाओ। यदि ऐसा हुआ तो मुझे साहित्य, शिक्षण और ध्यान विषयक प्रवृत्तियों का कुछ परिसीमन करना होगा।

१६-१७ जून

दो दिन 'आउआ' में प्रवास। मौसम गर्म, स्थान भी गर्म। आचार्य भिक्षु और उस समय के साधु-साध्वियों की स्मृति हो आई। वे कैसे बिना बारी-जाली के मकानों और दुकानों में रहते थे।

वर्तमान में ऐसे स्थानों में रहना बड़ा कठिन है। यहां का रायसोनी परिवार श्रद्धालु है, प्रभावशाली है। एक मार्ग का नाम 'आचार्य तुलसी मार्ग' रखा है।

१८ जून

न्याराडी गांव। आचार्यवर की सन्निधि में चिंतन चला। छोटे साधुओं को कैसे कहा जाए? उन पर अनुशासन कैसे किया जाए? कहना और अनुशासन करना एक कला है। जोर से कहने, झिड़कने और

बार-बार कहने का संस्कार जमा हुआ है। यदि शांतिपूर्ण ढंग से हृदय को छूने वाली बात कही जाए तो वह अधिक असरकारक हो सकती है।

१९ जून

आज का प्रवास थामली गांव में था। मध्याह्न में जैन विश्व भारती के विषय में चिंतन चला। चिंतन के दौरान मैंने कहा—स्वेच्छासेवी कार्यकर्ता द्वारा संस्था का स्थायी संचालन नहीं हो सकता। उसके लिए मजबूत तंत्र जरूरी है। पता नहीं, इस विषय में कब गहराई से चिंतन होगा!

२० जून

तपस्या कभी खाली नहीं जाती। आचार्यश्री ने इन ४५ वर्षों में नैतिकता के विकास के लिए जो तप तपा है, उसने एक चुंबकीय आकर्षण पैदा किया है। यत्र-तत्र उसके दर्शन होते रहते हैं। आज खैरवा प्रवेश के समय देखा ग्रामीण जनता की उमड़ती भीड़, उत्कंठा और आकांक्षा को। एक ऐसी प्यास को, जो लगती नहीं और लगने के बाद बुझती नहीं।

२१ जून

तेरापंथ एकतंत्रीय शासन प्रणाली वाला धर्मशासन है। फिर भी महत्त्वपूर्ण विषयों पर लोकतंत्रीय प्रणाली का उपयोग किया जाता है। विषय था—एक साध्वी को मेवाड़ (थामला) भेजना। कैसे भेजा जाए? साध्वियां उधर जाने वाली नहीं हैं। क्या दो समणियों के साथ भेजा जा सकता है? इस चिंतन गोष्ठी में अनेक साधुओं को आमंत्रित कर उन्हें समस्या से अवगत कराया गया। उनकी भावना जानी गई। अपवाद रूप में ऐसा किया जाए तो क्या आपत्ति है? प्रायः यही चिंतन प्रस्फुटित हुआ।

२२ जून

आज त्रयोदशी है। तिथि के अनुसार मेरा जन्मदिन है। जन्मदिन मनाने का मेरा अपना तरीका है। मैं इस दिन विशेष प्रयोग करता हूं। आज मैंने प्राणकेन्द्र, ज्योतिकेन्द्र, दर्शनकेन्द्र, शांतिकेन्द्र और ज्ञानकेन्द्र पर 'अर्हं' का विशेष प्रयोग किया। संकल्प किया—अग्रिम जीवन 'अर्हं' की भूमिका का हो।

मेरी आस्था है—मुझे 'अर्हं' की ऊंचाई उपलब्ध होगी। मैंने ६० से ७० तक एक दशक के जीवन का सिंहावलोकन किया। आत्मनिरीक्षण किया। मीठी-कड़वी स्मृतियां आई। मैंने एक पाठ पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया—उन लोगों से अधिक सावधान रहना चाहिए जो परिणाम की समीक्षा किए बिना आवेशवश या स्वार्थवश जल्दबाजी में कुछ कर डालते हैं।

२२ जून

आज श्रुत सामायिक के समय एक लेख पढ़ा गया। वह मैंने आज ही लिखा था। भंवरलालजी नाहटा ने तेरापंथ के बारे में एक लेख लिखा—भाषा अशिष्ट, भाव अस्पष्ट, तर्क तात्पर्यहीन। आचार्यश्री ने सब साधु-साध्वियों को प्रेरणा दी और कहा—इस प्रकार के आक्षेपपूर्ण लेख आए, उन पर ये ही क्यों लिखे? दूसरों को भी लिखने का अभ्यास करना चाहिए।

मैंने कहा—आज मेरे मन में भी यह तर्क उठा—ऐसे प्रसंगों पर चालीस वर्ष पूर्व भी मैं लिखता था। अब मैं ही क्यों लिखूं? इस कार्य में सबकी सहभागिता होनी चाहिए।

इसके बाद मैंने साधु-साध्वियों से एक प्रश्न पूछा—चतुर्मास के पश्चात् यात्रा मेवाड़ की हो या जैन विश्व भारती की दिशा में? बहुतों का चिंतन रहा—यात्राएं बहुत हो चुकी हैं। अब जैन विश्व भारती की ओर प्रस्थान होना चाहिए।

२३ जून

'वालेराव' छोटा सा गांव। पोल में ओटा में ठहरे। पुरानी स्मृतियां ताजा हो गईं। थली प्रदेश में ३०-४० वर्ष पहले ऐसे ही स्थानों में ठहरते थे। पूरे कांठा प्रदेश की यात्रा में यह पहला गांव था जहां तेरापंथी या जैनों के घर न हों। ग्रामीण लोगों में गहरी श्रद्धा है। ये सांप्रदायिक भेद बौद्धिक लोगों ने पैदा किए हैं। ग्रामीण लोगों में वह कट्टरता नहीं है, जो संघर्ष को जन्म दे।

२४ जून

पाली का एक उपनगर 'दुर्गा कालोनी'। विद्यालय में प्रवास। दिन भर लोगों का आवागमन। कहा जाता है—लोगों का धर्म के प्रति आकर्षण कम हो रहा है। सचाई कुछ और है। आचार्यश्री जहां जाते हैं वहां आकर्षण की सीमा टूट जाती है। अपेक्षा है प्रभाव की। प्रभाव से आकर्षण बढ़ता है और आकर्षण से प्रभाव। दोनों सापेक्ष हैं।

२४ जून

आज चतुर्मास के लिए पाली में प्रवेश। जनता में अपार उत्साह। ३-४ किलोमीटर तक जन-पंक्ति खड़ी थी। आचार्यवर के पुण्य बल और कर्तृत्व का साक्षात् हो रहा था। बाजार में वह दुकान देखी जहां आचार्य भिक्षु ने छह चतुर्मास बिताए थे। कितनी पवित्र है वह भूमि, कितनी पवित्र है वह विजयचंदजी पटवा की दुकान।

आचार्यवर ने कहा—अहिंसा समवसरण कितना विशाल है और कितनी छोटी है वह दुकान।

मैंने कहा—गुरुदेव! वह वटबीज है, यह उसका विस्तार है।

२६ जून

आज से एक सप्ताह तक मैंने रात्रिकालीन प्रवचन किए। मैंने सोचा—यदि मैं मुनि नथमल होता तो ७० वर्ष के पश्चात् एकांतवास या साधना के क्षेत्र में अधिक रहता। वक्तृत्व के स्थान पर मौन अधिक होता।

मैं अभी युवाचार्य महाप्रज्ञ का दायित्व निभा रहा हूं। इसलिए व्यवहार को उतना ही महत्त्व देकर चल रहा हूं जितना निश्चय को। व्यवहार और निश्चय का संतुलन मेरी प्रकृति के अनुकूल है।

२९-३० जून

चतुर्मास की व्यवस्था बहुत अच्छी की गई है। यह स्वर अन्य समाज के लोगों से सुनने को मिला। आचार्यवर अनुशासन और व्यवस्था पर लंबे समय से ध्यान देते रहे हैं। फलस्वरूप तेरापंथ के कार्यकर्ता व्यवस्था में कुशल बन गए हैं।

१ जुलाई

आज अणुव्रत वर्ष का प्रारंभ हुआ। प्रथम दिवस 'अहिंसा दिवस' के रूप में मनाया गया। इसमें दो विशिष्ट व्यक्ति आए—जोधपुर के पूर्व नरेश गजसिंहजी संसद सदस्य। जशवंतसिंहजी संसद सदस्य। अहिंसा की शक्ति खड़ी करने के विषय में बातचीत हुई।

२ जुलाई

आज गुलाब चंडालिया आया। उसने बताया—राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति सच्चिदानंद सिन्हा ने कहा—जीवन विज्ञान और जैन विद्या का स्नातक स्तरीय कोर्स हम भी लागू करना चाहते हैं। आप लोगों ने अजमेर विश्वविद्यालय को बताया, हमें बताया ही नहीं। फरवरी में अहिंसा-प्रशिक्षण विषय पर कॉन्फ्रेन्स हो रही है। उसमें राजस्थान विश्वविद्यालय भी भागीदार होना चाहता है।

६ जुलाई

प्रेक्षाध्यान का प्रयोग—दीर्घश्वास का प्रयोग है। वह अपने आप चालू हो गया। अनेक बार ऐसा होता है। प्रेरक कौन है, पता नहीं। एक मासिक कायोत्सर्ग की कल्पना भी उसके साथ-साथ पैदा हुई।

११ जुलाई

पाली में दिनभर लोगों का तांता लगा रहता है। कुछ समय उनसे बातचीत करने में लगता है, फिर भी आगम सम्पादन और स्वाध्याय का कार्य सम्यक् प्रकार से चलता है। प्रतिदिन एक नए विषय को जानने की इच्छा प्रबल रहती है। नया ज्ञान, नया बोध मिलता है तब अतीव आह्लाद का अनुभव होता है।

१२ जुलाई

आज ऋषभायण का प्रारंभ किया गया दुपहरी में लगभग १ बजे। आचार्यवर की वर्षों से इच्छा है कि ऋषभायण की रचना की जाए। आचार्यवर ने कुछ दिन पहले कहा—यह मेरे मन की तड़प है, यह अनुभव कर इस कार्य को करना है।

मुझे हर्ष है कि आचार्यवर की संकल्प-पूर्ति का कार्य प्रारंभ हो गया।

२६ अगस्त

भाद्रपद शुक्ला ६

पूज्य कालूगणी की स्मृतियों का क्रम चला। मैंने कुछ संस्मरण सुनाए। इस प्रसंग में आचार्यवर ने कहा—मुझे इनकी सबसे ज्यादा चिन्ता रहती थी। अब इन्होंने मुझे सबसे अधिक निश्चिंत बना दिया। जब ये मेरे पास पढ़ते थे तब प्रारंभ में महाअज्ञ थे। अब महाअज्ञ से महाप्रज्ञ बन गए हैं।

अर्हम्

प्रातःकाल—साहित्य लेखन और अध्ययन।

मध्याह्न—आगम सम्पादन।

सायं—'ऋषभायण' की रचना, डायरी लेखन स्थगित हो गया।

मेरे जीवन की सफलता के कुछ सूत्र

मैं उस सत्य को अनावृत करना चाहता हूं, उद्घाटित करना चाहता हूं जिसके आधार पर व्यक्ति अपनी जीवन शैली का निर्माण करता है। वह स्वयं के लिए और दूसरों के लिए बहुत लाभदायक बन सकता है।

अनेकांत की दृष्टि

भाग्य मानूं या नियति? सबसे पहली बात—मुझे जैन शासन मिला। जिन-शासन का अर्थ मानता हूं—अनेकांत का दृष्टिकोण मिला। मैंने अनेकांत को जीया है। यदि अनेकांत का दृष्टिकोण नहीं होता तो शायद कहीं-न-कहीं दलदल में फंस जाता।

मुझे अनेकांत का दृष्टिकोण मिला, इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूं। जिस व्यक्ति को अनेकांत की दृष्टि मिल जाए और अनेकांत की आंख से दुनिया को देखना शुरू करे तो बहुत सारी समस्याओं का समाधान अपने-आप हो जाता है।

अनुशासन का जीवन

दूसरी बात—मुझे तेरापंथ में दीक्षित होने का अवसर मिला। मैं मानता हूं कि वर्तमान काल में तेरापंथ में दीक्षित होना परम सौभाग्य है और यह इसलिए है कि आचार्य भिक्षु ने अनुशासन का जो सूत्र दिया, अनुशासन में रहने की जो कला और निष्ठा दी, वह देव दुर्लभ है। अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। मैंने अनुशासन में रहना सीखा। जो अनुशासन में रहता है वह आगे बढ़ता चला जाता है। आत्मानुशासन की दिशा में गतिशील बन जाता है।

विनम्रता और आत्मानुशासन

महानता के दो सूत्र हैं—स्वेच्छाकृत विनम्रता और आत्मानुशासन। जो व्यक्ति महान् होना चाहता है अथवा जो महान् होने की योजना बनाता है, उसे इन दो बातों को जीना होगा। जो व्यक्ति इस दिशा में आगे बढ़ता है, विनम्र और आत्मानुशासी होता है, महानता अपने-आप उसका वरण करती है।

मुझे तेरापंथ धर्मसंघ में मुनि बनने का गौरव मिला और उसके साथ मैंने विनम्रता का जीवन जीना शुरू कर दिया। आत्मानुशासन का विकास करने का भी प्रयत्न किया। इस विनम्रता ने हर जगह मुझे आगे बढ़ाया। जो साधु बड़े थे, उनका सम्मान करना मैंने एक क्षण के लिए भी कभी विस्मृत नहीं किया। सबका सम्मान किया। आचार्यश्री तुलसी के निकट रहता था। विश्वास था कि ये गुरुदेव से बात करेंगे तो हमारा काम हो जाएगा। जो भी समस्या आती, मैं उसके समाधान का प्रयत्न करता। मैं छोटा था, बड़े-बड़े साधु मुझे कहते, पर मैंने हमेशा उनके प्रति विनम्रता और सम्मान का भाव बनाए रखा।

मैंने आत्मानुशासन का विकास किया। शासन न करना पड़े, अपना नियंत्रण स्वयं अपने हाथ में ले ले, इसका अर्थ है ऐसा व्यक्ति अपने भाग्य की चाबी अपने हाथ में ले लेता है।

गुरु का अनुग्रह

मैंने आचार्यश्री भिक्षु को पढ़ा। उनकी जो संयम-निष्ठा थी, त्याग और व्रत की निष्ठा थी, उसे पढ़ने से जीवन को समझने का अवसर मिला। पूज्य गुरुदेव का अनुग्रह था—जब भी कोई प्रसंग आया, मुझे कहा—तुम यह पढ़ो। शायद आचार्यश्री भिक्षु को पढ़ने का जितना मुझे अवसर दिया गया, मैं कह सकता हूं—तेरापंथ के किसी भी पुराने या नए साधु को पढ़ने का उतना अवसर नहीं मिला। उनकी क्षमाशीलता, उनकी विनम्रता, उनकी सत्यनिष्ठा को समझने और वैसा ही जीने का प्रयत्न भी मैंने किया।

मेरे अध्ययन का क्षेत्र बढ़ा। सिद्धसेन दिवाकर की एक उक्ति ने मुझे बहुत आकृष्ट किया। उनका जो वाक्य पढ़ा, सीखा और अपने हृदय-पटल पर लिखा, वह है—जो अतीत में हो चुका, वह सब-कुछ हो चुका—ऐसा नहीं है। सिद्धसेन ने बहुत कड़ी बात लिख दी—'मैं केवल अतीत का गीत गाने के लिए नहीं जन्मा हूं।'

मैं उस भाषा में न भी बोलूं किन्तु मुझे यह प्रेरणा जरूर मिली कि नया करने का अवकाश हमेशा विद्यमान रहता है। हम सीमा न बांधें कि सब-कुछ हो चुका। कुछ हुआ है। अनंत पर्याय हैं। आज भी नया करने का अवकाश है। कुछ नया करने की रुचि भी प्रगाढ़ होती गई। मुझे भी कुछ नया करना चाहिए। कोरे अतीत के गीत गाने से काम नहीं होगा, वर्तमान में भी कुछ करना है—'मेरे मीत! मत गाओ कोरे अतीत के गीत'—केवल अतीत के गीत मत गाओ, कुछ वर्तमान को भी समझने का प्रयत्न करो।

आचार्य हरिभद्र, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य मलयगिरि, आचार्य कुंदकुंद आदि-आदि ऐसे महान् आचार्य हुए हैं, जिन्हें पढ़ने पर कोई न कोई नई बात ध्यान में आती गई। उन सबका संकलन और अपने जीवन में प्रयोग करता रहा।

केवल जैन आचार्यों का नहीं, आचार्यश्री तुलसी ने ऐसे वातावरण का निर्माण किया था कि मेरा दृष्टिकोण व्यापक बन गया। किस परंपरा का है, किस संप्रदाय का है—यह प्रश्न ही गौण हो गया। मैंने वैदिक संन्यासियों को पढ़ा-देखा, उससे मन पर जो प्रभाव हुआ उसकी लंबी चर्चा नहीं करूं—एक संन्यासी की बात करना चाहता हूं। स्वामी विद्यारण्य, जो पहले जादवपुर यूनिवर्सिटी में गणित के प्रोफेसर थे, एशिया के ग्यारह व्यक्ति चुने गए उनमें वे एक थे। उन्होंने हिन्दू गणित पर एक पुस्तक लिखी। किसी दूसरे के नाम से छपी है, पर लेखन उनका है। हमारे बहुत निकट संपर्क में रहे। उनकी जो निस्पृहता देखी, मुझे उसने बहुत प्रभावित किया। एक समय वे जोधपुर में आए हुए थे। हम शौच के लिए बाहर जा रहे थे। वे भी साथ थे।

मैंने पूछ लिया—'स्वामीजी! आपने प्रातराश कर लिया? दूध पीया?'

उन्होंने कहा—'दूध कहां से आए?'

मैंने कहा—'आपके पीछे बड़े-बड़े प्रोफेसर घूमते रहते हैं कि आप कुछ बता दें, आपको क्या कमी है?'

वे बोले—'मुनि नथमलजी! (आचार्य महाप्रज्ञ) अभी जोधपुर में हूं तब तो सब पीछे-पीछे घूमते हैं। यहां से मैं पुष्कर चला जाऊंगा और वहां भिक्षुओं की पंक्ति में जाकर भोजन करूंगा। वहां दूध कहां से

आएगा? वहां दूध नहीं मिलेगा तो दूध का अभ्यास मुझे सताएगा, दूध का संस्कार सताएगा कि आज दूध नहीं मिला।'

उनकी अनेक बातें मैंने देखी कि एक संन्यासी कितना निस्पृह और कितना संसार से मुक्त रहना चाहता है। ऐसे सैकड़ों-सैकड़ों जैन-अजैन व्यक्ति संपर्क में आए–हिंदू भी, मुसलमान भी। बड़े-बड़े लोग मिले। उनको देखा, कुछ नई बातें सीखीं।

महानता और सफलता–ये दोनों हर व्यक्ति के लिए जरूरी हैं। हमारी दिशा तुच्छता, अल्पता की ओर न हो। हमारी गति भी उधर न हो। हर व्यक्ति के मन में संकल्प जागे कि मुझे महानता की दिशा में प्रस्थान करना है, महान् बनना है। आकांक्षा की बात नहीं, किंतु महान् होना बहुत अच्छी बात है, मैं इसे अच्छा संकल्प मानता हूं।

आशावादी दृष्टिकोण

सफलता के लिए जो बाधा है, विकास के मार्ग में जो बाधा है, वह बाधा है निराशा।

'नहीं हो सकता'– सफलता का यह सबसे बड़ा विघ्न है। गुरुदेव ने अनेक बार कहा था–'मैंने इनको किसी भी काम के लिए कहा, इन्होंने आज तक नहीं कहा कि यह काम नहीं हो सकता।' आगम सम्पादन का इतना कठिनतम कार्य था। गुरुदेव ने कहा–'करना है।' मैंने कहा–'हो जाएगा।' कभी यह नहीं कहा कि यह काम नहीं हो सकता। मेरा यह सूत्र था कि निराशा कभी न आए। 'नहीं हो सकता'–ऐसा हम क्यों सोचें? हम जब विश्वास करते हैं कि आत्मा में अनंत शक्ति है, तो नहीं हो सकता–यह क्यों सोचें? सफलता में एक बड़ा विघ्न है–निराशा; 'नहीं हो सकता' का भाव।

पुरुषार्थ का जीवन

सफलता में दूसरा विघ्न है–पुरुषार्थहीनता। हो सकता है, पर आदमी करता नहीं। मेरे कुछ साथी ऐसे भी हुए हैं, जिनमें काफी क्षमता है, पर क्षमता का उपयोग कम करते हैं तो सफलता उतनी नहीं मिलती। कर सकते हैं, पर नहीं करते–यह बहुत बड़ी बाधा है।

मैंने हमेशा श्रम का जीवन जीया, हमेशा पुरुषार्थ किया। आचार्यश्री तुलसी के पास मैं इसीलिए रह सका कि मैंने पुरुषार्थ का जीवन जीया। अगर पुरुषार्थ नहीं होता, आलस्य और प्रमाद होता; जो कहा, वह नहीं करता तो मुनि नथमलजी की तीसरे दिन ही छुट्टी हो जाती। उनके पास नहीं रह सकते। आचार्यश्री के इतने कड़े अनुशासन में रहा। यह कोई सामान्य बात नहीं थी। जो भी काम आया, मैंने सारा काम यथावत् विधिवत् किया। पुरुषार्थ हमेशा आगे रहा। मैंने भाग्य को आगे नहीं रखा। भाग्य को पीछे रखा। पुरुषार्थ उसके आगे-आगे चला।

सतत जागरूकता

सफलता में तीसरा विघ्न है–प्रमाद, लापरवाही। ठीक है, हो जाएगा, कुछ नहीं–यह चिंतन सफलता में विघ्न उपस्थित करता है। आदमी बहुत काम करता है, पर उसकी सुरक्षा नहीं कर पाता। उसका भाग्य भी साथ नहीं देता और सफलता भी नहीं मिलती।

ये तीन विघ्न हैं सफलता के–निराशा, पुरुषार्थहीनता और प्रमाद। मैं सदा इनसे बचता रहा, दूर रहा। यह सोचता रहा–अगर ऐसा हुआ तो मैं जहां जाना चाहता हूं, जो करना चाहता हूं वह नहीं हो सकेगा। इसलिए न कभी निराश हुआ, न कभी पुरुषार्थ-शून्य बना, न कभी आराम-तलब बना, न कभी आलसी बना और न कभी उपेक्षावान या लापरवाह बना।

धैर्य और प्रतीक्षा

मैंने एक संकल्प लिया था–काम धैर्य के साथ होता है, जल्दबाजी में नहीं होता। कोई भी काम निष्फल नहीं होता। सफलता अवश्य मिलेगी, यदि तुम्हारे भीतर धैर्य है। धैर्य नहीं है, उतावल करते हो तो कच्चा फल अवश्य ही खट्टा रह जाएगा। फल को तब तोड़ो जब वह पूरा पक जाए। पक्व आम में जो मिठास होती है वह कच्चा तोड़ने में नहीं। भले ही फिर उसे कृत्रिम संसाधनों से पकाओ, उसमें वह रस नहीं आ सकता।

जीवन में सफलता का बहुत बड़ा सूत्र है–धैर्य। तुम अपना धैर्य मत खोओ। धैर्य रखो। टॉलस्टाय से एक युवक ने पूछा–'धैर्य कब तक रखें? क्या चलनी में पानी टिक जाएगा?' टॉलस्टाय ने कहा–'टिक जाएगा। धैर्य रखो। जब पानी बर्फ बन जाएगा तो चलनी में भी टिक जाएगा।'

सफलता का बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है–धैर्य। मैंने देखा–जिन-जिन व्यक्तियों ने धैर्य रखा, बहुत आगे बढ़ गए। जिन्होंने उतावलापन किया, वे पिछड़ गए, पीछे चले गए।

व्यवहार-कौशल

सफलता के लिए एक और सूत्र, जिसको मैंने जीया है–वह है व्यवहार कौशल। हमेशा व्यवहार के प्रति मैं जागरूक रहा। यद्यपि मेरी रुचि प्रारंभ से ही ध्यान में, एकांत में अधिक थी। फिर भी व्यवहार में कभी भी अप्रियता का भाव नहीं आने दिया। चाहे मेरा कितना ही मनोभाव था, पर गुरुदेव ने जो कह दिया, वह हो गया। दूसरे साधुओं ने जो कहा, वह हो गया।

व्यवहार-कौशल सफलता का एक बड़ा सूत्र है। व्यक्ति कितना ही जानकार है, तत्त्वज्ञ है, यदि व्यवहार-कुशल नहीं है तो वह कुछ नहीं कर पाता। मेरा प्रारंभ से ही संकल्प था मुझे व्यवहार-कुशल बनना है। व्यवहार-कौशल के कारण ही अनेक लोगों का मेरे साथ तादात्म्य स्थापित हो रहा है।

दो महत्त्वपूर्ण संकल्प

मेरा बचपन से यह संकल्प था–'मैं वैसा कोई काम नहीं करूंगा जो काम आचार्यश्री तुलसी को कष्ट दे, उनको इष्ट न हो। उन्हें यह न सोचना पड़े कि मैंने इस व्यक्ति पर इतना श्रम किया, आज यह किधर जा रहा है।' यह प्रारंभ का एक संकल्प था। इस संकल्प ने मेरा रास्ता हमेशा प्रशस्त रखा। रास्ते में कभी रुकावट नहीं आने दी।

दूसरा संकल्प यह था–'दूसरों का अनिष्ट चिंतन नहीं करूंगा।'

आदमी का भाग्य कब खराब होता है? जब वह दूसरों के बारे में अनिष्ट चिंतन करता है, दूसरों के बारे में खराब बात सोचता है तब उसका भाग्य बिगड़ता है। जिसके बारे में सोचता है, उसका तो कुछ

बिगड़ता है या नहीं किन्तु जो सोचता है, उसका भाग्य खराब हो जाता है। किसी का भी अनिष्ट न सोचने का संकल्प था। मुझे याद ही नहीं है कि मैंने कभी दूसरों के अनिष्ट की कल्पना की हो। नौवें दशक के जीवन तक भी मुझे याद नहीं है कि मैंने किसी के बारे में कुछ अनिष्ट किया हो अथवा सोचा हो। यह जरूर है कि मैं दूसरों के लिए कुछ ईर्ष्या का पात्र रहा हूं। पर मैंने कभी किसी के बारे में अनिष्ट चिंतन नहीं किया।

मन में यह संकल्प भी पुष्ट रहा—धर्मसंघ का कोई भी साधु-साध्वी है, उसके साथ कई प्रकार के प्रसंग आते रहते हैं, पर किसी के प्रति भी अमंगल और व्यर्थता का भाव मेरे मन में न आए। सबका सम्मान कर सकूं। चाहे अनपढ़ हो, थोड़ा जानने वाला हो, प्रकृति से भी चाहे कैसा हो, किन्तु मेरे मन में किसी भी साधु-साध्वी के प्रति असम्मान का भाव न आए। श्रावक-श्राविकाओं के प्रति भी ऐसा भाव न आए।

उपशांत कषाय

मैंने अपने भावों पर, 'इमोशन' पर नियंत्रण रखना भी आवश्यक माना और किया। नौ दशकों का जीवन पूरा होने वाला है, मुझे कोई पूछे कि कितनी बार क्रोध किया तो याद करना पड़ेगा कि कब किया था? अहंकार कभी छुआ नहीं। लोग कहते हैं—ऋजु हैं। मायाकपट का प्रश्न नहीं था। लोभ का भी नहीं रहा। इन भौतिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण नहीं रहा। मैं मानता हूं कि जो व्यक्ति इस क्षेत्र में सफल होना चाहता है अथवा किसी भी क्षेत्र में सफल होना चाहता है, उसके लिए अपने संवेगों पर, भावों पर नियंत्रण रखना बहुत आवश्यक है, अन्यथा वे फिसलन पैदा कर देते हैं।

प्रखर तर्क : प्रगाढ़ श्रद्धा

श्रद्धा और तर्क—हमारे जीवन-रथ के दो पहिए हैं, दो चक्के हैं। मैं तर्क को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूं। तर्क के बिना सत्य को खोजने का रास्ता ही नहीं मिलता किंतु श्रद्धाहीन तर्क को भी मैं खतरनाक मानता हूं, मानता रहा हूं। मैंने एक सूत्र बनाया—व्यवहार के क्षेत्र में कभी तर्क का प्रयोग नहीं करना है। जहां सिद्धांत का क्षेत्र है, दर्शन का क्षेत्र है, वहां तो तर्क में किसी से पीछे रहना मुझे पसंद भी नहीं था। मेरा सौभाग्य है कि मैं पीछे नहीं रहा। जहां व्यवहार का क्षेत्र है, वहां तर्क का प्रवेश-द्वार बंद रहे, वहां तर्क नहीं हो सकता। वहां तो विनम्रता और श्रद्धा होनी चाहिए।

मैं सौभाग्य मानता हूं कि श्रद्धा में भी मेरा स्थान किसी से नीचे नहीं रहा। तर्क में भी पीछे नहीं रहा। लोगों को आश्चर्य तो होता था कि इतना प्रखर तर्क और फिर इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा। अगर जीवन में सफल होना है तो आप एकांगी न बनें, श्रद्धा और तर्क का ऐसा समन्वय करें, क्षेत्रों का विभाग करें। जहां तत्त्वचर्चा का प्रश्न है, वहां आपका तर्क प्रबल हो। जहां जीवन-व्यवहार का प्रश्न है, वहां आपकी श्रद्धा प्रधान हो, वह चक्षु उद्घाटित रहे।

निर्मलता, उपयोगिता और गतिशीलता

वही व्यक्ति अपने जीवन को अच्छा बना सकता है, सफल जीवन जी सकता है जिसके जीवन में पवित्रता है, निर्मलता है, उपयोगिता है। जो दूसरों के लिए कुछ काम कर सकता है। जिसके जीवन में गतिशीलता है। जो रूढ़ नहीं है। ये तीनों सूत्र अपने आप मेरे जीवन में आते चले गए, विकसित होते चले गए।

मेरा प्रिय सूत्र रहा एक प्राकृत वाक्य–**असीसस्स नत्थि सीसा**। जो अच्छा शिष्य रहा है, वह कभी गुरु बन सकता है और उसके शिष्य हो सकते हैं। किन्तु जो कभी शिष्य नहीं रहा, जिसने अनुशासन को कभी अंगीकार नहीं किया, उसमें गुरु बनने की योग्यता या अर्हता कभी नहीं आती। नत्थि सीसा असीसस्स–अशिष्य के कोई शिष्य नहीं होता।

दूसरी बात है–निर्मलता के साथ-साथ उपयोगी बनना है। जो स्वार्थ में रहेगा, वह उपयोगी नहीं बन सकेगा। मैंने यह पाठ अव्यक्त रूप में मुनि तुलसी से पढ़ा। वे सबके लिए उपयोगी थे।

उस उपयोगिता का संस्कार मुझमें भी प्रतिबिंबित हुआ। जानबूझ कर नहीं पकड़ा, अपने आप ही प्रतिबिंबित हो गया, होता चला गया।

तीसरा सूत्र है–गतिशीलता। मैं रूढ़िवादी कभी नहीं रहा। बचपन से ही मैं कुछ क्रांत विचार वाला था। क्रांति को पसन्द करता, परिवर्तन को पसन्द करता। उसके बाद जब मैंने साम्यवाद और समाजवाद का काफी साहित्य पढ़ा, मार्क्स, लेनिन, एंजिल्स और अन्य समाजवादी विचारकों को पढ़ा, मेरे भीतर क्रांति के बीज और ज्यादा प्रस्फुटित हो गए। मेरा गतिशील रहने में विश्वास रहा। आज मैं अपने विगत मुनिजीवन पर दृष्टिपात करता हूं तो उसमें से दस-बारह वर्ष का काल अपने अध्ययन के लिए छोड़ दूं, शेष काल अभिव्यक्ति और गतिशीलता का काल रहा।

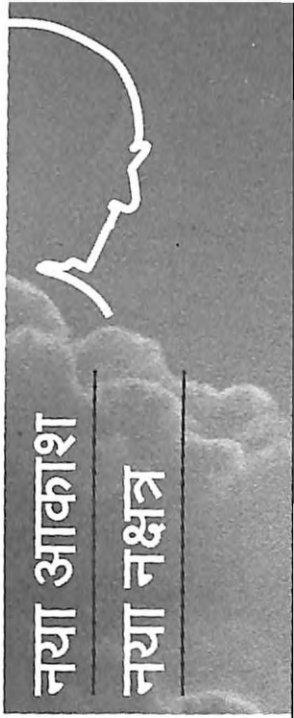

जीवन का केन्द्रीय लक्ष्य

जीवन में सामयिक लक्ष्य बहुत हैं। किंतु एक लक्ष्य केंद्र में रहे जो हमारे जीवन का 'न्यूक्लीयस' रहे, परिधि नहीं। केन्द्र में एक लक्ष्य बना लें। उतार-चढ़ाव जीवन में आते हैं। चाहे साधना का क्षेत्र हो, व्यापार का क्षेत्र हो या राजनीति का क्षेत्र—उतार-चढ़ाव से मुक्त कोई नहीं होता। पर लक्ष्य के प्रति हमारा दृढ़ मनोभाव हो, लक्ष्य के प्रति हम समर्पित रहें तो सारे उतार-चढ़ाव पार कर हम अपनी मंजिल तक पहुंच सकते हैं। लक्ष्य का स्पष्ट निर्धारण करें कि मुझे किस दिशा में आगे जाना है।

मैंने लक्ष्य बनाया था—मुझे अच्छा साधु बनना है और मुझे जिन-शासन की, भिक्षु-शासन की और मानवता की सेवा में लगना है, काम करना है। आज भी वही लक्ष्य है। लक्ष्य में कोई अंतर नहीं आया। समस्याएं आती रहती हैं, बाधाएं आती रहती हैं, उतार-चढ़ाव आते रहते हैं, पर एक लक्ष्य निश्चित है तो पहुंच जाएंगे। लक्ष्य नहीं बनाया है तो भटक जाएंगे। लक्ष्यहीन जीवन कहीं नहीं पहुंचता। मैंने जिस केंद्रीय लक्ष्य का निर्धारण किया, मुझे संतोष है कि उस लक्ष्य से सूई कहीं इधर-उधर नहीं जा सकी।

मैं मानता हूं—जीवन जीना और मरना—यह तो नियम है। जीना-मरना खास बात नहीं है। किंतु हम जब तक जिएं, इन सफलता के सूत्रों को, लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए जिएं तो हमारा जीना स्वयं के लिए, दूसरों के लिए भी यत्किंचित् लाभकारी बन सकता है।

तीसरे नेत्र का विकास

मेरे मन में एक भावना बहुत छोटी अवस्था में पनप गई थी—तीसरे नेत्र का विकास करना है। 'थर्ड आई' बहुत प्रचलित शब्द है। तीसरा नेत्र खुले, विकसित हो।

तीसरे नेत्र के जो अर्थ हैं, वे मैं प्रस्तुत करना चाहता हूं। तीसरे नेत्र के जागरण का पहला अर्थ है—विवेक चेतना का जागरण। विवेक हमारा तीसरा नेत्र है। संस्कृत के एक कवि ने बहुत सुन्दर लिखा—एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकः—विवेक हमारा तीसरा नेत्र है। मैंने उसकी साधना की है। उसका परिणाम यह आया कि मैं यहां तक पहुंच सका।

दो शब्द हैं—प्रिय और हित। जो व्यक्ति प्रिय में उलझ जाता है, उसका तीसरा नेत्र कभी नहीं खुलता। किन्तु मैंने निसर्ग से ही प्रियता की अपेक्षा हित को अधिक महत्त्व दिया। प्रियता को हम छोड़ नहीं सकते। प्रियता रहती है, किन्तु निर्णय यह करना है कि मेरी दृष्टि में प्रियता का मूल्य ज्यादा है या हित का?

मैंने अनुभव किया—मेरे सामने प्रियता के बहुत प्रसंग थे। किन्तु मैंने हमेशा अपनी दृष्टि हित पर केन्द्रित रखी। प्रियता तो है, पर वह प्रियता मुझे नहीं चाहिए, जो मेरे हित को बाधित करे, नष्ट करे।

विवेक चेतना तीसरे नेत्र के जागरण का फल है। जिसका विवेक जागृत है, वह प्रियता को मूल्य देगा पचीस प्रतिशत और हित को मूल्य देगा पचहत्तर प्रतिशत। यह तीसरा नेत्र या विवेक व्यक्ति को आगे बढ़ाता है, हित की दिशा में ले जाता है। प्रियता की दिशा में जाओ, कठिनाइयां ही कठिनाइयां, दुःख ही दुःख। हित की दिशा में जाओ, प्रारंभ में थोड़ा कठिन लग सकता है, पर बाद में सारा जीवन आनंद से सराबोर हो जाता है।

तीसरे नेत्र के जागरण का दूसरा अर्थ है—समता का विकास। व्यावहारिक जीवन में राग-द्वेष के प्रसंग बहुत आते रहते हैं। कभी राग का प्रसंग, कभी द्वेष का प्रसंग। उन्हें टाला भी नहीं जा सकता, किन्तु जिस व्यक्ति में समता की चेतना जाग जाती है, वह व्यक्ति राग-द्वेष की उत्तेजना को कभी स्थान नहीं देगा, वह कभी उत्तेजित नहीं होगा, आवेश में नहीं आएगा। इसका तात्पर्य है—जो व्यक्ति समता की साधना करेगा, वह दूसरों को प्रिय बनाने का प्रयत्न नहीं करेगा, वह स्वयं सबका प्रिय बन जाएगा। जिसमें समता है, वह सबको अच्छा लगता है, प्रिय लगता है।

मैं अध्यात्म की भाषा में सोचता हूं—जिस व्यक्ति में राग-द्वेष ज्यादा है, वह बीस वर्ष में ही बूढ़ा हो जाता है, लोग उसे पसंद नहीं करते। जिस व्यक्ति ने राग-द्वेष की उत्तेजना को समाप्त कर दिया, वह व्यक्ति अस्सी, नब्बे या सौ का हो जाए तो भी सबको प्रिय लगता है।

जिसके जीवन में समता का अवतरण हो जाता है, कोरी चर्चा, उपदेश अथवा व्याख्यान नहीं बल्कि वास्तविक रूप में समता का अवतरण हो जाता है, प्रियता बढ़ती चली जाती है। इसको मैं साक्षात् देख रहा हूं, अनुभव कर रहा हूं।

तीसरे नेत्र के जागरण का एक अर्थ है—अन्तर्दृष्टि। बचपन से ही रहस्य के प्रति मेरा आकर्षण रहा। जहां पता लगता, कोई गुप्त बात है, रहस्य है, मैं उसकी खोज में लग जाता। रहस्य की खोज करना, उसे अनावृत करना, मेरा एक स्वभाव-सा बन गया। जब मैं बीस वर्ष का था, तब मुझे एक छोटी-सी पुस्तिका मिली। उसमें रहस्यों के बारे में बहुत जानकारी थी। आज भी मेरे पास वह पुस्तक सुरक्षित है। उसे समय-समय पर देखता भी हूं। उसके बाद तो बहुत प्रसंग आए रहस्यपूर्ण बातों को जानने के। रहस्य की खोज, सूक्ष्म रहस्य की खोज मेरा प्रिय विषय रहा।

मैं मानता हूं, जब तक हम स्थूल से हटकर सूक्ष्म तत्त्व में प्रवेश नहीं करेंगे, ऊपर-ऊपर की मोटी बातें ही हमारे हाथ लगेंगी, पूरी सचाई सामने नहीं आएगी। सूक्ष्म सत्य की खोज करना और उसके द्वारा अपनी दृष्टि को सूक्ष्म बनाना ताकि सूक्ष्मदर्शी बने, सूक्ष्म का स्पर्श कर सके, ऐसा लक्ष्य होना चाहिए।

मैं लम्बे समय तक विवेक, समता और अन्तर्दृष्टि—इन तीनों के साथ रहा हूं और मैं यह कह सकता हूं, ८० वर्ष के मुनिजीवन में विवेक की कमी के कारण शायद एक भी शब्द मुझे कभी नहीं सुनना पड़ा। कोई प्रसंग नहीं आया कि कोई कह दे—'विवेक रखो, यह अच्छा नहीं है।' मैं बहुत छोटा था, तब भी मेरी बात पर गुरुदेव बहुत ध्यान देते थे। गुरु वे थे। मैं तो शिष्य था, बहुत छोटा शिष्य, पर गुरुदेव मेरी बात को इतना महत्त्व देते कि उसे अपनी बात बनाकर व्याख्या करने लग जाते। मैं इसे उस विवेक चेतना का ही परिणाम मानता हूं जिसके कारण उस स्थिति का निर्माण हो सका। समता की दृष्टि से भी मुझे बहुत लाभ हुआ।

अन्तर्दृष्टि के प्रयोग मैंने बहुत किये। पता नहीं कितनी बार गुरुदेव के पास बैठे रहते, हमारा चिन्तन चलता रहता। गोष्ठी होती तो उसमें सारी बात चर्चित हो जाती। साधु-साध्वियां जाने लगते, फिर गुरुदेव मुझसे कहते—'देखो, चिन्तन तो हो गया। अब तुम जाओ। अब तुम्हारे अचिन्तन में से क्या निकलता है, वह आकर फिर हमें बताना।' यह है इन्ट्यूशन पावर या अतींद्रिय चेतना में हमारा विश्वास।

मैं स्वयं अनुभव करता हूं कि मैंने कहां-कहां अतींद्रिय चेतना का प्रयोग किया है और मुझे कैसे सचाइयां मिली हैं। इसका एक बड़ा इतिहास है।

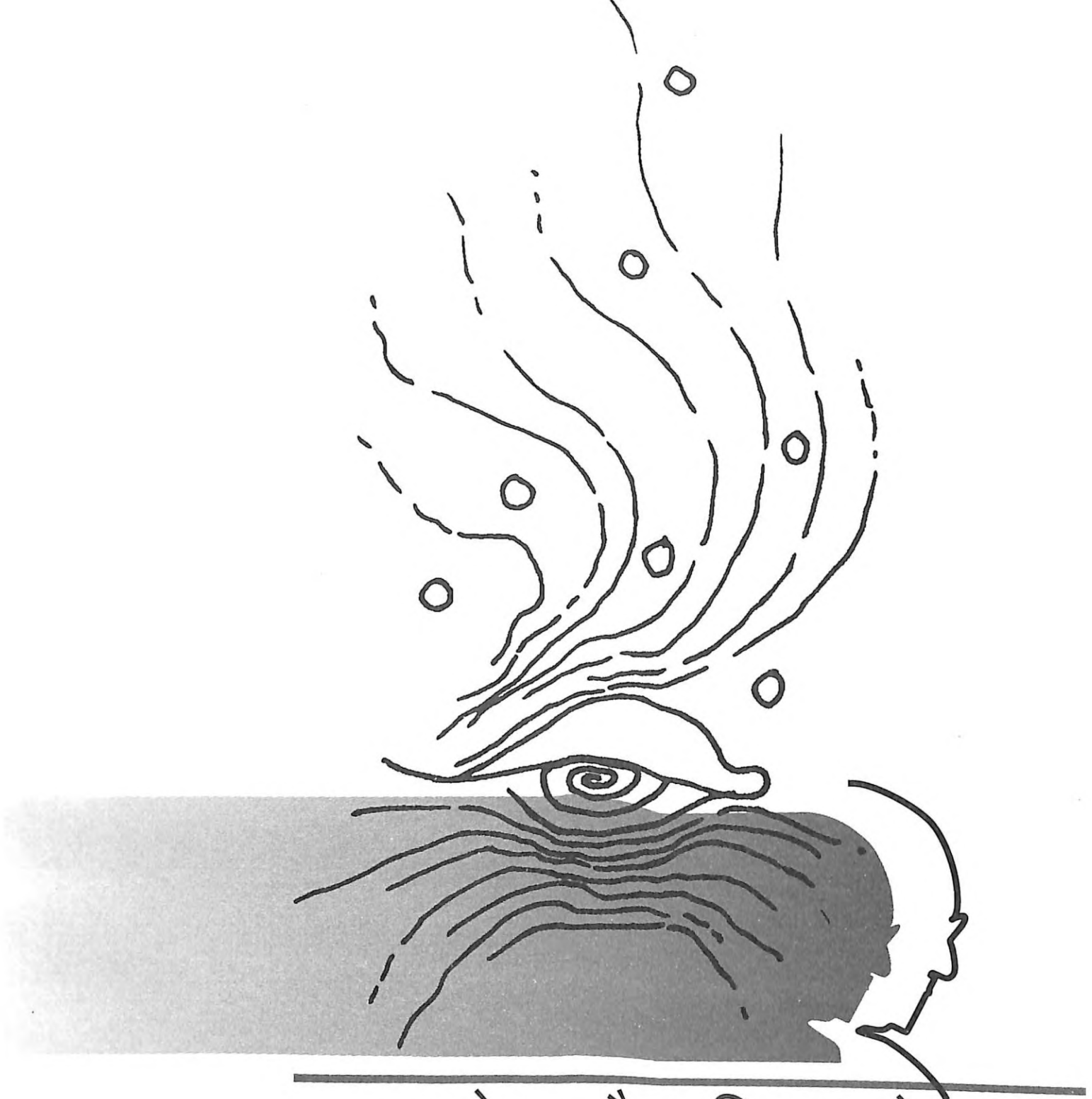

अन्वेषण और अभिनव उन्मेष

आगम सम्पादन

विश्व के सब धर्म प्रवर्तक की वाणी और उसके प्रति श्रद्धा के आधार पर चल रहे हैं। जैन धर्म का आधारभूत ग्रंथ है आगम। भगवान महावीर ने कहा, उसका संकलन गणधरों ने किया। वर्तमान में गणधर सुधर्मा द्वारा संकलित आगम प्रचलित हैं। उनकी मूल संख्या बारह है। कालक्रम के अंतराल में दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग विलुप्त हो गया। शेष ग्यारह अंग आज संक्षिप्त रूप में उपलब्ध हैं।

आचार्य भिक्षु ने आगम के आधार पर जीवन-शैली निर्धारित की थी। तेरापंथ में आगम के अध्ययन की प्रमुखता रही है। श्रीमद् जयाचार्य ने भगवती सूत्र की पद्यबद्ध व्याख्या की। अन्य आगमों के विषय में भी उनका कार्य उपलब्ध है। आगम सम्पादन का स्वप्न भी एक स्वप्न था। आचार्य तुलसी की भाग्यलिपि ने इस स्वप्न को आकार दे दिया। उस स्वप्न और आकार को उन्हीं की भाषा में पढ़ना अधिक आनन्दानुभूति का हेतु बनेगा।

आगम सम्पादन की कल्पना

वि. सं. २०११ का वर्ष और चैत्र मास। आचार्यश्री तुलसी महाराष्ट्र की यात्रा कर रहे थे। पूना से नारायण गांव की ओर जाते-जाते मध्यावधि में एक दिन का प्रवास मंचर में हुआ। आचार्यश्री एक जैन परिवार के भवन में ठहरे थे। सांझ की वेला, लगभग छह बजे होंगे। आचार्यश्री ने मुझे याद किया। जैसे ही मैं वहां पहुंचा, आचार्यश्री ने 'धर्मदूत' के सद्यस्क अंक की ओर संकेत करते हुए पूछा—'यह देखा या नहीं?'

मैंने उत्तर में निवेदन किया—'नहीं, अभी नहीं देखा।'

आचार्यश्री बहुत गम्भीर हो गए। एक क्षण रुककर बोले—'इसमें बौद्ध पिटकों के सम्पादन की बहुत बड़ी योजना है। बौद्धों ने इस दिशा में पहले ही बहुत कार्य किया है और अब भी बहुत कर रहे हैं। जैन आगमों का सम्पादन वैज्ञानिक पद्धति से अभी नहीं हुआ है और इस ओर अभी ध्यान भी नहीं दिया जा रहा है।'

आचार्यश्री की वाणी में अन्तर्वेदना टपक रही थी।

इस विषय में आचार्यश्री की डायरी के पृष्ठ पठनीय हैं—

'महाराष्ट्र की यात्रा में पूना का प्रवास आशा से अधिक सफल रहा। फाल्गुन मास का समय था। होली चातुर्मासी 'नारायण गांव' की घोषित की। निर्धारित तिथि तक वहां पहुंच सकें, उस हिसाब से हमने पूना से प्रस्थान किया। मौसी, चारुण आदि गांवों का स्पर्श करते हुए हम ७ मार्च, १९५५ को प्रातःकाल मंचर पहुंचे। वहां आवास की व्यवस्था सेठ राजमल जैन के मकान में थी। अपराह्न का समय। साधु नीचे आहार कर रहे थे। मैं दुछत्ती में बैठा पत्र-पत्रिकाएं देख रहा था। अनायास ही मेरे हाथ में 'धर्मदूत' नामक पत्र आया। पत्र खोला तो मेरी दृष्टि एक संवाद पर अटक गई। उसमें बौद्ध पिटकों के पुनः सम्पादन और

प्रकाशन की बात थी। उस संवाद को पढ़ते ही मेरे मस्तिष्क में बिजली सी कौंधी। मेरी आंखों के सामने जैन आगम आ गए। मैंने सोचा–बौद्ध साहित्य पर अब तक काफी काम हो चुका है। उसका देश-विदेश में प्रसार भी है, फिर भी बौद्ध विद्वान् निश्चिन्त नहीं हैं। उन्होंने बौद्ध पिटकों के सम्पादन की एक बृहत् और व्यवस्थित योजना बनाई है। जैन आगम इतने महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु जैन विद्वानों का उनकी ओर ध्यान ही नहीं गया! जैन आगमों पर आज तक कुछ भी काम क्यों नहीं हुआ? अन्य विद्वानों की दृष्टि में जैन आगम नीरस हैं। क्या इस आरोप को धोया नहीं जा सकता? क्या जैन साहित्य के पुनरुद्धार की अपेक्षा नहीं है? कौन करेगा यह काम? क्या इस दिशा में कोई पहल करेगा अथवा यह क्रम यों ही चलता रहेगा?

मेरे मस्तिष्क में एक ऐसी उथल-पुथल मच गई जिसे मैं शान्त नहीं कर सका। कुछ कहने के लिए मन बेचैन हो उठा। मैंने तत्काल मुनि नथमलजी को बुलाया। वे आए। मैंने 'धर्मदूत' पत्र उनके हाथ में थमाते हुए कहा–'पढ़ो, क्या लिखा है?'

मुनि नथमलजी पूरा संवाद पढ़कर बोले–'बौद्ध पिटकों के सम्पादन और प्रकाशन की बात है।'

मैंने कहा–'क्या हम भी जैन आगमों के सम्पादन का काम हाथ में लें?'

बिना एक क्षण सोचे मुनि नथमलजी बोल उठे–'अवश्य लें। चिन्तन बहुत सुन्दर है।'

किसी भी कार्य की पृष्ठभूमि में चिन्तन आवश्यक होता है। वह सुन्दर और उपयोगी हो सकता है पर उसकी क्रियान्विति न हो तो उसका मूल्य कम हो जाता है। इस बात को ध्यान में रखकर मैंने एक बार फिर मुनि नथमलजी से कहा–'क्या यह काम हो सकेगा? तुमने पूरा सोच तो लिया है?'

वे बोले–'इसमें सोचने की क्या अपेक्षा है? आपका जो भी संकल्प होगा वह अवश्य फलवान

बनेगा।'

मैंने कहा–'नथमलजी! यह चिन्तन कोरा उपचार नहीं है। इसे गम्भीरता से लो। एक बार फिर गहराई से सोच लो। हमें वही काम हाथ में लेना है, जिसे हम कर सकें।' मेरे बार-बार कहने पर भी मुनि नथमलजी विचलित नहीं हुए। उन्होंने दृढ़ता के साथ कहा–'आप जो चाहेंगे, वह होगा।'

आज मैं उस दिन की बात याद करता हूं तो आश्चर्य होता है। आगम सम्पादन बहुत बड़ी साधना है। तब तक हमने किसी छोटी पुस्तक का सम्पादन भी नहीं किया था। फिर भी मन में एक ललक पैदा हो गई। मुनि नथमलजी का भी इस क्षेत्र में कोई अनुभव नहीं था। फिर भी उन्होंने निर्विकल्प चित्त से अपनी सहमति दे दी। उसी दिन रात्रि में प्रतिक्रमण-प्रार्थना के समय सहज रूप में सब साधु एकत्र हुए। मैंने अपने मन की तड़प बताते हुए संध्याकालीन प्रसंग की अवगति दी और कहा–'आज मैंने मनोमना एक बड़ा निर्णय लिया है। उसकी क्रियान्विति के लिए कौन तैयार है?'

साधुओं ने निर्णय के बारे में जिज्ञासा की तो मैं बोला–'जैन आगमों के सम्पादन का काम हमें करना है। यद्यपि इस काम का कोई अनुभव नहीं है। कार्य पद्धति भी निश्चित नहीं है। फिर भी मन में उमंग है। मैं यह भी चाहता हूं कि हमारा काम ऐसा वैसा नहीं होना चाहिए। मूल पाठ का सम्पादन, हिन्दी अनुवाद, आधुनिकतम टिप्पणियां, शब्दकोश आदि जितने काम आवश्यक प्रतीत होंगे, वे सब करने होंगे। बताओ किसकी तैयारी है?'

मेरी बात सुनकर साधु झूम उठे। उन्होंने हार्दिक भाव से काम करने की इच्छा व्यक्त की। मैंने कहा–'अनौपचारिक रूप में हमने आज ही तय कर लिया है कि हमें आगम सम्पादन का काम करना है। इसकी विधिवत् घोषणा 'महावीर जयन्ती' के अवसर पर करने का विचार है।'

प्रसन्न और उत्साहपूर्ण वातावरण में एक नई योजना की कल्पना स्थिर हुई। उसके बाद समय-समय पर इस संदर्भ में चर्चा चलती रही। मंचर का छोटा-सा प्रवास तेरापंथ धर्मसंघ के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ बन गया। हम मंचर का नाम ही नहीं जानते थे, पर वहां से जिस अभूतपूर्व कार्य की कल्पना हुई, उसने उसको अविस्मरणीय बना दिया।'[1]

आगम सम्पादन का संकल्प

औरंगाबाद (महाराष्ट्र), वि. सं. २०११ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, महावीर जयंती का दिन। आचार्यवर ने आगम सम्पादन की घोषणा की और कहा–

'जैन आगमों का आधुनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पादन करना है। मूल पाठ का संशोधन, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, समीक्षात्मक टिप्पणियां आदि सम्पादन के जितने अंग हैं, समग्र रूप से काम करना है।'[2]

आगम सम्पादन की रूपरेखा

ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी का दिन। आचार्यश्री तुलसी धूलिया से सात किलोमीटर की दूरी पर 'फागणा' नामक गांव में विराज रहे थे। श्रीचंदजी रामपुरिया दर्शन करने आए, आगम सम्पादन की चर्चा चली। उन्होंने सबसे पहले आगम शब्दकोश तैयार करने का सुझाव रखा। आचार्यश्री को वह उचित लगा। आगमों का हिन्दी अनुवाद और शब्दकोश–इन दो कार्यों को प्रारम्भ करने का निश्चय हुआ।

जैन आगम शब्दकोश के विषय में पुनश्चिन्तन चला। समस्या सामने आई कि इस समय चार आगम कोश बने हुए हैं–

१. अभिधान राजेन्द्र कोश–श्री राजेन्द्रसूरि
२. अर्धमागधी शब्दकोश–मुनि रत्नचन्द्रजी
३. पाइयसद्दमहण्णवो–पंडित हरगोविन्ददास भाई
४. जैनागम शब्द सन्दोह

इनके होते हुए फिर नये जैन आगम शब्दकोश का निर्माण अनावश्यक लगने लगा। कोश-निर्माण का विचार छोड़ दिया जाए या फिर उसे नया रूप दिया जाये? मंथन करते-करते नवनीत निकल आया, कार्य प्रारम्भ हो गया।

आगम-कार्य में नियुक्त साधु-साध्वियों की एक परिषद् आयोजित हुई। आचार्यवर ने परिषद् को संबोधित कर कहा–'हमारी आस्था के अनेक केन्द्र है। उनमें एक पुष्ट केन्द्र है जैन आगम। आगम सम्पादन का कार्य वास्तव में गुरुतर है। हम यह गुरुतर कार्य हाथ में ले रहे हैं। इसके लिए साधु-साध्वियों की दृढ़

१. मेरा जीवन : मेरा दर्शन, भाग-३, पृ. २३०-२३१
२. मेरा जीवन : मेरा दर्शन, भाग-३, पृ. २४०

निष्ठा की आवश्यकता है। हमारे सामने कुछ कठिनाइयां भी हैं। कठिनाइयों के बावजूद हमें यह कार्य करना ही है। अपने आत्म बल को बटोर कर इस कार्य में जुट जाना है। इस कार्य में हमारी दृष्टि[1] असांप्रदायिक और तटस्थ रहे। आचार्यवर के इस दिशा-निर्देशन ने दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया और हमें संतोष है कि इसका आगम सम्पादन के कार्य में सर्वात्मना निर्वाह हुआ है।

कार्यारम्भ और तप अनुष्ठान

चतुर्मास के लिए उज्जैन में प्रवेश। हम सम्पादन के लिए पुस्तक-सामग्री जुटाने लगे। स्थानीय पुस्तकालयों से हम पुस्तकें लाए। पुस्तकालयों की अव्यवस्था के कारण कुछ कठिनाइयां आईं। आखिर सामग्री जुट गई। चन्द्रसागर पुस्तकालय (उज्जैन) के अधिकारियों ने मुक्त-भाव से सहयोग किया।

आगम सम्पादन का कार्य तप-पूर्वक होना चाहिए, इस चिन्तन के बाद तेला (तीन उपवास) करने की बात सामने आई। विशिष्ट सिद्धि के लिए तेला तप का प्रयोग करना सुविहित है।

आचार्यवर ने कहा—तेला मैं करूंगा। मैंने प्रार्थना की कि तेला मैं करूंगा। आचार्यवर मेरी शरीर की स्थिति को जानते थे इसलिए मुझे तेला करने की अनुमति नहीं दी। स्वयं तेला का अनुष्ठान किया। उसके साथ ध्यान, जप और चिन्तन का क्रम भी चला।

मदनचंदजी गोठी (सरदारशहर) आगमवेत्ता श्रावक थे। उन्होंने आगम सम्पादन के कार्य में अपनी शक्ति के नियोजन का संकल्प किया। वे रहस्यवेत्ता थे। पीपल के सूखे पत्ते का प्रतिदिन प्रयोग करते थे। उन्होंने आचार्यवर से प्रार्थना की—'आप एक महान् कार्य प्रारम्भ कर रहे हैं। कार्यारम्भ के दिन आप पीपल के पत्ते का सेवन करें। मैं प्रतिदिन इसका सेवन करता हूं और वह सहज ही उपलब्ध है।'

आचार्यवर से आदेश प्राप्त कर मुनि चंपालालजी (लाडनूं) गए, जड़-युक्त पीपल का पत्ता ले आए। मैंने प्रार्थना की—आचार्यवर इसका अमृत-पान करें। आचार्यवर ने कहा—'मैं नहीं, तुम करो। काम तुम्हें करना है। मैं तुम्हारे काम का द्रष्टा हूं, साक्षी हूं।'

मेरा अनुरोध रहा—आचार्यवर इसका पान करे और आचार्यवर की यह इच्छा थी कि मैं इसका पान करूं। इस प्रकार अनुरोध और आज्ञापन का क्रम चला। आखिर आचार्यवर ने वह पीपल का पत्ता मेरे हाथ में थमा दिया। आचार्यवर के अर्थपूर्ण अनुग्रह का सम्मान कर मैंने उसका पान कर लिया।

कार्य के प्रारम्भ में आचार्यवर ने तीन दिन का उपवास (तेला) किया। आचार्यश्री ने स्वयं प्रवचन में इसकी चर्चा करते हुए कहा—'तपस्या आत्म-शक्ति को बढ़ाती है, आत्म-तेज को उद्दीप्त करती है। अन्तःशुद्धि का यह अमोघ साधन है। जैन इतिहास को हम देखें तो पाएंगे कि किसी भी अच्छे काम की शुरुआत तेले (तीन दिन का संलग्न उपवास) से होती है। जैन आगमों के सम्पादन का बहुत बड़ा काम हमने अपने हाथों में लिया है। गत महावीर जयन्ती के अवसर पर, जिसकी मैंने घोषणा की थी, उसकी शुरुआत मैं तेले की तपस्या से करूं—ऐसा लगभग दो मास पूर्व मेरा अन्तःसंकल्प था। मैंने प्रकट नहीं किया। उपवास से इसका आरम्भ किया।

१. मेरा जीवन : मेरा दर्शन, भाग-३, पृ. २६८

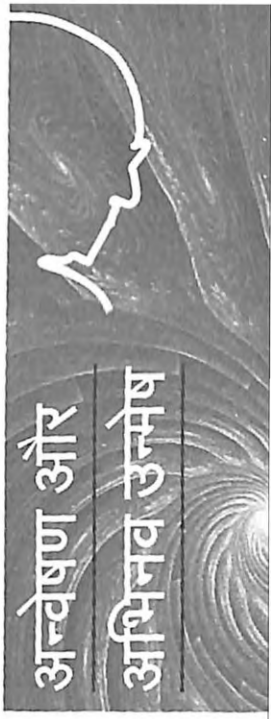

दूसरे दिन पारणे के समय मैंने साधु-साध्वियों को अपनी भावना बताई और साथ ही साथ यह भी कहा कि मैं तेला कर रहा हूं इसलिए आप सबको तेला करना ही पड़े ऐसी कोई बात नहीं है। हां, जिनमें उत्कट भावना हो वे तेला करें, दूसरे जो अस्वस्थ हैं या तेला करने की स्थिति में नहीं हैं वे पारणा कर लें। साधुओं में से १३ व साध्वियों में से १८ कुल ३१ तेले हुए। अनेक उपवास हुए। इस प्रकार मेरे तेले के पीछे साधु-साध्वियों में पांच महीने की तपस्या हुई।'[1]

लिपि नियति की

श्रावण कृष्णा द्वितीया से सम्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ। उस कार्य का दायित्व मुझे सौंपा गया और कुछ मेरे सहयोगी साधुओं की नियुक्ति की गई। आगम सम्पादन का कार्य बहुत विशाल था। इस विषय में हमारा कोई अनुभव भी नहीं था। आचार्यश्री ने कहा—आगम सम्पादन का कार्य करना है। हमने इसे स्वीकार कर लिया। कैसे कहा और कैसे स्वीकारा—ये दोनों रहस्यपूर्ण हैं। नियति की लिपि को पढ़ना और उसके अर्थ को समझना हर किसी व्यक्ति के लिए सरल नहीं है।

'तेरापंथ की नियति' मैं इसलिए मानता हूं कि वह आगम के लिए सर्वात्मना समर्पित संघ रहा है। आचार्य भिक्षु और जयाचार्य ने आगम के समीक्षात्मक अध्ययन की जिस परम्परा का सूत्रपात किया, वह बेजोड़ है।

आचार्य तुलसी की नियति इसलिए मानता हूं कि उन्हें आगम सम्पादन का संदेश किसी बाहरी प्रेरणा से नहीं मिला, वह उनकी अपनी ही अंतःप्रेरणा से समुद्भूत हुआ था।

मेरी नियति इसलिए मानता हूं कि तेरापंथ और आचार्यश्री तुलसी की अभिकांक्षा ने ही मेरा भविष्य-पथ निर्धारित किया।

शोधपरक दृष्टिकोण

आगम सम्पादन के प्रति हमारा दृष्टिकोण शोधपरक रहा। साम्प्रदायिक आग्रह किंचित् भी नहीं था। इस विषय में आचार्यवर का एक वक्तव्य मननीय है–

'उज्जैन चातुर्मास्य का निर्णय करते समय मेरे सामने एक बड़ा काम था आगम सम्पादन का। इस दृष्टि से चातुर्मास्य के प्रारम्भ में ही साधु-साध्वियों की एक गोष्ठी बुलाई गई। आगम कार्य में किन साधु-साध्वियों की रुचि है? वैसी अर्हता किसमें है? सबसे पहले क्या काम हाथ में लेना है? काम करने की पद्धति क्या हो? किस समय तक कितना काम सम्पन्न करना है? आदि प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में निर्णायक चिन्तन हुआ। साधु-साध्वियों को संबोधित करते हुए मैंने कहा–

'हम आगम सम्पादन का एक बहुत बड़ा काम हाथ में ले रहे हैं। हमें गहरी निष्ठा और शक्ति के नियोजन से इस कार्य को सम्पन्न करना है। इसमें हमें पूरी तटस्थता रखनी है। आगमों के साथ न्याय करना है। यह काम करते समय हमारी दृष्टि में कोई साम्प्रदायिक आग्रह न हो। आगम के मूल अर्थ से कहीं कोई साम्प्रदायिक परम्परा भिन्न हो तो उसका उल्लेख हम पाद-टिप्पण में कर सकते हैं।

---

१. प्रवचन डायरी, ७ जुलाई ५५

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि हमें यह काम वेतनभोगी पंडितों से नहीं करवाना है। उन्हें केवल अपने वेतन की चिन्ता रहती है। उनके श्रम की सीमा होती है। हमें अपने पूरे पुरुषार्थ का नियोजन करना है। हमारे लिए सबसे बड़ी सुविधा है एक नेतृत्व की। हम जितने साधु-साध्वियों को इस काम में नियोजित करना चाहें कर सकते हैं। यह स्थिति अन्यत्र दुर्लभ है।'

साधु-साध्वियों ने मेरे निर्देश को अहोभाव से स्वीकार किया। आगम कार्य के सम्पादन का समग्र दायित्व मुनि नथमलजी (टमकोर) को सौंपा गया। उनके साथ कुछ सहयोगी साधुओं की नियुक्ति कर दी गई। प्राथमिक रूप से दो काम प्रारंभ करने का संकल्प किया–

१. आगमों का हिन्दी अनुवाद २. शब्द-सूची।

हिन्दी अनुवाद का काम जितना उपयोगी था, उतना ही कठिन था। वह काम मुनि नथमलजी के जिम्मे था। उन्होंने निर्देश मिलते ही आयारचूला का अनुवाद प्रारम्भ कर दिया। शब्द-सूची का काम बहुत बड़ा था। उसमें पचासों साधु-साध्वियों को नियोजित कर दिया। नियोजन के साथ ही सब काम में जुट गए। उनके द्वारा किया गया कार्य आगे जाकर कितना उपयोगी रहा, इस बात को एक बार गौण कर दिया जाए तो उस चातुर्मास्य में कल्पना से अधिक काम हुआ। लगभग पांच महीनों में बत्तीस आगमों की शब्द-सूचियां तैयार हो गईं।'[1]

हिन्दी अनुवाद और विवेचन

मैंने प्रारम्भ में आयारचूला का अनुवाद प्रारंभ किया। अनुवाद शोधपूर्ण टिप्पणियों के साथ करना था इसलिए काफी समय लगा। आगम कोश की प्रारम्भिक तैयारी भी कर दी। आचार्यवर का ध्यान आगम सम्पादन में केन्द्रित हो गया। सब कार्य पूर्ववत् चलते रहे। आगम सम्पादन केन्द्रबिन्दु बन गया।

यात्रा आगम सम्पादन के कार्य को बाधित कर रही थी फिर भी आचार्यवर के पुरुषार्थ ने बाधा को कभी हावी नहीं होने दिया। आचार्यवर ने पहला प्रयोग किया–मुझे और मेरे सहयोगी साधुओं को रतलाम में रख दिया। यह प्रयोग अनेक बार दोहराया गया।

वि. सं. २०१३ में हमने आगम कोश का कार्य प्रारम्भ किया। उस समय पाठ-संशोधन की समस्या उभर कर सामने आई। अशुद्ध पाठ के आधार पर आगम कोश का कार्य प्रामाणिक नहीं हो सकता। इस चिन्तन के आधार पर पाठ शोधन का कार्य हाथ में लिया गया।

कार्य करने की दो विधियां हैं–

१. अनुभव-सम्पन्न व्यक्ति कार्य करते हैं और कार्य कौशल के साथ सम्पादित होता है।

२. कुछ व्यक्ति अनुभव के बिना संकल्प के साथ कार्य शुरू करते हैं और कार्य करते-करते अनुभव से सम्पन्न हो जाते हैं।

हमारा कार्य दूसरी कोटि का है। हमें आगम सम्पादन का अनुभव नहीं था। कार्य करते-करते हमारा अनुभव अन्तस् का स्पर्श करने लगा। कुछ नया काम करने का संकल्प था, वह भी सिद्ध होने लगा और हमें प्रतीति हुई कि हम अज्ञात को ज्ञात की भूमिका में प्रस्तुत करने में सफल हुए।

१. मेरा जीवन : मेरा दर्शन भाग ३, पृ. २६८-२६९

आगम सम्पादन में मुझे सहयोगी संतों का अच्छा समवाय मिला। उसमें मुख्य हैं मुनि दुलहराजजी। मुनि मीठालालजी (वर्तमान में साधक अमिताभ) भी इस कार्य में मेरे अच्छे सहयोगी रहे। समय-समय पर अनेक साधुओं का नियोजन किया गया—मुनि हीरालालजी, मुनि सुखलालजी, मुनि श्रीचंदजी, मुनि सुमेरमलजी 'सुमन', मुनि सुमेरमलजी 'सुदर्शन' आदि। प्रारंभ में मैंने आयारचूला का सटिप्पण अनुवाद शुरू किया। समीक्षा और समालोचना के बाद उसे स्थगित कर दसवेआलियं का सम्पादन शुरू किया। वह कार्य हमारे भावी कार्य का आधार बन गया।

कार्य का मूल्यांकन

दशवैकालिक प्रकाशित होकर जनता के सामने आया। उसकी अच्छी प्रतिक्रिया हुई। उसकी एक प्रति पंडित दलसुखभाई मालवणिया के पास पहुंची। हम कठोतिया भवन में प्रवास कर रहे थे। एक दिन अचानक मोहनलालजी कठोतिया के पास दलसुखभाई मालवणिया का फोन आया—'मैं मुनि नथमलजी से मिलना चाहता हूं।' कठोतियाजी ने वह संवाद मुझे बताया।

मैंने आश्चर्य के साथ कठोतियाजी से कहा—'आपको नाम का कोई भ्रम तो नहीं हो रहा है? दलसुखभाई मिलने आए, यह संभव नहीं लगता। वे पंडित सुखलालजी के वर्ग के हैं और पंडित सुखलालजी का सारा वर्ग आचार्य तुलसी के विरोध में रहा है।'

कठोतियाजी ने फोन द्वारा उनसे सम्पर्क किया और कहा—'भ्रम नहीं है, दलसुखभाई ही मिलना चाहते हैं।'

मैंने कहा—'आज यह सूरज किस दिशा में उगा है?' ठीक समय पर दलसुखभाई आए और बोले—'आप द्वारा सम्पादित दशवैकालिक मैंने पढ़ा और मुझे सुखद संतोष हुआ। आगम का सम्पादन जैसा होना चाहिए वैसा हुआ है। इसके टिप्पण बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।'

मैं दलसुखभाई को सुन भी रहा था और उनकी आकृति को पढ़ भी रहा था। मुझे लगा कि यह आदमी विद्वत्ता का मूल्यांकन करने वाला है, गुणानुरागी है। इससे पूर्व तेरापंथ के प्रति जो धारणा बना रखी थी वह कच्चे धागे की भांति टूट चुकी थी। एक ग्रंथ के अध्ययन से उनके मानस में इतना परिवर्तन आया कि वे सदा-सदा के लिए हमारे आत्मीयजनों की पंक्ति में अग्रणी बन गए। यह परिवर्तन केवल दलसुखभाई में ही नहीं आया, पंडित सुखलालजी के पूरे वर्ग में आ गया।

मैंने अनुभव किया कि पंडित सुखलालजी और उनका वर्ग किसी द्वेष भावना से प्रेरित नहीं था। उन्हें जब लगता कि विद्या का कोई विशेष विकास नहीं है वहां वे रूखे बन जाते, कड़े बन जाते और जब यह लगता कि विद्या का विशेष विकास हो रहा है वहां वे चिकने बन जाते, मीठे बन जाते।

आगम सम्पादन का प्रचार नहीं किया गया, फिर भी उसकी सुगन्ध अपने आप फैलती जा रही थी। वि. सं. २०१५ का चतुर्मास कानपुर में था। डॉ. नथमल टाटिया वैशाली से और प्रो. इन्द्रचन्द्र शास्त्री दिल्ली से आए।

आगम सम्पादन के विषय में विशद वार्तालाप हुआ। दशवैकालिक का सम्पादन कार्य उन्होंने देखा। इस बात पर उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई कि एक आगम की व्याख्या के लिए दूसरे आगम का सहारा लिया जा

रहा है। उन्होंने त्रिदिवसीय प्रवास-काल में कई बार कहा—'हम नहीं जानते कि आगम सम्पादन का कार्य इतनी निष्ठा से हो रहा है। आपका यह कार्य जब लोगों के समक्ष आएगा, तब निःसंदेह मैं कह सकता हूं कि उनकी कई बद्धमूल धारणाएं नष्ट हो जाएंगी। आज तक कहीं इस प्रकार का परिश्रम हुआ हो, मैं नहीं जानता। आप इस दशवैकालिक को शीघ्र पूरा कर दें, जिससे आगामी वर्ष हम अपने विद्यापीठ में इसको पाठ्यक्रम में रख सकें।'

'इस एक सूत्र का सांगोपांग कार्य विद्यार्थी अन्वेषकों को एक नई दिशा देगा और अन्य आगमों के लिए आधार स्थल बनेगा।'

कुछ ही दिनों बाद जैन-दर्शन के विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया भी कानपुर आए। वे डॉ. हीरालाल शास्त्री और श्री ए. एन. उपाध्याय के साथ यहां आना चाहते थे। परन्तु कार्यवश वे दोनों विद्वान् यहां नहीं आ सके।

डॉ. नथमल टाटिया ने अपने अल्पकालिक कानपुर-प्रवास के संस्मरण पत्रों द्वारा उन्हें अवगत किए थे। उनकी प्रेरणा से और स्वयंभूत जिज्ञासा से दलसुखभाई अपने दूसरे कार्यों को गौण कर आचार्यप्रवर के पास आए।

प्रातःकाल का समय था। बादल उमड़-घुमड़कर आ रहे थे। बूंदा-बांदी हो रही थी। वंदन कर वे आचार्यप्रवर के पास बैठ गए। औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् उन्होंने आगम-कार्य देखने की जिज्ञासा व्यक्त की। आचार्यप्रवर प्रवचन देने पधार गए। मैंने उन्हें आगम-कार्य की जानकारी दी।

तब उन्होंने कहा—'आजकल स्थिति ऐसी बन रही है कि कई जैन श्रमण परिश्रम तो करना नहीं चाहते, परन्तु अपना नाम उस कृति में अंकित देखना चाहते हैं, चाहे वह किसी के द्वारा सम्पन्न हुई हो। यह मनोभावना खटकती है। यदि इसी निष्ठा से आपने संपूर्ण आगम साहित्य का पारायण किया तो वह दिन भी दूर नहीं जब जैन जगत् ही नहीं, सारा संसार जैन वाङ्मय को पूर्ण रुचि से पढ़ेगा और अन्य जैनेतर विद्वान् भी इस दिशा में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित होंगे। आज भी जैनेतर विद्वान् चाहते हैं कि प्राकृत वाङ्मय सामने आए और उसके आधार पर प्राचीन भारत की गौरवमय स्थिति का दिग्दर्शन हो। यदि हम जैन लोग उनकी रुचि व उत्साह के प्रदीप को प्रज्वलित रखने में सफल हो सके तो बहुत कुछ संभावनाएं हैं और यदि हम अपनी अकर्मण्यता से उनके सामने कोई उपयुक्त सामग्री उपस्थित नहीं कर सकेंगे तो उनका उत्साह टूट जाएगा—इसकी सारी जिम्मेदारी हमारे ऊपर है। आपका यह कार्य उनके लिए बहुत लाभप्रद होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।'

सर्वोत्तम संस्करण

हमारा कार्य शोधपूर्ण था इसलिए सम्पादन में समय बहुत लगता। दशवैकालिक लगभग ७०० श्लोक-मान का ग्रंथ है। इसके सम्पादन में हमें तीन वर्ष का समय लगा। हम एक-एक आगम का सम्पादन करते रहे और विद्वानों की प्रतिक्रिया आती रही। इस विषय में प्रसिद्ध चिन्तक उपाध्याय अमरमुनि का अभिमत उल्लेखनीय है—

'दसवेआलियं—यह जैन श्रुत-वाङ्मय का प्रवेशद्वार माना जाता है। दशवैकालिक सूत्र के सैकड़ों अनुवाद और व्याख्याएं प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रस्तुत संस्करण को देख कर विश्वासपूर्वक कहा जा सकता

है कि अब तक के संस्करणों में यह सर्वोत्तम संस्करण है। विद्वान् विवेचक मुनिजी ने व्यापक दृष्टि से दशवैकालिक की प्राप्त चूर्णि, टीकाओं तथा विवेचनों का तलस्पर्शी अनुशीलन कर इस आगम-ग्रंथ का विवेचन किया है। आगमगत कठिन, विवादास्पद तथा दुर्बोध शब्दों की व्याख्या करने में विवेचक को अनेक विषयान्तरित ग्रंथों की कठिन यात्रा करनी पड़ी है, पर आखिरकार उन्होंने अपनी सूक्ष्मप्रज्ञा द्वारा उन शब्दों का रहस्य हस्तगत कर स्पष्ट कर दिया है। यही इस विवेचन की अपनी विशिष्टता है जो इसे सर्वोत्तम संस्करण कहने के लिए बाध्य करती है।'

इस संदर्भ में दलसुखभाई मालवणिया का मत कार्य प्रणाली का स्पर्श कर रहा है–'पुस्तक उत्तम सम्पादन का नमूना है, इसमें संदेह नहीं है और अर्थ की गहराई में जाने का जो प्रयत्न है, वह विशेष आदर-पात्र है।'

आगम साहित्य का प्रकाशन

आचार्यवर के मन में आगम सम्पादन का एक विशेष आकर्षण परिलक्षित हो रहा था। तेरापंथ की एक विशेषता है कि जिस कार्य को आचार्य का अनुमोदन और प्रोत्साहन मिलता है वह कार्य सफल होता है। नेतृत्व और कर्तृत्व में सामंजस्य होने पर ही कार्य को गति मिलती है अन्यथा अवरोध ही अवरोध आते हैं। हमारा सौभाग्य कहूं या आगम का गुरुत्वाकर्षण अथवा आचार्यवर की आगम के प्रति अनुपमेय श्रद्धा। इस श्रद्धा ने कार्य में आने वाली बाधाओं और कठिनाइयों को सफलता में बदल दिया।

आगम साहित्य के प्रकाशन की मांग अनेक संस्थाओं ने की। उसमें वैशाली की मांग को काफी समर्थन मिला। प्रोफेसर नथमलजी टांटिया वैशाली इन्स्टीट्यूट के निदेशक थे। वे अपने इन्स्टीट्यूट से आगम साहित्य का प्रकाशन करना चाहते थे। साहू शांतिप्रसाद जैन, मोहनलाल बांठिया आदि व्यक्ति उनकी मांग का समर्थन कर रहे थे। लम्बे समय तक इस विषय में ऊहापोह चलता रहा। श्रीचंदजी रामपुरिया अपने पक्ष पर दृढ़ रहे–आगम साहित्य का प्रकाशन जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा अथवा जैन विश्व भारती से ही होना चाहिए। इससे तेरापंथ समाज की प्रतिष्ठा बढ़ेगी और हमारी स्वतंत्रता रहेगी। दीर्घकालिक चिन्तन के बाद निर्णय जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा अथवा जैन विश्व भारती के पक्ष में हुआ।

आगम के कुछ ग्रंथ प्रारंभ में जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा ने प्रकाशित किए। उसके पश्चात् जैन विश्व भारती आगम साहित्य की प्रकाशक संस्था बन गई और श्रीचंदजी रामपुरिया ने प्रबंध सम्पादक का दायित्व संभाला, बड़ी कुशलता के साथ उसका निर्वाह किया।

आगम कोश और पाठ-संशोधन

वि. सं. २०१४ सुजानगढ़ चतुर्मास में आगम कोश का कार्य द्रुतगति से चला। मुनि बुद्धमल्लजी (ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्दशी, बीदासर) इस कार्य में जुड़ गए। प्रारंभ में कोश का कार्य दो बार चलता था। अनुपाततः प्रतिदिन ५० श्लोकों अथवा गाथाओं का कार्य सम्पन्न हो जाता।

आगम कोश के निर्माण-कार्य में एक प्रमुख समस्या उभर कर सामने आई–पाठ संशोधित नहीं हैं तब आगम कोश का कार्य कैसे हो सकेगा? वि. सं. २०१४ सुजानगढ़, श्रावण कृष्णा सप्तमी को रात्रि के समय आचार्यश्री के सान्निध्य में आगम सम्पादन में कार्य करने वाले साधुओं की एक गोष्ठी आयोजित की

गई। उस संगोष्ठी में पाठ-संशोधन की आवश्यकता पर चिन्तन चला। आचार्यवर ने पाठ-संशोधन के कार्य को प्राथमिकता देने का निर्णय घोषित किया। आगम कोश का कार्य प्रातःकाल करने का निश्चय हुआ और मध्याह्न में पाठ-सम्पादन तथा अनुवाद करने का निर्णय किया गया। गोष्ठी के समापन काल में आचार्यवर ने कहा—'जो साधु आगम सम्पादन का कार्य कर रहे हैं, उन्हें निरन्तर आगम का अध्ययन करना चाहिए और खाद्य-संयम की दृष्टि से तीन विगय की वर्जना भी करनी चाहिए।' सुजानगढ़ चतुर्मास की सम्पन्नता तक आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, अनुयोगद्वार, व्यवहार और बृहत्कल्प—इन छह आगमों के कोश का कार्य सम्पन्न हो गया।

चतुर्मास के पश्चात् कोलकाता यात्रा का निश्चय हो चुका था। यात्रा-काल में इतने कार्डों को साथ में रखना संभव नहीं था, इसलिए आगम कोश के कार्य को स्थगित कर दिया गया।

आगम का अनुवाद, टिप्पण और भाष्य

वि. सं. २०१४ बीदासर, ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष में मैंने दशवैकालिक सूत्र का अनुवाद प्रारंभ किया। श्रीचंदजी रामपुरिया ने निवेदन किया—मैं भी आगम-कार्य में लगूंगा। उन्होंने कोलकाता से दशवैकालिक के अनेक मुद्रित संस्करण मंगवा लिए। उनका सुझाव था कि आगम संशोधन को प्राथमिकता दी जाए। इससे हमारा कार्य प्रामाणिक होगा, सरल भी हो जाएगा। सुजानगढ़ चतुर्मास में दशवैकालिक के अनुवाद का कार्य चल रहा था। पहले कल्पना थी कि दशवैकालिक का अनुवाद सुजानगढ़ चतुर्मास में ही सम्पन्न हो जाएगा किन्तु शोधपूर्ण कार्य इतना जटिल होता है कि उसमें कल्पना साथ नहीं देती। केवल दशवैकालिक के सम्पादन में तीन वर्ष का समय लगा। जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा (कलकत्ता) ने उसका प्रकाशन किया। जैसे ही यह विद्वानों के पास पहुंचा वैसे ही उनकी धारणा बदल गई। इससे पूर्व पंडित सुखलालजी और उनका शिष्यवर्ग भी हमारे कार्य के प्रति सम्मानजनक धारणा नहीं रखता था। अनेक बार अवज्ञा के भाव भी मुखर हो जाते थे। पंडित सुखलालजी ने एक बार कहा था—तेरापंथ के मुनि क्या आगम का कार्य करेंगे? क्या वे आगमों को साम्प्रदायिक रंग में नहीं रंग देंगे? दशवैकालिक के सम्पादन के पश्चात् जब हम पंडितजी से मिले तो उन्होंने कहा—'अब मुझे विश्वास हो गया है कि जैन आगम और जैन दर्शन के विकास का कार्य आप लोग ही कर सकेंगे। आचार्य तुलसी में प्रतिभा है, सूझ-बूझ है। उनके पास विद्वान् और युवक साधु-साध्वियों का अच्छा समुदाय है इसलिए वे ही जैन विद्या के विकास के लिए कार्य करने में सक्षम होंगे।'

भाष्य लिखने की धारणा

दशवैकालिक के सम्पादन-काल में हमारी यह धारणा बनी कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं की विशाल साहित्य-राशि का मंथन आवश्यक है। बौद्ध पिटक और उसका उत्तरवर्ती साहित्य आगम साहित्य का समसामयिक है। उसका अध्ययन आगमों के मौलिक अर्थ का स्पर्श करने में बहुत सहायक बनता है। वैदिक साहित्य बहुत विशाल है। उसमें अनेक विषयों पर बहुत विशद चर्चाएं हुई हैं। उपनिषद् साहित्य अध्यात्म और तत्त्वविद्या की दृष्टि से बहुत महनीय है। सम्पादन में उसका उपयोग करना अनिवार्य है। हमने अनुभव किया कि आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि का उपयोग किए बिना आगम की व्याख्या करने में अनेक कठिनाइयां होती हैं, सम्यक् अर्थबोध सुलभ नहीं होता। हम इस धारणा

के साथ चले और अतिशयोक्ति के बिना कहा जा सकता है कि समसामयिक ग्रंथों के अध्ययन से शोधपूर्ण सम्पादन में बहुत सफलता मिली।

कार्य की व्यस्तता के बावजूद आचार्यवर आगम सम्पादन, मुख्यतः पाठ-संशोधन में दो से लेकर चार घण्टे का समय लगाते थे। वे हमारी आगम-वाचना के प्रमुख थे। उनकी अन्तःप्रेरणा और आगम निष्ठा से ही आगम का कार्य अनुप्राणित और परिस्पन्दित हो रहा था।

सूची प्रकाशित आगम-साहित्य की

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने वीर निर्वाण की सहस्राब्दि के अन्त में आगम की अंतिम वाचना की थी। इसके लगभग पन्द्रह सौ वर्ष पश्चात् सम्पादन का यह महान् प्रयत्न प्रारंभ हुआ है। यह कार्य एक साथ अनेक दिशाओं में चलता रहा है—पाठ-संशोधन, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, समालोचनात्मक टिप्पण, समीक्षात्मक अध्ययन, शब्दकोश आदि-आदि। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी के वाचना प्रमुखत्व में चलने वाले इस महान् उपक्रम को आगम की पांचवीं वाचना के रूप में मान्य किया जा सकता है।

तेरापंथ में आगम मंथन का जो प्रयत्न चल रहा है, उसकी अनेक निष्पत्तियां प्रकाश में आ चुकी हैं। पचपन वर्ष की दीर्घ कालावधि में जो कार्य संपन्न हुआ है, उसमें बत्तीस आगमों के मूलपाठ का संशोधन, अनेक आगमों के अनुवाद एवं समीक्षात्मक टिप्पणों से युक्त ग्रंथों का प्रणयन और अनेक कोशों का निर्माण प्रमुख है। प्रारंभ में आगम प्रकाशन का दायित्व श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कलकत्ता ने उठाया। वर्तमान में इस साहित्य को जनसुलभ बनाने के लिए जैन विश्व भारती तत्पर बनी हुई है। आगम के संदर्भ में जो ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, वे ये हैं—

१. अंगसुत्ताणि—(१)
२. अंगसुत्ताणि—(२)
३. अंगसुत्ताणि—(३)
४. उवंगसुत्ताणि—(१) उवंगसुत्ताणि—(२)
५. नवसुत्ताणि

ये पांचों ग्रंथ संशोधित मूलपाठ, पाठान्तर, पाठान्तर विमर्श, जाव पूर्ति और उसके आधार-स्थल, विषय-सूची, सम्पादकीय, भूमिका तथा शब्दसूची (वर्ड इन्डेक्स) से युक्त हैं।

६. दसवेआलियं
७. ठाणं
८. उत्तरज्झयणाणि—भाग १
९. उत्तरज्झयणाणि—भाग २
१०. समवाओ
११. सूयगडो—(१)
१२. सूयगडो—(२)

१३. नायाधम्मकहाओ

१४. नंदी

१५. अणुओगदाराइं

१६. भगवई–भाग १

१७. भगवई–भाग २

१८. भगवई–भाग ३

१९. भगवई–भाग ४

ये आगम ग्रंथ संशोधित मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, तुलनात्मक टिप्पण अथवा भाष्य, भूमिका तथा परिशिष्टों से युक्त हैं।

२०. आयारो (हिन्दी अनुवाद तथा लघु टिप्पणों से युक्त)

२१. दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि

२२. आयारो तह आयार चूला

२३. निसीहज्झयणं

२४. समवाओ

२५. ओवाइयं

ये आगम संशोधित मूलपाठ, पाठान्तर विमर्श, शब्द-सूची, वर्गानुक्रम आदि से युक्त हैं।

२६. दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

२७. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन

२८. दशवैकालिक उत्तराध्ययन (केवल हिन्दी अनुवाद)

२९. धर्मप्रज्ञप्ति–(१) (वर्गीकृत आगम)

३०. धर्मप्रज्ञप्ति–(२) (वर्गीकृत आगम)

ये आगमों के समीक्षात्मक एवं वर्गीकृत संस्करण हैं।

३१. आगम शब्दकोश

३२. निरुक्तकोश

३३. एकार्थक कोश

३४. देशी शब्दकोश

३५. जैन आगम वनस्पति कोश

३६. जैन आगम प्राणी कोश

३७. जैन आगम वाद्य कोश

३८. भिक्षु आगम विषय कोश–भाग १

३९. भिक्षु आगम विषय कोश–भाग २

ये कोश ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके हैं। अनेक कोश ग्रंथों के द्वितीय संस्करण भी प्रकाश में आए हैं।

४०. बृहत्कल्प भाष्य–भाग १

४१. बृहत्कल्प भाष्य–भाग २

४२. सानुवाद व्यवहारभाष्य

४३. जीतकल्प भाष्य

ये भाष्य-ग्रंथ भी सानुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

विशेषावश्यक भाष्य और निशीथ भाष्य का अनुवाद कार्य संपन्न हो चुका है। वह प्रकाशनाधीन है।

उपासक दशा सूत्र का कार्य भी संपन्न हो गया है। वर्तमान में भगवती के पचीसवें शतक पर भाष्य का कार्य चल रहा है। जैन दर्शन की आत्मा को समझने के लिए यह सर्वाधिक उपयोगी है।

आचारांग का संस्कृत में भाष्य

दशवैकालिक के सम्पादन का आगमवेत्ता विद्वानों ने जो मूल्यांकन किया उसके आधार पर हमने अनुमान किया कि हमने सम्पादन की जो शैली अपनाई है, वह सम्मत हो रही है। हमने उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग आदि के सम्पादन में उस शैली का और अधिक विकास किया।

हमने आगम सम्पादन में जो विधि अपनाई, उसका स्वरूप रहा–हिन्दी में अनुवाद और विवेचनात्मक टिप्पण। उन टिप्पणों को भाष्य भी कहा जा सकता है। लम्बे समय तक यह क्रम चला। एक बार गुरुदेव ने कहा–आचारांग का भाष्य संस्कृत में लिखा जाए। इस प्रेरणा ने नई दिशा में प्रस्थान करा दिया। मैंने आचारांग का भाष्य संस्कृत में लिखकर प्रस्तुत कर दिया।

आचारांग भाष्य की भूमिका में गुरुदेव ने इस विषय को स्पष्ट किया है–'आचारांग के व्याख्या ग्रंथों में इसका अपना विशिष्ट स्थान है। अनेक वर्षों से मेरे मन में कल्पना थी कि आगम पर भाष्य लिखा जाए। मेरी भावना महाप्रज्ञ तक पहुंची और इन्होंने सरल संस्कृत भाषा में आचारांग भाष्य का प्रणयन कर दिया। इन्होंने चूर्णि और वृत्ति से हटकर अनेक शब्दों, पदों और सूत्रों का सर्वथा नया अर्थ किया है। वह अर्थ स्वकल्पित नहीं, किंतु सूत्रगत गहराई में पैठने की सूक्ष्म मेधा से प्राप्त है।'

चिन्तन और दार्शनिक दृष्टि का विकास

हमें आगम के रहस्यों को समझने और उनका शब्दावतरण करने में परम आनंद का अनुभव हो रहा था। हम आगम सेवा को गुरु द्वारा प्रदत्त सौभाग्य और परम आशीर्वाद मानकर कार्य करते रहे हैं।

मैं आगम सम्पादन के कार्य को मेरे चिन्तन और दार्शनिक दृष्टि के विकास का सर्वोत्तम साधन मानता हूं। आगम सम्पादन के कार्य में जितना श्रुत का अवगाहन किया उतना किसी अन्य कार्य के लिए नहीं किया। यह किसी अतिशयोक्ति के बिना विनम्रतापूर्वक कहा जा सकता है। मेरा स्पष्ट और सुस्थिर मत है

कि आचार्यवर के मस्तिष्क में आगम सम्पादन का जो विकल्प उठा, संकल्प बना, वह तेरापंथ के भाग्योदय का बहुत बड़ा कारण बन गया। मेरे भाग्योदय का सर्वाधिक हेतु बना। मैं जब-जब नया अर्थ खोजता, तब-तब आचार्यवर को इतनी प्रसन्नता होती कि जिसे शब्द-चित्र में प्रदर्शित नहीं किया जा सकता।

आचार्यवर कानपुर में चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे। दशवैकालिक का सम्पादन चल रहा था। उसके तीसरे अध्याय के एक शब्द 'नियाग' पर हमने पर्याप्त चिन्तन किया। अनेक ग्रंथों के अध्ययन के बाद हमने उसका अर्थ किया और उस पर एक बृहत् टिप्पण लिखा। उसे देखकर आचार्यवर ने प्रसन्नता के साथ मुझे पुरस्कृत किया।

हमने आगम सम्पादन की जो विधि अपनाई उसका सर्वोपरि भाग है टिप्पण अथवा भाष्य। टिप्पण लेखन में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका का भरपूर उपयोग किया गया है। हम प्रत्येक शब्द पर शोध करना चाहते थे इसलिए केवल उनके आधार पर नहीं चले। जहां-जहां शब्द का तात्पर्य स्पष्ट नहीं हो रहा था वहां हमने वैदिक साहित्य, बौद्ध साहित्य, कौटिल्य अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, आयुर्वेद आदि का विपुल मात्रा में सहारा लिया। उनके आधार पर उस समय के शब्द प्रयोग, उनके अर्थ और तात्पर्य को समझने में बड़ी सुविधा हुई। उदाहरण के लिए 'धूवणेत्ति' शब्द को प्रस्तुत किया जा सकता है। आगम व्याख्याओं में इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। आखिरकार खोजते-खोजते बौद्ध साहित्य में इसका स्पष्ट अर्थ मिला।[1]

आगम साहित्य के सैकड़ों-सैकड़ों स्थल ऐसे हैं जिनकी व्याख्या वैदिक, बौद्ध और तत्कालीन लौकिक साहित्य के अध्ययन के बिना यथार्थरूप में नहीं हो सकती। हमें आगम सम्पादन में आचार्यवर के उदार दृष्टिकोण और व्यापक चिन्तन का बहुत लाभ मिला। यदि आचार्यवर हमें व्यापक अध्ययन की प्रेरणा नहीं देते तो आगम सम्पादन का वह रूप नहीं बनता जो आज बना है। संकीर्ण चिन्तन, संकीर्ण दृष्टिकोण और संकीर्ण अध्ययन के द्वारा आगम का सम्पादन कभी नहीं किया जा सकता। प्रोफेसर हीरालाल जैन (एम. ए., एलएल. बी., डी. लिट्) का अभिमत इसी सचाई को उजागर कर रहा है—'दशवैकालिक का प्रस्तुत संस्करण अपने ढंग का अपूर्व है। मैं नहीं समझता कि अभी तक इतने परिश्रमपूर्वक एक-एक शब्द के अर्थ पर गम्भीरता और व्यापकता से ध्यान देकर उसकी समस्त साहित्यिक परम्पराओं को निष्पक्ष भाव से अंकित करते हुए किसी भी अन्य आगम-ग्रंथ का सम्पादन किया गया है।'

आगम सम्पादन की समस्या

एक ओर सुदूर प्रदेशों की यात्रा और दूसरी ओर आगम सम्पादन का विशाल कार्य। दोनों प्रवृत्तियों में सामंजस्य कैसे खोजा जा सकता है? आगम सम्पादन के लिए जरूरी है एक स्थान पर दीर्घकालिक प्रवास, बृहत्तम पुस्तकालय और शोधोपयुक्त सामग्री। यात्रा में प्रतिदिन चलना, आवश्यक धर्मोपकरण अपने कंधों पर रखकर चलना, स्थान की भी सुविधा का अभाव, अपेक्षित पुस्तकों का भी अभाव। इस स्थिति में भी आगम सम्पादन का काम चला। एक बार राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने हमारे द्वारा सम्पादित आगम-ग्रंथ देखे। वे बोले—'आचार्यवर! आप यात्रा में इतना दुरूह कार्य कैसे करते हैं?'

१. द्रष्टव्य—दसवेआलियं ३/६ का टिप्पण

आचार्यवर ने कहा–'हमारे पास बाह्य साधन सामग्री कम है पर सौभाग्य से हमें अंतर्दृष्टि प्राप्त है इसलिए यह कार्य निर्बाध गति से चल रहा है।'

आचार्यवर की अनुभव वाणी यथार्थ पर आधारित थी। यदि हम साधन सामग्री पर निर्भर होते तो यात्रा में इतना बड़ा काम कभी संभव नहीं होता।

मैं अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि आचार्यवर का अकम्प संकल्प और उनका वाचना प्रमुखत्व सतत प्रेरणा दीप बना हुआ था। 'आगम सम्पादन द्वितीय न हो' यह मेरा संकल्प भी सतत गति दे रहा था। तटस्थ भाव से अध्ययन करने वाले विद्वान् का मत मेरे अभिमत से भिन्न नहीं होगा। हमने सम्पादन के समय प्रत्येक शब्द के अर्थ को समझने का प्रयत्न किया। केवल अर्थ ही नहीं तात्पर्य तक पहुंचने का भी प्रयत्न किया।

संकलन शोध सामग्री का

हम वैज्ञानिक युग में जी रहे हैं। शोध वैज्ञानिक युग की प्रमुख देन है। हमने शोध के लक्ष्य को स्थिर किया और शोध के लिए सामग्री का संकलन और संग्रहण भी किया। वर्तमान युग मुद्रण का युग है इसलिए शोध सामग्री के संकलन में हमें प्राचीन आचार्यों की तरह संघर्ष का सामना नहीं करना पड़ा। सामग्री संकलन में हमें अनेक ग्रंथालयों का मुक्त सहयोग मिला। उनमें उज्जैन का चंद्रसागर पुस्तकालय उल्लेखनीय है।

आगम प्रभाकर मुनि पुण्यविजयजी की भी हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त होती रहीं। वे पाठ-संशोधन के कार्य में संलग्न थे। उन्होंने आगम साहित्य के विभिन्न अंगों पर शोधपूर्ण कार्य किया था। उनका हमारे प्रति अत्यन्त आंतरिक भाव था। मदनचंदजी गोठी (सरदारशहर) आगम सम्पादन के कार्य में पूर्ण समर्पित थे। मुनि पुण्यविजयजी का भी उनके प्रति गहरा धर्मानुराग हो गया। वे मुनि पुण्यविजयजी के पास जाते और उनसे प्रति प्राप्त कर हमें दे देते।

वि. संवत् २०२४ में अहमदाबाद में हम मुनि पुण्यविजयजी से मिले। हम उनके उपाश्रय में गए। उनका कार्य-स्थान देखा और उनकी कार्य पद्धति भी देखी। उनके प्रति हमारे मन में आदर का भाव पहले से ही था। प्रत्यक्षतः सब कुछ देखकर वह शतगुणित हो गया।

मैंने कहा–'आप इतना बड़ा काम अकेले ही कर रहे हैं। कितना अच्छा हो, आप कुछ सहयोगियों का चुनाव कर लें।'

उन्होंने कहा–'मुनि नथमलजी! सहयोगी है कहां? मैंने दो तीन व्यक्तियों का सहयोग के लिए चयन किया था और वे मेरे कार्य में संलग्न भी हुए थे। कुछ समय बाद मैंने उन्हें विदा कर दिया।'

मैंने पूछा–'आपने ऐसा क्यों किया?'

वे बोले–'आने वाले व्यक्ति मध्याह्न का आहार कर सोते और तीन घण्टे तक उठने का नाम ही नहीं लेते। मैं इस कार्य में निरंतर लगा रहता हूं। आप बताएं उनका और मेरा साथ कैसे निभ सकता है?'

मैंने कहा–'मुनिवर! हमारे साथ एक समूह काम कर रहा है।' मेरे साथ मुनि दुलहराजजी, मुनि श्रीचंदजी आदि संत थे, मैंने उनकी ओर संकेत करके कहा।

मुनि पुण्यविजयजी बोले–'तेरापंथ के पास अनुशासन का बल है इसलिए संभव हो सकता है।'

विश्वास पंडित सुखलालजी का

हम पंडित सुखलालजी के पास गए। वे प्रज्ञाचक्षु थे। उनके बाह्य चक्षु अन्तश्चक्षु से मिलकर उनकी दृष्टि को अधिक भास्वर बना रहे थे। दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में उनकी प्रख्याति अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक पहुंच गई थी। जैन दर्शन और जैन न्याय को तार्किक और शोधपूर्ण शैली में प्रस्तुत करने में उनका नाम अग्रिम पंक्ति में है। हम उनके कक्ष में पहुंचे। उनके मित्रगण भी वहां उपस्थित थे। उन्होंने पंडितजी से हमारा परिचय करवाया। पंडितजी का विनम्र व्यवहार ही आश्चर्य पैदा करने वाला था। आठ वर्ष पहले जिस व्यक्ति ने तेरापंथ पर तीखे व्यंग्य-बाणों का प्रहार किया था वही व्यक्ति आज सुकुमार पुष्पों के साथ तेरापंथ का अभिनंदन कर रहा है।

पंडितजी बोले–'मुनि नथमलजी! मैंने आप द्वारा सम्पादित दशवैकालिक सूत्र उत्तरज्झयणाणि आदि ग्रंथों को देखा है। वह कार्य जिस पद्धति से हुआ है, उस पद्धति की आज बहुत अपेक्षा है। मुझे विश्वास हो गया है कि आगम सम्पादन का कार्य आचार्य तुलसी ही कर सकते हैं। उनमें प्रतिभा है, कल्पना है, उनके पास अनुशासन की शक्ति है और युवक साधुओं की एक टीम है।'

पंडितजी ने इस अवसर पर जैन शासन की साधु-संस्थाओं पर एक कटु टिप्पणी की। उसके पीछे उनकी दुर्भावना नहीं थी, किन्तु साधु-संस्था के द्वारा जो कार्य होना चाहिए वह नहीं हो रहा है, उसकी वेदना थी। मुझे अनुभव हुआ कि विद्वद्वर्ग तेरापंथ की शिक्षा, साहित्य और शोधपूर्ण प्रवृत्तियों से प्रभावित हो रहा है।

वार्तालाप के पश्चात् हम आचार्यवर की सन्निधि में आए और सारे वृत्तान्त का निवेदन किया। आचार्यवर ने विस्मय के साथ सारी बात सुनी और कहा–'किसी को प्रसन्न करने का प्रयत्न मत करो। अपनी अर्हता बढ़ाओ, वह बढ़ेगी तो सब अपने आप प्रसन्न हो जाएंगे।'

सहयोगानुभूति

जैन-परम्परा में वाचना का इतिहास बहुत प्राचीन है। आज से १५०० वर्ष पूर्व तक आगम की चार वाचनाएं हो चुकी हैं। देवर्द्धिगणी के बाद कोई सुनियोजित आगम-वाचना नहीं हुई। उनके वाचना-काल में जो आगम लिखे गये थे, वे इस लम्बी अवधि में बहुत ही अव्यवस्थित हो गए। उनकी पुनर्व्यवस्था के लिए आज फिर एक सुनियोजित वाचना की अपेक्षा थी। आचार्यश्री तुलसी ने सुनियोजित सामूहिक वाचना के लिए प्रयत्न भी किया था, परन्तु वह पूर्ण नहीं हो सका। अन्ततः हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि हमारी वाचना अनुसंधानपूर्ण, तटस्थ दृष्टि-समन्वित तथा सपरिश्रम होगी तो वह अपने आप सामूहिक हो जाएगी। इसी निर्णय के आधार पर हमारा यह आगम-वाचना का कार्य प्रारंभ हुआ।

हमारी इस वाचना के प्रमुख आचार्यश्री तुलसी हैं। वाचना का अर्थ अध्यापन है। हमारी इस प्रवृत्ति में अध्यापन-कर्म के अनेक अंग हैं–पाठ का अनुसंधान, भाषान्तरण, समीक्षात्मक अध्ययन आदि-आदि। इन सभी प्रवृत्तियों में आचार्यश्री का हमें सक्रिय योग, मार्गदर्शन और प्रोत्साहन प्राप्त है। यही हमारा इस गुरुतर कार्य में प्रवृत्त होने का शक्ति-बीज है।

आगम सम्पादन के कार्य में जो साधु, साध्वियां, समणियां, मुमुक्षु और श्रावक संलग्न हुए हैं, जिनकी अंगुलियों का स्पर्श इस परम पावन कार्य में हुआ है वे स्वयं धन्य हुए। फिर भी मैं उनकी धन्यता को अनन्य बनाने के लिए साधुवाद देता हूं और मंगलमय भावना करता हूं कि इस कार्य को और अधिक गतिशील बनाने के लिए वे सब कृतसंकल्प और सर्वात्मना समर्पित रहेंगे।

गुरुदेव के उद्‌गार

आचार्यवर जैसे-जैसे विकास को देख रहे थे वैसे-वैसे उनकी प्रसन्नता बढ़ रही थी। आगम सम्पादन उनकी प्रसन्नता का प्रमुख हेतु था। उनकी प्रसन्नता हमें और अधिक प्रेरित कर रही थी। उन्होंने इस विषय में जितना कहा और जितना लिखा, वह विशाल है। उदाहरण के लिए दसवेआलियं की भूमिका की कुछ पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं–

आगमों के सर्वांगीण सम्पादन का बहुत कुछ श्रेय शिष्य मुनि नथमल को ही मिलना चाहिए, क्योंकि इस कार्य में अहर्निश वे जिस मनोयोग से लगे हैं, इसी से यह कार्य सम्पन्न हो सका है अन्यथा यह गुरुतर कार्य बड़ा दुरूह होता। इनकी वृत्ति मूलतः योगनिष्ठ होने से मन की एकाग्रता सहज बनी रहती है, साथ ही आगम का कार्य करते-करते अन्तर्-रहस्य पकड़ने में इनकी मेधा काफी पैनी हो गई है। विनय-शीलता, श्रम-परायणता और गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव ने इनकी प्रगति में बड़ा सहयोग दिया है। यह वृत्ति इनकी बचपन से ही है। जब से मेरे पास आए मैंने इनकी इस वृत्ति में क्रमशः वर्धमानता ही पाई है। इनकी कार्य-क्षमता और कर्तव्यपरता ने मुझे बहुत संतोष दिया है।[1]

समुद्र की तरंगों को मापा नहीं जा सकता। इसलिए वह अमाप्य है। गुरुदेव की मस्तिष्कीय तरंगों को भी मापा नहीं जा सकता। नित नए विचार आते और उनकी क्रियान्विति शुरू हो जाती। प्राकृत के अध्ययन का कार्य शुरू किया गया। उसमें संहिता (शुद्ध उच्चारण), पदगणना और पदार्थ–इस क्रम से अध्ययन चलता। कहीं-कहीं अपेक्षित व्याख्या भी हो जाती। गुरुदेव की इच्छा थी कि अनेक साधु, साध्वियां प्राकृत का अध्ययन करें और कुछ विशेषज्ञ बनें। गुरुदेव की डायरी में (१४ नवम्बर १९९६) इस विषय में संक्षिप्त आलेख मिलता है–

'प्राकृत भाषा का अध्ययन चालू है। दशवैकालिक के पहले दो अध्ययन, मूलपाठ, संहिता, पदगणना, पदार्थ और व्याकरण–क्रम से चल रहा है। आज से लेश्याध्यान (उत्तरज्झयणाणि-३४) चालू किया है। अध्ययन नहीं, अध्यापन हो रहा है।'

कुछ कारणों से आगम का वाचन एक बार रुक गया था। गुरुदेव के मन में आगम अध्ययन और आगम कार्य के प्रति सहज आकर्षण था। उसका कारण अज्ञात है। एक जैन आचार्य के मन में जैन आगमों के प्रति आकर्षण हो, यह स्वाभाविक है, किन्तु उसके संपादन का भगीरथ कार्य हाथ में लें, यह स्वाभाविक नहीं है। सबके पास न इतनी कल्पना होती है, न रचनात्मक दृष्टि होती है और न संप्रदायातीत सम्यग् दर्शन होता है। फलतः आकर्षण आकर्षण तक ही सीमित रहता है, कार्यकारी नहीं बनता। गुरुदेव

१. दसवेआलियं भूमिका, पृ. २४

का आकर्षण-बीज शतशाखी बनकर जनता के सामने आ गया। आकर्षण का प्रतिभास गुरुदेव का यह आलेख दे रहा है–

'प्राकृत का पाठ पुनः शुरू कर दिया है। उत्तराध्ययन का ३४वां लेसज्झयणं (लेश्याध्ययन) चल रहा है। पढ़ाने का क्रम शुरू करने का है। प्राकृत के विद्यार्थी कम से कम सौ साधु-साध्वियां, समणियां बने। यह प्रारंभ है। श्रावक-श्राविकाएं भी इस क्रम से जुड़ जाएं, अच्छा रहेगा।'

जैनागमों के प्रति अभिरुचि बढ़ रही है, बढ़ गई है। इसमें कारण महाप्रज्ञजी का कमाल है। ऐसे-ऐसे रहस्योद्घाटन किये जिनको सुन-पढ़कर हर एक के मन में अभिरुचि पैदा हो जाती है।

वास्तव में आगम-संपादन का ऐसा काम हमारे हाथ में आया है, जिसकी कोई शानी नहीं है। यह आगम की महान् सेवा है। जिनशासन की बड़ी सेवा है। जनता की गहरी सेवा है। यह आगम कार्य हमारे संघ में चलता रहे, ऐसा सुखद विश्वास है।

कल रात पुरानी चर्चा चल गई। हमारे पुराने साधु जब नथमलजी के मुंह से आगम के पद्य सुनते, मुग्ध हो जाते। क्या-क्या बताऊं? अहोभाग्य–हमारे हाथ में आगम का कार्य आया।'[1]

उक्त आलेख सूचना दे रहा है–गुरुदेव के रोम-रोम में आगम बसा हुआ था। आगम के प्रति अगाध श्रद्धा और असीम समर्पण का भाव परिलक्षित हो रहा था। यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि गुरुदेव का अवतार आगम के उद्धार के लिए हुआ था। उन्होंने अनेक क्षेत्रों में काम किया पर उनका केन्द्रीय कार्य आगम बना रहा।

दिवास्वप्न का यथार्थ

वि. सं. २०५३, मैं मोमासर में प्रवास कर रहा था। गुरुदेव बीदासर में थे। आचार्यवर दिन में विश्राम कर रहे थे। हलकी सी नींद आई और कुछ देर से उठे। संतों ने कहा–'आज तो नींद अच्छी आ गई, इसलिए उठने में देर हो गई।'

आचार्यवर ने कहा–'उठने में देर हुई है वह नींद का कारण नहीं था। आगम का कार्य मैंने इन दिनों में नहीं देखा, मैं आगम का कार्य देखने के लिए महाप्रज्ञ के पास चला गया। इसलिए उठने में देर हो गई।'

इस घटना का निष्कर्ष यह है कि आचार्यवर जागृत अवस्था में आगम कार्य के प्रति सर्वात्मना तन्मय थे। वह तन्मयता उन्हें स्वप्न में भी देखने की रहती थी।

आचार्यवर के मन में आगम कार्य के प्रति जो तड़प थी, वही हमारे मानस में संक्रांत हो गई। वि. सं. २०५४ का प्रसंग। आचार्यवर का उसी वर्ष महाप्रयाण हुआ। हम नोखा मर्यादा-महोत्सव संपन्न कर सुजानगढ़ आए। एक दिन मध्याह्न में आगम सम्पादन का कार्य चल रहा था। कन्हैयालाल फूलफगर आया, बोला–'आचार्यवर! क्या मध्याह्न में रोज आगम सम्पादन करते हैं। मैंने कहा–'हां।' कन्हैयालाल बोला–'आज ही सुजानगढ़ आए हैं, इतने साधु-साध्वियों और श्रावक आए हुए हैं। एक दिन न करें तो क्या होगा?' मैंने सस्मित उत्तर दिया–'यदि हम यह काम न करें तो गुरुदेव नाराज हो जाएंगे।'

१. डायरी नं १५, पृ. १९९, १८ दिसंबर, १९९६

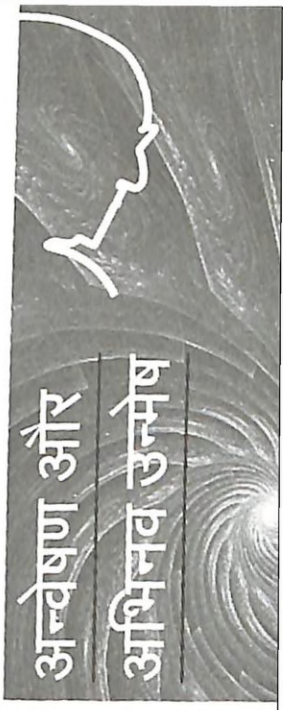

आगम सम्पादन गुरुदेव का स्वप्न और संकल्प था, वही हमारा प्रवर संकल्प बना हुआ है। आगम सम्पादन का कार्य बहुत बड़ा है। उसके प्रति गुरुदेव का आंतरिक अनुराग इतना प्रबल था कि वे इस कार्य को स्वल्प समय में ही सम्पन्न करना चाहते थे। दो-तीन बार कल्पना भी की कि हम इस कार्य को ५ वर्ष में सम्पन्न कर देंगे।

वैभारगिरि पर घोषणा भी कर दी गई कि पांच वर्ष में कार्य पूरा कर दिया जाएगा। घोषणा के अनुरूप कार्य द्रुतगति से चला। फिर भी पाठशोधन की समस्याओं के कारण उस अवधि में वह कार्य पूरा नहीं हो सका।

डॉ. रोथ की भविष्यवाणी

वि. सं. २०१३, सरदारशहर में चातुर्मासिक प्रवास। एक जर्मन विद्वान् का आगमन। उनके साथ हुए वार्तालाप ने हमारी धारणा को बदल दिया। स्वल्प काल की कल्पना के आसन पर दीर्घकाल की प्रतिष्ठा हो गई। वह प्रसंग आचार्यवर की डायरी में विस्तार के साथ लिखा हुआ है। उसे उद्धृत करना यहां उपयोगी होगा–

'आश्विन मास के शुक्ल पक्ष में एक जर्मन स्कॉलर डॉ. गुस्टाव रोथ सरदारशहर आए। वह पी.एच. डी. के लिए शोध प्रबंध लिख रहे थे। उनके शोध प्रबंध का विषय था मल्लिकुमारी। दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थंकर मल्लिनाथ को लेकर एक विवाद है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार तीर्थंकर मल्लि पुरुष हैं, श्वेताम्बर उन्हें स्त्री मानते हैं। इस विषय में डॉ. रोथ का मन्तव्य पूछा गया तो वे बोले– 'मैं अभी रिसर्च कर रहा हूं। अब तक जो कुछ पढ़ा है उसके आधार पर अधिक संभावना स्त्री होने की लगती है।' डॉ. रोथ को जैन दर्शन का अच्छा ज्ञान था। वे कुछ जिज्ञासाएं लेकर आए थे। लगभग पांच-सात दिन वे वहां रहे। उनके साथ हमारी अनेक वार्ताएं हुईं। वार्तालाप के प्रसंग में जैन आगमों के अनुसंधान की चर्चा चली। उन्हें हमारे सान्निध्य में चल रहे आगम सम्पादन की जानकारी दी गई। हिन्दी अनुवाद, संस्कृत छाया, शब्द-सूची, समालोचनात्मक टिप्पणियां, पाठ-संशोधन आदि कार्य देखकर उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त की। उन्होंने अनुभव किया कि हमारे काम से जैन आगमों के अनुसंधान में संलग्न जर्मन स्कॉलर्स को बहुत सुविधा मिलेगी। प्रसंगवश मैंने कहा–'हमने अनुसंधान की जो शैली स्वीकृत की है, उसके अनुसार सब आगमों का सम्पादन करना चाहते हैं। आपकी दृष्टि में कितना समय लगेगा?'

डॉ. रोथ ने कहा–'कम से कम सौ वर्ष लगेंगे।'

सौ वर्ष की बात सुनकर हम देखते ही रह गए। आगम सम्पादन के क्षेत्र में हमारा कोई अनुभव नहीं था। फिर भी डेढ़ वर्ष की अवधि में हमने जो काम किया था, वह उन्हें दिखाया। तब तक जितना काम हो चुका था, उसे देखकर उन्होंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा–'आचार्यजी! मुझे विश्वास तो नहीं होता कि इतने समय में इतना काम हो सकता है। फिर भी जो काम सामने है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि कोई देव आपकी सेवा कर रहा है। अन्यथा इतना काम नहीं हो सकता।'

डॉ. रोथ की अभिरुचि, ज्ञान और अनुभवों का लाभ उठाने की दृष्टि से मैंने फिर पूछा–'इस कार्य को देखने के बाद आप शेष कार्य के लिए कितने समय का अनुमान लगाते हैं?'

डॉ. रोथ ने कहा—'काम में आपकी जो गति है, उसे देखते हुए पचास वर्ष तो लग ही जाएंगे।'

डॉ. रोथ का यह कथन हमें अटपटा-सा लगा। क्योंकि हमने ५ अप्रैल १९५५ को औरंगाबाद में 'महावीर जयंती' के अवसर पर यह घोषणा कर दी थी कि तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह (सन् १९६०) तक हमें कम से कम बत्तीस आगमों का काम पूरा करना है। इसके आधार पर मैंने कह दिया—'डॉ. रोथ! हम इस काम को जल्दी-से-जल्दी करना चाहते हैं।'

मेरी बात सुनकर वे बोले—'आचार्यजी! यह अनुसंधान का काम है। आप इसमें जल्दी करेंगे तो आपका काम रद्दी की टोकरी में डालने जैसा होगा।'

डॉ. रोथ का कथन हमें विचित्र-सा लगा। किन्तु जैसे-जैसे काम आगे बढ़ा, उसकी गुरुता ने प्रमाणित कर दिया कि डॉ. रोथ का अनुभव परिपक्व था। अब मुझे भी ऐसा प्रतीत होता है कि यह काम पचास वर्षों में तो होने वाला है ही नहीं, सौ वर्षों में भी हो जाए तो बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।'[1]

मैं आगम सम्पादन के कार्य पर दृष्टिपात करता हूं, पचास वर्ष की अवधि में सम्पन्न कार्य को देखता हूं तो डॉ. रोथ की भविष्यवाणी में सचाई के दर्शन होते हैं।

१. मेरा जीवन : मेरा दर्शन भाग ४, पृ. ५-६

प्रेक्षाध्यान

ध्यान का क्रमारोह

बाहर और भीतर में सामंजस्य स्थापित करना सरल कार्य नहीं है। मेरा बाहरी रूप एक विद्यार्थी का था। मैं अधिकांश समय पुस्तकों के साथ जीता था। भीतर अध्यात्म के बीज पनप रहे थे। ध्यान और योग, ये सब अध्यात्म के रश्मि-चक्र हैं।

मुनि-जीवन के प्रथम वर्ष के उत्तरार्द्ध में मेरी अध्ययन के प्रति रुचि हो गई। पूर्वार्द्ध में वह नहीं थी। गृहस्थ जीवन में दस वर्ष तक पढ़ने का अवसर ही नहीं मिला और रुचि का निर्माण भी नहीं हुआ।

मुनि-जीवन के पहले दशक में ध्यान के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। दूसरे दशक के पूर्वार्द्ध में संस्कृत और प्राकृत के प्रौढ़-ग्रंथों का अध्ययन किया, तब ध्यान का महत्त्व समझ में आया। दूसरे दशक के उत्तरार्द्ध में जो नया प्रस्थान हुआ उसका संबंध स्वास्थ्य और ध्यान दोनों से है।[1]

मुनि के लिए प्रतिक्रमण अनिवार्य है। उसमें तीन बार ध्यान किया जाता है। मैं भी प्रातः और सायं प्रतिक्रमण में छह बार ध्यान करता था, किन्तु ध्यान के अंकुर प्रस्फुटित नहीं हुए। वे संभवतः मुनि बनने के दस वर्ष बाद प्रस्फुटित हुए। उस समय मैं २० वर्ष का हो चुका था। बाहरी जगत् में ज्ञान परिपक्व हो रहा था और भीतर के जगत् में ध्यान के अंकुर पल्लवित हो रहे थे।

अकस्मात् एक दिन मैंने अनुभव किया—क्या ध्यानशून्य ज्ञान जीवन के लिए हितकर होगा? स्वयं उत्तर मिला—तार्किक और बौद्धिक जगत् में जीने के लिए ज्ञान की उपयोगिता है, किन्तु आध्यात्मिक विकास के लिए, अपने आपको जानने के लिए ध्यानशून्य ज्ञान की उपयोगिता नहीं है क्योंकि ज्ञान शब्द और तर्क से परे है। आचारांग के इन सूत्र वाक्यों[2] ने मेरा रास्ता साफ कर दिया—

सव्वे सरा णियट्टंति।

सब स्वर लौट आते हैं—शब्द के द्वारा आत्मा प्रतिपाद्य नहीं है।

तक्का तत्थ ण विज्जई।

वहां कोई तर्क नहीं है—आत्मा तर्कगम्य नहीं है।

मई तत्थ न गाहिया।

वह मति के द्वारा ग्राह्य नहीं है।

मैं दर्शन का अध्येता रहा। दर्शन के विद्यार्थी को तत्त्ववेत्ता होना जरूरी है। वह दर्शन केवल बौद्धिक सत्य रह जाता है जिसकी फलश्रुति आचार में नहीं होती। मैं दर्शन, तर्कशास्त्र और आचारशास्त्र की भिन्नता

१. द्रष्टव्य पृ. ९९, १००
२. आयारो १/१२३-१३५

और अभिन्नता दोनों का विवेचन करता रहा। दर्शन का सूत्र है—आत्मा अमूर्त है इसलिए इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता।

नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा।[1]

आचारमीमांसा का सूत्र है—आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है।

अनेकांत के द्वारा तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा में संबंध स्थापित किया जा सकता है। यदि वह संबंध स्थापित न किया जाए तो साधना के एक सोपान का भी निर्माण नहीं हो सकता।

ध्यान का संस्कार-बीज

ध्यान के संस्कार-बीज मैं पूर्वजन्म से लेकर आया था। मैं पूर्वजन्म में विश्वास करता हूं। मैं योगी होने की भविष्यवाणी में भी सार्थकता देख रहा हूं। मैं कह सकता हूं कि ध्यान मेरे अव्यक्त में पल रहा था। एक निमित्त पाकर वह व्यक्त हो गया। दूसरे दशक के प्रारम्भ में मैंने ध्यान करना प्रारंभ कर दिया।

ध्यान होना और ध्यान करना एक बात नहीं है। एकाग्रता बचपन से ही अच्छी थी। एकाग्रता ध्यान है। ध्यान का प्रारंभिक बिन्दु खोजना मेरे लिए सरल नहीं है। विधि या प्रयोग के आधार पर ध्यान का प्रारंभ छापर चतुर्मास (वि. सं. २००५) से होता है।

ध्यान का प्रारंभिक अभ्यास मैंने 'ॐ' के प्रलंब उच्चारण से किया। आधा मिनिट में 'ॐ' का एक बार उच्चारण होता। उससे एकाग्रता बढ़ती और दीर्घश्वास का सहज ही अभ्यास हो जाता।

ध्यान की पृष्ठभूमि

वि. सं. २०००, छापर में प्रवास। वहां दो व्यक्ति रहस्य-विद्या में रुचि रखने वाले थे। एक का नाम था मोहनलाल दुधोड़िया और दूसरे का नाम था पूनमचंद दुधोड़िया। वे एक हस्तलिखित ग्रंथ लेकर आए। उसका कलेवर बड़ा था, लगभग ५०० पन्ने। उसका विषय था तंत्र विद्या। मैंने वह ग्रंथ पढ़ा। मोहनलाल और पूनमचंद दोनों उसके वाचन में साथ रहे। उस ग्रंथ में तंत्र, मंत्र, यंत्र आदि अनेक विषयों का विस्तार से वर्णन था। उस समय ध्यान मेरी रुचि का विषय नहीं था और न ही मैं ध्यान का अभ्यास करता था। तंत्र को पढ़ते समय मेरे मस्तिष्क के अज्ञात कोने में ध्यान का प्रवेश हो रहा था।

वि. सं. २००१, सरदारशहर में चातुर्मासिक प्रवास। वहां एक श्रावक थे, उनका नाम था महालचंदजी डागा। वे संगीतप्रिय और गुह्य-विद्या में रुचि रखने वाले थे। उन्होंने मुझे एक पुस्तिका लाकर दी। वह आकार में छोटी थी किन्तु प्रकार में काफी महत्त्वपूर्ण और मननीय थी। गुह्य-विद्या के रहस्यों को मैं नहीं जानता था। उस पुस्तिका के अध्ययन के बाद गुह्य-विद्या में मेरी रुचि हो गई। वह रुचि ध्यान की पृष्ठभूमि बन गई।

मंत्र का विशेष अभ्यास

छापर का चतुर्मास नए आयामों और नई दिशाओं में विकास का चतुर्मास था। चतुर्मास के सम्पन्न होने पर वहां से प्रस्थान किया। मर्यादा-महोत्सव का कार्यक्रम राजलदेसर में था। मर्यादा-महोत्सव प्रतिवर्ष

१. उत्तरज्झयणाणि १४/१९

माघ शुक्ला सप्तमी को मनाया जाता है, किन्तु राजलदेसर का मर्यादा-महोत्सव भविष्य में होने वाली यात्राओं और विकास को अपने में छिपाए हुए था। आचार्य तुलसी ने अपने आचार्य-काल के ग्यारह वर्ष बीकानेर संभाग में बिताए। बारहवां वर्ष यात्रा का प्रारंभ वर्ष बना। जैन मुनि एक स्थान पर नहीं रहते इसलिए यात्रा उनका निसर्ग है। मर्यादा-महोत्सव के बाद हमें अनछुए क्षेत्रों में जाना था इसलिए इस पाद-विहार को यात्रा कहा गया।

जयपुर का चतुर्मास संघर्षों और नए आयामों का चतुर्मास था–

१. वहां अनेक विचारकों से विचार-विमर्श करने का अवसर मिला।

२. संस्कृत में रचना करने और अध्ययन को अधिक गंभीर करने का वातावरण मिला।

३. ध्यान के अभ्यास का अच्छा अवसर मिला। मैंने **'ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः'** मंत्र का विशेष रूप से अभ्यास किया।

समाधिशतक और तत्त्वानुशासन का अध्ययन

जयपुर का चातुर्मासिक प्रवास सम्पन्न हो गया। उसके बाद सवाई माधोपुर की यात्रा की। रास्ते में भगवतगढ़ में पड़ाव हुआ। वह छोटा-सा कस्बा है। साधु-साध्वियों की परीक्षा का समय निकट आ गया इसलिए मुझे भगवतगढ़ में ही रुकना पड़ा। गुरुदेव सवाई माधोपुर पधार गए। परीक्षा की तैयारी पूर्णरूपेण चल रही थी। मेरा अधिकांश समय परीक्षार्थियों को तैयारी कराने में लग रहा था। कुछ मुनि परीक्षोपयोगी पुस्तकें लाए और साथ ही दूसरी पुस्तकें भी लाए। उनमें से एक पुस्तक मैंने पढ़ने के लिए चुनी। उसमें इष्टोपदेश, समाधिशतक आदि योग और ध्यान विषयक अनेक ग्रंथ सम्मिलित थे। मैंने समाधिशतक को बहुत ध्यान से पढ़ा। उसके अध्ययन-मनन ने अध्यात्म और ध्यान की रुचि को नया आयाम दे दिया। इससे मेरा ध्यान का अभ्यास और अधिक सघन हो गया।

उसी दौरान मैंने आचार्य रामसेन का तत्त्वानुशासन पढ़ा। उसमें ध्यान का सांगोपांग निरूपण है। ध्यान के अनेक रहस्यों को समझने का अवसर मिला। पार्थिवी, वारुणी, आग्नेयी और वायवीय धारणाओं को पढ़ा और उनका प्रयोग भी किया।

ॐ की प्रलंब ध्वनि का प्रयोग

वि. सं. २००७ का चतुर्मास हांसी (हरियाणा) में था। प्रातःकाल हम शौच कार्य और प्रव्रजन के लिए दूर जंगल में जाते थे। वहां एक बड़ी नहर थी। उसके पार्श्व में खड़े होकर मैं 'ॐ' की प्रलम्ब ध्वनि में जप करता था। उसकी आवाज दूर-दूर तक सुनाई देती थी। आसपास के चरवाहे इकट्ठे हो जाते। वह क्रम २० मिनिट से ३० मिनिट तक चलता। उससे चेतना का कोई प्रसुप्त प्रकोष्ठ जागृत हुआ–ऐसा मैंने अनुभव किया। अन्तर्दृष्टि के जागरण के लिए मस्तिष्क के कुछ प्रकोष्ठों को सक्रिय करना आवश्यक होता है।

नमस्कार महामंत्र का ध्यान

जैन साधना पद्धति में नमस्कार महामंत्र का जप सर्वमान्य है। यह जप अनेक प्रकार से किया जाता है। आनुपूर्वी इसका एक विशिष्ट प्रयोग है। एकाग्रता के लिए यह बहुत उपयोगी है। मैंने नमस्कार महामंत्र

का प्रयोग पांच रंगों और पांच चक्रों के साथ किया–

मंत्र	चक्र	रंग
णमो अरहंताणं	सहस्रार	सफेद
णमो सिद्धाणं	आज्ञा	अरुण
णमो आयरियाणं	विशुद्धि	पीला
णमो उवज्झायाणं	अनाहत	हरा
णमो लोए सव्वसाहूणं	मूलाधार	नीला

इस प्रयोग से एकाग्रता का विकास हुआ और स्वास्थ्य भी अच्छा होने लगा। मुझे अधिक शक्ति का अनुभव हुआ।

'अ सि आ उ सा' जैन मंत्र परम्परा में शक्तिशाली और चामत्कारिक मंत्र माना जाता है। जयाचार्य ने इसका बहुत प्रयोग किया। इस मंत्र के एक-एक वर्ण का एक-एक अवयव पर ध्यान केन्द्रित कर जप किया जाता है।

मंत्र	अवयव
अ	नाभि
सि	मस्तक
आ	मुख
उ	हृदय
सा	कण्ठ

सचित्र स्वास्थ्य और प्राणायाम

वि. सं. २००९ का चतुर्मास सरदारशहर (चूरू जिला) में था। उससे पूर्व गुरुदेव मोमासर में विराजे। वहां एक छोटी-सी लाइब्रेरी थी। उन दिनों लाइब्रेरी के प्रति मेरा बहुत आकर्षण रहता था। नई पुस्तक देखने की भावना बनी रहती थी। वहां कोई नई पुस्तक मिलने की संभावना नहीं थी फिर भी मैं वहां गया। पुस्तकें देखी। एक पुरानी फटी हुई 'सचित्र स्वास्थ्य और प्राणायाम' नामक पुस्तक मिली। उसका विषय था योग। जिसका शीर्षक 'योग' हो अथवा जिसमें योग के बारे में लिखा हुआ हो, उस पुस्तक को नहीं देखना मेरे लिए संभव नहीं था। लाइब्रेरियन की अनुमति लेकर मैं वह पुस्तक अपने स्थान पर ले आया। उसका बाहरी आकार अच्छा नहीं था फिर भी प्रकार बहुत अच्छा था। बहुत बार हम आकार में उलझ जाते हैं, प्रकार को नहीं देखते। इसलिए बहुत बार अच्छी वस्तु से वंचित हो जाते हैं। मैंने उस पुस्तक को पढ़ा तो मुझे लगा– इस पुराने शरीर में एक शक्तिशाली आत्मा का निवास है। योग के बारे में अनेक पुस्तकें पढ़ी पर इस पुस्तक में जो मिला वह अन्यत्र नहीं मिला। इस पुस्तक के अध्ययन से योगाभ्यास में और अधिक परिपक्वता आ गई।

उस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय साधक के लिए बहुत उपयोगी है और मेरे लिए वह बहुत उपयोगी बना।[1]

ध्यान-साधना के प्रमुख अंग

स्वास्थ्य के लिए आसन और प्राणायाम का प्रयोग आवश्यक है—यह सामान्य धारणा है। एकाग्रता के लिए भी आसन और प्राणायाम का प्रयोग स्वास्थ्य की अपेक्षा अधिक आवश्यक है—मैंने इसका अनुभव किया। दीर्घश्वास के प्रति मेरा प्रारंभ से ही आकर्षण था। एकाग्रता की सिद्धि के लिए उसकी अधिक आवश्यकता प्रतीत हुई। 'ॐ' का प्रलम्ब उच्चारण और दीर्घश्वास—ये मेरी ध्यान-साधना के प्रमुख अंग बन गए। अध्ययन के प्रति मेरा बहुत आकर्षण था। संस्कृत और प्राकृत के प्रौढ़ ग्रंथों को पढ़ने में मेरी गहन रुचि थी। मैंने अनुभव किया कि आध्यात्मिक विकास के लिए कोरा अध्ययन पर्याप्त नहीं है, उसके साथ ध्यान का अभ्यास होना चाहिए। मैंने ध्यान के लिए समय का नियोजन किया। मैं एक घण्टा तक ध्यान करने लग गया। ध्यान-लब्ध एकाग्रता ने मेरे अध्ययन और लेखन के कार्य को सरल बना दिया। एकाग्रता के अभाव में कार्य-सम्पादन में अधिक समय लगता है। एक घण्टे का कार्य तीन घण्टों में सम्पन्न होता है। एकाग्रता के सध जाने पर तीन घण्टों में करणीय कार्य एक घण्टे में हो जाता है।

समयावधि का संवर्धन

वि. सं. २०१० का चतुर्मास जोधपुर में था। उस चातुर्मासिक प्रवास में मैंने ध्यान की समयावधि बढ़ा दी। उससे मुझे अधिक आनन्द की अनुभूति होने लगी। एकाग्रता भी और अधिक गहरी हो गई। मैंने अनुभव किया कि ध्यान केवल आध्यात्मिक विकास के लिए ही आवश्यक नहीं है, व्यावहारिक सफलता के लिए भी आवश्यक है।

मंत्र शास्त्र और ध्वनि चिकित्सा

वि. सं. २०११ का चातुर्मासिक प्रवास मुम्बई में था। वहां शतावधानी धीरजलाल टोकरसी एक ग्रंथ लेकर आए। वह हस्तलिखित था। उसका नाम था विद्यानुशासन। उसमें जैनशासन के मंत्रों का समुच्चय था। मैंने उस ग्रंथ को पढ़ा तो ध्यान के विषय में मेरी अवधारणा और अधिक स्पष्ट हो गई। शब्दातीत अथवा विकल्पातीत होना ध्यान-साधना का एक प्रस्थान है किन्तु साधना के प्रारम्भ में यह स्थिति प्राप्त नहीं होती। उस समय किसी एक विकल्प का चुनाव करना पड़ता है। विकल्प दो प्रकार के होते हैं—

१. अशुभ २. शुभ

अशुभ विकल्प से मुक्ति पाने के लिए शुभ विकल्प का आलम्बन आवश्यक है। शुभ विकल्प का अभ्यास परिपक्व होने पर निर्विकल्प अवस्था प्राप्त होती है।

मंत्र शास्त्र ने मुझे आकृष्ट किया। मैंने जप का प्रयोग शुरू कर दिया। ध्वनि-चिकित्सा के विषय में मैंने कुछ अध्ययन किया था। मंत्रशास्त्र के अध्ययन से उसकी पुष्टि हो गई।

---

१. देखें—परिशिष्ट १

प्रायोगिक चतुर्मास

वि. सं. २०१२ का चतुर्मास उज्जैन में था। वह चतुर्मास प्रायोगिक चतुर्मास था। उसमें हमने अनेक प्रयोग किए। एक प्रयोग 'निर्जरार्थी' का था। निर्जरा जैन आचार का पारिभाषिक शब्द है। तपस्या के द्वारा पूर्व अर्जित कर्म का क्षय होता है, आत्मा का शोधन होता है। उसका नाम है निर्जरा। आचार्यश्री ने चिन्तन किया कि इस चतुर्मास में हम आगम सम्पादन का कार्य शुरू कर रहे हैं। उसके साथ कुछ प्रयोग भी करने चाहिए। हमारे साधु-संघ की व्यवस्था है कि समुच्चय के कार्य बारी-बारी से किए जाते हैं। हमने निर्णय किया कि इस चतुर्मास में किसी की बारी नहीं चलेगी। सब मुनि निर्जरा से कार्य करेंगे। निर्जरा के लिए अपनी सेवा देंगे। चार मास तक यह प्रयोग चला और कल्पना से अधिक सफल रहा।

उज्जैन चातुर्मासिक प्रवास में आगम सम्पादन का कार्य प्रारम्भ हो चुका था। मैंने चिन्तन किया—कार्य बहुत बड़ा है। लम्बे समय तक चलने वाला है इसलिए जीवन-शैली में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक है। मैंने दिन को तीन भागों में विभक्त कर दिया। उसके एक भाग में प्रमुखतः जप और ध्यान का प्रयोग चलता।

कुशल-साधना का प्रयोग

पूज्य गुरुदेव की अनुमति से हमने कुशल-साधना का प्रयोग शुरू किया। उसके दस सूत्र निर्धारित किए गए। इस विषय में गुरुदेव ने विस्तार से लिखा है—

'दूसरी संगोष्ठी में साधु-जीवन में कुछ आदर्शों को विकसित करने के लिए एक दस सूत्री साधना-क्रम प्रस्तुत किया गया। कुशल-साधना के नाम से प्रस्तावित उस उपक्रम की पृष्ठभूमि में एक प्रश्नचिह्न था—कुशल कौन? कार्य व्यवसाय का हो या आत्म-शक्तियों के जागरण का, साहित्य का हो या संस्कृति का, घर लक्ष्मी का हो या साधुत्व का, कुशलता का महत्त्व सब जगह है। हमारा लक्ष्य साधुओं के आचार और व्यवहार की कुछ ऐसी कसौटियों का निर्धारण करना था, जिनके आधार पर साधक अपनी प्रगति का मूल्यांकन कर सके। आत्म-निरीक्षण और आत्म-परीक्षण के बाद साधु-साध्वियां अपनी अर्हता का निर्णय कर सकें, इस दृष्टि से निर्धारित कुशल साधक का स्वरूप अग्रांकित है—

निज्जरट्ठिए—जो निर्जरा का अर्थी है।

निरासए—जो फलाशा का संयम करता है।

मियासणे—जो खाद्य-संयम करता है।

अप्पोवहिए—जो उपधि-संयम करता है।

अप्पभासी—जो वाणी का संयम करता है।

जिइंदिए—जो इन्द्रिय और मन का संयम करता है।

परीसहरिऊदंते—जो कष्ट-सहिष्णु होता है।

णो भावियप्पा—जो अभय रहता है।

निस्संगे—जो अनासक्त या पवित्र होता है।

आणंदघणे—जो आंतरिक आनन्द का अनुभव करता है।

साधना के इस नए अध्याय ने साधु-साध्वियों में नई स्फुरणा भर दी। साधु-जीवन में साधना के प्रयोग न हों तो केवल ऊपर का दिखावा रह जाता है। इस प्रयोग के पीछे दो प्रेरणाओं ने काम किया।

पहली प्रेरणा थी मेरा नवीनता-प्रेम। मेरे मन में प्रायः कुछ नया करने की भावना रहती है।

दूसरी प्रेरणा थी संघ के कुछ साधुओं द्वारा निर्मित वातावरण। उन्होंने भीतर ही भीतर ऐसा वातावरण बनाना शुरू कर दिया था कि संघ में अंतरंग दृष्टि से कुछ नहीं हो रहा है, केवल बाह्य बातों पर ध्यान दिया जाता है।

मेरा यह मानसिक संकल्प था कि चातुर्मास्य में कुछ प्रयोग कर साधु-साध्वियों की मानसिकता का निर्माण करना है। उसके बाद पूरे संघ का कायाकल्प करना है। कितना कुछ होगा, पहले से कहना कठिन था। पुरुषार्थ करना आत्म-धर्म मानकर मैंने एक प्रयोग किया। उसकी प्रतिक्रिया बहुत अच्छी रही।'[1]

प्रयोग सकलीकरण का

कुशल-साधना का प्रयोग चतुर्मास तक व्यवस्थित रूप से चला। चतुर्मास सम्पन्न कर हम रतलाम पहुंचे। पूज्य गुरुदेव ने रतलाम के परिपार्श्व की यात्रा की। हम कुछ साधु आगम काम के लिए रतलाम में रहे। वहां के एक प्रमुख श्रावक समर्थमलजी जैन ने एक हस्तलिखित पुस्तक हमें दी। वह यति-वर्ग के द्वारा लिखित थी। उसमें मंत्र, तंत्र, यंत्र, औषध आदि अनेक विषयों का बड़ा संकलन था। वह मेरे आकर्षण का विषय था। अतः मैंने उसे बहुत गहराई से पढ़ा। उसमें से कुछ मंत्र, यंत्र लिखे और कुछ का प्रयोग भी किया। यदि वह पुस्तक आज मेरे सामने हो तो उसका प्रचुरता से प्रयोग किया जा सकता है। वह समय मेरे ध्यान और अध्यात्म साधना का प्रारंभिक समय था। कुछ वर्षों बाद उस हस्तलिखित ग्रंथ के बारे में जानकारी की। सम्यक् सम्पर्क के अभाव में वह पुनः प्राप्त नहीं हुई। उसके कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं–

१. सकलीकरण

ॐ णमो अरहंताणं ह्रां शीर्षं रक्ष रक्ष स्वाहा

ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीं वदनं रक्ष रक्ष स्वाहा

ॐ णमो आयरियाणं ह्रूं हृदयं रक्ष रक्ष स्वाहा

ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौं नाभिं रक्ष रक्ष स्वाहा

ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः पादौ रक्ष रक्ष स्वाहा।

२. क्षिप ॐ स्वाहा

मंत्र का जप और मंत्र की साधना–इन दोनों में सूक्ष्म भेद है। विधिपूर्वक मंत्र की साधना की जाती है उसमें विघ्न बाधा की संभावना रहती है। इसलिए मंत्र की साधना करने वाले व्यक्ति को अपनी सुरक्षा का कवच तैयार करना होता है। सकलीकरण मंत्र साधक के लिए सुरक्षा का कवच बनता है। मैंने सकलीकरण का प्रयोग किया और साधना के समय आने वाली बाधाओं से मुक्त रहा।

---

१. मेरा जीवन : मेरा दर्शन भाग ३, पृ. २६९-२७०

'ऐं' मंत्र की साधना

उस तंत्र-ग्रंथ में सरस्वती की सिद्धि अथवा विद्या-विकास के मंत्र भी थे। मैंने 'ऐं' मंत्र को चुना, जीभ पर उसे विधिवत् लिखा और उसकी साधना शुरू कर दी।

अतींद्रिय-ज्ञान के प्रति मेरा बहुत आकर्षण था। मुझे अतींद्रिय-ज्ञान के विकास के लिए एक सूत्र मिला—स्थूल शरीर और मन को निष्क्रिय करने तथा सूक्ष्म चेतना को सक्रिय करने पर अतींद्रिय-चेतना का विकास होता है।

उस समय तक हमने कायोत्सर्ग की विधि का विकास नहीं किया था। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि कायोत्सर्ग के द्वारा सम्यग् शिथिलीकरण सिद्ध होने पर अतींद्रिय-चेतना का द्वार खुल जाता है।

प्रयोग-पद्धति की खोज की अभिप्रेरणा

आचार्य तुलसी मुनि-चर्या के कुछ नियमों में परिवर्तन कर रहे थे। देश, काल के अनुसार परिवर्तन करना आवश्यक था। एक दिन मैं गुरुदेव के पास बैठा था। गुरुदेव ने कहा—'हम आवश्यक परिवर्तन कर रहे हैं। उसे साधु समाज और श्रावक समाज हमारी मानसिक शिथिलता न समझ ले। परिवर्तन आवश्यक भी है और प्राचीन परम्परा को बदलना खतरनाक भी है। परिवर्तन के साथ हमारा आध्यात्मिक विकास बढ़ता जाए तो उस खतरे से बचा जा सकता है। कोरा परिवर्तन हो और आध्यात्मिक विकास न हो तो शिथिलता के आरोप को रोका नहीं जा सकता।'

आचार्यवर के इस चिन्तन से एक नया मोड़ आया। आध्यात्मिक विकास की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। आचार्यवर ने कहा—'तुम प्रयोग-पद्धति की खोज करो।'

इधर आगम सम्पादन का कार्य चल रहा था उधर आध्यात्मिक विकास की प्रयोग-पद्धति की खोज चल रही थी। मैंने अनुभव किया कि स्वयं को प्रयोग-भूमि बनाए बिना प्रयोग की प्रामाणिकता पर विश्वास पैदा नहीं किया जा सकता। मैंने स्वयं ध्यान के प्रयोग शुरू किए।

प्रयोग की पृष्ठभूमि में दो प्रेरणाएं काम कर रही थीं।

१. आध्यात्मिक विकास

२. आगम सम्पादन का गुरुतर दायित्व।

आचार्य तुलसी को ये दोनों कार्य इष्ट थे। जो उनको इष्ट था वही मुझे इष्ट था। इस आधार पर मैं कह सकता हूं कि प्रेरणा का मुख्य स्रोत था आचार्य तुलसी का वरदहस्त।

प्रयोग शक्ति-जागरण का

अपनी शक्ति का विकास किए बिना इष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए मैंने शक्ति-जागरण की ओर ध्यान केन्द्रित किया। शक्ति के मुख्य रूप तीन हैं—

१. शरीर की शक्ति २. मन की शक्ति ३. भाव की शक्ति।

शरीर की शक्ति के लिए मैंने आसन और प्राणायाम के वर्ग का चयन किया।

भुजंगासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्तानासन, सुप्तवज्रासन, उत्तानपादासन, बद्धपद्मासन, हलासन, सर्वांगासन–ये मेरे करणीय सूची में प्रमुख आसन थे।

अनुलोम-विलोम, सूक्ष्मभस्त्रिका, सुप्तभस्त्रिका, उज्जायी, नाड़ीशोधन, केवल रेचन, केवल कुंभक–ये मेरे करणीय सूची में प्रमुख प्राणायाम थे।

कार्यक्षमता को बनाए रखने के लिए वीर्य-शुद्धि पर ध्यान देना आवश्यक है। वीर्य के लिए गोदोहासन को मैंने बहुत उपयोगी पाया। गोदोहासन से अंगूठे के नीचे और एड़ी के पीछे जो कामवाहिनी शिराएं हैं उन पर सम्यक् नियंत्रण किया जा सकता है।

स्वप्न-दोष निवारण के लिए पश्चिमोत्तानासन और मत्स्यासन बहुत उपयोगी हैं।

मानस चक्षु का प्रयोग

मैंने चिन्तन किया–केवल शरीर-शक्ति से महान् कार्य की सिद्धि नहीं होती। उसके लिए मन की एकाग्रता बहुत अपेक्षित है। एकाग्रता की सिद्धि के लिए मैंने अनेक प्रयोग किए। वे मेरे अपने अनुभव बन गए। उस समय प्रेक्षाध्यान के प्रयोग–दीर्घश्वास आदि की स्पष्ट परिकल्पना नहीं हुई थी। इसलिए मानस चक्षु का प्रयोग मैंने स्वयं चुना। मैंने उसके कुछ सूत्र बनाए–

१. जिस वस्तु का ध्यान किया जाए, उस वस्तु का मानसिक चित्र सामने रखा जाए।

२. जिस पद का जप किया जाए, उसे आकाश में स्पष्ट लिखा हुआ देखा जाए, मानस चक्षु से पढ़ते हुए जप किया जाए।

३. जिस ग्रंथ का स्मरण या स्वाध्याय किया जाए, उसके प्रत्येक शब्द की विषय-वस्तु का चित्र सामने अंकित किया जाए।

४. जप करते समय प्रत्येक अक्षर के उच्चारण के साथ उसके स्थान (व्याकरण निर्दिष्ट) पर ध्यान केन्द्रित किया जाए।

उदाहरणस्वरूप 'अर्हं' के जप के क्षण में 'अ' का उच्चारण करते समय कण्ठ पर ध्यान केन्द्रित हो, 'र' के उच्चारण के समय मूर्धा पर ध्यान केन्द्रित हो, 'ह' के उच्चारण के समय कण्ठ पर ध्यान केन्द्रित हो, 'म्' के उच्चारण के समय होठों पर ध्यान केन्द्रित हो।

५. ध्यान-काल में जिस पद का आलम्बन लिया जाए, उस पद के अक्षरों के स्थान पर भी जप की भांति ध्यान केन्द्रित करें।

मानस चक्षु के प्रयोग से एकाग्रता की शक्ति बढ़ी। उससे आगम सम्पादन का कार्य सहज सरल हो गया। हम जिस शोधपूर्ण पद्धति से आगम सम्पादन का कार्य कर रहे थे, वह सघन एकाग्रता के बिना संभव नहीं था। एकाग्रता से ध्यान की गति भी अच्छी हो गई।

भावशुद्धि की साधना

जैन तत्त्व विद्या में भाव का विशद वर्णन है। उसका निष्कर्ष यह है कि मनुष्य की प्रवृत्ति भाव द्वारा संचालित है। मन का स्वतंत्र स्थान नहीं है। वह भाव की अभिव्यक्ति का एक तंत्र है। भाव का जगत् सूक्ष्म

है। सूक्ष्म की जो क्रिया होती है उसे मन स्थूल जगत् में व्यक्त कर देता है। इस अवधारणा ने मुझे भाव-शुद्धि की ओर प्रेरित किया। भावशुद्धि के बिना केवल मन की भूमिका तक सिमटकर कोई भी व्यक्ति निर्मल ध्यान का विकास नहीं कर सकता। भावशुद्धि के लिए आवश्यक है अहंकार और ममकार का विसर्जन।

आचार्य रामसेन का तत्त्वानुशासन एक उत्तम ध्यान-शास्त्र है। उसका प्रारंभ अहंकार और ममकार के विसर्जन से होता है। स्वभाव से ही मुझमें अहंकार और ममकार का भाव व्यक्त नहीं था। फिर भी अभ्यास के द्वारा अव्यक्त के भी परिष्कार की साधना की। फलस्वरूप व्यवहार भी विनम्रता और व्यापकता से परिपूर्ण हो गया। बहुत लोग मुझे कहते—तुम इतने विद्वान् और इतने विनम्र, यह कैसे? यह सुनकर मुझे सीमातीत विस्मय होता। विनम्रता विद्या का परिणाम है। 'विद्या ददाति विनयम्' यह संस्कृत साहित्य का प्रसिद्ध सूक्त है। फिर यह धारणा क्यों बनी कि विद्वान् व्यक्ति विनम्र नहीं बनता। प्रतीत होता है कि कुछ व्यक्तियों में पाण्डित्य का अहंकार हो जाता है। उसे ध्यान में रखकर एक कवि ने लिखा—ज्ञान मद के दर्प को मिटाने वाला है। जो व्यक्ति पढ़कर अहंकारी बनता है उसके लिए क्या किया जाए? दवा रोग को मिटाने वाली है। वही जब विष बन जाए तो उसकी चिकित्सा कैसे की जाए?

ज्ञानं मददर्पहरं
माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः?
अगदो यस्य विषायति
तस्य चिकित्सा कथं क्रियते।।

मेरा पदार्थ के प्रति आकर्षण कम रहा। इसीलिए चैतन्यानुभूति के प्रति उत्तरोत्तर आकर्षण बढ़ता रहा।

भावशुद्धि ने मन की एकाग्रता को पुष्ट किया। नकारात्मक भाव मन की चंचलता को बढ़ाने के लिए बहुत जिम्मेदार हैं। भावशुद्धि का विकास होने पर नकारात्मक भाव कम हो जाते हैं और मन की एकाग्रता बढ़ जाती है। दूसरे का अमंगल चाहने वाला वास्तव में अपना अमंगल चाहता है। दूसरे के अनिष्ट की बात सोचने वाला वस्तुतः अपने अनिष्ट की बात पहले सोचता है। इस अवधारणा ने भी नकारात्मक भाव से बचने का महत्त्वपूर्ण आलम्बन दिया।

स्वरोदय विद्या के अनुसार नकारात्मक भाव का प्रमुख हेतु है पार्थिव तत्त्व का असंतुलन। शक्ति केन्द्र पर ध्यान करने से वह संतुलन बन जाता है।

चंद्रप्रज्ञप्ति गाथा और 'उवसग्गहरं' की साधना

वि. सं. २०१३, सरदारशहर चतुर्मास। जयाचार्य की जप-साधना और ध्यान-साधना का मनन किया। चन्द्रप्रज्ञप्ति की एक गाथा पर ध्यान केन्द्रित किया। जयाचार्य उस गाथा का बहुत जप-ध्यान करते थे। वह गाथा इस प्रकार है—

नमिऊण असुरसुरगरुलभुयंग परिवंदिए गयकिलेसे।
अरिहे सिद्धायरिए उवज्झाए सव्वसाहूय।।

'उवसग्गहरं' नामक स्तोत्र जैन परम्परा में बहुत प्रसिद्ध है। यह बहुत शक्तिशाली है। भद्रबाहु स्वामी ने

संघ के संकट को दूर करने के लिए इसका निर्माण किया था। अर्हत् पार्श्वनाथ के प्रति मेरी सहज श्रद्धा थी। पद्मावती के प्रति गहन आकर्षण था। मैंने 'उवसग्गहरं स्तोत्र' की साधना भी शुरू की।

वर्णमाला साक्षात्कार का प्रयोग

वि. सं. २०१७, कोलकाता में चातुर्मासिक प्रवास। आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव का गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया। उसमें निर्दिष्ट वर्णमाला का प्रयोग मुझे उपयोगी लगा। वर्णमाला के साक्षात्कार का प्रयोग मैंने शुरू किया। वह प्रयोग इस प्रकार है–

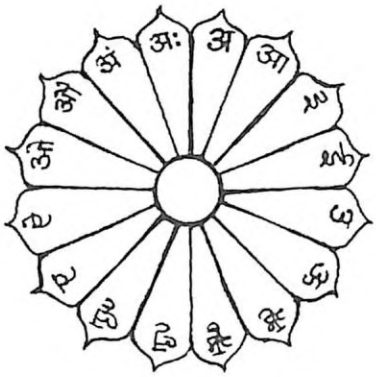

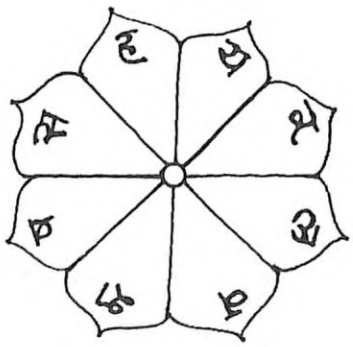

यह प्रयोग आज भी निरंतर चल रहा है।

भावितात्मा की साधना का प्रयोग

ध्यान-साधना की मध्यावधि में हमने कुशल और प्रणिधान के प्रयोग किए। वि. सं. २०२० में भावितात्मा की साधना का प्रयोग शुरू किया गया। उसके विकास के लिए प्रणिधान कक्ष की आयोजना की गई। दस दिन के शिविर आयोजित किए जाते रहे। उनमें प्रमुखतया साधु-साध्वियां ही भाग लेती थीं। उस शिविर में आसन-प्राणायाम, कायोत्सर्ग, ध्यान और जप के प्रयोग कराए जाते।

(क) उदर व्यायाम

सोड्डीयान पद्मासन–

- पद्मासन में बैठकर श्वास का पूर्ण रूप से रेचन करना।
- पांच बार से सौ बार पेट को सिकोड़ना और फुलाना।

अग्निसार–

- पद्मासन में बैठकर श्वास का पूर्ण रूप से रेचन करना।
- पांच बार से सौ बार पेट में द्रुत-कम्पन करना।

उदरकोणासन–

- सुखासन में बैठकर पन्द्रह बार पेट को दोनों तरफ कोणाकार घुमाना।

ऊर्ध्वाकर्षण–

- सिद्धासन में बैठकर पूर्ण रूप से रेचन करना।
- रेचक पूरक–जालंधर बंध 'मूलबंध' करते हुए पेट को सिकोड़ना और फैलाना।
- पांच बार से सौ बार पेट को सिकोड़ना और फुलाना।

उदर-मर्दन–

- सुखासन में बैठकर पेट को गूंदना, प्रकम्पित करना तथा यकृत और प्लीहा को धीमे-धीमे दबाना।

(ख) हस्त-व्यायाम

सम्मुख हस्त व्यायाम–

- पद्मासन में बैठकर, हाथों को सामने ले जाकर अंगुलियों को जोर से दबाते हुए हाथों को मोड़कर कंधों तक ले जाना।

पार्श्व हस्त व्यायाम–

- पद्मासन में बैठकर, हाथों को दोनों पार्श्वों में लम्बा कर अंगुलियों को जोर से दबाते हुए हाथों को मोड़कर कंधों तक ले जाना।

(ग) त्रिबंध

o पद्मासन में बैठकर जालंधर बंध, उड्डीयानबंध और मूलबंध करना। (प्रारंभ में आधा मिनिट, दो तीन सप्ताह के बाद एक मिनिट, फिर क्रमशः बढ़ाते-बढ़ाते तीन मिनिट तक)

(घ) गल व्यायाम

o पद्मासन में बैठकर गले को दस बार आगे-पीछे ले जाना।

o दस बार दोनों पार्श्वों में तथा दो बार चक्राकर घुमाना।

(ङ) चक्षु-व्यायाम

नासाग्र-दृष्टि–

o पद्मासन में नाक के अग्र-भाग पर दृष्टि टिकाना।

(प्रारम्भ में आधा मिनिट, क्रमशः बढ़ाते-बढ़ाते दो मिनिट तक।)

भृकुटि-दर्शन–

o पद्मासन, गले को सीधा रख एक-एक भृकुटि को देखना।

o समय–एक मिनिट तक।

उच्चावच-दृष्टि–

o गर्दन को स्थिर रखते हुए आंख की पुतलियों को ऊंचा-नीचा करना।

पार्श्व-दृष्टि–

o गर्दन को स्थिर रखते हुए आंख की पुतलियों को दोनों पार्श्वों में घुमाना।

घर्षण–

o हथेलियों को मलकर धीमे से आंखों को सहलाना।

o कनपटियों को सहलाते हुए सिर का मर्दन करना।

(च) नाभि-दर्शन

o पद्मासन मुद्रा–एकटक नाभि की ओर देखना।

o समय–तीन मिनिट।

(छ) जप

o 'ॐ' का जप लम्बे स्वर से करना।

o समय–तीन मिनिट।

(ज) सुप्त भस्त्रिका

- सुप्त कायोत्सर्ग-आसन में भस्त्रिका प्राणायाम करना।
- समय–तीन मिनिट।

(झ) कायोत्सर्ग-आसन

- शरीर की चंचलता और ममत्व का विसर्जन कर सोना।

ध्यातव्य–

१. मूलबंध और भावक्रिया–ये दोनों हर क्रिया के साथ हों।

२. समय–साधारणतः प्रातःकाल या भोजन के तीन घंटा पश्चात्।

३. जो विशेष स्थितिवश पूर्ण क्रियाएं न कर सकें वे कम से कम तीन क्रियाओं को करें–

१. सोड्डीयान पद्मासन २. त्रिबंध ३. कायोत्सर्ग-आसन

अध्यात्म योग की प्रथम पुस्तक

प्रातःकाल का समय। दैहिक कार्यों से निवृत्त होकर साधु-साध्वियां एकत्र हो जातीं। मैं निर्देश देता जाता, सब लोग उसके अनुसार अभ्यास करते। अभ्यास के पश्चात् कुछ सैद्धांतिक पक्ष के विषय में जानकारी दी जाती। उस समय टेपरिकॉर्डर की कोई व्यवस्था नहीं थी इसलिए साधना के प्रयोग के पश्चात् होने वाले वक्तव्यों का समग्र संकलन नहीं किया जा सका। संतों ने उनका सार-संक्षेप लिखा। एक पुस्तक तैयार हो गई। उसका नाम रखा गया 'तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो'। इसका प्रकाशन 'भारतीय ज्ञानपीठ' ने किया। अध्यात्म योग के विषय में यह मेरी प्रथम पुस्तक थी।

मनोनुशासनम् ग्रंथ का प्रणयन

वि. सं. २०१८, धवल समारोह का अवसर। आचार्यवर से मैंने प्रार्थना की–'आचार्य पदारोहण का २५वां वर्ष पूर्ण हो गया है। २६वां वर्ष संघ को नई दिशा देने वाला होना चाहिए।'

साधारण लोग समझ रहे थे–आचार्यवर का प्रचार में बहुत रस है। स्थूल दृष्टि वाला व्यक्ति स्थूल बात तक ही पहुंचता है। आचार्यवर हर वर्ष आत्म-मंथन करते रहते थे। उससे फलित होता है मनोमंथन और वह सबसे पहले मेरे सामने आता था। आचार्यवर के जीवन के अंतर्दर्शन का संभवतः मैं प्रथम साक्षी हूं। यदि प्रथम नहीं कहूं तो कह सकता हूं–प्रथम पंक्ति का प्रथम साक्षी हूं। उस साक्षी भाव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि आचार्यवर के अंतस्तल में अध्यात्म की सरिता का प्रवाह था और व्यवहार में जनता की प्यास को बुझाने का आह्वान।

आचार्यवर ने मेरे चिन्तन पर ध्यान दिया। अध्यात्म-योग पर ग्रंथ तैयार करने की कल्पना हो गई।

श्रीडूंगरगढ़ का प्रवास, बींजराजजी पुगलिया की हवेली। उपरि मंजिल में दायीं ओर की छोटी कोठरी। सर्दी का मौसम। गुरुदेव उस कोठरी में विराज रहे थे। प्रकाश कम था फिर भी एक ऐसे ग्रंथ का स्वस्तिश्री किया गया, जो अंतस्तल के तम को भी प्रकाश में बदल सकता है।

महर्षि पतञ्जलि का योगदर्शन योग का शलाका ग्रंथ है। सहस्राधिक वर्षावधि बीत जाने पर भी उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती रही। जैन आचार्यों ने भी योग पर अनेक ग्रंथ लिखे। उन पर योगदर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। उपादेय ग्रंथ की अनुकृति अवांछनीय नहीं है फिर भी एक कमी की अनुभूति होती रही। जैनाचार्यों द्वारा रचित योग-ग्रंथों का आधार प्रमुखतः जैन साधना का मर्म होना चाहिए। वैसा प्रयत्न स्वल्प मात्रा में हुआ है। चिन्तन के पश्चात् नए ग्रंथ की रचना प्रधानतः आगम के आधार पर करने की कल्पना की गई। ग्रंथ का नाम रखा 'मनोनुशासनम्' और उसका प्रारंभ पर्याप्ति-सिद्धांत से किया गया।

पर्याप्ति प्राण-ऊर्जा अथवा जीवन-शक्ति का स्रोत है। योग दर्शन का प्रारम्भ चित्तवृत्ति के निरोध से होता है–**'चित्तवृत्तिनिरोधो योगः'**।

मनोनुशासनम् का प्रारम्भ निरोध और शोधन से होता है–

'मनो-वाक्-काय-आनापान-इन्द्रिय-आहाराणां निरोधो योगः।'

'शोधनं च।'

इसका आधार है संवर और तप। संवर निरोध की साधना है। तप निर्जरा (आत्म-शोधन) की साधना है।

मनोनुशासनम् का हिन्दी में संक्षिप्त अनुवाद किया गया। ग्रंथ जनता के हाथों में गया। वह जन-साधारण तथा बड़े-बड़े साधकों के लिए भी आकर्षण का केन्द्र बन गया। उसकी विस्तृत व्याख्या की बात आई। तमिलनाडु की यात्रा में उस मांग की पूर्ति की गई।

तमिलनाडु के अनेक नगरों व गांवों की यात्रा चल रही थी। दिन में आगम सम्पादन व लेखन के कार्य चल रहे थे। मनोनुशासनम् की व्याख्या के लिए रात्रि का समय चुना गया। मैं बोलता जाता और मुनि गुलाबचंदजी लिखते जाते। मुनिजी में यह विशेषता थी कि रात को जो लिखते, प्रातःकाल उसकी प्रतिलिपि कर लेते। न थी पास में कोई ग्रंथ की सामग्री और न था बिजली का प्रकाश। फिर भी व्याख्या लिखने का कार्य सम्पन्न हो गया। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि संकल्प की शक्ति सबसे बड़ी होती है। उसके होने पर कठिन कार्य भी सरल बन जाता है और संकल्प-शक्ति के अभाव में सरल कार्य भी कठिन बन जाता है।

मनोनुशासनम् योगनिष्ठ साधकों की परिषद् में अतीव मान्य हो गया।

प्रेक्षाध्यान की पृष्ठभूमि

ध्यान मेरे जीवन का अनिवार्य अंग बन गया। उसकी प्रयोग-अवधि बढ़ती गई। लगभग तीन घण्टे का समय ध्यान के लिए निर्धारित किया गया।

वि. सं. २०१९ का चातुर्मासिक प्रवास उदयपुर में हुआ। उस समय हम उत्तराध्ययन सूत्र का सम्पादन कर रहे थे। मेरा क्रम था कि दिन में जो लिखता, सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् आचार्यवर के सामने प्रस्तुत कर देता। ध्यान के बारे में चर्चा चली तब आचार्यवर ने सहज मुद्रा में कहा–'जैन परम्परा में ध्यान की शृंखला विच्छिन्न हो गई है। उसे फिर से जोड़ दिया जाए तो एक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा।'

आचार्यवर की प्रेरणा को मैंने अपना लक्ष्य-सूत्र बना दिया। प्रयोग चलते रहे। इस विषय में खोज भी चलती रही।

वि. सं. २०२१, दिल्ली प्रवास। कठोतिया भवन। सूर्योदय का समय। मैं आचार्यवर को वंदना करने के लिए गया। आचार्यवर ने कहा—'तुम प्रतिक्रमण के मध्य आलोचना करने आते हो, तुम्हारा ध्यान का क्रम विच्छिन्न होता है अब तुम सूर्योदय के बाद ही आलोचना लेने का क्रम बना लो।'

मुनि-चर्या की विधि है कि सूर्योदय से ४८ मिनिट पूर्व रात्रिक प्रतिक्रमण किया जाता है और प्रतिक्रमण के मध्य रात्रिक प्रमाद के लिए आलोचना की जाती है। उसके लिए सब साधु आलोचना लेने के लिए आते और मैं भी आता। उसे लक्ष्य में रखकर गुरुदेव ने कहा—'सूर्योदय के आसपास तुम्हारा ध्यान पूर्ण होता है इसलिए तुम आलोचना सूर्योदय के पश्चात् लेने का क्रम बना लो।'

मैंने आचार्यवर के अनुग्रह को शिरोधार्य कर इंगित के अनुरूप क्रम बना लिया। मेरे ध्यान की विकास-यात्रा में आचार्यवर का चिन्तन, पुरुषार्थ और प्रोत्साहन एक शक्तिशाली वाहन का काम कर रहा था। तेरापंथ का अपना अनुशासन है। यदि आचार्य का प्रोत्साहन और समर्थन न मिले तो विकास की यात्रा गतिशील नहीं हो सकती। आचार्यवर ने मेरी गति को अग्रसर करने में जो किया, वह अनिर्वचनीय है। जो निर्देश मुझे मिला, वह मेरे साथी साधु-वर्ग में चर्चा का विषय भी बना, पर अध्यात्म-साधना के पथ में आने वाली चर्चा दूध में शर्करा की भांति स्वतः ही विलीन हो गई।

वि. सं. २०२४, अहमदाबाद चातुर्मासिक प्रवास। आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र का मैंने अनेक बार अध्ययन किया। उसमें योग-साधना के विषय में बहुत सूक्ष्मता से लिखा गया है। अहमदाबाद में उसे फिर से पढ़ा तो उत्तराधर प्राणायाम ने मुझे बहुत प्रभावित किया। साधना के प्रारंभ काल में इसकी गहराई तक नहीं पहुंच पाया। अभ्यास की परिपक्वता होने पर मैंने अनुभव किया कि उत्तराधर प्राणायाम का प्रयोग शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तीनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक है।[1]

परिकल्पना योगवहन की भूमिका की

अध्यात्म और ध्यान के विषय में चिन्तन चलता रहता था। आचार्यवर आध्यात्मिक विकास और संस्कार-निर्माण के प्रति बहुत चिन्तित थे। उनकी चिन्ता में सहभागी बनने का मुझे अवसर मिला। एक दिन चिन्तन का विषय था—ध्यान-साधना में कुछ मुनि अग्रणी बने। उनका आध्यात्मिक विकास दूसरों के लिए अनुसरणीय बने। आध्यात्मिक विकास के लिए कुछ प्रयोग आवश्यक हैं इसलिए विशेष प्रयोग की भूमिका पर चिन्तन किया जाए। आचार्यवर के इस इंगित को ध्यान में रखकर मैंने एक योजना प्रस्तुत की—

'यदि तेरापंथ साधु-संस्था को प्राणवान् व तेजस्वी बनाना है तो उसे विद्या प्रवणता से पूर्व साधना प्रवणता प्राप्त करनी होगी। उसके वर्तमान स्वरूप व जीवन पद्धति में ऐसा होना कठिनतम कार्य है। अतः तेरापंथ साधु-संस्था को दो रूपों में वर्गीकृत करके ही उक्त परिकल्पना को क्रियान्वित किया जा सकता है।

तेरापंथ साधु-संस्था का मौलिक स्वरूप यथावत् रहेगा। उसमें से कुछेक साधु, जिन्हें साधना की विशेष रुचि व क्षमता प्राप्त हो, उन्हें योग प्रतिमा वहन की स्वीकृति दी जाए। इस भूमिका में रहने वाले

१. देखें—परिशिष्ट २

योगी कहलाएंगे। योग प्रतिमा वहन करनेवालों की अधिकतम संख्या तेरह होगी। क्योंकि धर्म प्रसार की स्थिति को ध्यान में रखते हुए इससे अधिक स्वीकृति नहीं दी जा सकती।

नवदीक्षित मुनियों को साधना की परिपक्वता प्राप्त करने के लिए योगवहन की भूमिका में रखा जाएगा। वे तीन वर्ष तक वहां साधना और शिक्षा प्राप्त करेंगे। तीन वर्ष के पश्चात् आचार्य और योगवाहक दोनों चाहें तो किसी मुनि को फिर अपेक्षित अवधि तक वहां रखा जा सकता है। वहां साधना और शिक्षा प्राप्त मुनि योगवाहक का निर्देश प्राप्त कर फिर आचार्य की सन्निधि में चले जाएंगे। आचार्य उन्हें अध्ययन व धर्म प्रसार आदि की दृष्टि से जैसा उपयुक्त समझेंगे, नियुक्त करेंगे। योगवहन की भूमिका में वे योगवाहक के निर्देश का पालन करेंगे। गण की सन्निधि में आने के पश्चात् वे आचार्य के आदेश-निर्देश को शिरोधार्य करेंगे।

योगवहन की भूमिका तेरापंथ साधु-संघ की ही एक श्रेणी है। इसलिए उसका स्रोत तेरापंथ साधु-संस्था ही होगा। इसका अर्थ यह है कि योगवाहक किसी को दीक्षित नहीं करेंगे। इस भूमिका में जो आएंगे वे तेरापंथ साधु-संघ से ही आएंगे। इस भूमिका में प्रवेश उसे मिलेगा, जिसे आचार्य व योगवाहक दोनों की सहमति प्राप्त हो।

इस भूमिका के स्थायी सदस्य योगवाहक के निर्देश में रहेंगे। उनमें से कोई योगी फिर से संघीय जीवन पद्धति या कार्यक्रम को पसंद करे तो वह योगवाहक व आचार्य दोनों की स्वीकृति से वहां जा सकता है। इसी प्रकार कोई युवक या वृद्ध मुनि भी योगवहन की भूमिका में कुछ समय या समग्र जीवन के लिए आना चाहे तो वह आचार्य व योगवाहक की स्वीकृति से आ सकता है। किन्तु स्थायी सदस्यों की संख्या तेरह से अधिक नहीं होगी। अल्पकालीन अवधि के लिए आगन्तुक सदस्यों की संख्या अधिक हो सकती है।

योगी-गण अपनी व्यक्तिगत विशिष्ट साधना के साथ साधु-संघ के साधुओं मुख्यतः नवदीक्षित और अन्य साधुओं को भी साधना व शिक्षा में दक्षता प्राप्त करने में सहयोग देगा।

साधना केन्द्र के माध्यम से तैयार की जाने वाली तीसरी श्रेणी के साधकों तथा श्रावक गण की साधना संबंधी अपेक्षाओं को पूरा करेगा।

विशेष

१. साधुओं की भांति साध्वियों की भी पृथक् व्यवस्था की जाए।

२. परिकल्पित श्रेणी यद्यपि तेरापंथ संघ से अनुबद्ध होगी फिर भी वह अपनी अतिरिक्त भूमिका के कारण संघीय चर्या के नियमों से पूर्णतः बद्ध नहीं होगी। प्रायोगिक स्वतंत्रता तथा आदेश के स्थान पर निर्देश की प्रधानता आदि उसका वैशिष्ट्य होगा।

३. प्रायः एक स्थान पर निवास।

४. विशेष विवरण विस्तार से आवश्यकता होने पर।

सप्त-साप्ताहिकी साधना

आचार्यवर ने दक्षिण भारत की यात्रा सम्पन्न कर उड़ीसा की यात्रा की। आगम सम्पादन में संलग्न सब साधुओं को रायपुर में रहने का निर्देश दिया। साधना का क्रम चलता रहता था। आचार्यवर उड़ीसा पधार गए। हम रायपुर रह गए। आचार्यवर का इंगित मिला कि सहवर्ती साधु-साध्वियों को ध्यान-साधना

का अभ्यास कराना है। उसके लिए ध्यान-पद्धति का निर्धारण करो। मैंने आचार्यवर के इंगित के अनुसार सप्त-साप्ताहिकी साधना-प्रयोग का निर्धारण किया और वह विधिवत् आचार्यवर के पास पहुंच गया।

१. **समताल श्वास**—केवल पूरक-रेचक। पूरक—आठ मात्रा, रेचक सोलह मात्रा। प्रथम आवृत्ति में जितना समय लगे, उतना ही अन्य आवृत्तियों में लगना चाहिए।

२. **समताल श्वास**—कुंभक सहित। पूरक—आठ मात्रा, रेचक—सोलह मात्रा, कुंभक—बत्तीस मात्रा।

३. **केवल कुंभक**—आधा मिनट, फिर दो मिनट समताल श्वास, फिर केवल कुंभक और फिर समताल श्वास। इस प्रकार सात आवृत्तियां।

४. नाभि चक्र से श्वास उठाकर हृदय चक्र तक लाना और वहां कुंभक कर उसका रेचन करना। कुंभक के समय हृदय की गहराई में चिन्मय, आनन्दमय और शक्तिमय की अनुभूति करना।

५. नाभि चक्र से श्वास उठाकर हृदय चक्र से लाते हुए विशुद्धि चक्र में लाना और वहां कुंभक कर उसका रेचन करना। कुंभक काल में आत्मा की ऊर्ध्वरिता के रूप में अनुभूति करना।

६. नाभि चक्र से श्वास उठाकर सिर के ऊपरी भाग तक ले जाना, वहां कुंभक करना। कुंभक के समय आत्मा की ऊर्ध्वरिता के रूप में अनुभूति करना।

७. णमो अरहंताणं—सिर पर श्वेत वर्ण की अनुभूति।

णमो सिद्धाणं—ललाट में लाल वर्ण की अनुभूति।

णमो आयरियाणं—कंठ चक्र में पीले वर्ण की अनुभूति।

णमो उवज्झायाणं—हृदय चक्र में नीले वर्ण की अनुभूति।

णमो लोए सव्वसाहूणं—पैरों के पास कृष्ण वर्ण की अनुभूति।

प्रत्येक पद पूरक-रेचक, मध्यवर्ती कुंभक के समय जपा जाए। जप मानसिक चले।

विशेष

१. हर क्रिया के साथ मूलबंध रहे
२. प्रत्येक क्रिया का समय २१ मिनट
३. पद्मासन, सुखासन या पालथी
४. रीढ़ की हड्डी सीधी
५. शिथिलीकरण।

ध्यान शिविरों का प्रारंभ

वि. सं. २०२० से हमने ध्यान के शिविर शुरू किए। उपासक योजना की क्रियान्विति के साथ शिविरों की एक श्रृंखला शुरू हो गई। आचार्यवर के मन में एक संकल्प बहुत समय से तैर रहा था—साधु और श्रावक के बीच एक नई श्रेणी की स्थापना करनी चाहिए। उदयपुर चतुर्मास (वि. सं. २०१९) में एक चिन्तन चला उसमें एक सुझाव उभर कर आया कि तीसरी श्रेणी के लिए कुछ व्यक्तियों को चुना जाए, उनकी प्रायोगिक जीवन शैली का परीक्षण किया जाए। इस चिन्तन के आधार पर कुछ व्यक्ति चुने गए। एक मासिक शिविर में उन्हें विशेष प्रशिक्षण देने का निर्णय किया गया।

वि. सं. २०२० (जुलाई १९६३) श्रावण कृष्णा एकम के प्रातःकाल का समय। उपासक संघ के शिविर का प्रारंभ हुआ। इस शिविर में साधना के अनुकूल जीवन शैली बनाने के लिए गंभीर चिन्तन-मंथन चला और ध्यान के प्रयोग भी कराए गए।

अग्निपरीक्षा प्रकरण : जप का विशेष प्रयोग

वि. सं. २०२९, चूरू चतुर्मास। रायपुर (मध्य प्रदेश) में लक्ष्मणदास नामक महन्त ने अग्निपरीक्षा के विरोध में आंदोलन शुरू कर दिया। वह आंदोलन सद्भावना से प्रेरित नहीं था। उसकी प्रतिच्छाया चूरू चतुर्मास में भी पड़ रही थी। संघर्ष प्रबल हो गया और हमने उसे धैर्यपूर्वक झेला। संघर्ष के क्षणों में एक विचार मन में कौंध गया। शक्ति का विकास और अधिक जरूरी है। ध्यान से आध्यात्मिक विकास भी होता है। शक्ति का संबंध प्राण-साधना से है। प्राण-ऊर्जा का विकास विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिए आवश्यक है। इस चिन्तन के साथ मैंने नमस्कार महामंत्र के दो पदों का जप-ध्यान शुरू किया।

'ॐ ह्रीं णमो अरहंताणं'–इस मंत्र का ललाट पर (ज्योति केन्द्र) सफेद रंग के साथ जप शुरू किया।

ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं–इस मंत्र का दोनों भृकुटि के मध्य आज्ञा-चक्र (दर्शन केन्द्र) पर अरुण रंग के साथ जप शुरू किया।

इस प्रयोग से मनोबल और मानसिक संतुलन बढ़ा, ऐसा मैं अनुभव करता हूं। प्रयोग काल में तैजस शरीर सक्रिय होता है। आभामंडल की पवित्रता और ओजस्विता बढ़ती है। जप-ध्यान काल में शांति की अनुभूति होती है। संपूर्ति के पश्चात् सहज प्रसन्नता का प्रसून खिलता है।

स्वास्थ्य के लिए दीर्घश्वास अपेक्षित है। जप-काल में सहज ही श्वास दीर्घ व मंद हो जाता है। जप ध्यान की प्रारंभिक भूमिका है। उसके प्रति उदासीनता का भाव मेरी दृष्टि में उचित नहीं है। साधना करने वाला व्यक्ति असद् विकल्प से सद् विकल्प की ओर जाए तथा सद् विकल्प से निर्विकल्प की ओर जाए। साधारण साधक निर्विकल्प की कक्षा तक नहीं पहुंच पाता। उसके लिए सबसे अच्छा उपाय है सत् विकल्प का चुनाव। सत् विकल्प का दीर्घकालिक प्रयोग उसे निर्विकल्प की ओर ले जाता है। जप का प्रारम्भ मंद उच्चारण के साथ और उसका पर्यन्त निर्विकल्प अवस्था के साथ हो तो जप बहुत शक्तिशाली प्रयोग बन जाता है।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था का शिविर

आचार्यवर की चतुर्वर्षीय दक्षिण यात्रा में भी ध्यान के अनेक प्रयोग चलते रहे। आचार्यवर उस प्रभावक यात्रा को सम्पन्न कर राजस्थान, चूरू जिले में पधारे। ध्यान का क्रम आगे बढ़ा और हमने शिविरों का आयोजन शुरू किया।

लाडनूं प्रवास वि. सं. २०२९ (मई १९७२), पारमार्थिक शिक्षण संस्था के भवन में एक मासिक शिविर का आयोजन। शिविर का केन्द्रीय विषय था जागरिका। ध्यान-योग की दृष्टि से यह पहला दीर्घकालिक और सुव्यवस्थित शिविर था। इसमें आचार्यवर का पूरा समय लगा। उसमें साधु-साध्वियां, श्रावक-श्राविकाएं सब सहभागी थे। मासिक साधना सत्र का उद्घाटन १ मई, १९७२ को प्रातः आचार्यवर की सन्निधि में हुआ। ५० शिविरार्थियों का लक्ष्य सामने रखकर शिविर की आयोजना की गई थी। ५१

शिविरार्थियों ने उसमें भाग लिया। संस्था-भवन के प्रांगण में हरा-भरा नीम का वृक्ष था। उसके नीचे शिविर का कार्यक्रम चलता। शिविर में डॉक्टर, प्राध्यापक, अध्यापक, उद्योगपति, व्यवसायी, छात्र, छात्राएं और महिलाएं, सबकी सहभागिता थी। साधु-साध्वियां और पारमार्थिक शिक्षण संस्था की मुमुक्षु भी शिविर में सहभागी थे। कुल मिलाकर १००-१२५ व्यक्ति साधना में उपस्थित रहते थे।

शिविर की समय-सारिणी निर्धारित की गई। उसके अनुसार ब्रह्ममुहूर्त में अर्हम् का सामूहिक जप। प्रातः साढ़े छह बजे योगासन, प्राणायाम, मुद्रा और बंध का प्रशिक्षण और प्रयोग। बहिनों को प्रयोग कराती साध्वी राजीमतीजी और भाइयों को प्रयोग कराते मुनि किशनलालजी। आठ बजे ध्यान का प्रयोग। ध्यान के पश्चात् प्रवचन और प्रवचन के पश्चात् कायोत्सर्ग। मध्याह्नकालीन गोष्ठी दो बजे से चार बजे तक, उसमें चिन्तन, चर्चा और प्रश्नोत्तर। सूर्यास्त के समय प्रयोग-विषयक चर्चा।

अनुसंधान जैन साधना-पद्धति का शिविर के उद्घाटन सत्र में शिविर के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए मैंने कहा—

आज हमारे जैन शासन में और तेरापंथ संघ में एक नया सूर्योदय हो रहा है। मैं बहुत वर्षों से एक कामना करता रहा, कि हमारे धर्मसंघ में दो विशेषताएं भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकसित होनी चाहिए। एक उपदेश-शाखा के रूप में और दूसरी ध्यान-शाखा के रूप में। अगर यह वृक्ष एक ही शाखा वाला होता तो सुन्दर नहीं लगता। इस वृक्ष की सुन्दरता इस बात में है कि कई शाखाएं हैं, मूल एक है। एक मूल पर कई शाखाएं होती हैं तब वृक्ष का विस्तार होता है। सारे वृक्ष में अगर सीधा तना होता तो छाया नहीं होती। छाया का विस्तार शाखाओं के विस्तार पर निर्भर है।

एक वह शाखा है जो उपदेश देने वाली है, लोगों को समझाने वाली है, लोगों को धर्म के प्रति आकृष्ट करने वाली है। दूसरी शाखा वह है जो ध्यान की गहराइयों में जाकर अन्तर् की शक्तियों को खोजे, ढूंढ़-निकाले और प्रस्तुत करे। ये दोनों बातें अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। आज तक हम लोग उपदेष्टा के रूप में चल रहे थे। मैं समझता हूं कि आज का दिन आचार्यप्रवर के नेतृत्व में ध्यान-शाखा के सूत्रपात करने की दिशा में बढ़ रहा है। इस शिविर में श्रावक-श्राविकाएं कुछ हैं। किंतु मुख्यतः यह हो रहा है साधु और साध्वियों के बीच में, और आचार्यप्रवर की उपस्थिति में। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ है। एक प्रकार से यह मानिए कि सारा का सारा कार्यक्रम आचार्यप्रवर के सान्निध्य में ही चलेगा। यह एक प्रयोग हो रहा है। सारा का सारा प्रायोगिक है। यह एक साधारण शिविर नहीं है। बीज का आरोपण हो रहा है। यह स्थायित्व लेगा। आज जो बीजारोपण हो रहा है, वह अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होगा।

जैन साधना-पद्धति, योग की पद्धति, जिसे कि हम भूल गए थे, विस्मृत हो गई थी, उसका पुनः अनुसंधान होगा और आचार्यश्री का वरद् हस्त एवं आशीर्वाद हमेशा मिलता रहेगा और हम अपनी कल्पनाओं में बहुत शीघ्र सफल होंगे।

शिविर के प्रथम दिन मैंने 'जागरिका' विषय पर प्रकाश डाला और चेतना की तीन अवस्थाओं— मूर्च्छा, जागृति और शुद्ध चेतना पर विस्तार से चर्चा की। मूर्च्छा का फलित है बहिर्मुखता, जागरिका का फलित है अन्तर्मुखता और शुद्धचेतना का फलित है वीतरागता।

शरीर के रहस्य और ध्यान

बहिर्मुखी व्यक्ति शरीर को ही वास्तविक जीवन मानता है। अंतर्मुखी व्यक्ति आत्मा और शरीर का भेद विज्ञान करता है। वीतराग व्यक्ति समस्त उपाधियों, द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है।

जागृति की प्रक्रिया में शरीर का घनिष्ठ संबंध है इसलिए चक्रों और सुषुम्ना के कार्यकलापों को जानना भी बहुत जरूरी है।

मैं हठयोग तथा स्वरोदय का गंभीरतापूर्वक अध्ययन कर चुका था। घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका, गोरक्षसंहिता—हठयोग के इन तीनों ग्रंथों ने मुझे बहुत प्रभावित किया। इनके आधार पर मेरी एक धारणा बनी कि शरीर के रहस्यों को समझे बिना ध्यान की गहराई तक नहीं पहुंचा जा सकता।

हठयोग का अपना शरीर-शास्त्र है। उसमें शरीर के मर्मस्थानों का अंतर्दृष्टि से प्रतिबोध दिया गया है। ध्यान की साधना करने वाले व्यक्ति को हठयोग का शरीर-शास्त्र, वैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपादित शरीर-शास्त्र, आयुर्वेद की दृष्टि से प्रतिपादित शरीर-शास्त्र और अध्यात्म की दृष्टि से प्रतिपादित शरीर-शास्त्र—इन सबका तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। 'जागरिका' के शिविर में इस दृष्टि की बहुत स्पष्टता हुई।

मैंने अनुभव किया कि शरीर के विषय में यदि सम्यक् जानकारी न हो तो ध्यान की उच्च भूमिका तक पहुंचने में कठिनाई होती है। हठयोग के छह चक्रों का सिद्धांत, वैज्ञानिक शरीर-शास्त्र का नाड़ी-तंत्र और ग्रंथि-तंत्र का सिद्धांत, आयुर्वेद में लगभग १५० मर्म स्थानों तथा पांच प्राणों का सिद्धांत और अध्यात्म के स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का सिद्धांत—ध्यान के विकास के लिए इनका ज्ञान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

मैं कर्मशास्त्र के अध्ययन के समय सोचता था कि स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का प्रतिबिम्ब है इसलिए कर्म की हर रश्मि का स्थूल शरीर में संवादी केन्द्र होना चाहिए। शरीर-शास्त्रीय अध्ययन से उस चिन्तन को नया आयाम मिला। यह धारणा स्पष्ट हो गई कि चक्र, अन्तःस्रावी ग्रंथियां आदि सब कर्म शरीर के संवादी केन्द्र हैं।

नासाग्र : प्राण का मुख्य केन्द्र

मैंने प्राणपथ, सुषुम्ना और प्राणकेन्द्र पर विशेष ध्यान दिया। एक प्रश्न उपस्थित हुआ कि भगवान महावीर नासाग्र पर दृष्टि टिकाकर ध्यान करते थे। उन्होंने नासाग्र को क्यों चुना? हठयोग से इसका उत्तर मिला। नासाग्र प्राण का मुख्य केन्द्र है। यहां मन को टिकाते ही प्राण स्थिर हो जाता है, मूलनाड़ी तन जाती है, सहज ही मूलबंध हो जाता है। नासाग्र-ध्यान प्राण पर विजय पाने का शक्तिशाली साधन है। भगवान ने भी ध्यान काल में शरीर के अवयव का आलम्बन लिया। ध्यान की प्रगति के लिए शरीर का आलम्बन लेना अत्यन्त जरूरी है। हमारा शरीर केवल सप्त धातु का पुतला ही नहीं है, उसमें चेतना है और उसके केन्द्र बने हुए हैं। उसमें प्राण-ऊर्जा है और उसके केन्द्र बने हुए हैं। उन केन्द्रों का ज्ञान और पहचान साधना पथ के विश्रामगृह हैं।

इस शिविर से पहले हम केवल ध्यान की चर्चा तक सीमित थे। प्रस्तुत शिविर में ध्यान और शरीर दोनों एक कक्षा में आ गए। शिविर के सहभागियों ने अनुभव किया कि शरीर के रहस्यों को जाने बिना हम साधना की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकते।

सामान्य अवधारणा यह है कि स्वभाव नहीं बदलता, आदतें नहीं बदलती। प्रस्तुत शिविर में इस विषय पर बहुत गहराई से चिन्तन किया गया और निष्कर्ष की भाषा में मैंने कहा—स्वभाव को बदला जा सकता है, आदतें बदली जा सकती हैं, यदि हम सूक्ष्म शरीर से सम्पर्क स्थापित कर सकें और उससे आने वाली भाव-तरंगों का परिष्कार कर सकें।

शरीर संवर के प्रयोग

कायोत्सर्ग का प्रयोग शिविर में आकर्षण का विषय रहा। जैन साधना पद्धति में कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है मगर उसकी विधि ज्ञात नहीं है। कायोत्सर्ग शतक के अध्ययन के पश्चात् उसके विषय में स्पष्टताएं हुईं, फिर भी उसकी विधि का निर्धारण नहीं किया जा सका। जैन साधना पद्धति में दो शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं संवर और निर्जरा। साधना की दृष्टि से इन्हें दो शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—

१. निर्जरा—चित्त पर्याय का निर्माण　　२. संवर—चित्तातीत अवस्था

भगवान महावीर ने चित्तातीत साधना को प्रमुखता दी। चित्त निर्माण की साधना से साधक को उपलब्धियां होती हैं। चित्तातीत साधना से वह अस्तित्व तक पहुंच सकता है।

संवर के तीन प्रकार हैं—

१. शरीर का संवर　　२. वाणी का संवर　　३. मन का संवर

उत्तराध्ययन सूत्र का सम्पादन करते समय इस विषय पर हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ। प्रस्तुत शिविर में मैंने इसकी विस्तार से चर्चा की।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः' इस विषय पर विमर्श होना जरूरी है। बहुत-से विचारकों की धारणा में मन की चंचलता साधना के विकास में प्रमुख बाधा है। उत्तराध्ययन से यह सूत्र मिला कि मन की चंचलता पहली बाधा नहीं है। पहली बाधा है शरीर की चंचलता। कायोत्सर्ग, कायगुप्ति—ये शरीर-संवर के प्रयोग हैं। इनके सिद्ध होने पर मन की चंचलता सहज ही कम होती है। जैन दर्शन के अनुसार प्रवृत्ति का मूल स्रोत शरीर है। वाणी और मन की चंचलता बढ़ाने वाली पौद्गलिक सामग्री का शरीर के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है। शरीर की स्थिर अवस्था में उस सामग्री का ग्रहण नहीं होता। वाणी और मन की चंचलता अपने आप कम हो जाती है।

शरीर संवर का दूसरा रहस्य यह है कि स्थूल शरीर की प्रवृत्ति का निरोध होता है तब सूक्ष्म शरीर पर सीधी चोट होती है और वह प्रकम्पित हो जाता है। प्रकम्पन के साथ ही अनन्त परमाणु बिखरने लग जाते हैं और भाव का परिष्कार हो जाता है।

चित्त-पर्याय का निर्माण साधक को मध्यवर्ती पड़ाव तक ले जा सकता है किन्तु मंजिल तक नहीं पहुंचा सकता। मंजिल तक पहुंचाने वाला तत्त्व है चित्तातीत अवस्था। उसके सिद्ध होने पर चित्त-पर्याय के निर्माण की चिन्ता करना आवश्यक नहीं होता, वह कार्य अपने आप हो जाता है।

महावीर की साधना का प्रमुख तत्त्व संवर है। उन्होंने जो साधना की, वह आत्मकेन्द्रित होकर की, आत्मा के लिए की। आत्मकेन्द्रित होने का अर्थ है संवर। संवर और आत्मा दो नहीं हैं।

काय संवर और काय गुप्ति के विषय में प्रयोग की अवधारणा स्पष्ट नहीं हो रही थी पर उसका दर्शन बहुत स्पष्ट हो गया। उसके आधार पर मैंने शरीर-संवर की साधना शुरू की।

मौलिक मनोवृत्ति और संज्ञा

मध्याह्न में आचार्यवर की सन्निधि में गोष्ठी होती। उसमें ध्यान तथा दर्शन के विषय में चर्चाएं होती। जिज्ञासा-समाधान का क्रम चलता।

एक व्यक्ति ने एक दिन पूछा—मनोविज्ञान में मौलिक मनोवृत्तियों का जैसा निर्धारण है वैसे ही योग में क्या इनका निर्धारण है? इस प्रश्न के उत्तर में मैंने दस संज्ञाओं का प्रतिपादन किया। जैन साधना पद्धति के अनुसार हर प्राणी में दस संज्ञाएं होती हैं—

१. क्रोध
२. मान
३. माया
४. लोभ
५. आहार
६. भय
७. मैथुन
८. परिग्रह
९. ओघ (सामुदायिक संज्ञान)
१०. लोक (व्यक्तिगत संज्ञान)

मनुष्य के जीवन में जितने उतार-चढ़ाव आते हैं, जितनी समस्याएं आती हैं वे सब इन संज्ञाओं के माध्यम से मन में संक्रांत होती हैं।

प्राण मन को उत्पन्न करता है और संज्ञाएं उसे दोषपूर्ण बनाती हैं। मन को सुधारने का प्रयत्न मूल को पकड़ना नहीं है। मूल को पकड़ने का अर्थ है संज्ञाओं का संशोधन।

२४ मई तक ध्यान के प्रयोग चलते रहे। कुछ दार्शनिक चर्चाएं भी चली। २५ मई को शिविर के मूल्यांकन का कार्य शुरू किया गया। संक्षेप में उसका निष्कर्ष है कि शिविरार्थियों के मन में ध्यान के प्रति आकर्षण पैदा हो गया।

जागरिका का शिविर योजनापूर्वक किया गया। निश्चित समयसारिणी, निश्चित प्रवचन के विषय और निश्चित व्यवस्था। सब कुछ निश्चित था। सबसे बड़े आनन्द का विषय था आचार्यवर का निरन्तर सान्निध्य। उस सान्निध्य ने शिविर को प्राणवान बना दिया। आचार्य तुलसी का व्यक्तित्व जीवन्त था। उनकी छत्रछाया में रहकर निष्प्राण भी प्राणवान बन जाता था।

अमृत प्लावन का नया प्रयोग

शिविर का संचालन डॉ. मन्नालालजी बैद (सुजानगढ़) के हाथ में था। वे होमियोपैथी के चिकित्सक थे। ध्यान योग के प्रति समर्पित थे। हमारे ध्यान शिविरों में वे लम्बे समय तक सेवा देते रहे। शिविर में छोटे-बड़े अनेक साधक थे, उनमें मोहनलालजी कठोतिया विशेष उल्लेखनीय हैं। वे बहुत प्रबुद्ध थे। उनमें साधना का भाव भी प्रबल था। अमृत प्लावन का प्रयोग एक नया प्रयोग था। जिस समय वह प्रयोग कराया उनकी मुद्रा दर्शनीय बन गई।

अमृत-प्लावन : प्रयोग विधि

सुखासन, कायोत्सर्ग की मुद्रा, अर्हं की ध्वनि। कल्पना करें—हम स्वच्छ आकाश के नीचे बैठे हैं, चांद की निर्मल चांदनी चारों ओर फैल रही है। उससे अमृत झर रहा है। हम प्रत्येक श्वास के साथ उसे पी रहे हैं। निःश्वास के साथ अमृत के कण बाहर आ रहे हैं, चारों ओर फैल रहे हैं, सारा वातावरण अमृतमय बन रहा है।

यह १५ मिनिट का प्रयोग इतना सजीव बना कि साधक अमृतपान की अनुभूति करने लग गए।

विवेक-ख्याति का प्रयोग

कायोत्सर्ग के साथ विवेक-ख्याति का प्रयोग कराया गया। शरीर और आत्मा की भिन्नता की अनुभूति करना विवेक-ख्याति है। इसका दूसरा नाम भेद-विज्ञान है। देहाध्यास से मुक्ति पाने के लिए यह महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

विवेक-ख्याति प्रयोग-विधि

सुखासन, कायोत्सर्ग की मुद्रा, मंद श्वास।

१. दही और मक्खन एकमेव रहते हैं। मथानी चलती है, छाछ अलग और मक्खन अलग। इसी प्रकार भावना के प्रयोग से शरीर और आत्मा के भेद की अनुभूति हो जाती है।

२. मिट्टी और धातु एकमेव रहते हैं। अग्नि के प्रयोग से मिट्टी अलग और धातु अलग। इसी प्रकार भावना के प्रयोग से शरीर और आत्मा के भेद की अनुभूति हो जाती है।

३. तिल और तैल एकमेव रहते हैं। कोल्हू में पेरने पर खल अलग और तैल अलग। इसी प्रकार भावना के प्रयोग से शरीर और आत्मा के भेद की अनुभूति हो जाती है।

यह विवेक-ख्याति का प्रयोग बहुत उपयोगी रहा। इससे शवासन और भेद-विज्ञान की बात स्पष्ट हो गई।

प्राण का सिद्धांत

हठयोग का अभिमत है—'जो नाड़ी को नहीं जानता, प्राण और प्राणपथ को नहीं जानता, वह साधक नहीं हो सकता।' प्राण का सिद्धान्त बहुत व्यापक है। जागरिका शिविर में हमने प्राण और श्वास के भेद को समझने का प्रयत्न किया। प्राण संवर और श्वास संवर के बारे में धारणा स्पष्ट हुई। प्राण का अर्थ है स्पन्दन। उसकी उत्पत्ति तैजस शरीर के द्वारा होती है। मस्तिष्क को सक्रिय रखने के लिए २० वोल्ट विद्युत् की आवश्यकता है। उसके बिना मस्तिष्क सक्रिय नहीं रह सकता। शरीर को सक्रिय रखने के लिए काफी ऊर्जा आवश्यक है। हमारे शरीर में छह ऊर्जा केन्द्र हैं—

१. आहार पर्याप्ति	२. शरीर पर्याप्ति	३. इन्द्रिय पर्याप्ति
४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	५. भाषा पर्याप्ति	६. मनःपर्याप्ति।

प्राण का मूल केन्द्र तैजस शरीर है। उसकी अवस्थिति नाभि के नीचे है।

प्राण के दो प्रकार हैं–

१. सामान्य प्राण २. विशेष प्राण।

सामान्य प्राण पूरे शरीर में विद्यमान है। जहां प्राण नहीं है, वहां जीवन नहीं है। प्राण और जीवन दोनों साथ-साथ चलते हैं। जहां प्राणधारा नहीं पहुंच पाती, वह अवयव शून्य हो जाता है। विशेष प्राण शरीर के कुछ ऊर्जा केन्द्रों में होता है।

साधना का क्रम सामान्य व्यवहार के विपरीत है। साधक की गति स्पन्दन से निष्पन्दन की ओर, सक्रियता से निष्क्रियता की ओर तथा चंचलता से स्थिरता की ओर होती है। यह प्राण-निरोध की प्रक्रिया है। स्पन्दन को निष्पन्दन की अवस्था में ले जाना वास्तव में कर्म की शक्ति को तीव्र करने की अद्भुत कला है।

मनःप्राण का निरोध किए बिना मन शांत नहीं होता। मन की शांति के बिना अस्तित्व का बोध नहीं होता। मन सक्रिय रहता है तब अस्तित्व की धारा निष्क्रिय हो जाती है। मन को निष्क्रिय करने के लिए प्राण की धारा को रीढ़ की हड्डी में प्रवाहित करना आवश्यक है। प्राण जब सुषुम्ना में प्रवाहित होता है तब मन शांत हो जाता है। उस समय अस्तित्व की अनुभूति स्पष्ट हो जाती है। प्राण को मध्यवर्ती धारा में प्रवाहित करने के लिए कुछ रास्ते खोजने हैं।

एक रास्ता है कपालभाती प्राणायाम। कपालभाती प्राणायाम के प्रयोग से प्राण की धारा इधर-उधर से सिमट कर बीच के मार्ग से प्रवाहित होने लग जाती है।

उसका दूसरा रास्ता है त्रिबंध–उड्डीयान बंध, जालंधर बंध और मूलबंध का प्रयोग। इस त्रिबंध के प्रयोग से प्राण की धारा मध्य मार्ग से प्रवाहित होने लग जाती है।

तीसरा रास्ता है दीर्घश्वास। दीर्घश्वास के प्रयोग से प्राण की धारा मध्यवर्ती हो जाती है।

मैंने दीर्घश्वास का अनुभव किया है और उसका नाम दिया है कोटि प्राणायाम। जैन साधना पद्धति में एक तपस्या का नाम है–कोटि-प्रत्याख्यान।

'कोटि प्राणायाम'–इस नाम की सार्थकता है। एक लम्बा श्वास लिया और पहला श्वास पूरा होते ही दूसरा श्वास उसके साथ संलग्न हो जाता है। बीच में विराम नहीं होता। श्वास का वर्तुल बन जाता है। एक का अंत होता है और दूसरे का प्रारम्भ। दोनों के बिन्दु बराबर मिल जाते हैं। यह है दीर्घश्वास का कोटि प्राणायाम।

श्वास और श्वास-प्राण

योग साधना के समय यह सुझाव दिया जाता है कि श्वास को नाभि तक ले जाओ। श्वास को पैर के अंगूठे तक ले जाओ। पर वास्तव में श्वास फुफ्फुस से नीचे नहीं जाता। प्राण की गति सर्वत्र है। इसलिए कहीं-कहीं प्राण के अर्थ में भी श्वास का प्रयोग किया जाता है। श्वास और श्वास-प्राण–दोनों एक नहीं हैं। श्वास-प्राण के द्वारा गृहीत श्वास-वर्गणा के पुद्गलों का नाम है श्वास। श्वास को ग्रहण करने वाली शक्ति का नाम है श्वास-प्राण। श्वसन-तंत्र की शक्ति प्राण की ऊर्जा है। उससे ऑक्सीजन का ग्रहण होता है, वह श्वास है।

हठयोग में श्वास-निरोध (कुंभक) का बहुत महत्त्व है। जैन साधना पद्धति में भी श्वास-निरोध का महत्त्व कम नहीं है। श्वास-निरोध का नाम है श्वास-संवर। तथ्य एक होता है, भाषा भिन्न हो जाती है।

जैन साधना पद्धति में उपवास का बहुत महत्त्व है। उपवास का एक अर्थ क्या श्वास संवर नहीं है? उपवास में श्वास शांत हो जाता है। श्वास की स्वाभाविक गति का अनुपात है एक मिनिट में १५ श्वास। एक व्यक्ति पहाड़ की चढ़ाई करता है और श्वास की संख्या बढ़ जाती है। चढ़ाई में अतिरिक्त शक्ति लगानी पड़ती है। अतिरिक्त शक्ति लगाने के कारण ऑक्सीजन की अधिक मात्रा की अपेक्षा हो जाती है और कार्बनडाईऑक्साइड निकालने के लिए अधिक श्रम करना पड़ता है। प्रवृत्ति बढ़ती है, कार्बन की मात्रा बढ़ जाती है। प्रवृत्ति घटती है, ऑक्सीजन लेने की मात्रा घट जाती है। उस स्थिति में फेफड़ों को अधिक ऑक्सीजन लेने और कार्बनडाईऑक्साइड को निकालने के लिए अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। श्वास की गति अपने आप तेज हो जाती है और उसकी संख्या बढ़ जाती है।

एक व्यक्ति आवेश से आविष्ट होता है—चिन्ता, भय, क्रोध और वासना का आवेग जैसे ही मन में आता है, श्वास की गति तेज हो जाती है, उसकी संख्या बढ़ जाती है।

एक व्यक्ति उपवास करता है, श्वास की गति मंद हो जाती है। हलका आहार करता है, श्वास की गति मंद हो जाती है। उपवास और अल्पाहार में श्वास की गति मंद होती है। आवेश की स्थिति में श्वास की गति तेज होती है। इसका तात्पर्य है कि उपवास करने वाला सहज ही श्वास का संवर कर लेता है। श्वास संवर का फलित है मानसिक संतुलन।

आत्मा, मन और श्वास

महावीर ने कहा—आत्मा को देखो। कुछ साधकों ने कहा—मन को देखो और कुछ ने कहा—श्वास को देखो। इन तीनों वक्तव्यों में भाषा का भेद है। गहरे में उतरकर देखें तो ज्ञात होगा कि इनमें तात्पर्य भेद नहीं है। जैसे ही आप भीतर की ओर देखेंगे, श्वास मंद हो जाएगा। जैसे ही आप मन को देखेंगे, उस पर ध्यान देंगे, श्वास मंद हो जाएगा। जैसे ही श्वास को देखेंगे, श्वास मंद हो जाएगा।

जो व्यक्ति मन की साधना करता है उसके प्राण और अपान का संयम स्वतः हो जाता है। प्राण और अपान की साधना शुरू करते समय मन अपने आप विलीन हो जाता है। बहुत बार एक चिन्तन सामने आता है कि महावीर ने संवर और निर्जरा का सिद्धांत दिया फिर हम प्राण, अपान और चक्रों की बात क्यों करते हैं? इसका उत्तर महावीर की साधना के प्रयोग से मिलता है। भगवान महावीर एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाकर अनिमेष प्रेक्षा (त्राटक) का प्रयोग करते थे। नासाग्र पर, तिर्यग् भित्ति पर दृष्टि टिकाकर ध्यान करते थे। हम स्वयं यह प्रयोग करें। नासाग्र पर अनिमेष दृष्टि टिकाएं, अपलक रहें। श्वास मंद और प्राण का संयम अपने आप हो जाएगा। यदि श्वास मंद नहीं होता, प्राण पर नियंत्रण नहीं होता तो अनिमेष प्रेक्षा का अभ्यास हो नहीं सकता।

पादाङ्गुष्ठासन का अभ्यास तभी हो सकता है जब श्वास मंद हो। यदि श्वास मंद नहीं है तो पादाङ्गुष्ठासन का अभ्यास नहीं हो सकता। कुछ व्यक्ति एक आसन पर पांच-दस घण्टों तक बैठ सकते हैं। वे ही बैठ सकते हैं जिनका प्राण और श्वास पर नियंत्रण है। जिनका प्राण पर नियंत्रण नहीं है, वे श्वास के साथ शरीर का सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकते।

साधना का पहला सोपान

श्वास को सूक्ष्म करने का अभ्यास साधना का पहला सोपान है। श्वास शांत होता है, आंतरिक वृत्तियां शांत हो जाती हैं, कषाय उपशांत हो जाता है। उपशांत कषाय की स्थिति में श्वास-संयम का अभ्यास अपने आप हो जाता है। हम मंद श्वास और उपशांत कषाय—दोनों में से किसी को लें, हमारी गति लक्ष्य की ओर हो जाती है। जो व्यक्ति कषाय को उपशांत करने की साधना करता है उसके श्वास का संयम अपने आप हो जाता है। जो व्यक्ति श्वास-संयम की साधना करता है उसके उपशम की साधना अपने आप हो जाती है।

आचार्य तुलसी का शासनकाल क्रांतिकारी था। क्रांति के साथ संघर्ष का नियम है। संघर्ष का सामना मुझे भी करना पड़ा। उस स्थिति में अनेक व्यक्तियों के उच्चावच भाव सामने आते थे। कभी अप्रिय बात, कभी कटु वचन, कभी आक्षेप—अनेक प्रकार के उत्तेजना के क्षण सामने आते। मैं उन सबको मुस्कान के साथ टाल देता। इस उपशम की स्थिति के निर्माण में दीर्घश्वास का प्रयोग बहुत सहायक बना। केवल दीर्घश्वास के प्रयोग को ही उट्टंकित नहीं कर सकता, उसके साथ अनेकांत का दर्शन भी सहयोगी बना। मेरा यह निश्चित मत है कि अनेकांत को हृदयंगम करने वाला व्यक्ति दूसरों के विचारों को शांति के साथ सुन सकता है और प्रतिकूल विचार की स्थिति में भी शांत रह सकता है।

मैं परिवर्तन में विश्वास करता हूं। जैसे वस्तु में परिवर्तन होता है वैसे मनुष्य के स्वभाव में भी परिवर्तन होता है। परिवर्तन के प्रतिपक्ष में कुछ मंतव्य मिलते हैं। पंचतंत्र का एक श्लोक है—

स्वभावो नोपदेशेन, शक्यते कर्तुमन्यथा।
सुतप्तमपि पानीयं, शमयत्येव पावकम्।।

उपदेश से स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। इसका उदाहरण है गर्म जल। क्या गर्म जल आग को नहीं बुझाता?

राजस्थानी का एक दोहा भी इसी विषय का स्पर्श करता है—

ज्यांरा पड्या स्वभाव, जासी जीव स्यूं।
नीम न मीठो होय, सींचो गुड़ घीव स्यूं।।

परिवर्तन के लिए श्वास का प्रयोग बहुत उपयोगी है। कायोत्सर्ग की मुद्रा में संकल्प के साथ इसका प्रयोग किया जाता है तो इसकी उपयोगिता और अधिक बढ़ जाती है।

मैं आत्मा को मानता हूं, जानता नहीं

जुगलकिशोर मुख्तार की एक प्रश्नावली मेरे पास आई। उसमें आत्मा के विषय में कुछ प्रश्न थे। उनका उत्तर मांगा गया। उनके उत्तर मैंने लिखे। उनमें एक बात लिख दी—मैं आत्मा को मानता हूं, जानता नहीं। वह लेख कादम्बिनी में प्रकाशित हुआ और चर्चा का वातूल खड़ा हो गया। आचार्यवर के पास बड़े-बड़े श्रावकों के बड़े-बड़े पत्र आए। उनका सार-संक्षेप यह था कि एक जैन मुनि कैसे कह सकता है कि मैं आत्मा को नहीं जानता। जो आत्मा को नहीं जानता, वह जैन मुनि कैसे हो सकता

है? उस समय आचार्यवर बीदासर में विराज रहे थे। पश्चिम रात्रि में मैं वन्दना करने के लिए गया। आचार्यवर ने कहा–'तुमने यह क्या लिख दिया। देखो यह कागजों का पुलिन्दा। प्रमुख श्रावकों के प्रश्न आ रहे हैं।'

मैंने विनम्र स्वर में कहा–'आचार्यवर! मैंने जो लिखा वह संभवतः श्रावक नहीं समझ पाए और वे नहीं समझ पाए उसका कारण भी मैं जानता हूं। वे संभवतः मानने और जानने के अंतर को नहीं समझ पा रहे हैं। इसीलिए उनके मन में द्वन्द्व पैदा हुआ है।'

मेरे लेख के विषय में प्रबल प्रतिवाद किया गया, फिर भी मैंने अनुभव किया कि उनके प्रति मेरे मन में कोई आक्रोश नहीं है। मैंने उनसे बातचीत की। मानने और जानने की बात को समझाया और वे संतुष्ट हो गए।

न रहे अंतस्ताप

एक धारणा बनी हुई है कि कठोर व्यवहार के बिना समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता। इस धारणा पर हम विभज्यवादी शैली से विचार करें। अंतस्ताप और कठोरता कभी संयुक्त होते हैं और कभी वियुक्त। उपशम की साधना अंतस्ताप को विलीन करने की साधना है। व्यवहार में प्रशासनिक स्तर पर कभी कठोरता को अपनाया जा सकता है। यदि अंतस्ताप न हो तो औपचारिक कठोरता तनाव पैदा करने वाली नहीं होती। केवल दूसरे के उफान पर छींटा देने वाली होती है।

आचार्यवर अणुव्रत भवन दिल्ली में प्रवास कर रहे थे। प्रवचन हो रहा था। शुभकरणजी दसानी मंच पर बैठे हुए थे। कुछ युवक आक्रामक मुद्रा में बोलने लगे। आचार्यवर के सामने ऐसा व्यवहार करना हमारी संघीय परम्परा के प्रतिकूल था। मैंने उस स्थिति को देखा और प्रशासनिक कठोरता के साथ कहा– 'आचार्यवर के सम्मुख ऐसा व्यवहार करने वाले व्यक्ति धर्मसंघ की मर्यादा का अतिक्रमण कर रहे हैं। वे नहीं जानते हैं कि दसानीजी ने जो धर्मसंघ की सेवा की है, वह अपूर्व है। वे इसे जानने का प्रयत्न करें। यदि वे शांत रहना चाहें तो सुनें अन्यथा वे किसी अन्य कार्य में अपने को नियोजित करने में स्वतंत्र हैं। वे यहां रहें या न रहें, इसका निर्णय अपने विवेक से करें।'

यह आंतरिक आवेश नहीं था। कभी-कभी बाहरी आवेश उपयोगी होता है और वह वातावरण को बदल देता है।

ध्यान के प्रयोग और स्वभाव परिवर्तन की दृष्टि से जागरिका शिविर नई दृष्टि देने वाला रहा। उसे सम्यक् चारित्र की अपेक्षा सम्यक् दर्शन का शिविर कहना अधिक उपयुक्त होगा।

शक्ति संचय के लिए अनुष्ठान

हिसार हरियाणा का प्रमुख केन्द्र है। आचार्यवर ने सन् १९७३ का चातुर्मासिक प्रवास वहां किया था। सन् १९७४ में भगवान महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी का आयोजन था। उस बृहत्तम आयोजन की सफलता के लिए आवश्यक था शक्ति संचय। शक्ति संचय के लिए एक अनुष्ठान का चिन्तन किया गया। आचार्यवर ने वि. सं. २०३० आश्विन के शुक्ल पक्ष में वह अनुष्ठान प्रारंभ किया। अनुष्ठान के विषय में

आचार्यवर ने डायरी में लिखा–'आज सवेरे से विशिष्ट अवसर में एक विशिष्ट साधना चालू हो गई। प्रतिदिन तीन वक्त ढाई घंटे की साधना चले। उसमें जप की प्रधानता रहेगी। मंत्र निम्नलिखित है–

ॐ ह्रीं श्रीं णमो अरहंताणं

ॐ ह्रीं श्रीं णमो सिद्धाणं

ॐ ह्रीं श्रीं णमो आयरियाणं

ॐ ह्रीं श्रीं णमो उवज्झायाणं

ॐ ह्रीं श्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं

ॐ ह्रीं श्रीं णमो नाणस्स

ॐ ह्रीं श्रीं णमो दंसणस्स

ॐ ह्रीं श्रीं णमो चरित्तस्स

ॐ ह्रीं श्रीं णमो तवस्स

एक-एक मंत्र की नव-नव माला, एक बार में ८१ माला होगी। तीन वक्त जप होगा।

खाद्य संयम में केवल सफेद वस्तुओं का प्रयोग किया।

इस २७ दिवसीय प्रयोग ने एक शक्तिशाली आंतरिक वातावरण का निर्माण किया। भगवान महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी का आयोजन बहुत सफल रहा। उसमें आचार्यवर का नेतृत्व बहुत प्रभावी रहा।

संघमुक्त साधना का प्रयोग

१ अप्रैल, १९७३, वि. सं. २०२९ चैत्र कृष्णा १२। लाडनूं पारमार्थिक शिक्षण संस्था के प्रांगण में आचार्यवर का प्रवास। संघमुक्त साधना का पहला प्रयोग।

संघमुक्त साधना का प्रयोग किया जाए और उसका परिणाम देखा जाए। अनेक वर्षों से यह सपना केवल सपना बना हुआ था। लगता है भीतर में वह आकार ले रहा था। संघमुक्त साधना के लिए मुनि मीठालालजी का मानस था और मैं उनका प्रबल समर्थक था। आखिर एक दिन आया, सपना यथार्थ बन गया। इस विषय में आचार्यवर की डायरी के कुछ पृष्ठ द्रष्टव्य हैं–

'इन दिनों लाडनूं का वातावरण काफी अच्छा रहा। तीनों वक्त कार्यक्रम चलते रहे। प्रश्नोत्तर भी अच्छे चले। मुनि मीठालालजी भी वहां हमसे पहले पहुंच गए। उनसे काफी बात हुई। साधना की भूमिका पर वे पहुंचना चाहते हैं। संघमुक्त होकर, सहाय निरपेक्ष होकर साधना करना चाहते हैं।

मनोबल मजबूत पाया। एक बड़ी रिस्क उठाई। निर्णय किया। साधुओं से जाचा। साध्वियों से चर्चा की। सबको अनुकूल बनाया। सब भाइयों को भी संकेत किया। खेमचंदजी सेठिया जैन विश्व भारती के अध्यक्ष वहां आए हुए थे। उन्हें रोक लिया। राणमलजी भी रुके। और भी कई गांवों के लोग आ गए।[1]

१. डायरी १, चैत्र कृष्णा १२, वि. सं. २०२९, १ अप्रैल, १९७३

'आज प्रातःकाल प्रवचन पण्डाल खचाखच भरा था। हम मुनि मीठालालजी को हाथ से नाश्ता करा कर साथ लेकर साधु-साध्वियों के परिवार सहित पण्डाल में पहुंचे। प्रवचन किया। प्रोग्राम निश्चित था ही। मेरे निर्देश से मुनि मीठालाल खड़ा हो गया। संघमुक्त एवं ध्यान योग की साधना की भूमिका प्रशस्त की। उसने अपनी अभ्यर्थना व्यक्त की। मेरी प्रसन्नमना स्वीकृति की याचना की। उसकी आंखें हर्षाश्रुओं से परिप्लुत थी। विनम्रता शब्द शब्द में व्याप्त थी। समर्पण शब्दातीत था। साधु-साध्वियां हर्षविभोर थीं। मुनि मीठालाल ज्योंही अपना वक्तव्य समाप्त कर खड़ा खड़ा मांग कर रहा है कि बापू! मुझे सम्प्रदाय मुक्त साधना के लिए अत्यंत अनुग्रह से स्वीकृति दे। आपकी प्रसन्न स्वीकृति बिना मैं नहीं जाऊंगा। फिर मैंने अपना वक्तव्य दिया। उसमें उसकी भावना और मेरे चिन्तन का स्पष्टीकरण किया। उसके समर्पण का मूल्यांकन किया। मैंने कहा—यह एकदम साधना के लिए कटिबद्ध है। किसी से रुकने वाला नहीं पर मैं यदि अभी भी अस्वीकार कर दूं तो इसका इतना प्रबल समर्पण है कि बिल्कुल रुक जाएगा। ऐसे व्यक्ति को मैं अस्वीकृत कैसे कर सकता हूं?

मुझे दो ही बातों का विचार है। एक तो इसका शरीर बहुत कोमल है, साधना बहुत कठोर है। दूसरी बात है संघ को मुझे आश्वस्त करना होगा।

बाद में फिर मीठालाल बोला—संघ के बारे में, संघपति, साधु-साध्वियों और तारांचद आदि के बारे में अच्छा बोला। बैठ गया। अब नथमलजी को मैंने निर्देश दिया। उन्होंने आधा घण्टा तक पूरा स्पष्टीकरण बड़ी मृदुता तथा स्पष्टता से किया। बहुत रोचक तरीके से किया। वातावरण इतना सुहावना और आकर्षक बन गया कि सब कहते नहीं बनता।

एक अभूतपूर्व एवं अद्भुत घटना है। सारी घटना जनता चित्रवत् देखती रही। आखिरकार प्रवचन सम्पन्न हुआ। हम सम्पत भूतोड़िया के घर गए, जहां हम दिन में रहते थे। मीठालाल वंदन कर रहा है। सामने कनकप्रभा खड़ी है। सेवाभावीजी खड़े हैं तथा नथमलजी, रूपचंद आदि खड़े हैं। अब वह गण व्युत्सर्ग कर रहा है। साधु दरवाजे तक साथ गए। वहां से वह संघमुक्त हो गया। अकेला अपना भार कांधे लादे दिखणादे दरवाजे के बाहर सरावगियों के मंदिर में ठहरा। अब हमारे संघ से वह मुक्त हो गया है। वंदना-व्यवहार लेन-देन सब बंद है। अकेला आबू पर्वत की ओर चल पड़ा। अब से वह ध्यान योग की भूमिका में ध्यानयोगी रहेगा। यह अनोखा गण व्युत्सर्ग सबके लिए सुखद लगा। प्रायः प्रतिक्रिया सुखद रही। यह व्यक्ति संघ, समाज सबके लिए हितकर होगा। ऐसा संभव है, बहुत संभव है।'[१]

संघमुक्त साधना का प्रयोग आकस्मिक रीति से नहीं किया गया। प्रयोग से पूर्व चिन्तन किया गया और उसके लिए एक व्यवस्था पत्र भी लिखा गया। वह मुनि मीठालालजी को भी पढ़ाया गया और साधु-साध्वियों की परिषद् में प्रस्तुत किया गया।

आचार्यवर ने पत्र लिखने के लिए मुझे निर्देश दिया। मैंने वह पत्र लिखकर आचार्यवर के सामने रखा। आचार्यवर ने उसे पढ़ा। एक वाक्य 'विशिष्ट साधना की भावना के प्रति' उसमें जोड़ा और शेष पत्र को यथावत् रखकर अपनी स्वीकृति दे दी। वह पत्र संघमुक्त साधना की दृष्टि से दिशादर्शक पत्र है।

१. डायरी २ अप्रैल १९७३, चैत्र कृष्णा १२, वि. सं. २०२९

अर्हम्

जैन शासन में साधना का सर्वोपरि महत्त्व है। भगवान महावीर ने त्रिविध साधना (ज्ञान-आराधना, दर्शन-आराधना, चारित्र-आराधना) का विधान किया था। उसका विकास करने के लिए भगवान ने दो पद्धतियां निरूपित कीं–

१. संघबद्ध साधना २. संघमुक्त साधना

इन दोनों पद्धतियों का अपना-अपना मूल्य है। साधक अपनी रुचि, भावना और क्षमता के आधार पर इन्हें स्वीकार करते थे।

साधना का प्रारंभ प्रायः संघबद्ध साधना से होता था। सामुदायिक साधना की रुचि वाले तथा सहयोगापेक्षी साधक संघ में रहकर ही साधना करते थे। व्यक्तिगत साधना की रुचि तथा विशिष्ट मानसिक क्षमता वाले साधक सहयोग का प्रत्याख्यान कर गण से मुक्त हो साधना करते थे। प्राचीन काल में संघमुक्त साधना की अनेक भूमिकाएं थीं–जिनकल्प, एकलविहार, यथालन्दक आदि। वर्तमान में वे परम्पराएं विस्मृत हो गई हैं, केवल इतिहास की वस्तु रह गई हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशेष उपलब्धि तथा धर्म-प्रसार के लिए भी कुछ साधक संघमुक्त साधना का मार्ग अपनाते थे।

जैन-परम्परा में संघ का बहुत महत्त्व है। वह धर्म के प्रवाह का मूल स्रोत है। उसमें रहकर हजारों-हजारों साधकों ने साधना की सिद्धि की है और कर रहे हैं। किन्तु साधना के विशेष प्रयोग करने के लिए संघमुक्त रहने का भी मूल्य मेरी दृष्टि में कम नहीं है।

संघमुक्त साधना का अधिकारी

हर कोई साधु संघमुक्त साधक की भूमिका, जो ध्यान योग की भूमिका है, में नहीं जा सकता। इस भूमिका में वही जा सकता है जो १. धर्म संघ और आचार्य के प्रति परम श्रद्धावान् २. आचारनिष्ठ ३. अनासक्त और ४. तत्त्वज्ञानी हो।

मैंने मुनि मीठालाल को इस ध्यान योग की भूमिका में जाने तथा ध्यानयोगी होने के योग्य पाया है। ध्यान योग की विशिष्ट साधना की भावना के प्रति मैं अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करता हूं और आशा करता हूं कि यह ध्यान योग की आवृत अवस्थाओं को अनावृत करेगा।

विपश्यना शिविर

आचार्यवर का दिल्ली प्रवास। अध्यात्म साधना केन्द्र में विपश्यना शिविर का आयोजन। हमारे साधु-साध्वी भी विपश्यना शिविर का अनुभव करना चाहते थे और सत्यनारायण गोयनकाजी भी साधु-साध्वियों के बीच विपश्यना का शिविर करना चाहते थे। यशपाल जैन आए। उन्होंने आचार्यवर से प्रार्थना की–गोयनकाजी चाहते हैं मुनि नथमलजी शिविर में रहें। आचार्यवर ने मुझे कहा–क्या तुम शिविर में जाओगे। मैंने कहा–'मेरी शिविर में जाने की कोई इच्छा नहीं है। अगर आचार्यवर की इच्छा हो तो मैं जा सकता हूं।'

आचार्यवर ने कहा–गोयनकाजी कह रहे हैं तो तुम एक बार शिविर में रह जाओ और उसका अध्ययन भी कर लो। मैं अध्यात्म साधना केन्द्र में गया और दस दिन शिविर में रहा।

गोयनकाजी की शिविर संचालन की पद्धति अच्छी थी। मौन, आहार संयम, नियमित दिनचर्या—ये सब अच्छे लगे। मुख्यतः दो प्रयोग कराए गए—आनापानसती और विपश्यना। शिविर के मध्य और शिविर के पश्चात् मैंने अपने विचार गोयनकाजी को बता दिए। मैंने कहा—आनापानसती का प्रयोग अच्छा है। मुझे सहज श्वास की अपेक्षा दीर्घश्वास का प्रयोग अधिक उपयोगी लगता है।

अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि दीर्घश्वास ही सहज श्वास है। सहज श्वास यदि छोटा है तो उसे वास्तव में सहज श्वास कैसे कहा जा सकता है?

विपश्यना प्रयोग पद्धति बहुत अच्छी है। उससे शरीर को देखने की विधि बहुत स्पष्ट हो गई।

मौन के विषय में मैं कुछ भिन्न प्रकार से सोचता हूं। मैंने कहा—जिस शिविरार्थी ने कभी मौन का अभ्यास नहीं किया, उसके लिए १० दिन का पूर्ण मौन करना संभवतः मानसिक अवरोध पैदा करता है। यदि कालिक मौन रहे, आवश्यकतावश क्वचित् बोलना पड़े तो आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मुझे लगा कि उनका अपना दृष्टिकोण था और मेरा अपना दृष्टिकोण। दोनों में सामंजस्य स्थापित नहीं हो सका।

ध्यान-पद्धति का नामकरण

वि. सं. २०३२, जयपुर प्रवास। आचार्यवर ने मुझे कहा—ध्यान के शिविरों का सिलसिला चल रहा है। उनमें काफी लोग भाग ले रहे हैं। उन्हें अच्छा लग रहा है। अभी हमारी ध्यान पद्धति का कोई नाम नहीं है। अब इसका नामकरण करना चाहिए। ग्रीन हाउस और उसका शीशमहल। चिन्तन पारदर्शी बना। आखिर निष्कर्ष तक पहुंच गए। मैंने कहा—'जैन आगमों में ध्यान के संदर्भ में दो शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—प्रेक्षा और विपश्यना। जैन और बौद्ध दोनों श्रमण-परम्परा के धर्म-दर्शन है। बौद्ध साधक विपश्यना का प्रचुरता से प्रयोग कर रहे हैं। हमें इस ध्यान-पद्धति का नाम 'प्रेक्षा' कर देना चाहिए।' आचार्यवर से स्वीकृति प्राप्त हो गई। हमारी ध्यान-पद्धति का नाम 'प्रेक्षाध्यान' हो गया।

आतापना का प्रयोग

वि. सं. २०३३, सरदारशहर में चातुर्मासिक प्रवास। वहां पर प्रेक्षाध्यान के अनेक शिविर हुए। एक दिन मन में विचार आया—आतापना का प्रयोग करना चाहिए। मुनि ताराचंदजी हमारे साथ थे। उनसे मैंने इस विषय की चर्चा की। वे साधनानिष्ठ और ध्यान के अभ्यासी हैं। प्रयोग में उनकी रुचि है। उन्होंने कहा—हमें यह प्रयोग करना चाहिए।

आतापना की चालू पद्धति का अनुसरण हमारे लिए संभव नहीं था। मुनि रणजीतमलजी स्वामी, मुनि सुखलालजी आदि संत ग्रीष्म ऋतु में दोपहर के समय तपती हुई शिला पर लेट जाते थे। घण्टों तक आतापना लेते रहते। हमने आतापना के तात्पर्य पर चिन्तन किया। भगवान महावीर आतापना लेते थे। उस विधि का अध्ययन किया। आगम साहित्य में आतापना का विशद वर्णन है। उसका अध्ययन किया। अध्ययन के बाद मैंने प्रातःकाल आतापना लेने का निर्णय किया।

तैजस शक्ति के विकास के लिए आतापना का बहुत महत्त्व है और उतना ही महत्त्व है प्रातिभ ज्ञान अथवा अंतर्दृष्टि (Intution Power) के विकास के लिए

प्रातःकालीन सूर्य का आतप लेना अधिक उपयुक्त लगा। प्रातःकालीन सूर्य की रश्मियों से जो प्राप्त होता है वह संभवतः मध्याह्न कालीन रश्मियों से नहीं होता।

संपत दूगड़ विद्यालय में प्रेक्षाध्यान का दस दिवसीय शिविर चल रहा था। उधर हमने आतापना का प्रयोग शुरू किया। स्वरूपचंदजी और शुभकरणजी दूगड़ के दो बंगले दूगड़ विद्यालय के सामने थे। शुभकरणजी के बंगले की छत पर मैं चला जाता। कुछ क्षणों तक सूर्य के सामने बैठकर आतप लेता, फिर अचेल अवस्था में उत्तानशयन कायोत्सर्ग की मुद्रा में आतापना लेता। तत्पश्चात् अवाङ्मुखशयन कायोत्सर्ग की मुद्रा में आतापना लेता। उसके बाद दक्षिण पार्श्वशयन कायोत्सर्ग की मुद्रा में, उसके बाद वाम पार्श्वशयन कायोत्सर्ग की मुद्रा में आतापना लेता। आंख पर वस्त्र बांध लेता और शेष सारा शरीर वस्त्र मुक्त रहता। लगभग ८ बजे से ९ बजे तक आतापना का क्रम चलता था। मुनि ताराचंदजी का स्वरूपचंदजी के बंगले पर यह क्रम चलता। आतापना का यह क्रम लम्बे समय तक चला। मैंने अनुभव किया कि अंतर्दृष्टि के विकास के लिए यह महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

साधना का नव मासिक प्रयोग

आचार्यवर का सुजानगढ़ में प्रवास। ध्यान के प्रयोगों का विकास करने के लिए चिन्तन चला। उस विचार को केन्द्र में रखकर मैंने चिन्तन किया—मुझे कुछ विशेष प्रयोग करना चाहिए। मैंने यह चिन्तन आचार्यवर के सामने रखा। पूरी स्थिति की समीक्षा के बाद आचार्यवर ने कहा—'विशेष प्रयोग आवश्यक है। मगर आगम सम्पादन के कार्य को बंद नहीं किया जा सकता।' आचार्यवर का निर्देश और आगम सम्पादन का कार्य ये दोनों मेरे लिए ध्यान के ही निर्देश थे। मैंने आचार्यवर से निवेदन किया—मैं आगम सम्पादन के लिए तीन घण्टे सुरक्षित रखूंगा। शेष समय ध्यान के लिए। प्रयोग की अवधि नौ मास निर्धारित की गई। निर्णय हो गया और मैं आचार्यवर का आशीर्वाद लेकर कुछ साधुओं के साथ सुजानगढ़ से लाडनूं आया।

वि. सं. २०३३, फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी का दिन। प्रभात का समय और अच्छा मुहूर्त। मैं प्रयोग में प्रवेश की तैयारी कर रहा था। सूर्य की प्रकाश-रश्मियां जैन विश्व भारती के प्रांगण को अभिष्णात कर रही थी। उस समय शुभकरणजी दसानी आए और उन्होंने आचार्यवर के आशीर्वाद का पत्र मेरे हाथ में थमा दिया। मैंने वह पत्र श्रद्धासिक्त दृष्टि से पढ़ा और सफलता के वर्तमान क्षणों में भविष्य की सफलता का चित्र अंकित हो गया। आचार्यवर ने लिखा—

अर्हम्

सुजनागढ़

२.३.१९७७

मुनि नथमलजी!

अभी रात के ठीक दस बजे हैं। शुभकरण दसानी मेरे पास बैठा है, श्रीचंद बैंगानी भी। प्रसंग चल पड़ा है तुम्हारा। तुम कल सवेरे (फाल्गुन शुक्ला १३) लाडनूं, जैन विश्व भारती के शुभ प्रांगण में एक विशिष्ट प्रयोग प्रारंभ कर रहे हो। इसके लिए मैं भी कुछ लिखूं, क्या लिखूं?

अभी इतना ही कि तुम्हारा प्रयोग सफल हो, तुम्हारी भावना सफल हो। इसके लिए मेरी अनेकानेक शुभकामनाएं।

सुनो! तुम्हारा प्रयोग केवल तुम्हारा ही नहीं, मेरा भी प्रयोग है, संघ का प्रयोग है। इससे समूचा संघ लाभान्वित होगा।

आचार्य तुलसी

मैंने नव मासिक प्रयोग का प्रारंभ भक्तिपूर्वक किया। मेरे सामने भक्ति के तीन रूप थे–

१. गुरु भक्ति २. श्रुत भक्ति ३. आत्म भक्ति।

गुरु-भक्ति के प्रकरण में मैंने भगवान महावीर और आचार्य तुलसी की स्तुति की।

श्रुत-भक्ति के प्रकरण में मैंने श्रुत को हृदयंगम करने की अनुशंसा की।

आत्म-भक्ति के प्रकरण में मैंने आद्य शंकराचार्य के उस वाक्य का अनुसरण किया– **'स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।'**

नौ महीनों में करणीय प्रयोगों की मैंने कोई तालिका नहीं बनाई और वह बनाई भी नहीं जा सकती थी। ध्यान कोई यांत्रिक कार्य नहीं है जिसके लिए पूर्ण योजना अथवा कार्य तालिका बनाई जाए। मैं इससे पहले भी वही प्रयोग करता रहा जिसका मुझे स्वतः निर्देश मिल जाता।

ध्यान के लिए समय का नियोजन अवश्य किया। प्रातः ८ बजे से ११ बजे तक एकांतवास। उस समय ध्यान के प्रयोग चलते। मध्याह्न में २ बजे से ५ बजे तक आगम सम्पादन का काम चलता। सायं ध्यान के विषय में अध्ययन, चिन्तन और मनन। रात्रि के प्रथम प्रहर में तथा ब्रह्ममुहूर्त की बेला में ४ बजे से सूर्योदय तक ध्यान के प्रयोग। प्रायः यह क्रम चलता रहा।

प्रयोग का प्रारंभ दीर्घश्वास से किया गया। कुछ प्रयोग लम्बे समय तक चले और कुछ प्रयोग बदलते रहे।

१. आसन

प्रयोग काल में मैंने आसनों का चयन किया। स्थानांग सूत्र में आसनों का वर्गीकरण है। वह बहुत समीचीन है। उसके अनुसार आसन का क्रम यह है–१. सुप्तासन २. निषण्णासन ३. ऊर्ध्वासन।

कन्हैयालाल पटावरी दिल्ली से एक योगी को लेकर आया। उसने कहा–'आज कल जो लोग आसनों का प्रयोग कर रहे हैं वह सही नहीं है। सबसे पहले लेटकर, फिर बैठकर और फिर खड़े होकर आसन करने चाहिए। यह आसन करने का सही क्रम है। इसका आधार है शिशु के विकास का क्रम। शिशु जन्म के प्रारंभ में लेटा रहता है। फिर बैठना शुरू करता है। उसके बाद खड़े होने का अभ्यास करता है।' योगी का यह तर्क संगत लग रहा है।

आसन के प्रारंभ में दो मिनिट का कायोत्सर्ग।

शयन मुद्रा में किए जाने वाले आसन–

भुजंगासन, मत्स्यासन, उत्तानपादासन, सर्वांगासन, हलासन।

निषण्ण मुद्रा में किए जाने वाले आसन–

वज्रासन, पद्मासन, बद्ध-पद्मासन, पश्चिमोत्तानासन, योगमुद्रा।

खड़े-खड़े किए जाने वाले आसन–

ताड़ासन, त्रिकोणासन, सूर्य नमस्कार।

त्रिबंध–उड्डीयान बंध, जालन्धर बंध, मूल बंध।

प्रत्येक आसन के अंतराल में आधा अथवा १ मिनिट का कायोत्सर्ग।

२. प्राणायाम

१. अनुलोम-विलोम २. सूक्ष्म भस्त्रिका ३. उज्जाई।

आसन और प्राणायाम के प्रयोग के अनेक उद्देश्य हैं। उनमें दो प्रमुख हैं–स्वास्थ्य और ध्यान का विकास।

इस आधार पर आसन के दो प्रकार किए गए हैं–

१. ध्यानासन २. शरीरासन

पद्मासन, बद्ध पद्मासन, वज्रासन आदि प्रमुखतः ध्यानासन हैं।

मत्स्यासन, सर्वांगासन आदि प्रमुखतः शरीरासन हैं।

आरोग्य जरूरी है इसलिए सामान्यतया आरोग्य के लिए आसन का प्रयोग किया जाता है। साधना के लिए आरोग्य आवश्यक है इसलिए मैं आसन की उपेक्षा नहीं करता। आसन का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है नाड़ीतंत्रीय और ग्रंथितंत्रीय संतुलन। वह ध्यान के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। आसन करने का उद्देश्य केवल आरोग्य नहीं होना चाहिए। संतुलन भी होना चाहिए। यदि हम संतुलन के लिए आसन का प्रयोग करें तो आरोग्य और ध्यान–दोनों की सिद्धि सम्यक् प्रकार से हो सकती है।

जैन साधना पद्धति और आसन

प्रोफेसर नथमल टांटिया बौद्ध दर्शन के ख्यातिलब्ध विद्वान् थे। वे जैनों की ध्यान पद्धति की अपेक्षा बौद्ध विपश्यना पद्धति से अधिक परिचित थे। उन्होंने एक दिन कहा–'जैन साधना पद्धति में आसन का विधान नहीं है फिर आप आसन का प्रयोग कैसे करते हैं?'

मैंने कहा–'भगवान महावीर ने साधना काल में उपवास किए, ध्यान किया, यह आप जानते हैं। आसन का प्रयोग किया, इस विषय में आपने ध्यान नहीं दिया। भगवान को केवलज्ञान भी गोदोहिका आसन के क्षण में हुआ। उत्तराध्ययन सूत्र में कायक्लेश का अर्थ आसन किया गया है। स्थानांग सूत्र में निषद्या-आसन का पूरा प्रकरण है।' उनके प्रश्नों का समाधान हो गया।

मेरा व्यक्तिगत अनुभव यह है कि ध्यान की अवस्था में पाचनतंत्र प्रभावित होता है। यदि ध्यान के साथ आसनों का प्रयोग किया जाए तो पाचनतंत्र को व्यवस्थित रखा जा सकता है। आसन और ध्यान का परस्पर विरोध नहीं है। ध्यान में ऊर्जा का व्यय होता है।

३. अनिमेष प्रेक्षा (त्राटक)

अनिमेष प्रेक्षा का प्रयोग मैं प्रारंभ से ही करता था। एक बार भंवरलालजी दूगड़ ने पूछा–'आप शाम्भवी मुद्रा का प्रयोग करते हैं या नहीं?'

मैंने कहा–'मैं नासाग्र पर अनिमेष दृष्टि से ध्यान करता हूं।'

उन्होंने कहा–'आज्ञाचक्र पर खुली आंखों से ध्यान टिका कर वहां त्राटक का प्रयोग करें।'

मैंने शाम्भवी मुद्रा का प्रयोग शुरू किया। वह मानसिक एकाग्रता के लिए अच्छा लगा। कभी-कभी मैं किसी बिन्दु पर त्राटक का प्रयोग करता था। नव मासिक अभ्यास काल में मैंने इसका अच्छा अभ्यास किया। प्रारंभ में भगवान महावीर के चित्र पर मैंने त्राटक का प्रयोग किया। पांच मिनिट के बाद उस चित्र में परिवर्तन होना शुरू हो गया। एक आभामंडल का निर्माण हुआ, वह बार-बार बदलता रहा। १०-१५ मिनिट के बाद चित्र अदृश्य हो गया, केवल आभामंडल सामने रहा।

प्रतिक्षण पर्याय का परिवर्तन होता है, यह दार्शनिक सिद्धांत मैंने पढ़ा था। अनिमेष प्रेक्षा के प्रयोग में उसका साक्षात्कार हो गया। अनिमेष प्रेक्षा के समय एक लक्ष्य में स्थापित बिंदु अथवा चित्र के रंग, रूप, आकार बदलते हैं उनका अनिमेष दृष्टि के क्षणों में अनुभव नहीं होता।

कुछ समय बाद मैंने दर्पण में प्रतिबिम्बित अपने आज्ञा चक्र पर, अपनी आंखों पर, अपने नासाग्र पर अनिमेष प्रेक्षा का प्रयोग किया। उसका अनुभव बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। यह प्रयोग लगभग दो माह तक चलता रहा। अन्तर्दृष्टि और अन्तर्मुखता के विकास के लिए मैंने इसके महत्त्व का अनुभव किया। भगवान महावीर नासाग्र पर अनिमेष दृष्टि का प्रयोग करते थे। उसे भी समझने का अवसर मिला।

४. निर्विकल्प (निर्विचार) ध्यान

ध्यान का एक रूप है एकाग्रता और उसका दूसरा रूप है विकल्पशून्यता। चेतना के जागरण के लिए निर्विकल्प ध्यान का सर्वोत्तम स्थान है। कुछ साधक एकाग्रता का अभ्यास करना आवश्यक नहीं मानते। मैंने सीधा रास्ता नहीं चुना। पहले एकाग्रता के विकास पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया। नव मासिक साधना की अवधि में निर्विकल्प ध्यान का भी प्रयोग किया।

निर्विकल्प ध्यान के लिए कुछ साधन बहुत उपयोगी हैं, जैसे–

१. अनिमेष प्रेक्षा अथवा त्राटक
२. श्वास-संयम का प्रयोग अथवा कुंभक
३. नासाग्र-ध्यान
४. जालंधर बंध
५. खेचरी मुद्रा।

मैंने ये सभी प्रयोग किए। श्वास-संयम और अनिमेष प्रेक्षा के प्रयोग प्रमुख रहे। जो साधक अध्यात्म की गहराइयों में जाना चाहे उसके लिए एकाग्रता सीमा नहीं है। एकाग्रता मन की भूमिका है। अतींद्रिय चेतना के विकास के लिए मन की भूमिका के परे जाना होता है।

प्रेक्षाध्यान और चैतन्यकेन्द्र

जैन विश्व भारती में पारमार्थिक शिक्षण संस्था की मुमुक्षु बहिनों का प्रेक्षाध्यान शिविर चल रहा था।

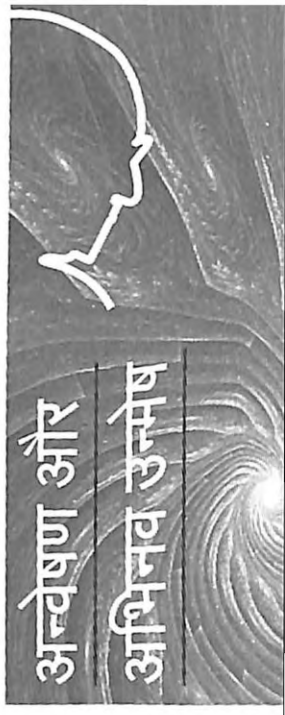

एक दिन ध्यान का प्रयोग करके मैं एकान्त में बैठा था। गहरी एकाग्रता की अवस्था में था। अकस्मात् आंख खुली, हाथ में नोटबुक ली और लिखने लग गया। क्या लिखना है, मुझे पता नहीं, फिर भी मैं लिख रहा था। इस अव्यक्त अवस्था में मेरा बाह्य चेतना से कोई सम्पर्क नहीं था। आंतरिक चेतना की किसी रश्मि का प्रस्फोट हुआ और मैंने चैतन्यकेन्द्र के नाम लिख दिए, जैसे–

१. शक्तिकेन्द्र	२. स्वास्थ्यकेन्द्र	३. तैजसकेन्द्र
४. आनन्दकेन्द्र	५. विशुद्धिकेन्द्र	६. ब्रह्मकेन्द्र
७. प्राणकेन्द्र	८. चाक्षुषकेन्द्र	९. दर्शनकेन्द्र
१०. ज्योतिकेन्द्र	११. शांतिकेन्द्र	१२. ज्ञानकेन्द्र

हठयोग में मुख्यतः सात चक्र माने गए हैं–

१. मूलाधार चक्र	२. स्वाधिष्ठान चक्र	३. मणिपुर चक्र
४. अनाहत चक्र	५. विशुद्धि चक्र	६. आज्ञा चक्र

७. सहस्रार चक्र।

मूलाधार का नाम शक्तिकेन्द्र, स्वाधिष्ठान चक्र का नाम स्वास्थ्यकेन्द्र, मणिपुर चक्र का नाम तैजसकेन्द्र, अनाहत चक्र का नाम आनन्दकेन्द्र, आज्ञा चक्र का नाम दर्शनकेन्द्र और सहस्रार चक्र का नाम ज्ञानकेन्द्र। चक्रों के नाम परिवर्तन क्यों किए गए? इस प्रश्न का उत्तर मेरे पास नहीं है। मैंने चक्रों के नाम परिवर्तन के लिए न कभी कोई कल्पना की और न कभी कोई चिन्तन किया। मैं इतना कह सकता हूं कि नाम परिवर्तन किया नहीं, हो गया। तुलनात्मक दृष्टि से सात चैतन्यकेन्द्रों के स्थान वही हैं जो हठयोग में निरूपित हैं।

चक्र	**चैतन्यकेन्द्र**
मूलाधार	शक्तिकेन्द्र
स्वाधिष्ठान	स्वास्थ्यकेन्द्र
मणिपुर	तैजसकेन्द्र
अनाहत	आनन्दकेन्द्र
विशुद्धि	विशुद्धिकेन्द्र
आज्ञा	दर्शनकेन्द्र
सहस्रार	ज्ञानकेन्द्र

ब्रह्मकेन्द्र, प्राणकेन्द्र, चाक्षुषकेन्द्र, ज्योतिकेन्द्र और शांतिकेन्द्र–ये पांच नए हैं। हठयोग में इनका चक्र के रूप में उल्लेख नहीं मिलता। अप्रमादकेन्द्र (कर्ण युगल) का विकास शिविर-कालीन है। चक्र का नाम चैतन्यकेन्द्र भी स्वतः निर्धारित हो गया। प्रेक्षाध्यान की प्रयोग पद्धति में तेरह चैतन्यकेन्द्र की स्थापना हो गई।

नव मासिक साधना के क्षणों में आध्यात्मिक चिन्तन-मंथन भी चलता रहा। एकान्तवास उसके लिए उपयोगी रहा। एक दिन मन में एक वितर्क उत्पन्न हुआ—जैन शासन में बड़े-बड़े आत्मवेत्ता, अध्यात्मवेत्ता और योगी हुए हैं। क्या उन्होंने शरीर का अध्ययन नहीं किया?

तंत्र शास्त्र और हठयोग में चक्रों का निरूपण है, किन्तु जैन साहित्य में उनका कोई निरूपण नहीं है। ध्यान की पद्धति छूट जाने के कारण इस प्रश्न का उत्तर खोजा भी नहीं गया। हरिभद्रसूरि, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने अपने योग ग्रंथों में हठयोग का समावेश किया, किन्तु जैन साहित्य में उपलब्ध चक्रों की ओर ध्यान नहीं दिया।

देशावधिज्ञान चक्र सिद्धांत का मौलिक आधार है। नंदी सूत्र में देशावधि और सर्वावधि का उल्लेख नहीं है, किन्तु उनकी व्याख्या बहुत विस्तार से मिलती है। अंतगत देशावधि का सूचक है और मध्यगत सर्वावधि का सूचक है। अंतगत अवधिज्ञान के तीन प्रकार हैं—

१. पुरतः अंतगत। २. पृष्ठतः अंतगत। ३. पार्श्वतः अंतगत।

चूर्णिकार और हरिभद्रसूरि ने अंतगत शब्द के अनेक अर्थ किए हैं—

१. यह औदारिक शरीर के पर्यन्त भाग में स्थित होता है, इसलिए अंतगत है।

२. यह स्पर्धक अवधि होने के कारण आत्म प्रदेशों के अंतभाग में रहता है, इसलिए अंतगत है।

३. यह औदारिक शरीर के किसी देश (भाग) से साक्षात् जानता है, इसलिए अंतगत है।[1]

औदारिक शरीर के मध्यवर्ती स्पर्धकों की विशुद्धि, सब आत्म-प्रदेशों की विशुद्धि अथवा सब दिशाओं का ज्ञान होने के कारण यह अवधिज्ञान मध्यगत कहलाता है।[2]

जब आगे के चक्र या चैतन्यकेन्द्र जागृत होते हैं तब पुरतः अंतगत अवधिज्ञान होता है। उससे अग्रवर्ती ज्ञेय जाना जाता है।

जब पीछे के चैतन्यकेन्द्र जागृत होते हैं तब पृष्ठतः अंतगत अवधिज्ञान होता है, उससे पृष्ठवर्ती ज्ञेय जाना जाता है।

जब पार्श्व के चैतन्यकेन्द्र जागृत होते हैं तब पार्श्वतः अंतगत अवधिज्ञान होता है, उससे पार्श्ववर्ती ज्ञेय जाना जाता है।

जब मध्यवर्ती चैतन्यकेन्द्र जागृत होते हैं तब मध्यगत अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। उससे सर्वतः समन्तात् (चारों ओर से) ज्ञेय जाना जाता है।[3]

इसका निष्कर्ष है कि हमारे समूचे शरीर में चैतन्यकेन्द्र अवस्थित हैं। साधना के तारतम्य के अनुसार जो चैतन्यकेन्द्र जागृत होता है उसीमें से अतींद्रिय ज्ञान की रश्मियां बाहर निकलने लग जाती हैं। पूरे शरीर

१. क. नंदी चूर्णि, पृ. १६
   ख. हारिभद्रीया वृत्ति, पृ. २३
२. नंदी चूर्णि, पृ. १६
३. नंदी सूत्र, १६

को जागृत कर लिया जाता है तो पूरे शरीर में से अतींद्रिय ज्ञान की रश्मियां फूट पड़ती हैं। किसी एक या अनेक चैतन्यकेन्द्रों की सक्रियता से होने वाले अवधिज्ञान का नाम देशावधि है। पूरे शरीर की सक्रियता से होने वाला अवधिज्ञान सर्वावधि है।

प्राणी के पास चार 'करण' होते हैं—मन-करण, वचन-करण, काय-करण और कर्म-करण। अशुभ-करण से असुख का और शुभ-करण से सुख का संवेदन होता है।[1]

श्वेताम्बर साहित्य में 'करण' के विषय में अर्थ की परम्परा विस्मृत हो गई। दिगम्बर साहित्य में उसकी अर्थ-परम्परा आज भी उपलब्ध है। उससे चक्र या चैतन्यकेन्द्र के बारे में बहुत महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

करण का एक अर्थ होता है—निर्मल चित्त धारा। उसका दूसरा अर्थ है—चित्त की निर्मलता से होने वाली शरीर, मन आदि की निर्मलता। शरीर के जिस भाग में निर्मलता हो जाती है अर्थात् शरीर का जो भाग करण रूप में परिणत हो जाता है, उस भाग में अतींद्रिय ज्ञान होने लग जाता है।[2] इस दृष्टि से हमारे शरीर में अवधिज्ञान के अनेक क्षेत्र हैं, अनेक संस्थान हैं। ये संस्थान चैतन्यकेन्द्र वाचक किसी पद में उल्लिखित नहीं हैं।

षट्खण्डागम में अवधिज्ञान के १३ प्रकार बतलाये गए हैं, उनमें एक क्षेत्र और अनेक क्षेत्र अवधिज्ञान चैतन्यकेन्द्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

जीव-शरीर का एक देश (चैतन्यकेन्द्र) करण बनता है, वह एक क्षेत्र अवधिज्ञान है। जो प्रतिनियत क्षेत्र के माध्यम से नहीं होता, किन्तु शरीर के सभी अवयवों के माध्यम से होता है—शरीर के सभी अवयव करण बन जाते हैं, वह अनेक क्षेत्र अवधिज्ञान है।[3]

अवधिज्ञान की क्षमता सब आत्मप्रदेशों में है परंतु शरीर का जो देश करण बनता है उसी के माध्यम से वह प्रकट होता है। नंदी सूत्र में किसी एक अवयव से जानने तथा सब अवयवों से जानने का उल्लेख मिलता है।[4] इन अध्ययन सूत्रों के आधार पर यह धारणा स्पष्ट हो गई कि अतींद्रिय ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए भी शरीर को करण बनाना अपेक्षित है।

एक क्षेत्र अवधिज्ञान में शरीर का एक चैतन्यकेन्द्र भी जागृत हो सकता है तथा दो, तीन, चार, पांच आदि चैतन्यकेन्द्र भी एक साथ जागृत हो सकते हैं।

चैतन्यकेन्द्र अनेक संस्थान वाले होते हैं। जैसे इन्द्रियों का संस्थान प्रतिनियत होता है वैसे चैतन्यकेन्द्रों का संस्थान प्रतिनियत नहीं होता किन्तु करण-रूप में परिणत शरीर-प्रदेश अनेक संस्थान वाले होते हैं। कुछ संस्थानों के नाम निर्देश मिलते हैं, जैसे—श्रीवत्स, कलश, शंख, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त आदि। धवलाकार ने आदि शब्द के द्वारा अन्य अनेक शुभ संस्थानों का निर्देश किया है।[5] तंत्रशास्त्र और हठयोग में चक्रों के

१. भगवई ६/५, १४
२. षट्खण्डागम पुस्तक १३, पृ. २९६
३. षट्खण्डागम पुस्तक १३, पृ. २९५
४. नंदी सूत्र गाथा २२
५. षट्खण्डागम पुस्तक १३, पृ. २९६-२९७

लिए कमल शब्द की प्रकल्पना मिलती है। यहां कमल शब्द का उल्लेख नहीं है, किन्तु आदि शब्द के द्वारा उसका निर्देश स्वतः प्राप्त हो जाता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गुणप्रत्यय अवधिज्ञान को शंख आदि चिह्नों के माध्यम से उत्पन्न होने वाला बतलाया है। टीकाकार ने आदि शब्द की व्याख्या में पद्म, वज्र, स्वस्तिक, मत्स्य, कलश आदि शब्दों का निर्देश दिया है।[1] जैन साहित्य में अष्टमंगल की मान्यता प्रचलित है।[2] अनुमान किया जा सकता है कि अवधिज्ञान के शरीरगत चिह्नों और अष्टमंगलों में कोई सामंजस्य का सूत्र रहा हो।

श्रीवत्स आदि शुभ संस्थान वाले चैतन्यकेन्द्र मनुष्य और पशु की नाभि के ऊपर के भाग में होते हैं। वीरसेन आचार्य का मत है कि शुभ-संस्थान वाले चैतन्यकेन्द्र नीचे के भाग में नहीं होते। नाभि से नीचे होने वाले चैतन्यकेन्द्रों के संस्थान अशुभ होते हैं, गिरगिट आदि अशुभ आकार वाले होते हैं। आचार्य वीरसेन के अनुसार इस विषय का षट्खण्डागम में उल्लेख नहीं है, किन्तु यह विषय उन्हें गुरु-परम्परा से उपलब्ध है।[3]

चैतन्यकेन्द्रों के संस्थानों में परिवर्तन भी हो सकता है। सम्यक्त्व उपलब्ध होने पर नाभि से नीचे के अशुभ संस्थान मिट जाते हैं, नाभि के ऊपर के शुभ संस्थान निर्मित हो जाते हैं। इसी प्रकार सम्यक् दृष्टि के मिथ्यात्व अवस्था में चले जाने पर नाभि के ऊपर के शुभ संस्थान मिट जाते हैं और नाभि के नीचे के अशुभ संस्थान निर्मित हो जाते हैं।[4]

पूरे शरीर से ज्ञान की रश्मियां बाहर निकलती हैं। नंदी सूत्र के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धांत तथा षट्खण्डागम के करण सिद्धांत ने चक्र विषयक जिज्ञासा का समाधान दे दिया। एक प्रश्न अभी भी अनुत्तरित है कि हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र, रामसेन आदि योग के विशेषज्ञ आचार्यों ने इन सिद्धांतों का प्रयोग क्यों नहीं किया? तंत्र शास्त्र और हठयोग में चक्रों के विषय में जो जानकारी है उससे कहीं अधिक जानकारी दिगम्बर साहित्य में है। यदि करण के सिद्धांत का प्रयोग किया जाता तो जैन योग अधिक व्यापक बनता।

चक्र के विषय में मेरा अवबोध स्पष्ट नहीं था। क्या ये शरीर के अवयव हैं या केन्द्रित ऊर्जा? नंदी और करण-सिद्धांत के अध्ययन के बाद यह स्पष्ट बोध हो गया कि चक्र शरीर के अवयव नहीं हैं। हमारे शरीर में चैतन्य के कुछ केन्द्र हैं। वे केन्द्र ही चक्र अथवा चैतन्यकेन्द्र हैं। स्याद्वादमंजरी में आचार्य मल्लिषेण ने मर्म की परिभाषा की है। उससे बहुत स्पष्ट बोध मिलता है। मर्म चक्र का पर्यायवाची शब्द है। आयुर्वेद के महान आचार्य सुश्रुत ने शरीरवर्ती मर्मस्थानों का विशद वर्णन किया है। बहुभिरात्म-प्रदेशैरधिष्ठिताः देहावयवाः मर्म—शरीर के जिस देश में आत्मा के प्रदेश (चैतन्यमय अणु) अधिक मात्रा में अधिष्ठित होते हैं, वह मर्म है। इस परिभाषा से बहुत स्पष्ट होता है कि शरीर के जिस भाग में चैतन्य सघन है, उसका नाम चैतन्यकेन्द्र है। जहां चैतन्य सघन है वहां प्राण भी सघन होता है। चैतन्यकेन्द्र हमारे शरीर, मन और भाव सबको प्रभावित करते हैं।

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, पृ. ३७१

२. ओवाइयं सूत्र ६४

३. षट्खंडागम पुस्तक १३, पृ. २९७-२९८

४. वही पुस्तक १३, पृ. २९८

अध्यात्म ज्योतिष के अनुसार चैतन्यकेन्द्रों और ग्रहों का घनिष्ठ संबंध है।

चक्र	ग्रह
१. मूलाधार	बुध, राहु, केतु
२. स्वाधिष्ठान	शुक्र
३. मणिपूर	रवि
४. अनाहत	मंगल
५. विशुद्धि	चन्द्र
६. आज्ञा	गुरु
७. सहस्रार	शनि

नव मासिक साधना की अवधि में 'नमस्कार स्वाध्याय' के गंभीर अध्ययन का अवसर मिला। उसके प्राकृत और संस्कृत दोनों संस्करण अध्यात्म साधना की दृष्टि से असाधारण हैं। हम अर्हम् का प्रयोग पहले भी करते थे किन्तु 'नमस्कार स्वाध्याय' के अध्ययन के पश्चात् उसकी अनेक विधियां ज्ञात हुई। अर्हम् के वलय का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमने उसका प्रयोग किया और दूसरों को भी करवाया। वह सफल रहा।

प्रेक्षाध्यान का विधिवत् प्रथम शिविर

आचार्यवर सुजानगढ़ से प्रस्थान कर जैन विश्व भारती लाडनूं में पधारे। मेरा प्रयोग वहां चल ही रहा था। एक दिन आचार्यवर ने कहा—अब तुम शिविर का पूर्ण संचालन करो। अब तक तुम शिविरार्थियों के लिए अल्पकालिक समय लगाते थे किन्तु अब तुम्हें पूरा समय लगाना चाहिए। आचार्यवर का निर्देश अथवा इंगित मेरे लिए शक्तिपात का कार्य करता। मैंने शिविर के संचालन की योजना बना ली और नवम्बर १९७७ प्रेक्षाध्यान के शिविर का प्रारंभ किया गया।

शिविर के विषय में मैंने चिन्तन किया—ध्यान की सफलता से पहले ध्यान की तैयारी करना आवश्यक है। इस चिन्तन के फलस्वरूप उपसम्पदा की योजना की गई।

उपसम्पदा संकल्प का प्रयोग है। कार्य के प्रारंभ में संकल्प-शक्ति का प्रयोग आवश्यक है। हम जो काम करना चाहते हैं उसके प्रति समर्पण संकल्प के द्वारा होता है। ध्यान का संकल्प किए बिना कोई ध्यान का प्रयोग करता है तो ध्यान के प्रति उसका पूर्ण समर्पण नहीं होता और उसके बिना सफलता नहीं मिलती।

उपसम्पदा के प्रथम भाग में संकल्प और समर्पण तथा दूसरे भाग में ध्यान की आवश्यक सामग्री है।

शिविर का प्रारम्भ उपसम्पदा से किया गया।

प्रेक्षाध्यान : उपसम्पदा

१. अब्भुट्ठिओमि आराहणाए।

मैं प्रेक्षाध्यान की आराधना के लिए उपस्थित होता हूं।

२. मग्गं उवसंपज्जामि।

मैं अध्यात्म-साधना के मार्ग पर चलने की उपसम्पदा स्वीकार करता हूं।

३. सम्मत्तं उवसंपज्जामि।

मैं अन्तर्दर्शन की उपसम्पदा स्वीकार करता हूं।

४. संजमं उवसंपज्जामि।

मैं आध्यात्मिक अनुभव की उपसम्पदा स्वीकार करता हूं।

उपसम्पदा के पांच सूत्र

१. भावक्रिया
   - o वर्तमान में जीना।
   - o जो करें, जानते हुए करना।
   - o ध्येय के प्रति सतत अप्रमत्त रहने का अभ्यास करना।

२. प्रतिक्रियाविरति : क्रिया करना, प्रतिक्रिया नहीं करना।

३. मैत्री

४. मिताहार

५. मितभाषण या मौन

'अर्हम्' ध्वनि का प्रयोग

उपसम्पदा का प्रयोग शिविर के प्रारम्भ में होता है। ध्यान का प्रारम्भ कैसे किया जाए, इस पर मैंने चिन्तन किया और लगा कि ध्यान के लिए मस्तिष्क का अनुकूलन आवश्यक है। उसके लिए 'अर्हम्' की ध्वनि का निर्धारण किया गया। ध्यान के प्रारंभ में ९ बार अर्हम् की ध्वनि का उच्चारण किया गया। उससे मस्तिष्क के अनुकूलन में सहयोग मिला।

मैंने 'अर्हम्' के उच्चारण का कालमान भी निर्धारित किया।

अ—एक मात्रा, र्ह—दो मात्राएं, म्—तीन मात्राएं।

बिन्दु—सूक्ष्म रणकार जैसी ध्वनि—अर्ध मात्रा।

नाद—अतिसूक्ष्मध्वनि—अर्धमात्रा।

कुल सात मात्रा।

उच्चारण विधि

१. श्वास-संयम और अर्हं की पूर्ण एकाग्रता से प्रेक्षा। रेचन कर नाभिकेन्द्र में 'अ' का ह्रस्व उच्चारण और मन सुषुम्ना में केन्द्रित।

२. आनन्दकेन्द्र में 'हं' का दीर्घ उच्चारण।

३. तालु में 'म' का प्लुत उच्चारण।

४. दर्शनकेन्द्र में 'बिन्दु' का सूक्ष्म ध्वनि नाद।

५. ज्योतिकेन्द्र से ज्ञानकेन्द्र तक 'नाद' अतिसूक्ष्म ध्वनि नाद।

६. पृष्ठरज्जु–सुषुम्ना में श्वास प्राणधारा का अनुभव करना। शक्तिकेन्द्र से जब प्राणधारा ऊपर जाए तब 'अ' का और वह नीचे जाए तब 'हं' का ध्यान करना।

ध्येय सूत्र

'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं' आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें। इसका प्रयोग ध्यान के उद्देश्य को आत्मसात् करने के लिए किया जाता है।

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें'–यह रहस्यमय सूत्र है। ध्यान का उद्देश्य है अशुभ भावों अथवा वृत्तियों का परिवर्तन। श्वास को देखना, प्रकम्पनों का अनुभव करना–ये सब एकाग्रता के साधन हैं, साध्य नहीं हैं। साध्य है भावों अथवा वृत्तियों का परिष्कार। वृत्तियों के १० प्रकार बतलाए गए हैं–

१. दीनता	२. क्रोध	३. हीनवृत्ति	४. प्रसन्नता
५. आरोग्य	६. आतुरता	७. भूख	८. तृप्ति
९. विक्षेप	१०. एकत्व		

प्रसन्नता, क्षमा, आरोग्य, तृप्ति, एकाग्रता–ये पांच प्रशस्त वृत्तियां हैं। हीनता, क्रोध, भूख, आतुरता और विक्षेप–ये पांच अप्रशस्त वृत्तियां हैं।

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें' यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि दो आत्माएं कौन हैं? इसका मैंने समाधान दिया–मूल आत्मा एक है, वह ज्ञाता है। उसकी अवस्थाएं भी आत्मा शब्द से संबोधित की जाती हैं। इसका दूसरा अर्थ है–राग-द्वेष मुक्त चेतना के द्वारा वृत्तियों को देखना।

शरीर के लिए भी आत्मा शब्द का प्रयोग होता है। इस अर्थ में शरीर को देखना भी आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना है।

संकल्प

ध्येय की स्पष्टता के लिए संकल्प का प्रयोग प्रारम्भ किया गया–'मैं चित्तशुद्धि के लिए प्रेक्षाध्यान का प्रयोग कर रहा हूं।'

कायोत्सर्ग

मन की एकाग्रता के लिए शरीर की स्थिरता अत्यंत आवश्यक है। इस अवबोध के आधार पर ध्यान से पूर्व कायोत्सर्ग का प्रयोग किया गया। कायोत्सर्ग का प्रयोग दो रूपों में किया गया–

१. ध्यान के समय एकाग्रता की सिद्धि के लिए अल्पकालीन (३ अथवा ५ मिनिट) प्रयोग।

२. प्रातःकालीन ध्यान के पश्चात् कायोत्सर्ग का स्वतंत्र रूप से प्रयोग। वह कायोत्सर्ग का दीर्घकालिक प्रयोग था। उसकी अवधि थी ४५ मिनिट।

स्वतंत्र कायोत्सर्ग का प्रयोग मैं कभी-कभी कराता। प्रायः मुनि किशनलालजी, मुनि महेन्द्रकुमारजी और अन्य प्रशिक्षक भी कराते।

अन्तर्यात्रा

पृष्ठरज्जु और यौवन का गहरा संबंध है। यदि पृष्ठरज्जु सुदृढ़ और स्वस्थ है तो शरीर में जीवनी शक्ति प्रवाहित होती रहती है। जिन नाड़ियों से शरीर को बल मिलता है वे सब पृष्ठरज्जु के रन्ध्रों से गुजरती हैं। हृदय, फुफ्फुस आदि अवयव उन नाड़ियों से शक्ति प्राप्त करते हैं। ये तथ्य योग विद्या के अध्येता जानते हैं। मैंने अनुभव किया कि अन्तर्मुख होने का सर्वोत्तम उपाय है पृष्ठरज्जु में ध्यान केन्द्रित करना। चैतन्यकेन्द्र का उद्गम स्थल पृष्ठरज्जु है इसलिए ध्यान से पूर्व अन्तर्यात्रा का प्रयोग अपेक्षित है।

श्वास के प्रयोग

कायोत्सर्ग और अन्तर्यात्रा का अभ्यास पांच-पांच मिनिट के निश्चित किए गए। दीर्घश्वासप्रेक्षा का अभ्यास २० मिनिट।

मंगल सूत्र, ध्येय सूत्र	५ मिनिट
कायोत्सर्ग	५ मिनिट
अन्तर्यात्रा	५ मिनिट
दीर्घश्वासप्रेक्षा	२० मिनिट
ज्योतिकेन्द्रप्रेक्षा	१० मिनिट
शरणं सूत्र	५ मिनिट

प्रारंभ के तीन दिन तक यह क्रम चलता रहा। श्वासप्रेक्षा का अभ्यास परिपक्व होने पर उसके स्थान पर चौथे दिन शरीरप्रेक्षा का अभ्यास कराया गया।

शिविर के सातवें दिन चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा के प्रयोग का अभ्यास कराया गया।

शिविर के नौवें दिन अनित्य अनुप्रेक्षा का प्रयोग कराया गया। अनुप्रेक्षा संस्कार परिवर्तन, स्वभाव परिवर्तन और दृष्टिकोण परिवर्तन का बहुत महत्त्वपूर्ण उपाय है। इसके द्वारा संयोग-वियोग से होने वाले मानसिक तनाव से मुक्ति पाई जा सकती है। प्रयोगकर्ताओं ने भी इस सचाई का अनुभव किया।

अनुप्रेक्षा के अनेक प्रयोग हैं। उनका विकास क्रमशः होता है।

दसवें दिन शिविर का समापन किया गया। कुछ शिविरार्थियों ने अपने अनुभव प्रस्तुत किए। एक अनुभव अनेक व्यक्तियों का सामने आया—दो-तीन दिन तक काफी कठिनाई का अनुभव हुआ। कभी-कभी भाग जाने का भी विचार आया। तीन दिन के बाद ध्यान में मन लगने लगा और अब इच्छा होती है कि शिविर की अवधि बढ़ा दी जाए। मौन करना तथा एक घण्टा एक आसन में बैठना कठिन लगता। आहार बहुत सात्त्विक था फिर भी वह सबको रुचिकर लगता।

मौन के विषय में हमारा अपना स्वतंत्र चिन्तन है। दस दिन तक पूर्ण मौन रखना सामान्य साधक के लिए कठिन है। शिविर में आने वाले सभी व्यक्ति अध्यात्म की उच्च भूमिका के प्रति समर्पित नहीं होते। कुछ व्यक्ति शारीरिक समस्या को लेकर आते हैं, कुछ व्यक्ति तनाव आदि मानसिक समस्या को लेकर आते हैं, कुछ व्यक्ति नशे की आदत से छुटकारा पाने के लिए आते हैं। प्रथम बार शिविर में आने वाले लोगों के लिए एक घण्टा एक आसन में बैठना और पूर्ण मौन करना कठिन होता है। इसलिए हमने एक आसन में ही स्थिर रहने का आग्रह नहीं रखा। यदि आसन के कारण ध्यान में बाधा आए तो हमने कहा—ध्यान को चालू रखते हुए धीरे से आसन बदला जा सकता है। मौन के बारे में यह निर्देश दिया गया कि कोई व्यक्ति परस्पर बातचीत न करे, आवश्यक कार्य की सूचना देनी हो तो वह मंद स्वर में बोल सकता है।

प्रशिक्षण

मैंने अनुभव किया कि ध्यान के विकास के लिए शरीर विज्ञान और शरीर क्रिया विज्ञान का प्रशिक्षण आवश्यक है। हठयोग के आचार्यों का मत है कि नाड़ी का ज्ञान किए बिना योग की सिद्धि नहीं हो सकती। वर्तमान में नाड़ी (प्राण-पथ) का विज्ञान प्रायः लुप्त सा है। इस विषय में लोग बहुत कम जानते हैं।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार नाभि चक्र पर संयम करने से काय-व्यूह (वात, पित्त और कफ की क्रिया, प्रतिक्रिया और विक्रिया) का ज्ञान होता है।

वर्तमान का शरीर-शास्त्र बहुत विकसित है। उसका अध्ययन ध्यान के विकास में बहुत सहयोगी है इसलिए ध्यान के साथ उसका प्रशिक्षण आवश्यक समझा और शिविर का वह अपरिहार्य अंग बन गया।

कुछ लोग ध्यान शिविर में प्रशिक्षण को उपयोगी नहीं मानते। हमारी दृष्टि में उसकी बहुत उपयोगिता है।

आसन

प्रातःकालीन ध्यान के पश्चात् आसन का प्रयोग कराया जाता। वह प्रयोग कभी मुनि कराते, कभी प्रशिक्षक। विपश्यना की पद्धति में आसन, प्रशिक्षण और जप तीनों को वर्जनीय माना है। मेरा अनुभव यह है कि सघन एकाग्रता का शरीर के तंत्रों पर प्रभाव होता है और पाचनतंत्र पर उसका अधिक असर होता है। ध्यान के साथ आसन का प्रयोग होने पर अग्निमांद्य जैसी व्याधियों से बचा जा सकता है।

जप

मैंने अनुभव किया कि ध्यान में आने वाले व्यक्तियों की मानसिक चंचलता का स्तर एक जैसा नहीं होता। कुछ लोग एकाग्रता के धागे को जल्दी पकड़ लेते हैं और कुछ लोग उसे जल्दी नहीं पकड़ पाते। जप का प्रयोग एकाग्रता के धागे को पकड़ने का समीचीन प्रयोग है इसलिए उसका प्रयोग भी कराया गया।

भावक्रिया का प्रयोग

ध्यानाभ्यास के दो प्रकार हैं—एक अभ्यास देश और काल से प्रतिबद्ध है और एक अभ्यास देश और काल से मुक्त। देश-काल से प्रतिबद्ध ध्यान दिन-रात में कुछ घण्टों तक किया जा सकता है। देश-काल से

मुक्त ध्यान प्रतिपल किया जा सकता है, दिन-रात २४ घंटों तक किया जा सकता है। उसका नाम है भाव-क्रिया, हम जो भी करें उस क्रिया के प्रति होने वाली जागरूकता। भोजन के समय आहार योग का प्रयोग कराया गया। कवल लेने के लिए अंगुलियां थाली पर जा रही हैं, कवल उठाया जा रहा है, मुंह के पास लाया जा रहा है, मुंह में डाला जा रहा है, चबाया जा रहा है और वह अन्ननली में जा रहा है। इस प्रकार प्रत्येक क्रिया के प्रति जागरूकता होती है। आहार आहार-योग बन जाता है।

भावक्रिया का दूसरा प्रयोग गमन-योग कराया गया। यह संध्या के समय होता था। चलते समय मैं चल रहा हूं इसका अनुभव करना, अन्य किसी विचार का न होना गमन-योग है।

गोष्ठी

गमन-योग के पश्चात् सायंकालीन गोष्ठी का क्रम चलता था। उसका संचालन शिविर के व्यवस्थापक धर्मानन्दजी करते थे। उसमें साधक का परस्पर परिचय, जिज्ञासा और समाधान, समस्या और उसका निराकरण, अस्पष्ट विषयों का स्पष्टीकरण आदि-आदि चलते थे। गोष्ठी की उपयोगिता स्वतः सिद्ध हो गई।

रात्रिकालीन ध्यान के पश्चात् आवश्यकतानुसार जिज्ञासा-समाधान का क्रम चलता और शयन से पूर्व शिविरार्थी आत्मनिरीक्षण (प्रतिक्रमण) करते, डायरी लेखन और फिर योग निद्रा।

शिविरार्थियों को समाचार पत्र का पढ़ना, टी.वी. देखना, रेडियो सुनना, बाहर से आने वाले दर्शकों से बातचीत करना, सब वर्जित था। इसलिए वे तनावमुक्त रहते।

लेश्याध्यान का प्रयोग

इस प्रथम शिविर में प्रेक्षाध्यान की पद्धति, शिविरार्थी की दिनचर्या आदि सब व्यवस्थित हो गए। यह पहला शिविर भावी शिविरों के लिए पथदर्शक बन गया। एक सुनिश्चित पद्धति का निर्धारण हो गया। उसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है पर मूल आधार वही है। कुछ समय बाद प्रेक्षाध्यान के दूसरे शिविर का आयोजन किया गया। ध्यान के प्रयोग पूर्व-निर्धारित पद्धति के अनुसार ही किए गए। चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग चल रहा था। शिविर के आठवें दिन मध्याह्न में ध्यान कक्ष 'प्रज्ञा प्रदीप' में गया। कायोत्सर्ग और अंतर्यात्रा का प्रयोग कराते समय एक चिंतन आया कि आज कोई नया प्रयोग कराना चाहिए। एक क्षण रुका और दूसरे क्षण मैंने कहा—आज हम लेश्याध्यान (रश्मिध्यान) का प्रयोग करेंगे।

श्वास के प्रयोग प्रायः सभी ध्यान पद्धतियों में प्रचलित हैं। चक्र अथवा चैतन्यकेन्द्र का प्रयोग भी कुछ ध्यान पद्धतियों में प्रचलित है। लेश्याध्यान का प्रयोग संभवतः किसी भी ध्यान पद्धति में प्रचलित नहीं है। मैंने भी कभी लेश्याध्यान की कल्पना नहीं की थी। तत्काल उसके प्रयोग की कल्पना की और व्यवस्थित रूप में इसका प्रयोग करा दिया। इसका मुझे भी आश्चर्य हुआ। यह कैसे हुआ? इसका निश्चित उत्तर तो मैं नहीं दे सकता। इतना कहा जा सकता है—रश्मिध्यान का प्रयोग भीतर ही भीतर अव्यक्त रूप में चल रहा था, वह अकस्मात् अभिव्यक्त हो गया।

लेश्या के सिद्धांत का अध्ययन मैंने गहराई से किया। उसके आधार पर मेरी धारणा बन गई कि भावधारा को समझने के लिए लेश्या को समझना बहुत जरूरी है। लेश्या के परिवर्तन का अर्थ है—भावधारा का परिवर्तन और भावधारा के परिवर्तन का अर्थ है—लेश्या का परिवर्तन।

सूर्यरश्मि चिकित्सा

प्राकृतिक चिकित्सा के साहित्य का अध्ययन किया। रंग-चिकित्सा अथवा सूर्यरश्मि-चिकित्सा उसी का एक अंग है। श्री मोहनलालजी कठोतिया ने प्रेक्षाध्यान के साथ रंग-चिकित्सा के प्रयोग भी प्रारंभ किए। इस विषय में उन्हें सफलता भी मिली।

तंत्रशास्त्र और रंग

हम दिल्ली में प्रवास कर रहे थे। एक दिन इन्द्रचन्द्र शास्त्री आए। उन्होंने कहा–'मेरे मित्र के पास तंत्रशास्त्र का बहुत संग्रह है, यदि आप देखना चाहें तो मिल सकता है।' मैंने कहा–'तंत्रशास्त्र के प्रामाणिक ग्रंथों को मुझे देखना है।' हमारे मुनि गए और ग्रंथ लेकर आ गए। मैंने मालिनी विजयोत्तर तंत्र पढ़ा। उसके सोलहवें अध्याय में रंगों का अलौकिक वर्णन है। उसका मेरे मन पर काफी प्रभाव रहा। तंत्र के प्रति जनसाधारण में अच्छी धारणा नहीं है। हमें इस सचाई को स्वीकार करना चाहिये कि प्रत्येक प्रणाली के दो मार्ग होते हैं–

१. दक्षिण मार्ग २. वाम मार्ग

पंच मकार की साधना वाम मार्ग में सम्मत है। सबके सामने तंत्र का वही रूप आता है इसलिए तंत्र पद्धति के प्रति भ्रांत धारणा बनी हुई है। जब मैंने वीतरागत्व की प्राप्ति का उपाय पढ़ा तो मुझे आश्चर्य हुआ। मालिनी विजयोत्तर तंत्र में एक उल्लेख है–

शरत्संध्याभ्रसंकाशं, स्वदेहमनुचिन्तयन्।
वीतरागत्वमाप्नोति, षड्भिर्मासैर्न संशयः।। १६.२५

शरद् ऋतु की संध्याभ्र की आभा के समान अपने शरीर का अनुचिन्तन करने वाला छह मास में वीतराग बन जाता है। यह असंदिग्ध है।

लेश्याध्यान में रंगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नमस्कार महामंत्र के प्रयोग में चैतन्यकेन्द्र, रंग और पद तीनों की संयोजना हुई है। लेश्याध्यान को मैं इन सबकी अभिव्यंजना मानता हूं। इसका क्रमशः विकास होता गया। प्रारम्भ में एक केन्द्र पर एक रंग का ध्यान कराया गया। अग्रिम शिविरों में एक ही चैतन्यकेन्द्र पर अनेक रंगों के ध्यान कराए गए। इस प्रकार लेश्याध्यान के प्रयोग विकसित होते गये। अन्तर्दृष्टि का विकास करने के लिए दर्शनकेन्द्र पर अरुण रंग का ध्यान उपयोगी है। आध्यात्मिक चेतना के जागरण के लिए दर्शनकेन्द्र पर हरे रंग का ध्यान उपयोगी है। उपशम अथवा मानसिक शांति के लिए सफेद रंग का ध्यान उपयोगी है। इस प्रकार सभी चैतन्यकेन्द्रों पर भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से भिन्न-भिन्न रंगों का ध्यान किया जा सकता है।

लेश्याध्यान का प्रयोग स्वतंत्र भी किया जा सकता है। किसी चैतन्यकेन्द्र का आलम्बन लेश्याध्यान की अनिवार्यता नहीं है।

प्रेक्षाध्यान का उद्देश्य

प्रेक्षाध्यान के प्रथम शिविर में ध्यान के उद्देश्य भी स्पष्ट हुए–

१. स्वभाव (आदत) परिवर्तन।

२. अनपेक्षित आदतों का विरेचन और अपेक्षित आदतों का निर्माण।

३. वर्तमान में रहने का अभ्यास।

४. संवेग नियंत्रण।

५. मस्तिष्कीय तरंगों पर नियंत्रण।

६. कर्म विपाक अथवा अंतःस्रावी रसायनों का परिष्कार।

७. प्राण-शक्ति और नाड़ीतंत्र का संतुलन।

मैंने अनुभव किया कि स्वभाव परिवर्तन के लिए लेश्याध्यान का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है।

दस दिन का शिविर सम्पन्न कर मैं तुलसी अध्यात्म नीडम् से आचार्यवर के पास आया। उन्होंने प्रसन्नता के स्वर में कहा—'तुमने शिविर का पूर्ण संचालन किया। देखो, उससे कितना लाभ हुआ है। प्रेक्षाध्यान की पद्धति व्यवस्थित हो गई। भावी शिविरों का पथ प्रशस्त हो गया। शिविरार्थियों ने भी बहुत अच्छा अनुभव किया है और उनमें ध्यान के प्रति आकर्षण भी बढ़ा है।'

आचार्यप्रवर की प्रसन्न मुद्रा के निर्झर ने मुझे सदा तृप्त किया है और उस दिन भी मैंने आंतरिक तृप्ति का अनुभव किया। यह तृप्ति ही मेरे गति, प्रगति, उन्नति और विकास का रहस्य था।

प्रेक्षाध्यान के शिविरों की एक शृंखला हो गई। मैं शिविर के संचालन के साथ-साथ उसके नये आयामों का चिन्तन भी करता रहता। उससे प्रेक्षाध्यान की पद्धति विकसित होती गई। प्रथम शिविर में चैतन्यकेन्द्रों की संख्या १२ थी। अप्रमादकेन्द्र को चैतन्यकेन्द्र के रूप में विकसित किया और चैतन्यकेन्द्रों की संख्या १३ हो गई।

एकाग्रता के विशेष प्रयोग

शिविर काल में मानसिक चंचलता की समस्या बार-बार आती रही। एकाग्रता की दृष्टि से हमने पर्याप्त चिन्तन किया।

१. **दीर्घश्वास**—मैंने अनुभव किया कि एकाग्रता के लिए दीर्घश्वास का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। उससे भी जब एकाग्रता नहीं सधती थी तब लयबद्ध दीर्घश्वास (Rhythmic breathing) का प्रयोग शुरू किया। श्वास के पूरण और रेचन में जितना समय लगे उतना ही अगले अभ्यास में लगे। एकाग्रता की दृष्टि से यह प्रयोग काफी सफल रहा।

२. **जलंधर बंध**—मैंने एकाग्रता के विकास के लिए जलंधर बंध का आलम्बन लिया। हठयोग की पद्धति में त्रिबंध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रेक्षाध्यान की पद्धति में मूलबंध और जालन्धर बंध का मुक्तभाव से प्रयोग किया गया।

३. **श्वास-संयम**—एकाग्रता के लिए श्वास की प्रेक्षा करना अपेक्षित है पर उससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रयोग है श्वास का संयम (कुंभक)। श्वास-संयम की अवस्था में विचार बहुत कम हो जाते हैं। जैसे-जैसे हम निर्विचार अवस्था में जाते हैं वैसे-वैसे एकाग्रता पुष्ट होती जाती है।

४. आकाश दर्शन—एकाग्रता के लिए आकाश दर्शन भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। जहां बिजली की चकाचौंध न हो वैसे स्थान पर बैठ कर नीले आकाश की प्रेक्षा करना ध्यान का बहुत अच्छा प्रयोग है। नीला रंग शांति देने वाला है। उससे मस्तिष्कीय उत्तेजना कम होती है और एकाग्रता बढ़ जाती है।

५. विचार प्रेक्षा—जैसे ही एक साधक ध्यान की मुद्रा में बैठता है, विचार का एक प्रवाह शुरू हो जाता है। यदि उसे रोका जाये तो विचार का प्रवाह और अधिक शक्तिशाली बन जाता है। उस समय विचार को रोका न जाए, उसकी प्रेक्षा की जाए तो धीरे-धीरे विचार का सिलसिला टूट जाता है और मन एकाग्र हो जाता है।

६. खेचरी मुद्रा—यह मुद्रा हठयोग की विशेष साधना है। इसका पूर्ण प्रयोग हर साधक के लिए संभव नहीं है, किन्तु इसका आंशिक प्रयोग एकाग्रता का अभ्यास करने वाले के लिए बहुत उपयोगी है। जीभ को उलटकर तालु की ओर ले जाकर उसे तालु से छुआ दें। अथवा उसके परिपार्श्व के भाग से छुआने पर मन की एकाग्रता सधती है।

७. जिह्वा का स्थिरीकरण—जीभ को अधर में स्थित करने पर भी एकाग्रता का विकास होता है।

धारणा और ध्यान

शरीर प्रेक्षा और चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग करते समय एक विकल्प उपस्थित हुआ कि शरीर के किसी एक अवयव पर अथवा एक केन्द्र पर लम्बे समय तक ध्यान करना आवश्यक है। कुछ सैकेण्ड अथवा एक-दो मिनिट तक ध्यान किया जाए तो वह वस्तुतः धारणा है। वह ध्यान की प्राथमिक अवस्था है। इस चिन्तन के बाद शरीर के एक-एक अवयव पर तथा एक-एक चैतन्यकेन्द्र पर ध्यान के प्रयोग कराए गए। उसके परिणाम बहुत अच्छे आये। यदि हम एक चैतन्यकेन्द्र पर एक-डेढ़ घण्टा तक एकाग्र हो सकें तो एक नये प्रकार का अनुभव होगा, जो बाह्य जगत् में नहीं होता।

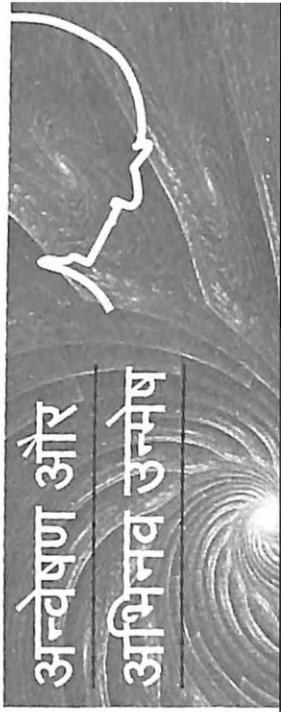

पातञ्जल योगदर्शन, ध्यानशतक, कायोत्सर्ग शतक आदि ग्रंथों में उपलब्ध प्रयोग भी समय-समय पर कराए गए।

ध्यान-साधना की आध्यात्मिक धरोहर

यदि आप प्रेक्षाध्यान की पद्धति को अनेक पद्धतियों का सम्मिश्रण मानें तो संभवतः आपका मत न्यायसंगत नहीं होगा। ध्यान-साधना की आध्यात्मिक धरोहर है। आध्यात्मिक अनुभव किसी देश और काल से प्रतिबद्ध नहीं होता। अनेक भूखण्डों और अनेक कालखण्डों में अनेक साधकों ने योग और अध्यात्म के प्रयोग किये। उनका समन्वय करना और उनसे लाभ उठाना हमारा लक्ष्य रहा। उसके आधार पर प्रेक्षाध्यान की पद्धति का विकास हुआ है। मैं मानता हूं ध्यान की पद्धति के बारे में हमारा ऐकांतिक आग्रह नहीं होना चाहिए। आयुर्विज्ञान (Medical Science) में शरीर रचना (Anatomy) और शरीर क्रिया विज्ञान (Physiology) का जो प्रतिपादन है उसे पढ़कर अनेक नए तथ्य जान सकते हैं।

प्रेक्षाध्यान के शिविरों में आने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य केवल आध्यात्मिक नहीं था। कुछ व्यक्ति शारीरिक स्वास्थ्य, कुछ व्यक्ति मानसिक स्वास्थ्य, कुछ व्यक्ति भावनात्मक स्वास्थ्य और कुछ व्यक्ति

आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए आने लगे। समस्याओं का समाधान होने लगा। इसलिए प्रेक्षाध्यान की अनेक कोणों से व्याख्या करनी आवश्यक हो गई। शिविर की दिनचर्या में एक घण्टे का समय प्रवचन के लिए निर्धारित था। शिविरार्थियों के लिए वह ध्यान से भी अधिक आकर्षण का विषय बना हुआ था।

आचार्यवर बहुत बार मध्याह्नकालीन ध्यान और प्रवचन में उपस्थित रहते थे। मैं ध्यान के विषय में प्रवचन करता। आचार्यवर उस पर समीक्षात्मक टिप्पणी करते। यह क्रम लम्बे समय तक चला।

जेसराजजी सेखानी शिविर के प्रारंभ से ही ध्यानाभ्यास करते थे। उनके मन में एक विकल्प उठा और उन्होंने प्रवचन को रिकॉर्ड करना शुरू कर दिया। अमृतवाणी नामक एक संस्था गठित हो गई। रिकॉर्डिंग के आधार पर प्रेक्षा का साहित्य तैयार हुआ और कुछ ही वर्षों में प्रेक्षाध्यान की कई पुस्तकें पाठकों के हाथों में पहुंच गईं।

दो हृदय

प्रेक्षाध्यान के प्रयोग के साथ-साथ अध्ययन, चिन्तन और मनन भी चल रहा था। उसके आधार पर कुछ शब्दों के नये अर्थ भी खोजे गए। हृदय शब्द का अर्थ सबको विदित है। प्रेक्षाध्यान के द्वारा हृदय परिवर्तन होता है, यह बहुत बार कहा जाता है। एक दिन मैंने चिन्तन किया—क्या भाव परिवर्तन का संबंध हृदय (Heart) से है? उसका काम है रक्त का पूरे शरीर में वितरण करना। इसका भाव के साथ क्या संबंध है? शरीर शास्त्र के अनुसार भाव का संबंध मस्तिष्क से है। मस्तिष्क के Lymbic System का एक भाग है हाइपोथेलेमस। वहां भाव जन्म लेते हैं। उसके परिष्कार का अर्थ होना चाहिए हृदय परिवर्तन।

वि. सं. २०४० में आचार्य तुलसी अहमदाबाद में विराज रहे थे। सुप्रसिद्ध वैद्य गोविन्दप्रसादजी के औषधालय में प्रेक्षाध्यान की गोष्ठी आयोजित की गई। आचार्यवर के निर्देशानुसार मैंने एक वक्तव्य दिया। उस समय मैंने दो हृदय की चर्चा की। मैंने कहा–'एक हृदय का संबंध रक्तशोधन की प्रक्रिया के साथ है और दूसरे हृदय का संबंध भावतंत्र के साथ है। उसका स्थान मस्तिष्क में होना चाहिए।' वैद्यप्रवर गोविन्दप्रसादजी तत्काल खड़े हुए और एक मुद्रित प्रति लेकर आचार्यप्रवर के सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने कहा–'आचार्यवर! युवाचार्य महाप्रज्ञ जो कह रहे हैं वह बहुत मननीय है। आयुर्वेद में दो हृदय का सिद्धांत है। उस पर मैंने एक शोधपूर्ण लेख लिखा है।' उन्होंने अपने शोध निबंध की मुद्रित प्रति आचार्यवर के हाथों में थमा दी। उस शोध निबंध में गोविन्दप्रसादजी ने प्रामाणिक पद्धति से दो हृदयों की स्थापना की है।[1]

सहज और प्रयत्नजन्य श्वास

ध्यान की पद्धति में सहज और प्रयत्नजन्य श्वास के विषय में मतभेद चलता है। विपश्यना ध्यान पद्धति में सहज श्वास को देखने का विधान है। दीर्घश्वास प्रयत्नजन्य होता है। मैं प्रयत्नजन्य श्वास को ध्यान-साधना में बाधक नहीं मानता। इसके पीछे एक सिद्धान्त रहा है। साधना के दो उद्देश्य हैं–

१. संवर (निरोध)　　२. निर्जरा (शोधन)

१. पूर्ण निबंध के लिए द्रष्टव्य–परिशिष्ट नं. ३

जितना शोधन होता है उतनी ही निरोध की शक्ति बढ़ती है। प्रयत्न के बिना जो शोधन होता है वह अल्प होता है। प्रयत्न के द्वारा शोधन अधिक होता है। प्रयत्नजन्य श्वास को ध्यान-साधना में अधिक उपयोगी मानने का यह एक पुष्ट आधार है। इस आधार पर प्रेक्षाध्यान की पद्धति में दीर्घश्वास प्रेक्षा को प्राथमिकता दी गई है।

श्वास प्रेक्षा के समय सुझाव दिया जाता है कि लम्बा श्वास लो। लम्बा श्वास वह होता है जो नाभि तक जाता है। शरीर-शास्त्र को पढ़ने पर पता चला कि श्वास नाभि तक नहीं जा सकता। फुफ्फुस और पेट के मध्य एक मांसपेशी है जिसका नाम है तनुपट। इस शरीर-शास्त्रीय जानकारी के पश्चात् सुझाव की भाषा बदल गई—लम्बा श्वास लो, जो फुफ्फुस में व्याप्त हो जाए और उसके कम्पन नाभि तक जाएं। श्वास लेते समय पेट फूलता है और छोड़ते समय सिकुड़ जाता है। इसका रहस्य यही है कि जब हम श्वास लेते हैं तब तनुपट नीचे की ओर जाता है। उसके दबाव से पेट की मांसपेशियां फूल जाती हैं। जब हम श्वास छोड़ते हैं तब वे पुनः सिकुड़ जाती हैं।

चित्त और मन

योग साधना के क्षेत्र में अधिकांश साधक विद्वान् चित्त और मन का एक अर्थ में प्रयोग करते हैं। मैंने चिन्तन किया कि यह सही नहीं है। चित्त हमारी चेतना है। मन उसके द्वारा संचालित होने वाला एक तंत्र है। वह स्वयं चेतन नहीं है। वह चित्त की रश्मियों से अनुस्यूत होकर चिन्तन का कार्य करता है। इस विषय का 'चित्त और मन' नामक पुस्तक में विस्तृत विवेचन किया गया है।

ध्यान-योग के कुछ प्रमुख ग्रंथ

प्रेक्षाध्यान के विकास के साथ आध्यात्मिक चिन्तन भी चलता रहा। ध्यान और स्वाध्याय को पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रेक्षाध्यान का मूल स्वरूप आध्यात्मिक है। उसके विकास-क्रम में अनेक ग्रंथों का स्वाध्याय किया गया। उनमें प्रमुख ग्रंथ हैं—

१. समयसार
२. योगशास्त्र का १२वां अध्याय
३. समाधि तंत्र
४. इष्टोपदेश
५. वैराग्यमणि माला
६. अध्यात्म सार
७. अर्हत् गीता

जीवन-दर्शन

हरिभद्रसूरि ने योग की व्यवस्था व्यापक संदर्भ में की है। उनके अनुसार धर्म की सारी वृत्तियां योग हैं क्योंकि वे आत्मा को मोक्ष से जोड़ती हैं। इस परिभाषा से धर्म, योग और अध्यात्म—तीनों एक पंक्ति में आ गए। प्रेक्षाध्यान केवल ध्यान नहीं है, वह समग्र जीवन-दर्शन है। इस समग्रता की दृष्टि को ध्यान में रखकर सन् १९८९ में प्रेक्षाध्यान के कार्यक्रमों को तीन भागों में विभक्त कर दिया—

१. प्रेक्षा योग (Preksha Yoga)

२. प्रेक्षा ध्यान (Preksha Meditation)

३. प्रेक्षा चिकित्सा (Preksha Therapy)

योग विद्या भारत की बहुत प्राचीन विद्या है। इसका विकास अनेक योग के आचार्यों द्वारा किया गया। वर्तमान में योग का संबंध मुख्यतः आसन और प्राणायाम के साथ जुड़ा हुआ है। इसमें ध्यान को प्रमुखता नहीं दी जा रही है। योग में प्रवेश पाने वालों के लिए इसका औचित्य हो सकता है।

प्रेक्षाध्यान के कार्यक्रम में आसन-प्राणायाम का प्रयोग किया जाता है। किन्तु इस पद्धति में ध्यान प्रमुख है। आसन और प्राणायाम उसमें सहयोगी रहते हैं। वृद्ध, शरीर से अशक्त व्यक्ति आसन-प्राणायाम नहीं कर सकते। वे ध्यान का अभ्यास कर सकते हैं।

प्रेक्षा चिकित्सा

वर्तमान की चिकित्सा पद्धतियों में ध्यान चिकित्सा का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके द्वारा मनोकायिक रोगों से मुक्ति पाई जा सकती है। प्रेक्षाध्यान के प्रमुख साधक मोहनलालजी कठोतिया ने अध्यात्म साधना केन्द्र दिल्ली में सूर्यरश्मि-चिकित्सा का कार्य शुरू किया। वह काफी सफल रहा। अनेक व्यक्तियों को स्वास्थ्य लाभ का अवसर मिला। उसके साथ-साथ ध्यान का अभ्यास भी नियमित रूप से चला।

शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अनेक प्रयोगों का निर्धारण किया गया। उनका संकलन **'अमृत पिटक'** में है। **'तुम स्वस्थ रह सकते हो'** इस पुस्तक में भी अनेक प्रयोग उल्लिखित हैं। **'प्रेक्षा और हृदय रोग चिकित्सा'** इस विषय का प्रयोग अध्यात्म साधना केन्द्र, महरौली, दिल्ली में चल रहा है। ऑल इण्डिया मेडिकल इन्स्टीट्यूट के कॉर्डियोलोजी विभाग के प्रमुख डॉ. मनचन्दा की देख-रेख में प्रेक्षा के प्रवर साधक धर्मानन्दजी इसका संचालन कर रहे हैं।

प्रेक्षा चिकित्सा की अपनी उपयोगिता है। अनेक व्यक्ति आध्यात्मिक विकास के लिए ध्यान नहीं करते, किन्तु रोग से मुक्ति पाने के लिए ध्यान का प्रयोग करते हैं। नशे की आदत भी एक बीमारी है। अनेक व्यक्ति व्यसनमुक्ति के लिए भी ध्यान का प्रयोग करते हैं। व्यसनमुक्ति के लिए अप्रमादकेन्द्र पर ध्यान का प्रयोग कराया जाता है। हमने अनुभव किया कि काफी लोग इस प्रयोग द्वारा नशे की आदत से मुक्त होते हैं। अप्रमादकेन्द्र पर किया जाने वाला प्रयोग नशे से मुक्ति दिलाने वाला है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया। 'अप्रमादकेन्द्र' इस नाम की सार्थकता भी हमारे सामने आ गई।

एक दिन धर्मयुग में एक संवाद पढ़ने को मिला। उसे पढ़कर आश्चर्य हुआ। नशे की आदत को बदलने के लिए कान पर प्रयोग विदेशों में भी किया जा रहा है। उसे यहां उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा–

'आदमी को उसकी आदत से मुक्ति दिलाने के लिए दुनिया भर के विशेषज्ञ, चाहे वे चिकित्सा विज्ञान से संबद्ध हो या मनोविज्ञान, समाज विज्ञान से, नये-नये उपायों की खोज कर रहे हैं। इसी खोज के क्रम में नशीली दवाओं के प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को मुक्ति दिलाने के लिए एक ब्रितानी डॉक्टर मार्गरिट पैटरसन की नयी खोज भी चिकित्सा संसार में चर्चित हो रही है। यह खोज है–कान में सनसनी पैदा

करना। ऐसी उम्मीद की जा रही है कि सनसनी उपचार के जरीये हेरोइन से लेकर शराब, सिगरेट, तम्बाकू तक के लतबाजों की लत छुड़ाई जा सकती है। इस उपचार पद्धति के अंतर्गत जेबी साइज के बैटरी-संचालित उत्तेजक यंत्र से कान में हलकी-सी सनसनी की अनुभूति दी जायेगी।

लगभग पांच वर्ष पूर्व हांगकांग में डॉ. पैटरसन को इस पद्धति से उपचार करने का विचार आया। हांगकांग में जिन मरीजों को विद्युतीय एक्यूपंक्चर पद्धति से बेहोश किया जाता था उन पर एक विशेष प्रभाव यह पड़ा कि उनकी नशीली आदतें खत्म होने लगीं। डॉ. पैटरसन बताती हैं–'हमें तो मालूम भी नहीं था कि ये मरीज लतबाज हैं। बहरहाल, हमने मरीजों की केस-हिस्ट्री रखनी शुरू कर दी। परिणाम आशा के अनुरूप निकला। मादक दवाओं, खास तौर से हेरोइन सेवन करने वालों, शराबियों और सिगरेट पीने वालों के ऊपर उपचार सफल साबित हुआ। इस उपचार से बचपन से ही हेरोइन लेने वाले एक व्यक्ति की लत छूट गयी और दिन में ८०-८० सिगरेटें पीने वाला एक व्यक्ति ३ सिगरेटों पर उतर आया।

डॉ. पैटरसन ने १९७३ में हांगकांग से ब्रिटेन वापस आकर मादक लतबाजों के ऊपर तीनवर्षीय शोध कार्य भी किया। इस शोधकार्य के दौरान अनेक लतबाजों के ऊपर सनसनी उपचार का प्रयोग किया गया। उनका कहना है, 'यह किसी प्रकार का 'शॉक ट्रीटमेंट' नहीं है, बल्कि यह 'न्यूरो-इलेक्ट्रानिक थेरेपी' है।' वे यह भी स्वीकार करती हैं कि 'जिस तरह से यह काम करता है उसका कारण पूरी तौर से नहीं समझा जा सका है लेकिन इतना तो सच है कि यह लतबाजी को रोक सकता है।'

डॉ. पैटरसन से सहमत होने वालों की कमी नहीं है। उनसे सहमत होने वालों में से एक हैं प्रख्यात गिटार-वादक एरिक क्लैपटन। क्लैपटन हेरोइन-सेवी थे और सप्ताह में एक हजार पौंड इस पर खर्च करते थे। वे डॉ. पैटरसन की शरण में गये और उनके परिवार में रहे। लतबाजी की आदत से मुक्त होने के बाद क्लैपटन ने अपने अनुभवों को व्यक्त करते हुए कहा–'डॉ. पैटरसन और उनके पति ने प्यार से मेरी देख-भाल की जिसके कारण मैं रोगमुक्त हो सका। एक प्रकार का बिजलीय-प्रवाह मेरे मस्तिष्क में प्रवाहित होता रहता था जिससे हेरोइन सेवन की आदत खत्म हो गयी।'

आज पूरी दुनिया के डॉक्टर सनसनी उपचार पद्धति में विशेष रुचि ले रहे हैं।'

ध्यान और स्वभाव परिवर्तन

एक सामान्य धारणा है–स्वभाव नहीं बदलता, आदतें नहीं बदलती।

एक ओर यह चिन्तन उभर रहा था कि ध्यान के द्वारा स्वभाव में परिवर्तन लाया जा सकता है, आदतों को बदला जा सकता है। दूसरी ओर लोक मान्यताएं बाधा उत्पन्न कर रही थी–स्वभाव को नहीं बदला जा सकता, आदतों को नहीं बदला जा सकता। हमने बदलने की संकल्पना और बदलने की धारणा के बीच मध्यम मार्ग खोजने का प्रयत्न किया।

स्वभाव परिवर्तन के लिए शरीर-शास्त्रीय सिद्धांत को जानना बहुत आवश्यक है। स्वभाव निर्माण में भावना का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

१. हाइपोथेलेमस भावना के प्रति बहुत संवेदनशील है। वह भावना के द्वारा प्रभावित होता है।

२. भावना अनैच्छिक स्नायु और अंतःस्रावी ग्रंथियों द्वारा शरीर को प्रभावित करती है।

३. अनैच्छिक स्नायुओं पर हमारा नियंत्रण नहीं होता। भावना उन्हें प्रभावित करती है।

४. हाइपोथेलेमस स्नायुओं पर नियंत्रण करता है।

५. मनोविज्ञान के अनुसार अवचेतन को प्रभावित कर भाव-तरंग को बदला जा सकता है।

ध्यान के द्वारा मनुष्य सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करता है। सूक्ष्म शरीर के रसायन और विद्युत् प्रवाह बदलते हैं तब स्थूल शरीर के रसायन और विद्युत् प्रवाह भी बदल जाते हैं। यह फीडबेक मैकेनिज्म की पद्धति है।

फीडबेक मैकेनिज्म के साधन हैं–

१. श्वास दर्शन
२. प्राण दर्शन
३. शरीर दर्शन–रसायन और प्रकम्पन दर्शन
४. चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा
५. ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास

भावना द्वारा मस्तिष्क में रसायन उत्पन्न होते हैं। वे स्वभाव परिवर्तन के हेतु बनते हैं।

ईडा और पिंगला नाड़ियों में प्राण प्रवाह को नियंत्रित कर ग्रंथि-स्राव तथा रासायनिक परिवर्तन से नियंत्रण किया जा सकता है।

उक्त यौगिक और वैज्ञानिक सूत्रों के आधार पर स्वभाव परिवर्तन की प्रक्रिया का निर्धारण किया गया है।

कर्म सिद्धांत के अनुसार क्रोध आदि औदयिक भाव हैं। वे कर्म के उदय से निष्पन्न होते हैं। मेरे सामने प्रश्न था–यदि क्रोध आदि कर्मजन्य हैं तो क्रोधी व्यक्ति के स्वभाव को कैसे बदला जा सकता है? इसका उत्तर क्षायोपशमिक भाव में खोजा गया। वह कर्म के उपशमन की प्रक्रिया है।

मनुष्य के मस्तिष्क में दो प्रणालियां काम कर रही हैं–

१. औदयिक भाव की प्रणाली (Negative System)

२. क्षायोपशमिक भाव की प्रणाली (Positive System)

औदयिक भाव की प्रणाली अधिक सक्रिय होती है, उस समय स्वभाव नकारात्मक बन जाता है। क्षायोपशमिक भाव की प्रणाली सक्रिय होती है तब स्वभाव सकारात्मक बन जाता है। इनकी सक्रियता और निष्क्रियता में परिवर्तन होता रहता है।

इस दार्शनिक सिद्धांत का संवादी सिद्धांत मनोविज्ञान में मिला। स्वभाव परिवर्तन की समस्या को एक समाधान मिल गया।

हाइपोथेलेमस के पीछे के मध्य भाग में एक केन्द्र है, उसका नाम है डोर्सोमिडियल केन्द्र (Dorsomedial Nucleus)। इस केन्द्र को विद्युदग्र (Electrode) के द्वारा उद्दीप्त करने पर क्रोध तीव्र हो जाता है।

हाइपोथेलेमस में दूसरा एक केन्द्र है, उसका नाम है 'वेन्ट्रोमिडियल केन्द्र (Ventromedial Nucleus) । यह केन्द्र क्रोध का नियमन करता है। हाइपोथेलेमस आवेग को उत्पन्न करता है तथा उसका

नियमन करता है। हाइपोथेलेमस का वह केन्द्र, जो क्रोध को उत्पन्न करता है, उसकी तुलना औदयिक भाव से होती है। उसका जो केन्द्र क्रोध का नियमन करता है उसकी तुलना क्षायोपशमिक भाव से होती है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य के मस्तिष्क में औदयिक भाव और क्षायोपशमिक भाव—दोनों के केन्द्र बने हुए हैं। यदि ध्यान और अनुप्रेक्षा के प्रयोगों द्वारा औदयिक भाव को निष्क्रिय और क्षायोपशमिक भाव को सक्रिय करें तो क्रोध का स्वभाव बदला जा सकता है।

स्वभाव परिवर्तन और अनुप्रेक्षा के प्रयोग

स्वभाव परिवर्तन के लिए अभी और अनुसंधान करना आवश्यक है। यदि हम मस्तिष्क में विद्यमान सभी प्रकोष्ठों तथा क्षायोपशमिक भाव के प्रकोष्ठों की पहचान कर सके तो स्वभाव परिवर्तन के अनेक सूत्र हमारे हाथ में आ सकते हैं।

प्रयोग की अवधि में मैंने अनुभव किया कि स्वभाव परिवर्तन के लिए अनुप्रेक्षा का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य का स्वभाव एक समान नहीं होता। भय, क्रोध, शोक, ईर्ष्या, घृणा, कलह आदि का तारतम्य पाया जाता है। किसी व्यक्ति के स्वभाव में भय की मात्रा अधिक होती है, किसी व्यक्ति के स्वभाव में क्रोध की मात्रा अधिक होती है। अधिक मात्रा के कारण स्वभाव असंतुलित हो जाता है। अनुप्रेक्षा के प्रयोग द्वारा क्रोध आदि स्वभाव के घटक तत्त्वों में कमी लाई जा सकती है और स्वभाव को संतुलित किया जा सकता है। असहिष्णु व्यक्ति का स्वभाव क्रोध-प्रधान होता है। इसे उलट कर भी कहा जा सकता है कि जो क्रोध-प्रधान होता है वह असहिष्णु होता है। अनुप्रेक्षा के प्रयोग द्वारा सहन करने की शक्ति बढ़ती है और क्रोध संतुलित हो जाता है।

प्रश्न आत्म-साक्षात्कार का

प्रत्येक द्रव्य के असंख्य पर्याय होते हैं। कोई भी द्रव्य एक रूप में नहीं रहता। उसके रूप बदलते रहते हैं। बहुत लोग मानते हैं कि साधना के द्वारा परमात्मा अथवा आत्मा का दर्शन किया जा सकता है। मैं इस विचार से सहमत नहीं हूं। आत्मा और परमात्मा दोनों अमूर्त हैं इसलिए उनका साक्षात्कार नहीं हो सकता। संसारी आत्मा शरीरधारी है। वह कभी राग, कभी द्वेष और कभी राग-द्वेष मुक्त चेतना के अनुभव में रहता है। हम एकाग्रता के द्वारा इन पर्यायों का साक्षात्कार कर सकते हैं। सापेक्ष दृष्टि से हम विचार करें तो यह कहने में कोई कठिनाई नहीं कि आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है।

शुद्ध चेतना तक पहुंचने में प्रमुख बाधा है मन की चंचलता। मन क्रियात्मक है। जो क्रियात्मक होगा वह चंचल होगा, यह एक सचाई है। इस सचाई को मैं जानता था। चंचलता बाधा भी है और वह स्वाभाविक भी है इसलिए मन को स्थिर नहीं किया जा सकता। इस समस्या का समाधान मैंने भावक्रिया में खोजा। यदि भावक्रिया का अभ्यास अच्छा हो जाए तो मन की चंचलता बाधक नहीं बनती। हम भोजन करने बैठते हैं। उसमें शरीर और मन दोनों की क्रियाएं साथ रहती हैं और रहनी चाहिए। आयुर्वेद का प्रसिद्ध सूत्र है—'तन्मना भुञ्जीत' खाते समय मन खाने में ही रहना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं। एक ओर खाने की क्रिया चलती है, दूसरी ओर मन की यात्रा चलती रहती है। आयुर्वेद के अनुसार खाते समय मन खाने

में रहता है तो पाचन सम्यक् होता है। यदि खाते समय मन खाने में नहीं रहता, अन्यत्र घूमता रहता है तो पाचन अच्छा नहीं होता।

जैन योग की भाषा में शरीर और वाणी की क्रिया के साथ मन नहीं रहता उसे द्रव्य क्रिया और यदि मन साथ रहता है तो उसे कहते हैं भावक्रिया। भावक्रिया में भी मन चंचल रहता है, पर वह वर्तमान क्रिया के साथ ही रहता है, इधर-उधर चक्कर नहीं लगाता। इसलिए शरीर और वाणी की क्रिया सम्यक् होती है। भावक्रिया के लिए जरूरी है मन की एकाग्रता का विकास। मन की चंचलता को सर्वथा रोका नहीं जा सकता, किन्तु किसी एक आलंबन पर उसे स्थिर किया जा सकता है। इस बिन्दु पर हम भावक्रिया और एकाग्रता का संबंध समझ सकते हैं।

एकाग्रता के लिए श्वास का प्रयोग प्रथम और महत्त्वपूर्ण है। यह मैंने स्वयं अनुभव किया और इस विषय में हठयोग के अनेक ग्रंथ पढ़े। गोरक्ष संहिता, जैन योगी चिदानंदजी का स्वरोदय, आचार्य रामसेन का तत्त्वानुशासन, आचार्य शुभचंद्र का ज्ञानार्णव, आचार्य हेमचंद्र का योगशास्त्र, बौद्धध्यान की प्रमुख पद्धति विपश्यना, पातंजल योगदर्शन–इन सबका पारायण किया और इनमें जो अपेक्षित लगा उसका अध्ययन किया। जिनभद्रगणी के ध्यानशतक और कायोत्सर्ग शतक ने मुझे बहुत प्रभावित किया। मैंने अनुभव किया कि कायोत्सर्ग की पद्धति का विकास करना चाहिए, उसके बिना अग्रिम सारे प्रयोग उतना लाभ नहीं दे सकते, जितना वे कायोत्सर्ग की अवस्था में देते हैं। मैंने कायोत्सर्ग की पद्धति का भी निर्माण किया। अपनी अनुभूति की यत्किंचित परिपक्वता हुई। उसे एक रूप दिया और प्रेक्षाध्यान की पद्धति विकसित हो गई। प्रारंभ में कायोत्सर्ग, दीर्घश्वास और समवृत्ति श्वास आदि प्रयोग चालू किए गए।

एक बार चिंतन किया कि सुषुम्ना पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है। इस चिंतन के आधार पर अंतर्यात्रा का प्रयोग शुरू किया। अंतर्यात्रा का प्रयोग आंतरिक शक्तियों का विकास करने के लिए अत्यावश्यक है। जैसे-जैसे ध्यान का अनुभव बढ़ता गया वैसे-वैसे प्रेक्षाध्यान के साथ नए प्रयोग जुड़ते गए। चैतन्यकेन्द्र के रूप में नया प्रकल्प विकसित हुआ।

ध्यानकेन्द्रों के साथ रंगों का गहरा संबंध है। यह मैं जानता हूं और उसका प्रयोग भी करता था। वह अनुभव एक दिन अकस्मात् लेश्याध्यान के प्रयोग में बदल गया। आज लेश्याध्यान (आभामंडल का ध्यान) बहुत आकर्षक बन रहा है और उसके द्वारा अनेक समस्याओं का समाधान हो रहा है।

प्रेक्षाध्यान का पूरक प्रयोग है अनुप्रेक्षा। हम किसी एक रंग पर अथवा चैतन्यकेन्द्र पर लम्बे समय तक ध्यान करते हैं तो अज्ञात सूक्ष्म सत्य को अथवा रहस्य को जानने में सफल हो जाते हैं। इसके लिए आवश्यक है गहरी एकाग्रता अथवा निर्विचारता। परिवर्तन का प्रयोग है अनुप्रेक्षा। आदत को बदलने के लिए पुरानी आदत का परित्याग और नई आदत का निर्माण करना आवश्यक होता है। इस प्रक्रिया में स्वतः सूचन, सुझाव (Auto Suggestion) का बहुत महत्त्व है। अनुप्रेक्षा के सुझाव दिए जाते हैं और सघन एकाग्रता की स्थिति में वे अंतश्चेतना (Subconscious) तक पहुंच जाते हैं।

बाह्य चेतना अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा जान सकती है पर वह बुरे को अच्छे में और अच्छे को बुरे में बदल नहीं सकती है। परिवर्तन का सूत्र मोह-चेतना के अधिकार क्षेत्र में है। इसीलिए ध्यानकाल में राग-द्वेष से मुक्त चेतना का अभ्यास किया जाता है। प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से तनाव कम होता है,

बीमारियां मिटती हैं—यह प्रेक्षाध्यान का गौण पक्ष है। इसका मुख्य पक्ष है कि इसके अभ्यास से राग-द्वेष उपशांत होते हैं। इसकी साधना करने वाला आत्मा के सूक्ष्म पर्यायों का स्पर्श करने लग जाता है।

मैंने अनुभव किया कि अधिकांश समस्याओं के मूल में राग-द्वेष की तीव्रता होती है। यदि उन्हें मध्य या मंद बनाया जाए तो तनाव और तनावजनित रोग अपने आप कम हो जाते हैं। बाह्य निमित्तों से होने वाले रोग भी विचलित नहीं कर पाते।

प्रेक्षाध्यान की साधना का मूल उद्देश्य है राग-द्वेष को उपशांत करना, उनकी तीव्र और मध्य अवस्था को मंद में बदल देना। मेरा अनुभव है कि राग और द्वेष को मंद किया जा सकता है। श्वास प्रेक्षा, चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा, लेश्याध्यान आदि-आदि प्रयोग इसके साधन हैं। साध्य की सिद्धि के लिए ही साधनों का उपयोग और महत्त्व है। हम केवल साधन तक सीमित न रहें। उनका उपयोग साध्य की सिद्धि के लिए करते रहें।

प्रेक्षा साहित्य

मुनि दुलहराजजी प्रारंभ से ही हमारे साहित्य का सम्पादन कर रहे हैं। एक बार लिखने अथवा लिखा देने के बाद पुनः उसे देखना मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं रहा। साहित्य के विषय में यह कहना संगत होगा—शब्द मेरे होते और शेष सारे कार्य का दायित्व मुनि दुलहराजजी का होता। प्रेक्षा साहित्य का सम्पादन उन्होंने बड़ी कुशलता के साथ किया। लम्बे समय तक वे सम्पादन करते रहे।

सन् १९८५ में मुनि धनंजयकुमारजी ने साहित्य के सम्पादन का कार्य शुरू किया। कुछ वर्षों तक वे मुनि दुलहराजजी के साथ सम्पादन कार्य करते रहे। उसके बाद वे स्वतंत्र रूप से सम्पादन करने लगे। उनमें भी सम्पादन का कौशल है और बड़ी निष्ठा के साथ उसका उपयोग कर रहे हैं।

प्रेक्षा साहित्य की लगभग ४०-५० पुस्तकें प्रकाशित हुई। उनमें 'मन के जीते जीत', 'किसने कहा मन चंचल है?', 'अप्पाणं सरणं गच्छामि', 'आभामंडल' आदि पुस्तकों ने जनता का ध्यान बहुत आकृष्ट किया और वे प्रेक्षाध्यान के प्रति जनरुचि का हेतु बन गईं।

प्रेक्षाध्यान का मूल स्रोत आचार्य तुलसी की अन्तरात्मा में था। उसका जितना विकास हुआ वह सब उनकी अन्तरात्मा का पुनीत स्पन्दन है। बीज, अंकुर और पल्लवन उसी स्पन्दन से स्पन्दित होते रहे हैं। उन्होंने प्रेक्षाध्यान को केवल प्रोत्साहन ही नहीं दिया, अपनी वाणी और लेखनी से उसका अभिसिंचन भी किया। प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा उसी का एक नवोन्मेष है।

प्रवचन में मैं अध्यात्म, योग और विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता था। जेठाभाई जवेरी ने इस पर ध्यान केन्द्रित किया। वे इंजीनियर थे और विज्ञान का अध्ययन भी करते रहते थे। उनके मन में कल्पना थी और उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेक्षा साहित्य लिखना शुरू किया। मुनि महेन्द्रकुमारजी ने बम्बई यूनिवर्सिटी से B.Sc. की परीक्षा उत्तीर्ण की। विज्ञान उनकी रुचि का विषय रहा। इन दोनों—पिता और पुत्र ने प्रेक्षा साहित्य को वैज्ञानिक रूप देने की दिशा में काफी कार्य किया। प्रायोगिक दृष्टि से मुनि किशनलालजी ने अच्छा कार्य किया। आसन, प्राणायाम आदि के विषय में कुछ पुस्तकें भी लिखी।

जैसे-जैसे प्रेक्षाध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ता गया वैसे-वैसे शिविरार्थियों की संख्या बढ़ती गई। जैसे-जैसे शिविरार्थियों की संख्या बढ़ी वैसे-वैसे प्रशिक्षकों की अपेक्षा महसूस होती गई। कुछ मुनि और

कुछ गृहस्थ प्रेक्षाध्यान के प्रशिक्षण का कार्य करने लगे। जितनी अपेक्षा थी उतने प्रशिक्षक नहीं बने। जो बने, उनमें अर्हता के दर्शन हुए। अनेक वर्षों तक मैं शिविर का पूर्ण संचालन करता था। युवाचार्य की नियुक्ति के कुछ वर्षों बाद मैं शिविर में अपेक्षित समय नहीं दे पाया। उस समय मुनि किशनलालजी और मुनि महेन्द्रजी ने शिविर संचालन का दायित्व संभाल लिया। मैं अल्पकाल के लिए शिविर में जाता, कभी ध्यान कराने के लिए, कभी प्रवचन करने के लिए।

शिविर व्यवस्था

मोहनलालजी कठोतिया और धर्मानन्दजी शिविर व्यवस्था के नियोजक थे। ये दोनों ध्यान के अभ्यासी थे, ध्यान के अभ्यासी ही नहीं, उसके लिए समर्पित थे। मोहनलालजी कठोतिया तुलसी अध्यात्म नीडम् (जैन विश्व भारती) के अध्यक्ष थे और धर्मानन्द निदेशक। कठोतियाजी के नेतृत्व में धर्मानन्द ने शिविर की व्यवस्था का सम्यक् नियोजन किया। इन दोनों की परिपक्व साधना ने शिविरार्थियों को काफी लाभान्वित किया। कठोतियाजी दिल्लीवासी थे और वे तुलसी अध्यात्म नीडम् लाडनूं के साथ-साथ अध्यात्म साधना केन्द्र दिल्ली का संचालन भी कर रहे थे। उसका कार्य काफी विकसित हुआ तब धर्मानन्दजी वहां चले गए। वे आज भी अध्यात्म साधना केन्द्र दिल्ली के निदेशक हैं और उसका सम्यक् संचालन कर रहे हैं।

कठोतियाजी और धर्मानन्दजी दोनों दिल्ली रहने लगे। तुलसी अध्यात्म नीडम् का कार्यभार शंकरलालजी मेहता ने संभाला। उन्होंने स्थिरता और धैर्य के साथ कार्य किया। प्रारंभ में प्रेक्षाध्यान का शिविर तुलसी अध्यात्म नीडम् (जैन विश्व भारती) में होता था। जैसे-जैसे प्रेक्षाध्यान से लोग प्रभावित होते गए, शिविरों की मांग बढ़ती गई। प्रशिक्षक भी बढ़े और देश के अनेक भागों में शिविर लगने लगे। उनका पथदर्शन भी तुलसी अध्यात्म नीडम् के द्वारा होता रहा।

आचार्य तुलसी की पदयात्रा चलती रहती। जहां प्रवास होता वहां शिविर का आयोजन होता। शिविर के आयोजन का दायित्व शंकरलालजी मेहता संभालते। उन्होंने शिविर व्यवस्था में अपनी शक्ति का पूरा उपयोग किया। शिविर व्यवस्था का नया-नया कार्य था। उसमें कुछ खामियां भी रहीं। उन्होंने व्यवस्था को सम्यक् बनाने के लिए काफी प्रयत्न किया।

समणश्रेणी और प्रेक्षाध्यान

आचार्य तुलसी ने सन् १९८० में समणश्रेणी की स्थापना की। नई व्यवस्था के स्थिरीकरण के लिए ध्यान का विशेष अभ्यास आवश्यक है। अनेक समणियां ध्यान का अभ्यास करने के लिए शिविर में भाग लेती थीं। इसके अतिरिक्त उनके लिए प्रयोग निर्धारित किये गए। उनमें एक प्रयोग कायोत्सर्ग प्रतिमा का है। वह प्रयोग ध्यान-शिविर में नहीं कराया गया। केवल समणियां ही उसका अभ्यास करती हैं।

१. कायोत्सर्ग प्रतिमा

शरीर को स्थिर शिथिल और तनावमुक्त करें। पृष्ठरज्जु और गर्दन को सीधा रखें। मांसपेशियों को ढीला छोड़ दें। चित्त को कण्ठ पर केन्द्रित करें और पूरे शरीर में शिथिलता का अनुभव करें।

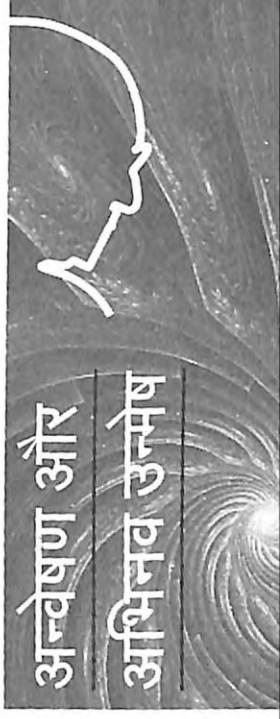

संकल्प करें–

'तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।'

२. विवेक प्रतिमा

१. अपने स्वरूप को जानने के लिए विजातीय तत्त्वों का विवेक करें। चिन्तन करें।

२. १. मैं क्रोध नहीं हूं, क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है।

२. मैं मान नहीं हूं, मान मेरा स्वभाव नहीं है।

३. मैं माया नहीं हूं, माया मेरा स्वभाव नहीं है।

४. मैं लोभ नहीं हूं, लोभ मेरा स्वभाव नहीं है।

५. मैं भय नहीं हूं, भय मेरा स्वभाव नहीं है।

६. मैं शोक नहीं हूं, शोक मेरा स्वभाव नहीं है।

७. मैं घृणा नहीं हूं, घृणा मेरा स्वभाव नहीं है।

८. मैं काम नहीं हूं, काम मेरा स्वभाव नहीं है।

९. मैं मिथ्यात्व नहीं हूं, मिथ्यात्व मेरा स्वभाव नहीं है।

प्रत्येक अनुभव के पश्चात् श्वास-संयम का प्रयोग करें। स्वयं को भावित करें। पूरी जागरूकता के साथ, एकाग्रता के साथ प्रयोग करें।

३. अइयं पडिक्कमामि

मैं अतीत का प्रतिक्रमण करती हूं।

१. यदि मैंने क्रोध किया हो तो मनसा वाचा कर्मणा तस्स मिच्छामि दुक्कडम्।

२. यदि मैंने मान किया हो तो मनसा वाचा कर्मणा तस्स मिच्छामि दुक्कडम्।

३. यदि मैंने माया की हो तो मनसा वाचा कर्मणा तस्स मिच्छामि दुक्कडम्।

४. यदि मैंने लोभ किया हो तो मनसा वाचा कर्मणा तस्स मिच्छामि दुक्कडम्।

५. यदि मैंने भय का संवेदन किया हो तो मनसा वाचा कर्मणा तस्स मिच्छामि दुक्कडम्।

६. यदि मैंने शोक किया हो तो मनसा वाचा कर्मणा तस्स मिच्छामि दुक्कडम्।

७. यदि मैंने घृणा की हो तो मनसा वाचा कर्मणा तस्स मिच्छामि दुक्कडम्।

८. यदि मैंने काम का सेवन किया हो तो मनसा वाचा कर्मणा तस्स मिच्छामि दुक्कडम्।

९. यदि मैंने मिथ्यात्व का व्यवहार किया हो तो मनसा वाचा कर्मणा तस्स मिच्छामि दुक्कडम्।

प्रत्येक अनुभव के पश्चात् श्वास-संयम का प्रयोग करें। स्वयं को भावित करें। पूरी जागरूकता के साथ, एकाग्रता के साथ प्रयोग करें।

४. पडिपुण्णं संवरेमि

मैं वर्तमान का संवर करती हूं।

१. अनुभव करें—क्षमा का विकास हो रहा है।
२. अनुभव करें—मृदुता का विकास हो रहा है।
३. अनुभव करें—ऋजुता का विकास हो रहा है।
४. अनुभव करें—संतोष का विकास हो रहा है।
५. अनुभव करें—अभय का विकास हो रहा है।
६. अनुभव करें—आनन्द का विकास हो रहा है।
७. अनुभव करें—मैत्री का विकास हो रहा है।
८. अनुभव करें—ब्रह्मचर्य का विकास हो रहा है।
९. अनुभव करें—सम्यक्त्व का विकास हो रहा है।

प्रत्येक अनुभव के पश्चात् श्वास-संयम का प्रयोग करें। स्वयं को भावित करें। पूरी जागरूकता के साथ, एकाग्रता के साथ प्रयोग करें।

५. अणागयं पच्चक्खामि

मैं भविष्य का प्रत्याख्यान करती हूं।

१. मैं क्रोध नहीं करूंगी।
२. मैं मान नहीं करूंगी।
३. मैं माया नहीं करूंगी।
४. मैं लोभ नहीं करूंगी।
५. मैं भय का संवेदन नहीं करूंगी।
६. मैं शोक नहीं करूंगी।
७. मैं घृणा नहीं करूंगी।
८. मैं काम का सेवन नहीं करूंगी।
९. मैं मिथ्यात्व का व्यवहार नहीं करूंगी।

प्रत्येक अनुभव के पश्चात् श्वास-संयम का प्रयोग करें। स्वयं को भावित करें। पूरी जागरूकता के साथ, एकाग्रता के साथ प्रयोग करें।

६. स्वरूपानुभव

मैं चैतन्यमय हूं—अनुभव करें, मेरी प्रज्ञा जाग रही है।

मैं आनन्दमय हूं—अनुभव करें, मानसिक स्वास्थ्य विकसित हो रहा है।

मैं शक्तिसम्पन्न हूं—अनुभव करें, मेरी सहिष्णुता बढ़ रही है।

७. सप्तधातु प्रेक्षा

मेरा शरीर स्वस्थ बन रहा है। साधना के अनुकूल बन रहा है।

रक्तवाही संस्थान पर ध्यान केन्द्रित करें। संकल्प करें—रक्त शुद्ध हो रहा है।

मांसपेशियां, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य, ओज पर ध्यान करें, स्वस्थता का संकल्प करें।

इसके अभ्यास से नवगठित श्रेणी का पर्याप्त मनोबल बढ़ा। अनेक समणियां प्रेक्षाध्यान की प्रशिक्षिका बन गईं। उन्होंने अनेक देशों में तथा भारत के अनेक प्रदेशों में प्रेक्षाध्यान के शिविरों का आयोजन किया। प्रेक्षाध्यान की व्यापकता में इस वर्ग का बहुत योगदान रहा है।

शिविर की कालावधि

प्रारंभ में शिविर की कालावधि दस दिन की थी। कुछ वर्षों बाद एक समस्या आई कि कुछ लोग प्रेक्षाध्यान के शिविर का अभ्यास करना चाहते हैं पर दस दिन के समय का नियोजन नहीं कर सकते। इस समस्या के समाधान के लिए अल्पावधि के शिविरों का चिन्तन किया गया। अल्पावधि में अभ्यास परिपक्व नहीं होता, फिर भी अभ्यास की दृष्टि से वे बहुत सफल रहे।

प्रयोग की समस्या : एक समाधान

प्रारंभ में हम दस दिन के शिविर में श्वास प्रेक्षा से लेकर लेश्याध्यान तथा अनुप्रेक्षा के सभी प्रयोग कराते थे। कुछ शिविरों के बाद अनुभव हुआ कि एक साथ इतने प्रयोग कराने से किसी भी प्रयोग का अनुभव परिपक्व नहीं होता। इस समस्या पर गहराई से चिन्तन किया और सब प्रयोगों को तीन शिविरों में विभक्त किया।

प्रेक्षाध्यान शिविर क्रम (प्रथम शिविर के शिविरार्थी के लिए)

<table>
<tr><th>प्रेक्षाध्यान के प्रयोग</th><th>आसन और
प्राणायाम के प्रयोग</th><th>प्रेक्षा-प्रशिक्षण</th><th>शरीर-विज्ञान
प्रशिक्षण</th></tr>
<tr><td>अर्हं की ध्वनि
ध्येय सूत्र</td><td>पेट एवं श्वास की दस क्रियाएं</td><td rowspan="3">अर्हं की ध्वनि
कायोत्सर्ग
अन्तर्यात्रा
श्वास प्रेक्षा
(दीर्घश्वास एवं समवृत्ति)
शरीर प्रेक्षा</td><td rowspan="3">सामान्य शरीर रचना
श्वसन तंत्र, पाचन तंत्र,
स्वास्थ्य संबंधी सामान्य जानकारी
आहार विज्ञान
प्रेक्षाध्यान के साथ शरीर विज्ञान का संबंध</td></tr>
<tr><td>कायोत्सर्ग
अन्तर्यात्रा
दीर्घ एवं
समवृत्ति श्वास प्रेक्षा</td><td rowspan="3">उत्तानपादासन
पवनमुक्तासन
कायोत्सर्ग
पद्मासन
वज्रासन
सुखासन
लयबद्ध दीर्घश्वास (५ सेकंड की चार आवृत्ति एक श्वास), अनुलोम-विलोम प्राणायाम और उज्जायी प्राणायाम</td></tr>
<tr><td>शरीर प्रेक्षा
ज्योति केन्द्र प्रेक्षा
विवेक सूत्र
शरण सूत्र
श्रद्धा सूत्र</td></tr>
<tr><td>अनुप्रेक्षा-अनित्य और सहिष्णुता।
उपसम्पदा के संकल्प सूत्रों का अभ्यास, योग निद्रा</td><td>ज्योतिकेन्द्र प्रेक्षा
अनुप्रेक्षा, प्रतिक्रमण-योग, योग-निद्रा, उपसम्पदा
प्रथम शिविर के लिए निर्दिष्ट आसन और प्राणायाम</td><td></td></tr>
</table>

प्रेक्षाध्यान शिविर क्रम (द्वितीय शिविर के शिविरार्थी के लिए)

प्रेक्षाध्यान के प्रयोग	आसन और प्राणायाम के प्रयोग	प्रेक्षा-प्रशिक्षण	शरीर-विज्ञान प्रशिक्षण
प्रथम शिविर के प्रयोग पूर्ववत्	प्रथम शिविर के प्रयोग पूर्ववत्, यौगिक क्रियाएं	प्रथम शिविर के शिक्षण तत्त्वों का विश्लेषण	नाड़ी तंत्र ग्रंथि तंत्र
चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा अनुप्रेक्षा– अभय मैत्री आत्मानुशासन मानसिक संतुलन	भुजंगासन शलभासन धनुरासन शशांकासन योग मुद्रा सर्वांगासन हलासन, मत्स्यासन सूर्यभेदी और चन्द्रभेदी प्राणायाम भस्त्रिका, लयबद्ध दीर्घश्वास (७ सेकंड की चार आवृत्ति एक श्वास)	चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा अनुप्रेक्षा– अभय, मैत्री आत्मानुशासन मानसिक संतुलन द्वितीय शिविर के लिए निर्दिष्ट आसन और प्राणायाम	प्रेक्षाध्यान के साथ नाड़ी तंत्र और ग्रंथि तंत्र का संबंध

प्रेक्षाध्यान शिविर क्रम (तृतीय शिविर के शिविरार्थी के लिए)

प्रेक्षाध्यान के प्रयोग	आसन और प्राणायाम के प्रयोग	प्रेक्षा-प्रशिक्षण	शरीर-विज्ञान प्रशिक्षण
प्रथम शिविर के प्रयोग पूर्ववत्	प्रथम शिविर एवं द्वितीय शिविर के प्रयोग पूर्ववत्	द्वितीय शिविर के प्रशिक्षण तत्त्वों का विश्लेषण	रक्त संचार रंग विज्ञान
लेश्याध्यान अनुप्रेक्षा– एकत्व मृदुता अनासक्ति मानवीय एकता	मेरुदण्ड की क्रियाएं अर्द्धमत्स्येन्द्रासन पश्चिमोत्तानासन जानुशिरासन इष्ट वंदन कपालभाती, शीतली और शीतकारी प्राणायाम, लयबद्ध दीर्घश्वास (१० सेकंड की चार आवृत्ति एक श्वास), केवल श्वास-संयम (तीन से दस सेकंड तक)	लेश्याध्यान अनुप्रेक्षा– एकत्व मृदुता अनासक्ति मानवीय एकता तृतीय शिविर के लिए निर्दिष्ट आसन और प्राणायाम	प्रेक्षाध्यान के साथ रक्त संचार और रंग विज्ञान का संबंध

कुछ व्यक्ति अनेक बार शिविर की साधना कर चुके हैं। वे ध्यान की विशेष साधना में रुचि रखते हैं। उनके लिए अग्रिम विकास के लिए प्रेक्षाध्यान की तीन भूमिकाओं का विकास किया गया।

प्रेक्षाध्यान की तीन भूमिकाएं

१. अनुशासन की भूमिका

२. संयम की भूमिका

३. संवर की भूमिका

अनुशासन की भूमिका में पर-निर्देश प्रधान होता है। दूसरे के निर्देशानुसार प्रयोग किया जाता है।

अनुशासन की भूमिका में दस-दस दिन के दो शिविर अपेक्षित हैं।

अनुशासन की भूमिका के प्रयोग–

१. कायोत्सर्ग–अभ्यास काल ३० मिनिट

२. दीर्घश्वास प्रेक्षा–अभ्यास काल ३० मिनिट

३. समवृत्ति श्वास प्रेक्षा–अभ्यास काल ३० मिनिट

४. अन्तर्यात्रा–अभ्यास काल २० मिनिट

५. ज्योतिकेन्द्र प्रेक्षा–अभ्यास काल १० मिनिट

अनुशासन की भूमिका के फलित

कायिक अनुशासन–कायोत्सर्ग के अभ्यास से कायिक अनुशासन सिद्ध होता है। आसन सिद्धि हो जाती है। आधा घण्टा अथवा एक घण्टे तक स्थिर बैठने की स्थिति सध जाती है।

वाचिक अनुशासन–दीर्घश्वास के अभ्यास से मौन की योग्यता विकसित हो जाती है। छोटा श्वास मन को चंचल बनाता है। मानसिक चंचलता से मौन भंग हो जाता है।

मानसिक अनुशासन–श्वास और अन्तर्यात्रा के प्रयोग से मानसिक एकाग्रता बढ़ती है।

इन सबकी सिद्धि के लिए दीर्घकालिक अभ्यास जरूरी है। इसलिए निर्दिष्ट अवधि तक इनका अभ्यास करें।

संयम की भूमिका

संयम की भूमिका में स्व-निर्देश प्रधान होता है। स्व-संकल्प के आधार पर प्रयोग किया जाता है।

संयम की भूमिका में दस-दस दिन के दो शिविर अपेक्षित हैं।

संयम की भूमिका के प्रयोग–

१. कायोत्सर्ग–अभ्यास काल १० मिनिट

२. दीर्घश्वास प्रेक्षा–अभ्यास काल १० मिनिट

३. समवृत्तिश्वास प्रेक्षा—अभ्यास काल १० मिनिट

४. शरीर प्रेक्षा—अभ्यास काल ३० मिनिट

५. अनित्यता की अनुप्रेक्षा—अभ्यास काल २० मिनिट

६. सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा—अभ्यास काल २० मिनिट

संयम की भूमिका के फलित

कायिक संयम—

१. आवेश की स्थिति में हाथ का संयम, २. पैर का संयम, ३. शरीर की विशिष्ट स्थिरता।

वाचिक संयम—

१. मृदु वचन का प्रयोग २. सत्य वचन का प्रयोग।

मानसिक संयम—

५ मिनिट से १५ मिनिट तक एकाग्रता का अभ्यास।

संवर की भूमिका

संवर की भूमिका में आंतरिक शुद्धि और अनुभूति प्रधान होती है। संवर की भूमिका में दस-दस दिन के दो शिविर अपेक्षित हैं।

संवर की भूमिका के प्रयोग—

१. कायोत्सर्ग—अभ्यास काल ३० मिनिट

२. दीर्घश्वास प्रेक्षा—अभ्यास काल १० मिनिट

३. समवृत्तिश्वास प्रेक्षा—अभ्यास काल १० मिनिट

४. चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा—अभ्यास काल ४५ मिनिट

५. लेश्याध्यान—अभ्यास काल ४५ मिनिट

संवर की भूमिका के फलित

कायिक संवर—एक घण्टे तक आसन अथवा कायोत्सर्ग में पूर्ण स्थिरता।

वाचिक संवर—कण्ठ का कायोत्सर्ग, पूर्ण मौन।

मानसिक संवर—निर्विकल्प अथवा निर्विचार अवस्था, मन से परे जाने की अवस्था।

प्रेक्षाध्यान पत्रिका का प्रकाशन

प्रेक्षाध्यान के अभ्यासियों की संख्या बहुत बढ़ गई। उनसे सम्पर्क और प्रेरणा के लिए 'प्रेक्षाध्यान' नामक पत्रिका प्रारंभ की गई। उससे प्रेक्षाध्यान के साधकों को काफी संबल मिला। अनेक वर्षों तक इसके सम्पादन का दायित्व श्री शंकरलाल मेहता ने संभाला। वर्तमान में समणीवृंद इसके संपादन कार्य में नियोजित हैं।

कुशल प्रयोक्ता एवं प्रशिक्षक

तेरापंथ धर्मसंघ में सामूहिक ध्यान का प्रयोग प्रचलित नहीं था। आचार्य भिक्षु के समय खेतसीजी स्वामी, हेमराजजी स्वामी एक-एक प्रहर तक कायोत्सर्ग की साधना करते थे। इससे ज्ञात होता है कि कायोत्सर्ग के साथ ध्यान भी चलता था। पर वे किस पद्धति से करते थे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। जयाचार्य स्वयं लम्बे समय तक ध्यान का प्रयोग करते थे। उनके द्वारा रचित चौबीसी (चतुर्विंशति स्तवन) में ध्यान के रहस्यपूर्ण सूत्र मिलते हैं। उनका एक छोटा-सा ग्रंथ भी उपलब्ध है। उसे प्रेक्षाध्यान का पूर्व रूप कहा जा सकता है।

आचार्य तुलसी के शासनकाल में प्रेक्षाध्यान की पद्धति का विकास हुआ, ध्यान के शिविर आयोजित हुए और सामूहिक ध्यान का प्रयोग शुरू हो गया।

श्रावक समाज में भी ध्यान का प्रचलन कम था। जब प्रेक्षाध्यान की शिविर शृंखला प्रारंभ हुई तब अनेक लोगों ने उसमें भाग लिया। उससे मानसिक शांति का अनुभव हुआ। कुछ शारीरिक लाभ भी हुआ। ध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ गया।

कुछ व्यक्ति ध्यान का प्रयोग कराने में कुशल हो गए और वे दूसरे व्यक्तियों के लिए भी प्रेरक बन गए।

अनेक व्यक्ति प्रेक्षाध्यान के अध्येता, लेखक और प्रचारक बन गए। मुंबई में नगीनभाई शाह, चांदमलजी बोरा आदि ने प्रेक्षाध्यान का केन्द्र शुरू किया। वर्तमान में वहां अनेक केन्द्र नियमित चल रहे हैं। अध्यात्म साधना केन्द्र दिल्ली में धर्मानन्दजी और उनकी पत्नी दोनों व्यवस्थित रूप से कार्य चला रहे है। प्रेक्षा विश्व भारती (अहमदाबाद) में प्रेक्षाध्यान के विकास की बहुत संभावनाएं हैं। संबोधि उपवन में मुनि शुभकरणजी की सन्निधि में प्रेक्षाध्यान का कार्य चल रहा है। छोटे-छोटे अनेक प्रेक्षा केन्द्र अनेक स्थानों पर चल रहे हैं। प्रेक्षाध्यान के शिविर हिन्दुस्तान के अनेक भागों में आयोजित हो रहे हैं।

अमेरिका में प्रेक्षा के तीन केन्द्र ऑरलेण्डो, न्यूजर्सी और ह्यूस्टन में स्थापित हुए हैं। अमेरिका और यूरोप में प्रतिवर्ष अनेक शिविर आयोजित किये जाते हैं। जापान से अनेक बार अनेक दल प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने आते रहे हैं। वर्तमान में रूस, यूक्रेन, हॉलैण्ड, बेल्जियम, लंदन, अमेरिका आदि देशों से प्रेक्षाध्यान के शिविर में भाग लेने के लिए अनेक लोग प्रतिवर्ष आते हैं और हमारे प्रशिक्षक भी प्रशिक्षण के लिए वहां जाते हैं।

साहित्य का भाषान्तरण

प्रो. नथमल टाटिया ने प्रेक्षाध्यान के प्रशिक्षण के लिए अनेक बार जापान की यात्राएं कीं। जापान के कुछ व्यक्तियों ने प्रेक्षाध्यान प्रयोग पद्धति का जापानी भाषा में अनुवाद कराया। ओकी योगा सेन्टर ने उसे प्रकाशित किया। प्रेक्षाध्यान विषयक पुस्तिकाओं का अंग्रेजी में अनुवाद का प्रारंभ मुनि महेन्द्रकुमारजी और जेठाभाई जवेरी ने किया। उसके बाद अन्य विद्वानों ने भी कई पुस्तकों के अनुवाद किये। इन वर्षों में रूस, स्पेनिश आदि भाषाओं में अनेक पुस्तकें अनूदित और प्रकाशित हुई हैं।

शुभकरण सुराणा अहमदाबाद में प्रवास कर रहा है। साहित्यिक रुचि वाला है। छोटी अवस्था से ही मेरे साहित्य के प्रति आकृष्ट हुआ। वह कल्पनाशील और सूझ-बूझ वाला व्यक्ति है। उसने गुजराती भाषा में अनुवाद की योजना बनाई। प्रेक्षा साहित्य का गुजराती में अनुवाद शुरू हो गया। अब तक १०० पुस्तकों का गुजराती अनुवाद हो चुका है। कुछ पुस्तकों के अनेक संस्करण भी आ चुके हैं। इस साहित्य ने केवल गुजरात की जनता को ही प्रभावित नहीं किया है, विदेश में प्रवासी गुजराती लोगों को भी प्रभावित किया है। भारत की अन्य भाषाओं में भी प्रेक्षा साहित्य का अनुवाद हुआ है। बांग्ला भाषा में अनेक पुस्तकें अनूदित हुई हैं। नेपाली, तमिल, कन्नड़, तेलगु, मराठी, उडिया आदि भाषाओं में भी कुछ पुस्तकों के अनुवाद हुए हैं। साहित्य के माध्यम से प्रेक्षा का स्वर जनता तक पहुंचा है।

जैन योग पुनरुद्धारक

गुरुदेव प्रेक्षाध्यान की धर्मसंघ के लिए अतिशय उपयोगिता का अनुभव कर रहे थे। उनकी प्रेरणा से जन-जन में प्रेक्षाध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ता गया। गुरुदेव द्वारा रचित गीत प्रेक्षाध्यान का शाश्वत संगान बन गया।

१२ सितम्बर, १९८६, अमृत महोत्सव का पांचवां चरण। गुरुदेव ने प्रेक्षाध्यान पद्धति के आविष्कार का श्रेय देते हुए, 'जैन योग पुनरुद्धारक' के रूप में मूल्यांकन किया और मुझे इस विषय में आशीर्वाद प्रदान किया। पूज्य गुरुदेव ने कहा–हमारे धर्मसंघ में योगसाधना का जो विकास हुआ है उसमें महाप्रज्ञ का बहुत बड़ा योग है। मैंने सन् १९६२ में उदयपुर चतुर्मास में मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) को जैन साधना पद्धति के संदर्भ में गहरा अनुसंधान करने के लिए कहा। साधना इनकी विशेष रुचि का विषय था। मेरे निर्देश का योग मिलने से वह अधिक पुष्ट हो गई। शास्त्रों का दोहन, तथ्यों का समाकलन, पद्धति का निर्धारण, वैज्ञानिक तथ्यों के साथ प्रयोग और अनुभव–इन सबके आधार पर महाप्रज्ञ ने एक परिष्कृत पद्धति का विकास किया, वह आज प्रेक्षाध्यान-साधना के नाम से प्रयुक्त हो रही है। अनेक लोगों ने पूछा–क्या जैनों की कोई साधना पद्धति है? प्रेक्षाध्यान इस चिरंतन प्रश्न का समाधान है।

पूज्य गुरुदेव ने कहा–'जैन योग की विलुप्त साधना पद्धति के पुनरुज्जीवन का श्रेय महाप्रज्ञ को है। इसलिए मैं आज अमृत महोत्सव के पांचवें चरण में महाप्रज्ञ को 'जैन योग पुनरुद्धारक' संबोधन से संबोधित करता हूं।'

पूज्य गुरुदेव ने कहा–'मेरे जीवन की अनेक उपलब्धियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है कि मैंने एक योग्य और योग्यतर ही नहीं, योग्यतम उत्तराधिकारी को पाया है।'

आचार्यवर ने अपने वक्तव्य के पश्चात् 'जैन योग पुनरुद्धारक' संबोधन पत्र का वाचन कर मुझे समर्पित किया।

अर्हम्

युवाचार्य महाप्रज्ञ!

जैन योग की विस्मृत परम्परा को पुनरुज्जीवित करने के लिए तुमको वर्षों तक ध्यान-साधना के अन्वेषण और प्रयोग हेतु संलग्न किया गया। तुम्हारी दृढ़ इच्छाशक्ति, शोधमूलक-वृत्ति और समर्पण भाव

से आज जैन योग एक बार फिर विश्व के रंगमंच पर उद्भासित हो रहा है। इसलिए अमृत महोत्सव के अवसर पर मैं तुम्हें 'जैन योग के पुनरुद्धारक' के रूप में संबोधित करता हूं।

१२ सितम्बर, १९८६ **आचार्य तुलसी**

जैन विश्व भारती, लाडनूं

अमृत महोत्सव

प्रेक्षाध्यान के विषय में एक भविष्यवाणी का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा। यह भविष्यवाणी श्री मोतीलाल चौपड़ा (गंगाशहर) ने वि. संवत् २०२७ में की। उसने लिखा–'योग या आध्यात्मिक खोज करेंगे। कोई साधना की नई प्रणाली दुनिया को बताएंगे।'

ध्यान और जीवन

मैंने वि. संवत् २००५ से ध्यान और जप की साधना शुरू की। इस क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए। प्रयोगों के सुखद परिणामों का साक्षात्कार किया। ध्यान की रुचि बढ़ती रही। आज मेरी स्थिति यह है–जैसे ही मैं ध्यान करने बैठता हूं, ध्यान की गहराई में चला जाता हूं। एक समय था–जब कोई पूछता तो मेरा उत्तर होता–मैं दिन में अमुक अवधि तक ध्यान करता हूं। आज ध्यान मेरे जीवन का सहचर और स्वभाव बन गया है। मैं ध्यान से भिन्न अपने जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकता। मेरा यह स्पष्ट अनुभव है– चेतना के ऊर्ध्वारोहण का इससे श्रेष्ठ कोई साधन नहीं है। जिसने ध्यान का मर्म समझा है, उसका सम्यक् प्रयोग किया है, सफलता स्वयं उसके द्वार पर दस्तक देती है। अपने जीवन को ध्यान की प्रयोगशाला बनाएं तो इस सच का साक्षात्कार हो सकता है।

जीवन विज्ञान

हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता के कुछ वर्षों बाद नैतिक शिक्षा की चर्चा शुरू हो गई। अणुव्रत आंदोलन का मुख्य विषय था नैतिक मूल्यों का विकास। उससे जुड़ा हुआ विषय था नैतिक शिक्षा। सन् १९६४ के आसपास पंडित जवारहलाल नेहरू ने दौलतसिंह कोठारी की अध्यक्षता में एक शिक्षा आयोग का गठन किया। उसके सचिव थे जे. पी. नाइक।

प्रश्न नैतिक शिक्षा का

आचार्यवर बीकानेर चातुर्मास के लिए विहार कर चुके थे। मैं आचार्यवर के निर्देशानुसार दिल्ली में रहा। एक दिन नाइक मेरे पास आए और उन्होंने नैतिक शिक्षा के संदर्भ में विचार-विमर्श किया। विमर्श के पश्चात् उन्होंने कहा–'आप नैतिक शिक्षा के लिए कार्य कर रहे हैं और हमें भी नैतिक शिक्षा के विषय में एक रिपोर्ट तैयार करनी है। आप हमारा मार्गदर्शन करें।' उनसे अनेक बार इस विषय में चर्चा हुई।

एक दिन उन्होंने प्रस्ताव रखा–'आप नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करने वाली कुछ पुस्तकें हमें दें। उन्हें हम आयोग की रिपोर्ट के साथ प्रस्तुत करेंगे।'

उनके अनुरोध पर हमने नैतिक पाठमाला के दो भाग लिखे। छठी कक्षा के लिए एक पुस्तक मुनि सुखलालजी ने लिखी और सातवीं कक्षा के लिए मैंने लिखी। ये दोनों पुस्तकें उन्हें दे दी। उन्होंने पुस्तकों को पसन्द किया और आश्वासन दिया कि हम अपनी रिपोर्ट के साथ इन पुस्तकों को प्रस्तुत कर देंगे। कुछ दिनों बाद जे. पी. नाइक हमारे पास आए। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा–'नैतिक शिक्षा विवाद का विषय बन रहा है। एक समुदाय के लोग जिन महापुरुषों के नाम नैतिक शिक्षा के साथ जोड़ना चाहते हैं उसे दूसरे समुदाय के लोग पसन्द नहीं करते। इस विवाद को सुलझाना कठिन हो रहा है।' इस सूचना से हमें लगा कि नैतिक शिक्षा के विषय में आयोग अनेक समस्याओं का सामना कर रहा है।

नैतिकता के प्रयोग

अणुव्रत के द्वारा नैतिक शिक्षा का कार्य बराबर चल रहा था। दिल्ली के विद्यालयों में नैतिकता के कुछ प्रयोग भी किये जा रहे थे। कुछ विद्यालयों में कॉपी, पेन्सिल, कलम आदि सामग्री रखी गई। मूल्य पत्रक रख दिये। विद्यार्थियों ने अपनी आवश्यकतानुसार सामग्री ली और पेटिका में रुपये डाल दिये। यह प्रयोग काफी सफल रहा। इस प्रकार के अन्य प्रयोग भी किये गए। नैतिकता के विषय में हमारे मुनियों और कार्यकर्ताओं के वक्तव्य भी आयोजित किये गये। वि. सं. २०२१, तीस हजारी कोर्ट में जिलाधीश और मजिस्ट्रेट समूह के मध्य नैतिकता के विषय में मेरा वक्तव्य रखा गया। उस समय मैंने नैतिकता के विषय में चार श्लोकों की रचना की और उनके आधार पर वक्तव्य दिया–

विलासबहुलावृत्तिः अल्पायश्च बहुव्ययः।
अपेक्षाः कृत्रिमा यत्र, तत्र नैतिकता कुतः।।१।।

सीमामासादितो भोगः, व्ययश्चायानुसारतः।
अपेक्षाः सीमिता यत्र, तत्राऽनैतिकता कुतः।।२।।
कर्तव्यविमुखं यत्र, राज्यतन्त्रं प्रविद्यते।
वणिजश्छलसंयुक्ताः तत्र नैतिकता कुतः।।३।।
कर्तव्यप्रवणं यत्र, राज्यतन्त्रं प्रविद्यते।
वणिजो न्यायसंतुष्टाः तत्राऽनैतिकता कुतः।।४।।

मूल्यपरक शिक्षा

नैतिक शिक्षा के साथ मूल्यपरक शिक्षा की चर्चा भी चल रही थी। हमारे सामने भी मूल्यों के विषय में प्रश्न आए। हमने उस समय ग्यारह मूल्यों का निर्धारण किया–

अभयं मृदुता सत्यं, आर्जवं करुणा धृतिः।
अनासक्तिः स्वावलम्बः, स्वशासनं सहिष्णुता।।
कर्तव्यनिष्ठता व्यक्तिगतार्थस्य विसर्जनम्।
प्रामाणिकत्वं यस्मिन् स्युः, नीतिमान् उच्यते नरः।।

शिक्षा आयोग में पाठमाला की पुस्तकों का उपयोग नहीं हुआ। दिल्ली के विद्यालयों में प्रार्थना के समय प्रतिमास १-१ पाठ का उपयोग किया गया।

हमने नैतिक मूल्यों के विकास के लिए विद्यार्थी, अभिभावक और शिक्षक का त्रिकोणात्मक अभियान चलाया। विद्यालय में अभिभावक निमंत्रित किए गए और तीनों पक्षों के मध्य नैतिकता के बारे में चर्चा की गई। इस नैतिकता के अभियान में केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय के सचिव एल. ओ. जोशी, बसन्तराव ओंक, रामेश्वर ठेकेदार, दीनदयाल शर्मा आदि अनेक व्यक्तियों का पूर्ण सहयोग रहा। अणुव्रत के कार्यकर्ता भी बहुत सक्रियता से काम कर रहे थे। उनमें पारस जैन, प्रभुदयाल डाबड़ीवाल, जयचंदलाल दफ्तरी आदि प्रमुख थे।

विश्वविद्यालयों में भी मूल्यपरक शिक्षा (Value-Oriented Education) का स्वर सुनाई देने लगा। अणुव्रत आंदोलन के साथ-साथ नैतिक शिक्षा का चिन्तन चल ही रहा था इसलिए नैतिक शिक्षा के विषय में चिन्तन करने वालों के साथ सम्पर्क भी होता रहा। अनेक पाठ्यक्रम बने पर संतोष का अनुभव नहीं हुआ।

सन् १९७५ में प्रेक्षाध्यान के प्रयोग प्रारंभ किये गए। जिन व्यक्तियों ने प्रयोग किया उनमें परिवर्तन भी आने लगा। ऐसा वातावरण बना कि प्रेक्षा के प्रयोग से अनेक-अनेक लोगों में बदलाव आ रहा है। उनका दृष्टिकोण बदल रहा है, चिन्तन बदल रहा है, आचार और व्यवहार भी बदल रहा है।

चिन्तन का नया आयाम

एक दिन आचार्यवर ने कहा–'प्रेक्षाध्यान के शिविर में युवक और प्रौढ़ व्यक्ति आ रहे हैं। उनकी आदतों में परिवर्तन आ रहा है। उनमें नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक विकास के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है।

पर इस प्रश्न पर चिन्तन करो कि आने वाली नई पीढ़ी में यदि परिवर्तन नहीं आया तो समस्या का समाधान कैसे होगा? अब हमें विद्यार्थियों के निर्माण के लिए कार्य करना चाहिये।' आचार्यवर की इस प्रेरणा ने चिन्तन का नया आयाम खोला।

२५ दिसम्बर, १९७८ से ३१ दिसम्बर, १९७८, जैन विश्व भारती के प्रांगण में प्रेक्षाध्यान का शिविर हो रहा था। उसमें मुख्यतया डीडवाना उपखंड के प्राध्यापक भाग ले रहे थे। एक दिन प्रवचन के समय नैतिक शिक्षा पर चर्चा चली। चर्चा के दौरान मैंने कहा–'नैतिक शिक्षा' यह नाम बहुत विवादास्पद बन गया। कुछ प्राध्यापक इस भाषा में भी बोलने लगे–एक कक्षा में नैतिक शिक्षा होगी तो क्या शेष कक्षाओं में अनैतिक शिक्षा चलेगी? यद्यपि यह कोई बलवान तर्क नहीं है फिर भी यह स्पष्ट था कि 'नैतिक-शिक्षा' शब्द विवाद के घेरे में आ गया।

२८ दिसम्बर को नैतिक शिक्षा के विषय में लम्बा संवाद चला। डॉ. दयानन्द भार्गव ने नैतिक शिक्षा के संदर्भ में कुछ प्रश्न उपस्थित किए। मैंने उनका समाधान दिया। मुझे लगा–इस विषय में कुछ नया चिन्तन अपेक्षित है। उस अपेक्षा को ध्यान में रखकर उस संवाद के निष्कर्ष में मैंने कहा–'नैतिक शिक्षा' का नाम 'जीवन विज्ञान' क्यों न कर दिया जाए? इसका सब प्राध्यापकों ने सकारात्मक उत्तर दिया। सबने कहा–'वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह नाम अधिक सार्थक होगा।'

विद्या की नई शाखा की परिकल्पना

आचार्यवर उन दिनों श्रीडूंगरगढ़ में प्रवास कर रहे थे। शिविर की संपन्नता के पश्चात् मैंने एक पत्र लिखा। मेरे संवाद गुरुदेव तक पहुंच गए। मैंने उसमें इस विषय का संकेत कर दिया–

महाप्राण! ज्योतिपुंज! आचार्यप्रवर!

तुम्हारी सतत प्रवाही करुणा से प्रसन्न और प्रणत हम सब श्रीचरणों में वंदना और कुशलपृच्छा संप्रेषित करते हैं।

हम मंगल भावना करते हैं–तुम्हारी शक्ति की अजस्र धारा हजारों-हजारों व्यक्तियों में शक्ति का संचार करे।

तुम्हारी स्वस्थता इस महान् संघ की ही स्वस्थता नहीं है, अध्यात्म की धारा में त्राण खोजने वाली मानव जाति की स्वस्थता है। उसके लिए मंगल भावना करते हैं और उसके प्रति उपेक्षा न हो, यह अनुरोध भी।

श्रीचरणों के अनुग्रह से हम सब कुशल हैं। शिविरों का क्रम श्रीडूंगरगढ़ से शुरू हुआ, वह आज ३१ दिसम्बर को संपन्न हो रहा है। यह दिसम्बर का महीना हमारे लिए शिविरों का महीना रहा। तीसरे शिविर में जितने प्राध्यापक आने वाले थे, वे सब नहीं आ सके, फिर भी इस शिविर की दो विशिष्ट उपलब्धियां हैं–

१. भावक्रिया का व्यापक स्वरूप में प्रतिपादन।

२. विद्या की एक नई शाखा की परिकल्पना।

२५ दिसम्बर को प्रेक्षाध्यान के पांच सूत्रों की मैं व्याख्या कर रहा था। डॉ. नथमलजी टाटिया उपस्थित थे। उनका ध्यान भावक्रिया और प्रतिक्रिया विरति–इन दो सूत्रों पर गया। उन्होंने २७ दिसम्बर को सूर्योदय होते-होते आकर कहा–'मेरे हाथ में ऐसा मानदण्ड आ गया है, जिसके आधार पर सब साधना पद्धतियों और दर्शनों की समीक्षा की जा सकती है।' इस विषय में उनके दो वक्तव्य हो गए, दो और संभव हैं।

२८ दिसम्बर की रात को भार्गवजी का प्रश्न था नैतिकता के विषय में। बहुत उलझन भरा। मैंने उसका समाधान किया पर उसे पूरा समाधान नहीं माना। २९ दिसम्बर को प्रातःकाल ध्यान के समय उसका समाधान सूझा, वह सबके सामने रखा। सबमें एक नई उत्सुकता जाग गई और उस समाधान के कारण तुलसी अध्यात्म नीडम् पर बहुत बड़ा नया दायित्व आ गया है। मुझे विश्वास है कि तुम्हारी शक्ति से हम उस दायित्व का भलीभांति निर्वाह करेंगे और शिक्षा के क्षेत्र में धर्म, अध्यात्म या नैतिकता की नई दिशा उद्घाटित होगी। पूरी रूपरेखा दर्शन होने पर प्रस्तुत करेंगे। तुम्हारा आशीर्वाद उपलब्ध होने पर उसकी क्रियान्विति होने लगेगी।

वह दिन धन्य होगा, जिस दिन श्रीचरणों का साक्षात् होगा।

३ जनवरी, १९७९ मुनि नथमल

लाडनूं

प्रतिष्ठित हो गया जीवन विज्ञान

हम लाडनूं प्रवास संपन्न कर आचार्यवर की सन्निधि में पहुंचे। शिविर की उपलब्धियों की चर्चा करते हुए मैंने नैतिक शिक्षा के स्थान पर 'जीवन विज्ञान' के नाम की परिकल्पना प्रस्तुत की। 'जीवन विज्ञान' का नाम सुना और आचार्यवर ने कहा–साधु, साधु, तथास्तु, बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। आचार्यवर की स्वीकृति प्राप्त कर हमने कृतार्थता का अनुभव किया। आचार्यवर मेरे लिए प्रेरणास्रोत थे। उनका एक शब्द पथ को आलोकित कर देता।

'जीवन विज्ञान' शब्द प्रतिष्ठित हो गया। उसे शिक्षा के साथ कैसे जोड़ा जाये, इस विषय में चिन्तन शुरू हुआ। आचार्यवर की सन्निधि में अनेक गोष्ठियां हुई। चिन्तन के कुछ बिन्दु स्पष्ट हो गए। वर्तमान शिक्षा में बौद्धिक विकास के लिए बहुत कुछ किया जा रहा है। यांत्रिक और औद्योगिक विकास के लिए बहुत अवकाश है। किन्तु उससे चरित्र का विकास नहीं हो रहा है। जीवन विज्ञान के द्वारा वह कमी कैसे पूरी हो? इस विषय पर पर्याप्त मंथन, वैचारिक आलोडन-विलोडन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अणुव्रत की आचार-संहिता नैतिक मूल्यों के विकास के लिए श्रेष्ठ आचार-संहिता है। जीवन-व्यवहार में उसका उपयोग अभ्यास के बिना नहीं हो सकता। इस चिन्तन के बाद शिक्षा के उपयोगी मूल्यों का निर्धारण किया गया।

मूल्यों का वर्गीकरण

मनुष्य केवल सामाजिक नहीं है और वह केवल व्यक्ति भी नहीं है। वह संबंधों के कारण सामाजिक है और जन्मजात वैयक्तिकता के कारण व्यक्ति है। शिक्षा में सामाजिक और वैयक्तिक दोनों पहलुओं का

समन्वय आवश्यक है। इसके द्वारा ही आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों का सामंजस्यपूर्ण विकास किया जा सकता है।

जीवन विज्ञान मूल्यपरक शिक्षा की समन्वयात्मक प्रयोग पद्धति है। उसमें सोलह मूल्य निर्धारित किए गए हैं। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है–

१. सामाजिक मूल्य–

१. कर्तव्यनिष्ठा २. स्वावलम्बन।

२. बौद्धिक-आध्यात्मिक मूल्य–

३. सत्य ४. समन्वय ५. सम्प्रदाय निरपेक्षता ६. मानवीय एकता।

३. मानसिक मूल्य–

७. मानसिक संतुलन ८. धैर्य।

४. नैतिक मूल्य–

९. प्रामाणिकता १०. करुणा ११. सह-अस्तित्व।

५. आध्यात्मिक मूल्य–

१२. अनासक्ति १३. सहिष्णुता १४. मृदुता १५. अभय १६. आत्मानुशासन।

केवल सिद्धांत-बोध के द्वारा विद्यार्थी अपनी अस्मिता को पहचान सके और सामाजिक न्याय के प्रति समर्पित हो सके, यह कम संभव है। इसके लिए सिद्धांत और प्रयोग–दोनों का समन्वय आवश्यक है।

शिक्षा मंत्रालय द्वारा संगोष्ठी

सन् १९८१, आचार्यवर का जयपुर में पदार्पण। उस समय राजस्थान के शिक्षा मंत्री थे चन्दनमलजी बैद। उन्होंने कुछ समय पूर्व शिक्षा के साथ नैतिक शिक्षा लागू करने की घोषणा की थी। उन्होंने एक दिन गुरुदेव से कहा–'मैंने नैतिक शिक्षा को लागू करने की बात कही है। उसमें आपका सहयोग अपेक्षित है।'

आचार्यश्री–'क्या करोगे ?'

शिक्षा मंत्री–'नैतिक शिक्षा के लिए एक पुस्तक तैयार करा रहा हूं।'

आचार्यवर–'विद्यार्थियों पर पुस्तकों का भार बहुत है। एक पुस्तक का भार और बढ़ जाएगा।'

शिक्षा मंत्री–'तो क्या होना चाहिए ?'

आचार्यवर–'नैतिकता का विकास केवल पाठ पढ़ाकर नहीं किया जा सकता। उसके लिए अभ्यास जरूरी है। वह प्रायोगिक होनी चाहिए, सैद्धांतिक नहीं।'

शिक्षा मंत्री–'आचार्यवर ! आपने जो कहा वह गंभीर विषय है। मैं आपकी सन्निधि में शिक्षा मंत्रालय की एक गोष्ठी आयोजित करूंगा। आप हमारे शिक्षाविदों व अधिकारियों को अपना मंतव्य समझा दें।'

शिक्षा मंत्री ने आचार्यवर की सन्निधि में शिक्षा मंत्रालय की गोष्ठी आयोजित की। उसमें शिक्षा सचिव के. के. भटनागर, शिक्षा मंत्रालय के उच्च अधिकारी, राजस्थान विश्वविद्यालय के प्रोफेसर और मेडिकल कॉलेज के प्रोफेसर आदि ने भाग लिया।

गोष्ठी के प्रारम्भ में मैंने वक्तव्य दिया। उसका प्रारंभ इन शब्दों से हुआ—अनेक विद्वान् कह रहे हैं हमारी शिक्षा प्रणाली गलत है। हमारा मंतव्य यह है कि शिक्षा प्रणाली गलत नहीं अधूरी है, अपर्याप्त है। वर्तमान शिक्षा यदि गलत हो तो उससे अच्छे-अच्छे डॉक्टरों, अच्छे-अच्छे वैज्ञानिकों, अच्छे-अच्छे इंजीनियरों का निर्माण कैसे हो रहा है? अपर्याप्त मानने का हेतु यह है कि उससे नैतिक मूल्यों का विकास नहीं हो रहा है।

हम शिक्षा से अपेक्षा रखते हैं चारित्रसम्पन्न व्यक्ति के निर्माण की और वह कार्य उससे नहीं हो रहा है, इसलिए हम उसे त्रुटिपूर्ण मानते हैं। यह हमारा चिन्तन वैसा ही है जैसा कि बीज बोए बिना फसल या फल की कामना करते हैं।

वक्तव्य में शिक्षा के संदर्भ में मैंने कुछ विकल्प प्रस्तुत किए। शिक्षा सचिव के. के. भटनागर बोले—'आज पहली बार हमने सुना है कि हमारी शिक्षा अपर्याप्त है। हम सदा इसे गलत ही सुनते आये हैं। आपने हमें नई दृष्टि दी है। कृपया यह बताएं—अपर्याप्त को पर्याप्त कैसे बनाएं? अपूर्ण को पूर्ण कैसे करें?'

शिक्षा सचिव के प्रश्न पर मैंने सर्वांगीण विकास की परिकल्पना उन्हें बताई। मैंने कहा—वर्तमान शिक्षा प्रणाली के अनुसार शारीरिक विकास पर कुछ ध्यान दिया जाता है। बौद्धिक विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है। यांत्रिक विकास और वैज्ञानिक विकास उसी का एक भाग है। मानसिक विकास पर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता। भावात्मक विकास सर्वथा उपेक्षित है। सर्वांगीण विकास से हमारा तात्पर्य है शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और भावात्मक विकास—शरीर, बुद्धि, मन और भाव का संतुलित विकास। चरित्र और नैतिक मूल्यों का संबंध मुख्यतः भावात्मक विकास के साथ है। उसके बिना नैतिक मूल्यों के विकास की संभावना नहीं की जा सकती।

शिक्षक प्रशिक्षण शिविर

सर्वांगीण विकास की अवधारणा ने शिक्षा सचिव का ध्यान आकृष्ट किया। उनका प्रश्न था कि भावात्मक विकास कैसे हो सकता है?

मैंने कहा—'वह केवल पाठ पढ़ने से नहीं होता। उसके लिए प्रयोगात्मक पद्धति को अपनाना जरूरी है। इसकी पूरी प्रक्रिया यह होगी कि पहले कुछ शिक्षकों को चुनकर भावात्मक विकास के प्रयोगों का प्रशिक्षण (Training) दिया जाए। वे शिक्षक विद्यालयों में विद्यार्थियों को भावात्मक विकास के लिए प्रयोग कराएंगे। कुछ शिक्षक Resource Person बनें और वे शिक्षकों को प्रशिक्षण दें।'

इस योजना पर उनकी सहमति हो गई। शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए शिविरों की आयोजना का संकल्प व्यक्त किया गया।

जीवन विज्ञान की शिक्षा की व्यापकता का यह पहला संदर्भ है। राजस्थान शिक्षा विभाग के द्वारा जीवन विज्ञान के अनेक शिक्षक शिविर आयोजित किये गए। शिविरों की शृंखला चल रही थी। उसमें मैं

जीवन विज्ञान के विषय में प्रवचन करता। उनका संकलन कर दो पुस्तकें तैयार की गई–

१. जीवन विज्ञान : शिक्षा का नया आयाम

२. जीवन विज्ञान : स्वस्थ समाज संरचना का संकल्प।

शिक्षा जगत् में जीवन विज्ञान

सन् १९८४ में आचार्यवर जोधपुर में चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे। एक दिन जगन्नाथसिंह मेहता दर्शन करने आये। आचार्यवर ने शिक्षा के क्षेत्र में जीवन विज्ञान की उपयोगिता पर बल दिया। उन्हें जीवन विज्ञान विषयक दोनों पुस्तकें दी गई।

मेहताजी शिक्षाविद् थे। वे राजस्थान सरकार के शिक्षा-मंत्रालय में शिक्षा आयुक्त रहे। उस पद से निवृत्ति के बाद राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष बन गए। उन्होंने **'जीवन विज्ञान : शिक्षा का नया आयाम'** पुस्तक को सांगोपांग पढ़ा। वे आचार्यवर के पास आकर बोले–'आचार्यश्री ! इस पुस्तक में आज की समस्या का सुन्दर समाधान है। मैं माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के माध्यम से जितना कर सकूंगा उतना करने का प्रयत्न करूंगा।'

सन् १९८६ उदयपुर में मर्यादा महोत्सव का आयोजन। आचार्यवर की सन्निधि में सैकड़ों साधु-साध्वियों की उपस्थिति। राजस्थान विद्यापीठ एवं राष्ट्रीय अमृत महोत्सव समिति ने द्विदिवसीय जीवन विज्ञान सम्मेलन का आयोजन किया। जीवन विज्ञान के विषय में काफी गहन चिन्तन चला। कुछ विद्वानों ने इस विषय में शोध पत्र पढ़े।

'कोब्से' अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड का संगठन है। उसका अधिवेशन भिन्न-भिन्न प्रान्तों में होता रहता है। राजस्थान में उसका अधिवेशन हो रहा था। उसके लिए जगन्नाथ सिंह मेहता ने उदयपुर क्षेत्र का चुनाव किया। तीन दिन की कान्फ्रेन्स में एक दिन जीवन विज्ञान की चर्चा के लिए निर्धारित किया। ७ फरवरी, १९८६ को आचार्यवर की सन्निधि में एक संगोष्ठी का आयोजन हुआ। उसमें कोब्से की कॉन्फ्रेन्स में आए हुए माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के अध्यक्षों और शिक्षा सचिवों ने भाग लिया। जीवन विज्ञान के विषय में विस्तार से चर्चा हुई। सबके सामने एक नया विषय आया और अनेक व्यक्तियों ने उसे शिक्षा के साथ जोड़ने की अनुशंसा की।

राष्ट्र में नैतिक मूल्यों के ह्रास की अनुभूति तीव्रता के साथ हो रही थी। उसे रोकने के उपाय भी खोजे जा रहे थे। उनमें सर्वाधिक उपाय माना जा रहा था–शिक्षा में नैतिक मूल्यों का समावेश। जीवन विज्ञान उस अपेक्षा की पूर्ति का माध्यम बन रहा था। इसलिए उसके प्रति अनेक क्षेत्रों में आकर्षण बढ़ा।

सन् १९९५ में दिल्ली राज्य के मुख्यमंत्री साहिबसिंह वर्मा और शिक्षा मंत्री श्री हर्षवर्धन थे। उस समय शिक्षा आयुक्त थे श्री एस. रघुनाथन। वे मुनि किशनलालजी के सम्पर्क में आये। अल्प सम्पर्क में ही उन्होंने जीवन विज्ञान को गहराई से समझ लिया और विद्यालयों में उसे लागू करने की योजना बनाई। शिक्षकों को जीवन विज्ञान का प्रशिक्षण दिया गया। अनेक विद्यालयों में कार्य प्रारम्भ हो गया।

दिसंबर १९९७ में हम लोग भीनासर में प्रवास कर रहे थे। रघुनाथनजी ने चिन्तन किया और शिक्षा मंत्री सहित प्रमुख शिक्षाविदों और शिक्षा अधिकारियों के लिए तीन दिन का जीवन विज्ञान शिविर

आयोजित किया। उसमें जीवन विज्ञान के विषय में काफी चिन्तन हुआ और दिल्ली राज्य में उसे आगे बढ़ाने की भावना व्यक्त की गई।

जीवन विज्ञान की जैसे-जैसे उपयोगिता सामने आई उसकी मांग बढ़ती गई और वह व्यापक बनता गया। जैन विश्व भारती मान्य विश्वविद्यालय में जीवन विज्ञान विभाग स्थापित हुआ। एम. ए. का कोर्स चालू हो गया। महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय अजमेर ने सन् १९९०-९१ में जैन विद्या और जीवन विज्ञान को स्नातक पाठ्यक्रम में एक विषय के रूप में मान्यता प्रदान की। वर्तमान में मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, गुजरात, राजस्थान, तमिलनाडु, कर्नाटक, पांडीचेरी और दिल्ली राज्य में जीवन विज्ञान शिक्षा के साथ चल रहा है।

शिक्षा जगत् में जीवन विज्ञान इतना प्रवेश पा सकेगा, यह हमारी कल्पना नहीं थी। आचार्यवर का एक संकेत भी इतना बड़ा वटवृक्ष बन जाएगा, यह सोचा नहीं था। उनके अस्तित्व काल में जीवन विज्ञान का विस्तार हो चुका था। वर्तमान में वह शतशाखी बन रहा है।

शिक्षा की समस्या और जीवन विज्ञान

जीवन विज्ञान की व्यापकता का हेतु है अपेक्षा। शिक्षा संस्थानों की अपेक्षा और अभिभावकों की अपेक्षा। दिन-प्रतिदिन होने वाला नैतिक मूल्यों का ह्रास समाज को प्रभावित कर रहा है। उससे शासन तंत्र भी प्रभावित हो रहा है। अनेक क्षेत्रों के लोग समस्या का समाधान शिक्षा के क्षेत्र में खोज रहे हैं। घर का वातावरण और धर्मस्थान चरित्र विकास के हेतु बनते हैं, किन्तु विद्यार्थी पर शिक्षा का जितना प्रभाव होता है उतना उन दोनों का नहीं होता। इसलिए सबका ध्यान शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन की ओर आकृष्ट हो रहा है। शिक्षा क्षेत्र की अपनी समस्या है–

१. शिक्षक विद्यालय में वही पाठ्यक्रम पढ़ाता है जो सरकार द्वारा निर्धारित है। उसमें बौद्धिक विकास प्रधान है। चरित्र विकास अथवा नैतिक मूल्यों का विकास गौण है और बहुत गौण है। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र से अभिनिष्क्रमण करने वाले व्यक्ति विद्वान् बहुत होते हैं किन्तु उनका चरित्र-पक्ष ज्ञान के अनुरूप समृद्ध नहीं होता।

२. शिक्षक स्वयं उसी सरकारी पाठ्यक्रम से निष्णात होकर आते हैं। इसलिए सामान्यतया उनसे बौद्धिक विकास की अपेक्षा रखी जा सकती है किन्तु नैतिक मूल्यों के विकास की नहीं।

पाठ्यक्रम और पाठक की समस्या से विद्यार्थी भी अछूता नहीं रहता। सकारात्मक भाव का प्रशिक्षण नहीं मिलता उस अवस्था में नकारात्मक भाव को पनपने का मौका मिलता है। मुझे लगता है शिक्षा के क्षेत्र में जैविक दृष्टि (Biological Viewpoint) तथा मस्तिष्क विद्या के आधार पर जितना चिन्तन होना चाहिए था उतना चिन्तन नहीं हुआ।

जैविक दृष्टि, जैविक रसायन और मस्तिष्क विद्या के आधार पर जो चिन्तन किया गया उसका प्रतिफलन है जीवन विज्ञान।

वृत्तियों के परिवर्तन के लिए हमने अध्यात्म योग और विज्ञान के आधार पर कुछ प्रयोग निर्धारित किए। अध्यात्म और योग के आधार पर चक्रों और चैतन्यकेन्द्रों का अध्ययन किया। उनसे वृत्ति-परिवर्तन

और सकारात्मक भाव (Positive attitude) निर्माण के सूत्र खोजे गए। शरीर विज्ञान (Anatomy), शरीर क्रिया विज्ञान (Physiology), मनोविज्ञान (Psychology) मस्तिष्क विद्या से प्राप्त सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। नाड़ी तंत्र (Nervous System) और अंतःस्रावी ग्रंथियों (Endocrine Glands) से भी कई महत्त्वपूर्ण सूत्र प्राप्त हुए। शिक्षा में इन सबका महत्त्वपूर्ण योग हो सकता है। इनका सहारा लिए बिना सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास की कल्पना को साकार नहीं किया जा सकता।

जीवन विज्ञान : विकास का दृष्टिकोण

जीवन विज्ञान समग्र दृष्टिकोण पर आधारित विकास का दृष्टिकोण है।

विकास के ग्यारह सूत्र हैं–

१. बौद्धिक विकास
२. सामाजिक दृष्टिकोण का विकास
३. सामुदायिक चेतना का विकास
४. स्वास्थ्य का विकास
५. सम्पन्नता का विकास
६. प्रामाणिकता का विकास
७. संवेदनशीलता का विकास
८. संयम (आत्मानुशासन या अपने आप पर नियंत्रण करने) की शक्ति का विकास
९. अहिंसक दृष्टिकोण का विकास
१०. त्याग, निष्ठा और सहिष्णुता (परिस्थिति को झेलने की क्षमता) का विकास
११. आजीविकोपयोगी क्षमता का विकास।

शिक्षा की दो पद्धतियां हैं–

भाषायुक्त	**भाषामुक्त**
तर्क	संगीत
गणित	दृश्य
अपराविद्या (लौकिक विद्या)	पराविद्या (अलौकिक विद्या)

मस्तिष्क विद्या के अनुसार मस्तिष्क के दो पटल होते हैं–

१. बायां पटल (Left Hemsphere)

२. दायां पटल (Right Hemsphere)

मस्तिष्क का बायां पटल भाषायुक्त विद्या के लिए उत्तरदायी है। उसका दायां पटल भाषामुक्त विद्या के लिए उत्तरदायी है। अंतर्दृष्टि (Intuition Power) और अतींद्रिय चेतना का विकास इसी पटल के जागरण

पर निर्भर है। भाषायुक्त शिक्षा बहुत चल रही है। जीवन विज्ञान भाषामुक्त शिक्षा का प्रयोग है। यह प्रायोगिक पद्धति है। ध्यान, आसन, प्राणायाम, अनुप्रेक्षा आदि प्रयोगों के माध्यम से व्यक्ति की चेतना का रूपान्तरण किया जा सकता है।

जीवन विज्ञान की प्रयोग पद्धति प्रेक्षाध्यान पर आधारित है इसलिए प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान के बीच कोई लक्ष्मणरेखा नहीं खींची जा सकती। यदि विषय की स्पष्टता के लिए कोई भेदरेखा खींचे तो कह सकते हैं कि आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने के लिए प्रेक्षाध्यान और शिक्षा के सर्वांगीण विकास के लिए जीवन विज्ञान की पद्धति का निर्धारण किया गया है।

अहिंसा प्रशिक्षण

अहिंसा और शांति–इन दो शब्दों के आधार पर मानवता का प्रासाद खड़ा हुआ है। भारतीय मनीषी अहिंसा को अधिक मूल्य देते हैं, पश्चिम के व्यक्ति शांति को। तात्पर्य में दोनों में कोई भेद नहीं है। शांति अहिंसा की चेतना से उत्पन्न होती है और अहिंसा के विकास के लिए शांति अनिवार्य है।

हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व अनादिकालीन है। मनोविज्ञान में मौलिक मनोवृत्तियों की एक तालिका है। उसके अनुसार संघर्ष (Conflict) एक मौलिक मनोवृत्ति है। अहिंसा का स्थान मौलिक मनोवृत्ति में नहीं है। इसका तात्पर्य है हिंसा स्वाभाविक है और अहिंसा प्रयत्नजन्य।

जैन दर्शन में कर्मवाद का विस्तृत विवरण है। उसके अनुसार प्राणी में हिंसा और अहिंसा दोनों के बीज विद्यमान हैं। जिस बीज को कारण-सामग्री उपलब्ध होती है वह अंकुरित और पल्लवित हो जाता है और जिसे कारण-सामग्री उपलब्ध नहीं होती वह अंकुरित नहीं हो पाता।

हिंसा का एक लम्बा इतिहास है। उसके अनुसार ३४५६ वर्ष की अवधि में केवल २३० वर्ष शांति के बीते हैं। शेष समय में युद्ध होते रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार प्रतिवर्ष १.५ मिलियन मनुष्य हिंसा के शिकार बनते हैं। प्रति मिनिट कम से कम एक मनुष्य की हत्या होती है। प्रति ४०वें सेकंड में एक मनुष्य आत्महत्या करता है। तीसरी शताब्दी में लगभग १९१ मिलियन मनुष्य युद्ध में मारे जायेंगे। उनमें से आधे मनुष्य निर्दोष नागरिक होंगे। रिपोर्ट में बताया गया है कि युवकों में हिंसा की वृत्ति बढ़ रही है और यह चिन्ता का विषय है।

हिंसा की समस्या और अहिंसा प्रशिक्षण

हिंसा की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के संदर्भ में एक प्रश्न पूछा जाता है, जो बहुत सार्थक प्रश्न है। हजारों वर्षों से अहिंसा का पाठ पढ़ाया जा रहा है फिर भी हिंसा कम नहीं हो रही है। अहिंसा की सार्थकता कहां खोजें? महावीर, बुद्ध, गांधी आदि अनेक महापुरुषों ने अहिंसा के वातावरण का निर्माण किया पर वह टिक नहीं पा रहा है। इस स्थिति में क्या अहिंसा को समाधान माना जा सकता है? यह प्रश्न वर्षों से हमारे सामने आ रहा था। इस प्रश्न का उत्तर हमने अहिंसा प्रशिक्षण में खोजा। अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हिंसा के कारणों का पता लगाना आवश्यक है। हिंसा के पारिस्थितिक, मानसिक और भावनात्मक कारणों को हम जानते हैं, किन्तु जैव रासायनिक कारणों को नहीं जानते।

मैंने नाड़ीतंत्र, अंतःस्रावी ग्रंथितंत्र और रसायनों के आधार पर हिंसा के कारणों को खोजने का प्रयत्न किया। उसमें सफलता भी मिली। उस अध्ययन के आधार पर मैंने एक पुस्तक लिखी–**'अहिंसा के अछूते पहलू'**। मेरी यह धारणा पुष्ट हो गई कि अहिंसा के विकास के लिए भावशुद्धि, मानसिक संयम जितना जरूरी है उतना ही जरूरी है नाड़ीतंत्रीय संतुलन, अंतःस्रावी ग्रंथियों के स्रावों का संतुलन और जैव रसायनों का परिवर्तन और संतुलन।

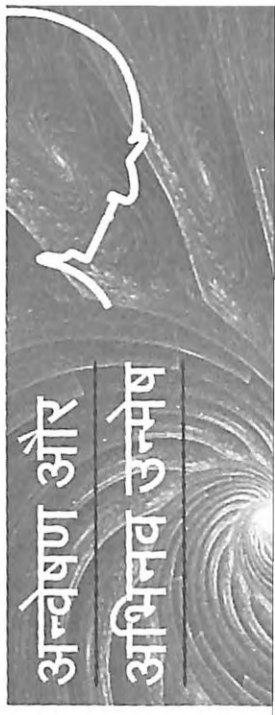

अहिंसा का शारीरिक पक्ष

सन् १९८९ में जैन विश्व भारती के भिक्षु विहार में आचार्य तुलसी विराज रहे थे। हवाई यूनिवर्सिटी में राजनीतिशास्त्र (Political Science) के प्रोफेसर ग्लेन डी. पेज आए। उनसे वार्तालाप हुआ। अहिंसा के विषय में चिन्तन चला। मैंने शरीर शास्त्रीय अध्ययन की बात उन्हें बताई। उन्होंने उसे बहुत गहराई से समझने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा–'यह अहिंसा का अनछुआ पहलू है, इसका प्रशिक्षण होना चाहिए।'

दिल्ली में विदेशियों के लिए प्रेक्षाध्यान के शिविर का आयोजन था। उसमें प्रोफेसर ग्लेन. डी. पेज ने भी भाग लिया। अहिंसा के शारीरिक पक्ष पर उनकी धारणा पुष्ट हो गई। Nonkilling Global Political Science नामक अपनी पुस्तक के पृ.३० पर उन्होंने उक्त प्रसंग का उल्लेख किया है–

Scientific Roots

'We will never get to non-violence by religion alone'. Such is the advice of one of India's foremost religious leader, Acharya Mahapragya creative inheritor of the ancient Jain tradition of ahimsa (non-violence). In Jain thought, 'Ahimsa is the heart of all stages of life, the case of all sacred texts, and the sum....and substance....of all vows and virtues' (Jain and Varni 1993; 139). For Acharya Mahapragya, the way to realize a non-violent is to empower individual to discover non-violence within themselves and to express it socially by combining modern neuroviolence with spiritual truths. In his analysis, violence is caused by emotions produced by the endocrine glands affecting the sympathetic and parasympathetic nervous system and is related to what we eat. Further more based upon scientific knowledge of our neurological system we can purposively use the energy of our brains in simple meditational practices to nurture non-violence within and to commit ourselves to non-violent social life (Mahaprajna (sic) 1987 and 1994; Zaveri and Kumar 1992).

रासायनिक असंतुलन और हिंसा

आज के वैज्ञानिक रासायनिक असंतुलन को हिंसा का प्रमुख कारण मानते हैं। सेरोटॉनिन और नेरोपिनेफीन नामक न्यूरोट्रान्समीटर परस्पर एक विशिष्ट संतुलन बनाए रखते हैं। यह संतुलन बिगड़ता है तो व्यक्ति आक्रामक बन जाता है।

हिंसा का एक कारण है पुरुष यौन हार्मोन टेस्टोस्टेरोन। जिन पुरुषों में इसकी मात्रा सामान्य से अधिक होती है उनकी प्रवृत्ति हिंसात्मक हो जाती है।

सूर्योदय के आसपास पीनियल ग्लैण्ड से सेरोटॉनिन का स्राव अधिक मात्रा में होता है। मेलाटॉनिन नामक हार्मोन का स्राव भी पीनियल ग्लैण्ड से होता है। यह काम-प्रवृत्तियों का नियंत्रण करता है।

पर्यावरण प्रदूषण भी मनुष्य में हिंसक प्रवृत्ति को बढ़ाने में उत्तरदायी है। कुछ विषाक्त धातुएं मानव-मस्तिष्क में पहुंचकर उन तंत्रिकानियंत्रण प्रणालियों को कमजोर करती हैं अथवा नष्ट करती हैं जो मस्तिष्क में उपजने वाले हिंसक विचारों का नियंत्रण करती हैं।

जिन नगरों में लेड (सीसा) और मैंगनीज जैसी धातुओं का प्रदूषण अधिक होता है वहां मनुष्य का

व्यवहार आक्रामक और असामाजिक हो जाता है। उन धातुओं के प्रभाव से मनुष्य प्राणघातक हमलों, यौन अपराधों और लूटपाट के मामले में अग्रणी बन जाता है।

समाजशास्त्रीय अनुभव

समाजशास्त्रीय अनुभव के अनुसार हिंसा और अपराध के मुख्य कारण हैं–

१. गरीबी

२. जनसंख्या वृद्धि

३. सामाजिक विषमता

४. अभिभावकों का अनुचित व्यवहार

५. घृणा का संस्कार भरने वाली शिक्षा

६. अश्लील साहित्य

७. दृश्य, श्रव्य माध्यमों द्वारा हिंसा का प्रदर्शन

८. आर्थिक विषमता।

हिंसा के उक्त कारण प्रसिद्ध हैं किन्तु उसके वैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपादित कारण प्रसिद्ध नहीं हैं। मेरा निश्चित मत है कि जैव रासायनिक कारणों को जानना अधिक आवश्यक है। प्रचलित कारण बाह्य परिस्थिति के साथ जुड़े हुए हैं और जैव रासायनिक कारण मनुष्य की आंतरिक परिस्थिति के साथ जुड़े हुए हैं। अहिंसा के प्रशिक्षण का मूल आधार है हिंसा के आंतरिक कारणों का परिष्कार, हिंसा की चेतना का रूपान्तरण।

हिंसा के आंतरिक हेतु

आगम अध्ययन के आधार पर मेरी स्पष्ट अवधारणा है कि सब कार्य परिस्थिति सापेक्ष नहीं हैं। कुछ कार्य परिस्थिति सापेक्ष हैं और कुछ कार्य व्यक्ति की आंतरिक क्रिया सापेक्ष हैं। स्थानांग सूत्र में क्रोध, मान, माया और लोभ की उत्पत्ति के बाहरी कारणों का निर्देश है। उसके साथ-साथ उनके आंतरिक कारणों का भी निर्देश है।

१. आत्म प्रतिष्ठित (स्व विषयक)–जो अपने ही निमित्त से उत्पन्न होता है।

२. परप्रतिष्ठित (पर विषयक)–जो दूसरे के निमित्त से उत्पन्न होता है।

३. तदुभय प्रतिष्ठित–जो स्व और पर दोनों के निमित्त से उत्पन्न होता है।

४. अप्रतिष्ठित–जो केवल क्रोध-वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होता है, आक्रोश आदि बाह्य कारणों से उत्पन्न नहीं होता।

हिंसा के आंतरिक हेतुओं पर हमारा ध्यान नहीं जा रहा है। आंतरिक परिवर्तन का निवारण किए बिना बाहरी परिवर्तन पूर्ण नहीं हो सकता। हिंसा की समस्या का पूर्ण समाधान भी नहीं हो सकता। अहिंसा के प्रशिक्षण में आंतरिक परिष्कार और बाहरी परिवर्तन–व्यवस्था परिवर्तन इन दोनों का समन्वय किया गया है।

अंतर्जगत् में अहिंसा के प्रयोग

अहिंसा के सैद्धांतिक पक्ष को समझने के बाद उसके प्रायोगिक स्वरूप को समझना आवश्यक है। प्रयोग के दो बिन्दु हैं–अंतर्जगत् और बाह्य जगत्। अंतर्जगत् में प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है–संवेग-संतुलन (Balance of Emotion)। मनोविज्ञान की भाषा में मानसिक उथल-पुथल या उद्वेलन की अवस्था का नाम संवेग है। भय, क्रोध, जुगुप्सा, कामुकता, सुख, दुःख आदि संवेग प्रतिक्रियात्मक भावों के रूप में अपना प्रभाव दिखाते हैं।

मनुष्य जब तक वीतराग नहीं बन जाता, संवेगों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। इनका संतुलन न होने से अनेक प्रकार की समस्याएं पैदा हो जाती हैं। संवेग-संतुलन की प्रक्रिया को यहां उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है–

क्रोध एक संवेग है। इसे नियंत्रित करने के लिए इमोशनल एरिया–भाव क्षेत्र पर ध्यान के प्रयोग कराए जाते हैं। चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा और लेश्याध्यान के प्रयोग इसके लिए कार्यकारी प्रमाणित हुए हैं।

प्रमाद एक संवेग है। यह जागरूकता घटाता है। इसको नियंत्रित करने के लिए चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा, लेश्याध्यान और दीर्घश्वास प्रेक्षा के प्रयोग निर्धारित हैं। नशा-मुक्ति के लिए भी इन प्रयोगों को काम में लिया जाता है।

हीन भावना और अहं भावना ऐसे संवेग हैं जो मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। इसके प्रभाव को क्षीण करने के लिए अनुकंपी और परानुकंपी–Sympathetic & Parasympathetic नाड़ी तंत्र पर ध्यान के विशेष प्रयोग कराए जाते हैं।

बाह्य जगत् में प्रशिक्षण के तीन बिन्दु

बाह्य जगत् में अहिंसा के प्रायोगिक प्रशिक्षण की भूमिका बहुत विस्तृत है। मुख्य रूप में उसके तीन बिन्दु हो सकते हैं–

- मानवीय संबंधों का परिष्कार या विकास।
- प्राणी-जगत् के साथ संबंधों का विस्तार।
- पदार्थ जगत् के साथ संबंधों की सीमा।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समूह में रहता है। वहां वह अनेक प्रकार के संबंध जोड़ता है। संबंध जोड़ना कोई कठिन काम नहीं है। कठिन है उनका समुचित निर्वाह। कठिनाई का कारण है मनुष्य की स्वार्थपरक मनोवृत्ति। स्वार्थ की आंख से देखने वाला और स्वार्थ की धरती पर चलने वाला परमार्थ की बात कैसे सोच सकता है? अहिंसा परमार्थ का दर्शन है। अहिंसा में विश्वास करने वाला व्यक्ति संबंधों की आंच पर स्वार्थ की रोटी नहीं सेक सकता। स्वार्थवाद या व्यक्तिवाद के कारण संबंधों के संसार में जो जहर घुल रहा है, उससे बचने के लिए अहिंसा का प्रशिक्षण अत्यन्त आवश्यक है।

मानवीय संबंधों का परिष्कार

मनुष्य के दृष्टिकोण को दो रूपों में देखा जाता है–मानवीय और अमानवीय। एक मनुष्य का दूसरे

मनुष्य के प्रति कैसा संबंध या व्यवहार होना चाहिए, नीति सूत्रों में यह बात निर्धारित होती है। उसके अनुसार व्यवहार करने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण मानवीय होता है। जो व्यक्ति दूसरे के हितों की उपेक्षा करता हो, उन्हें कुचल देता हो, किसी का शोषण करता हो या सताता हो—यह दानवी या पाशविक वृत्ति कहलाती है। इस वृत्ति को बदलने से ही मानवीय संबंधों का परिष्कार हो सकता है।

मानवीय संबंधों को कई इकाइयों में विभक्त किया जा सकता है। हम यहां मुख्य रूप से तीन इकाइयों की चर्चा कर रहे हैं—पारिवारिक संबंध, सामाजिक संबंध और व्यावसायिक संबंध। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, सास-बहू, देवरानी-जेठानी, मां-बेटी आदि पारिवारिक संबंध हैं। इनमें मानवीय दृष्टिकोण का विकास हो तो किसी को मारने, पीटने, सताने या प्रताड़ित करने का प्रसंग उपस्थित नहीं हो सकता।

सामाजिक संबंधों का दायरा बहुत विस्तृत होता है। पड़ौसी से लेकर दूर-दराज बसने वाले समाज के हर व्यक्ति के साथ किसी न किसी रूप में संबंध रहता है। संबंधों की स्थापना में स्वार्थ की प्रेरणा न हो और स्वार्थ में बाधा पहुंचने पर संबंध तोड़ने की परिस्थिति भी पैदा न हो, यह अहिंसा की प्रेरणा है। जाति, रंग, लिंग, वर्गभेद आदि को आधार बनाकर मनुष्य-मनुष्य के बीच जो दूरियां बढ़ती जा रही हैं वे किसी न किसी रूप में हिंसा को बढ़ावा दे रही हैं। इन सब भेदों से ऊपर एक तत्त्व है, वह है मनुष्यता। 'यह भी मनुष्य है, मैं भी मनुष्य हूं। मैं इससे जिस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा रखता हूं, इसको भी मुझसे वैसी ही अपेक्षा है।' चिन्तन के इस धरातल पर ही मानवीय संबंधों का विकास संभव है।

मालिक-कर्मचारी, व्यापारी-मुनीम, स्वामी-सेवक, भागीदार-भागीदार आदि संबंध व्यवसाय जगत् से जुड़े हुए हैं। इन संबंधों में मानवीय दृष्टिकोण न हो तो मालिक शोषण करता है और श्रमिक श्रम से जी चुराता है। चार डिग्री बुखार में काम करने की बाध्यता और बहानेबाजी की आदत इसी परिवेश में पलती है। इस क्षेत्र में सहानुभूति और संविभाग के प्रशिक्षण से अनेक प्रकार की समस्याओं से राहत मिल सकती है।

प्राणी-जगत् के साथ संबंधों का विस्तार

मनुष्य अपने आपको संसार का सबसे श्रेष्ठ प्राणी समझता है। इसी कारण अन्य प्राणियों के प्रति उसका दृष्टिकोण बहुत उदार नहीं होता। वह अपने जीवन के लिए प्राणियों की हिंसा करता है। हिंसा के दो रूप हैं—अपरिहार्य और परिहार्य। उसके द्वारा की जा रही अपरिहार्य हिंसा भी हिंसा ही है। उसे अपरिहार्यता की दृष्टि से एक ओर किया जा सकता है। किन्तु परिहार्य या अनावश्यक हिंसा प्राणी-जगत् के प्रति उसके अमानवीय दृष्टिकोण का परिणाम है।

प्राणी-जगत् के साथ मनुष्य के संबंध कैसे होने चाहिये—इस संदर्भ में मनुष्य को प्रशिक्षण दिया जाता तो अनावश्यक हिंसा नहीं होती, प्राणियों के प्रति निर्दय व्यवहार नहीं होता और मानव समाज में विलासिता नहीं पनपती। क्रूर हिंसा-जनित प्रसाधन सामग्री और परिधानों का उपयोग वे ही लोग कर सकते हैं जो सब प्राणियों के साथ तादात्म्य का अनुभव नहीं करते। कुछ लोग मनोरंजन के लिए पशुओं को आपस में लड़ाते हैं। थोड़े से लोगों का क्षणिक मनोविनोद प्राणी-जगत् के प्रति क्रूरता का खुला प्रदर्शन है। अहिंसा का प्रशिक्षण मनुष्य को इस प्रकार की क्रूरता से विरत कर सकता है।

समस्त प्राणी-जगत् के प्रति उदार या मानवीय दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति प्रकृति से भी अधिक छेड़छाड़ नहीं कर सकता। पर्यावरण विज्ञान प्रकृति के किसी भी हिस्से में हस्तक्षेप को उचित नहीं मानता। उसकी यह अवधारणा बहुत प्राचीन है। भगवान महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले अहिंसा और संयम के जो सूत्र दिए, उनके अनुसार प्रकृति के एक कण को भी क्षतिग्रस्त नहीं किया जा सकता।

पदार्थ-जगत् के साथ संबंधों की सीमाएं

मनुष्य की एक मौलिक मनोवृत्ति है—अधिकार की भावना। इसी भावना से प्रेरित होकर वह पदार्थ का संग्रह करता है। परिग्रह की चेतना मनुष्य के अस्तित्व को समाप्ति की ओर अग्रसर करने वाली है। एरिक फ्रोम ने एक पुस्तक लिखी है—To have or to be—अधिकार अथवा अस्तित्व। मनुष्य को इन दोनों में से एक का चुनाव करना है। उसे अपने अस्तित्व को बचाकर रखना है तो अधिकार की भावना का त्याग करना होगा।

मनुष्य के सामने यह एक दोहरी समस्या है। एक ओर पदार्थ के बिना उसका काम नहीं चल सकता, दूसरी ओर ममत्व या अधिकार की भावना उसके अस्तित्व के लिए खतरा बन रही है। ऐसी स्थिति में प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है—पदार्थ के प्रति अमूर्च्छा या अनासक्ति का विकास। पदार्थ के प्रति दृष्टिकोण में बदलाव आते ही उसके संग्रह और उपभोग की सीमाएं अपने आप स्वीकृत हो जाती हैं।

स्वस्थ व्यक्ति : स्वस्थ समाज

अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए अनेक प्रयोग चल रहे हैं, अनेक संस्थाएं निष्ठा के साथ कार्य कर रही हैं। उनके कार्य की सफलता को मैं अस्वीकार नहीं करता। किन्तु मैं अहिंसा की प्रवृत्ति को दो भागों में विभक्त करता हूं—

१. स्थूल प्रवृत्ति २. सूक्ष्म प्रवृत्ति

आजीविका का प्रशिक्षण स्थूल प्रवृत्ति है। उसकी प्राथमिक अनिवार्यता है। फिर भी उसे सूक्ष्म प्रवृत्ति की कोटि में नहीं रखा जा सकता। हिंसा की चेतना का रूपान्तरण अथवा अहिंसा की चेतना का विकास—यह सूक्ष्म प्रवृत्ति है। मेरा अभिमत है कि इन दोनों का संतुलन किए बिना अहिंसा प्रशिक्षण को परिपूर्ण नहीं बनाया जा सकता।

आजीविका प्रशिक्षण को सामाजिक माना जाता है और मस्तिष्कीय प्रशिक्षण को वैयक्तिक। मेरी दृष्टि में यह भेदरेखा खींचना उचित नहीं है।

व्यक्ति और समाज दो हैं किन्तु इनको सर्वथा भिन्न नहीं माना जा सकता। समाज एक शक्ति है और व्यक्ति उस शक्ति का संचालक। समाज स्वस्थ है और व्यक्ति स्वस्थ नहीं है—यह हो नहीं सकता। व्यक्ति स्वस्थ है और समाज स्वस्थ नहीं है—यह भी नहीं हो सकता। व्यक्ति और समाज दोनों के बीच संबंध का सूत्र बहुत मजबूत है।

मैंने अनुभव किया कि संचालक यदि स्वस्थ नहीं है तो समाज अच्छा नहीं हो सकता। इतिहास साक्षी है कि समाज व्यवस्था को बदलने के लिए अनेक प्रयत्न हुए पर स्वस्थ व्यक्तियों के अभाव में वे

सफल नहीं हो सके। मैं इसे एक रूपक की भाषा में प्रस्तुत करना चाहता हूं। कार बहुत अच्छी है पर ड्राइवर अच्छा नहीं है तो उसमें कोई बैठना पसन्द नहीं करेगा। ड्राइवर अच्छा है पर कार अच्छी नहीं है तो भी उसमें बैठना कोई पसन्द नहीं करेगा। कार अच्छी हो, ड्राइवर अच्छा हो तब आदमी उसमें बैठना पसन्द करता है। समाज व्यवस्था अच्छी हो और संचालक भी अच्छा हो तब वह स्पृहणीय बन सकता है।

अहिंसा समवाय

सन् १९९८ में हम सरदारशहर में चतुर्मास कर रहे थे। अणुव्रत का अधिवेशन। अणुव्रत के अनेक कार्यकर्ता आए, सर्वोदयी नेता बालविजयजी आए। हम बात कर रहे थे। वार्तालाप के दौरान मैंने कहा–'हम अहिंसा के क्षेत्र में काम कर रहे हैं। आप भी काम कर रहे हैं। देश और विदेश में अनेक संस्थाएं इस विषय पर काम कर रही हैं फिर भी अहिंसा एक शक्ति नहीं बन रही है। इसका हेतु है अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति संगठित नहीं हैं। इसलिए एक ऐसे मंच का निर्माण होना चाहिए जहां अहिंसा का कार्य करने वाले सब़ लोग मिलें, एक साथ बैठें, परस्पर चिन्तन करें। जिस समय जिस कार्य की अधिक अपेक्षा हो उसको क्रियान्वित करें।'

बालविजयजी ने कहा–'यह प्रस्ताव बहुत अच्छा है। इस पर हमें सोचना चाहिए।' वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा–इसका क्या नाम होना चाहिए।

मैंने कहा–'अधिवेशन के अवसर पर हमने चिन्तन किया है। 'अहिंसा-समवाय' इस नाम का निर्धारण किया है।'

बालविजयजी ने कहा–'नाम बहुत अच्छा है।'

'अहिंसा समवाय' इस नाम पर सहमति हो गई। चिन्तन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यह कोई संस्था नहीं होगी, मंच होगा। इसका कार्य होगा–सहासन और सह-चिन्तन की स्थिति का निर्माण करना, फिर अपने-अपने क्षेत्र में उसकी क्रियान्विति करना। इस मंच से संबद्ध कार्यकर्ताओं और संस्थाओं के बीच संपर्क सूत्र बना रहे। इससे अहिंसा के क्षेत्र में किया जाने वाला कार्य अधिक उपयोगी ब़न सकेगा।

सरदारशहर से प्रस्थान कर हम हरियाणा पहुंचे। अहिंसा समवाय के विषय में अनेक संस्थाओं और व्यक्तियों के साथ वार्तालाप हुआ। सबने इस कल्पना का समर्थन किया। हरियाणा से हम दिल्ली गए। ५ अप्रैल, १९९९ को अध्यात्म साधना केन्द्र में 'सर्व सेवा संघ' के अध्यक्ष श्री गंगाप्रसाद अग्रवाल की अध्यक्षता में बैठक हुई। उसमें सबकी सहमति से इस कार्य को आगे बढ़ाने का निर्णय लिया गया। २५ अक्टूबर, १९९९ को फिर एक बैठक हुई उसमें 'अहिंसा समवाय' को अहिंसा के मंच के रूप में स्वीकार किया गया।

अहिंसा समवाय के कार्य

अहिंसा समवाय के तीन प्रमुख कार्य निर्धारित किए गए–

१. अनुसंधान २. प्रशिक्षण ३. प्रयोग

अहिंसा के क्षेत्र में अनुसंधान बहुत आवश्यक है। ढाई हजार वर्ष पहले अहिंसा का प्रयोग किया गया। अहिंसा का सिद्धांत शाश्वत हो सकता है किन्तु उसके व्यावहारिक प्रयोग परिस्थिति के अनुसार होते

हैं। ढाई हजार वर्ष पहले जो परिस्थितियां थीं वे आज नहीं हैं। वर्तमान की परिस्थितियां भिन्न हैं। यदि अनुसंधान चलता रहे तो वर्तमान परिस्थिति के अनुरूप उसका प्रयोग किया जा सकता है। अन्यथा उसकी प्रासंगिकता नहीं होती। किसी भी सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप प्रशिक्षण के द्वारा प्राप्त होता है। अहिंसा का सिद्धान्त चलता रहा पर उसका प्रशिक्षण नहीं चला। उसका परिणाम यह हुआ कि अहिंसा की उपयोगिता के प्रति भी जनमानस में संदेह का चक्र बन गया। जीवन व्यवहार में उसका सामाजिक स्तर पर प्रयोग नहीं रहा। अनुसंधान, प्रशिक्षण और प्रयोग के अभाव में उसकी उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लग गया। जब कभी हिंसा की तीव्रता सामने आती है तब अहिंसा का स्वर सुनाई देने लगता है। वह तीव्रता कम होती है, अहिंसा का स्वर भी मंद हो जाता है। उसकी निरंतरता के प्रति समाज जागरूक नहीं है इसलिए आवश्यक है अनुसंधान, प्रशिक्षण और प्रयोग के क्षेत्र में व्यापक कार्य किया जाए।

अहिंसा प्रशिक्षण : चार आयाम

अहिंसा प्रशिक्षण प्रविधि का निर्धारण करने के लिए जैन विश्व भारती लाडनूं में एक परिचर्चा प्रारंभ की गई।[1] उस परिचर्चा में मैंने कहा—राजसमन्द में प्रशिक्षण के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठी का आयोजन हुआ।[2] उस समय मैंने अहिंसा प्रशिक्षण के विषय में चिन्तन प्रस्तुत किया था। देश और विदेश से आए हुए प्रतिनिधियों ने उसकी आवश्यकता का अनुभव किया। प्रशिक्षण की चर्चा का प्रारंभ हो चुका था। उसका निष्कर्ष सप्तदिवसीय परिचर्चा में प्रस्तुत किया गया। प्रशिक्षण के लिए एक चतुःसूत्रीय योजना बनी—

१. हृदय परिवर्तन
२. दृष्टिकोण परिवर्तन
३. जीवन शैली परिवर्तन
४. व्यवस्था परिवर्तन।

मैंने चिन्तन किया—व्यवस्था परिवर्तन का पक्ष बहुत जटिल है। समाज की विषमतापूर्ण और केन्द्रित व्यवस्था अनुकूल नहीं है। व्यवस्था-परिवर्तन बहुत बड़ा कार्य है। उसे समाज और राज्य के पूर्ण सहयोग के बिना सम्पन्न नहीं किया जा सकता। दिल्ली प्रवास में अहिंसा समवाय की अनेक गोष्ठियां आयोजित हुईं। उस समय मैंने अहिंसा के सूत्रों में कुछ परिवर्तन किया। परिवर्तित रूप इस प्रकार है—

१. अहिंसा का सैद्धांतिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण
२. भावात्मक विकास का प्रशिक्षण
३. दृष्टिकोण का परिवर्तन, अनेकान्त दृष्टि का विकास
४. आजीविका का प्रशिक्षण तथा आजीविका-शुद्धि का प्रशिक्षण।

अहिंसा समवाय का कार्य जिस गति से होना चाहिए, उस गति से अभी नहीं हो रहा है। अनुसंधान और प्रयोग का कार्य अभी आगे नहीं बढ़ा है। अहिंसा प्रशिक्षण का कार्य प्रारम्भ हुआ है और उसके प्रति जनता की अभिरुचि भी बढ़ रही है।

१. १५ नवम्बर से २१ नवम्बर, १९९१
२. ३ फरवरी, १९९१

अहिंसा यात्रा

सन् २००१, बीदासर चतुर्मास। भगवान् महावीर की २६००वीं जयन्ती का अवसर। भारत सरकार द्वारा अहिंसा वर्ष की घोषणा। अहिंसा यात्रा के विषय में चिन्तन चला और उसका वातावरण बना। उस चतुर्मास में अनेक गोष्ठियां आयोजित हुईं। उद्देश्य, कार्य प्रणाली और व्यवस्था के बारे में गंभीर चिन्तन हुआ।

उद्देश्य

अहिंसा यात्रा के दो उद्देश्य निर्धारित किए गए–

१. अहिंसक चेतना का जागरण

२. नैतिक मूल्यों का विकास

कार्य प्रणाली

गांव-गांव में परिव्रजन और ग्राम-प्रवेश से पूर्व कार्यकर्ताओं द्वारा जनसम्पर्क। ग्राम-प्रवेश के बाद जनसभा का आयोजन। उसमें ग्राम के प्रमुख व्यक्तियों द्वारा अहिंसा यात्रा का स्वागत, कार्यकर्ताओं द्वारा अहिंसा यात्रा के विषय में जानकारी। युवाचार्य महाश्रमण द्वारा प्रवचन। उसके बाद अहिंसा के विषय में समस्या और समाधान प्रस्तुत करना। मध्याह्न काल में अहिंसा यात्रा के कार्यकर्ता गांव के पंच, सरपंच, शिक्षक और गांव के प्रमुख व्यक्तियों के साथ गोष्ठी का आयोजन करते। उसमें गांव की समस्याओं को समझने का प्रयत्न होता।

व्यवस्था

अहिंसा यात्रा की व्यवस्था के लिए अहिंसा यात्रा केन्द्रीय समिति का गठन किया गया। उसका केन्द्रीय कार्यालय प्रेक्षा विश्व भारती, कोबा, गांधीनगर में रखा गया। इस समिति के संयोजक के रूप में सिद्धराज भंडारी का मनोनयन किया गया। सुरेन्द्र चोरड़िया (कलकत्ता) ने उसके संचालन का दायित्व संभाला।

यात्रा की समयावधि ५ दिसम्बर, २००१ से २८ जून, २००४ तक निर्धारित की गई। यात्रा पथ की दृष्टि से राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश–इन चार प्रान्तों का निर्धारण किया गया।

सुजानगढ़[1] (५ दिसम्बर, २००१) से यात्रा का प्रारंभ हुआ। प्रातःकाल का समय। सूर्य का उज्ज्वल प्रकाश। शांति का प्रतीक ठण्ड का वातावरण। अनेक नगरों और कस्बों से आए हुए जन गण की उपस्थिति। हमने अहिंसा यात्रा के लिए प्रस्थान किया। हमारे आगे जैन ध्वज और उसके आगे अहिंसा रथ। वह दर्शकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन रहा था।

अहिंसा यात्रा का प्रतीक तैयार किया गया, जिसमें विश्व शांति के प्रतीक कबूतर का चिह्न अंकित है। हरित पत्तियां, नील वलय और रक्ताभ रेखाएं अंकित हैं।

१. चूरू जिला (राजस्थान)

अहिंसा यात्रा

२००१-२००४

१४ कि.मी. का रास्ता तय कर हम लाडनूं जैन विश्व भारती पहुंचे। स्वागत की औपचारिकता सम्पन्न हुई। मैंने देखा—सबमें एक अपूर्व उल्लास है। ऐसा अनुभव हो रहा था जैसे कोई नया सूर्य नई किरणों के साथ धरातल का स्पर्श कर रहा था।

अहिंसा यात्रा : पहला संदेश

अहिंसा यात्रा के अवसर पर मैंने एक संदेश दिया जो यात्रा के स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा था। संदेश की भाषा इस प्रकार है—

'अहिंसा पर विचार करते समय हमारे सामने दो विकल्प हैं—व्यक्ति और समाज। व्यक्ति अनेक हैं और वे अपने भावों से संचालित हैं। समाज व्यवस्था से संचालित होता है। व्यवस्था करने वाला और उसका पालन करने वाला व्यक्ति ही होता है। इसलिए व्यक्ति और समाज के बीच सर्वथा भेदरेखा खींचना संभव नहीं है।

नकारात्मक भाव हिंसा के हेतु बनते हैं और सकारात्मक भाव अहिंसा के।

क्रोध, अहंकार, लोभ, घृणा, भय, साम्प्रदायिक विद्वेष, जातीय विद्वेष आदि नकारात्मक भाव हैं।

सहिष्णुता, विनम्रता, अनासक्ति, प्रेम, अभय, साम्प्रदायिक सद्भाव, मानवीय एकता आदि सकारात्मक भाव हैं।

अहिंसा यात्रा का उद्देश्य है—नकारात्मक भावों को सकारात्मक भावों में बदलने का प्रशिक्षण देना। प्रशिक्षण के द्वारा नकारात्मक भाव सकारात्मक भाव में बदल सकते हैं।

अहिंसा प्रशिक्षण का आध्यात्मिक मूल्य है—अहिंसा की चेतना को जागृत करना और अहिंसा के संस्कार का निर्माण करना।

अहिंसा प्रशिक्षण का व्यावहारिक पहलू है—१. आजीविका-शुद्धि का प्रशिक्षण, २. अपेक्षानुसार आजीविका की विधियों का प्रशिक्षण।

गरीबी, शोषण, अन्याय, अपराध और पर्यावरण प्रदूषण—इन समस्याओं को केवल आध्यात्मिक प्रशिक्षण से नहीं सुलझाया जा सकता और केवल समाज-व्यवस्था के परिवर्तन से भी नहीं सुलझाया जा

सकता। इन्हें सुलझाने का उपाय है अहिंसा की चेतना का जागरण और आजीविका की प्रविधि का प्रशिक्षण–इन दोनों का सहयोग।

अहिंसा यात्रा की कल्पना और उसका कार्यक्रम किसी अशक्य और असंभव कल्पना पर आधारित नहीं है। जितना शक्य और संभव है और जो दीर्घकालिक नीति के अनुसार परिवर्तन की दिशा दे सकता है, हिंसा की बढ़त को रोकने में सक्रिय भूमिका निभा सकता है। इस व्यावहारिक लक्ष्य के आधार पर अहिंसा यात्रा की परियोजना तैयार की गई है। हमारा विश्वास है–अहिंसा और नैतिक मूल्यों के विकास की चिंता करने वाले सभी विचारक तथा समाज व्यवस्था को बनाने की दिशा में सोचने वाले सभी व्यक्ति इसमें सहभागी बनेंगे।'

अहिंसा यात्रा : समय की मांग

हम एक दिन में प्रायः १० अथवा १२ किलोमीटर की पद-यात्रा करते हैं। हमारे साथ लगभग ८० साधु-साध्वियां-समणियां और अहिंसा यात्रा में सहभागी यात्रियों का एक बड़ा काफिला था। व्यवस्था समिति के सदस्य आवास आदि की व्यवस्था करते और ग्रामवासी-जनों से सम्पर्क करते। कुछ गांवों की यात्रा के बाद हम डीडवाना पहुंचे। वह एक अच्छा कस्बा है। वहां हमने देखा कि मुस्लिम समाज ने स्वागत में दरवाजा बनाया। यह अहिंसा शब्द का चमत्कार है। इससे पहले मुस्लिम समाज द्वारा स्वागत में दरवाजा निर्माण का कार्य नहीं देखा। अहिंसा में वह शक्ति है जो भेद में अभेद की अनुभूति कराती है। राजस्थान की राजनीति के प्रमुख व्यक्ति हरिशंकर भाभड़ा की वह जन्मस्थली भी है और कार्यक्षेत्र भी। उन्होंने स्वागत भाषण में कहा–'अहिंसा यात्रा समय की मांग है। हिंसा की बाढ़ को रोकने में इसका महत्त्वपूर्ण योग होगा।'

मैंने कहा–'आज का युवक दिन में अनेक बार हिंसा की घटनाओं को सुनता है और पढ़ता है। उसके मस्तिष्क में हिंसक घटनाएं अपना स्थान बनाती जा रही हैं। यदि उसे अहिंसा का स्वर सुनने को न मिले तो हिंसा बद्धमूल हो जाएगी। मैं चाहता हूं अहिंसा का स्वर कानों से टकराए और अहिंसा-प्रशिक्षण का कार्य बढ़े।

डीडवाना के कार्यकर्ताओं ने अहिंसा प्रशिक्षण केन्द्र के संचालन का संकल्प व्यक्त किया और वहां केन्द्र की स्थापना भी हो गई।

मैंने इस सचाई का अनुभव किया–हम अहिंसा के सिद्धांत का प्रतिपादन बहुत करते हैं और उसका गुणगान भी बहुत करते हैं। प्रशिक्षण पर हमारा ध्यान केन्द्रित नहीं है। प्रशिक्षण के बिना कोई भी सिद्धांत आचार और व्यवहार में नहीं उतरता।

हिंसा की चेतना का रूपान्तरण

इलेक्ट्रोनिक मीडिया (Electronic Media) और प्रिण्ट मीडिया (Print Media) के प्रतिनिधि और अनेक प्रबुद्ध व्यक्ति पूछते–अहिंसा को सब लोग जानते हैं फिर अहिंसा यात्रा क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में जो मैंने कहा, वह मेरी दृष्टि में नया अभ्युपगम है–

अहिंसा का एक रूप है 'मत मारो'। इसे सब लोग जानते हैं। उसकी प्रेरणा भी आवश्यक है किन्तु

हमने अहिंसा के दूसरे स्वरूप को अधिक महत्त्व दिया है। 'मत मारो' यह अहिंसा का प्रथम संकल्प है। दूसरा संकल्प है हिंसा की चेतना का रूपान्तरण। हमारा मुख्य कार्य हिंसा की चेतना के रूपान्तरण का है। उसके लिए आवश्यक है अहिंसा का प्रशिक्षण। उससे भी अधिक आवश्यक है अहिंसा के प्रशिक्षकों का निर्माण।

अहिंसा की आचार-संहिता

अहिंसा यात्रा के दौरान मैंने अहिंसा विकास के लिए अहिंसा की आचार-संहिता का निर्माण किया। राजस्थान के गुड़ामालानी गांव में महावीर जयन्ती का आयोजन था। उस अवसर पर अहिंसा की आचार-संहिता के तीन सूत्र प्रस्तुत किए–

१. मैं अनावश्यक हिंसा नहीं करूंगा

२. मैं निरपराध की हत्या नहीं करूंगा

३. मैं उपभोग-सामग्री का संयम करूंगा।

साम्प्रदायिक सौहार्द : आचार-संहिता

हमने दो समुदायों के बीच चल रही हिंसा की स्थिति के बीच गुजरात में प्रवेश किया। प्रथम प्रवास 'खोड़ा' गांव के विद्यालय में था। वहां आर. के. चौधरी आदि अनेक प्रबुद्ध व्यक्ति आए। साम्प्रदायिक हिंसा की चर्चा चली। मैंने कहा–'गोधरा काण्ड के बाद यदि हिन्दू नेता मेरे पास आते तो मैं उन्हें प्रतिशोध से बचने का परामर्श देता। महात्मा गांधी ने हिंसा के अहिंसात्मक समाधान के लिए कुछ मार्ग सुझाए। उनमें से एक प्रशस्त मार्ग है अहिंसात्मक प्रतिकार। यदि गांधीजी के इस मार्ग का अवलम्बन लिया जाता तो प्रतिशोधात्मक हिंसा नहीं बढ़ती और हिंसा का वातावरण उग्र नहीं बनता। गुजरात की जनता ने गांधीजी को भुला दिया, यह आश्चर्य की बात है।'

हम अहिंसा यात्रा कर रहे थे इसलिए हिंसा की समस्या पर विचार करना आवश्यक हो गया। अहिंसा को केवल सिद्धांत तक सीमित रखना नहीं चाहते, हिंसा की समस्या उपस्थित होने पर उसका अहिंसात्मक प्रतिकार भी आवश्यक समझते हैं।

हिन्दू-मुस्लिम समाज के नेताओं के साथ अनेक गोष्ठियों के बाद साम्प्रदायिक सौहार्द के लिए एक आचार-संहिता का निर्धारण किया गया। उसके दो मुख्य सूत्र ये हैं–

१. कुछ व्यक्तियों द्वारा किए गए अपराध का पूरी जाति और सम्प्रदाय से बदला न लें। सबको अपराधी न मानें।

२. किसी संप्रदाय के उत्सव, त्योहार आदि का दूसरे संप्रदाय वाले अनादर न करें, यदि कर सकें तो उदारतापूर्वक सम्मान करें।

पहले सूत्र का संबंध गोधरा काण्ड के बाद होने वाली हिंसा से था। दूसरे सूत्र का संबंध अहमदाबाद से निकलने वाली जगन्नाथपुरी की रथयात्रा के साथ था।

ये संदर्भ सामयिक हैं किन्तु आचार-संहिता के इन दो सूत्रों का उपयोग दीर्घकालिक या स्थाई है।

अहिंसा से प्रभावित हो व्यवहार

अहिंसा के विषय में हजारों वर्षों से चिन्तन होता रहा है। आज भी उस विषय में नए चिन्तन की आवश्यकता नहीं है—ऐसा मैं नहीं मानता। हिंसा के नए-नए रूप सामने आ रहे हैं इसलिए अहिंसा के नए-नए रूप खोजने आवश्यक हैं।

राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा का विकास कैसे हो? इस विषय पर हम चिन्तन कर रहे थे। हमने शिवराज पाटिल को याद किया। वे २० जून, २००२ को बीजापुर (गुजरात) में हमारे पास आए। हिंसा और अहिंसा की समस्या पर चिन्तन चला। उस प्रसंग में मैंने कहा—

हिंसा	अहिंसा
१. हिंसा की अपनी व्यूह रचना है, रणनीति (Strategy) है	अहिंसा के पास अपनी व्यूह रचना नहीं है, रणनीति नहीं है।
२. हिंसा का प्रशिक्षण (Training) हो रहा है।	अहिंसा का प्रशिक्षण नहीं हो रहा है।
३. हिंसा का अपना पूरा Network है।	अहिंसा का अपना कोई भी Network नहीं है।

ऐसी स्थिति में हिंसा की बाढ़ को अहिंसा कैसे रोक सकती है? अहिंसा में विश्वास रखने वाले सोचते हैं कि हिंसा की बाढ़ रुके पर केवल चिन्तन से काम नहीं होगा। अहिंसा की शक्ति संगठित नहीं है इसलिए हिंसा की वृद्धि को रोकने में वह सफल नहीं हो रही है। अहिंसा के सामने एक समस्या और है। हिंसा का संबंध जीवन यात्रा से जुड़ा हुआ है, अहिंसा का संबंध मानसिक शांति से है।

व्यक्ति का आचार और व्यवहार हिंसा से जितना प्रभावित होता है उतना अहिंसा से नहीं। समाज व्यवस्था, राजनीति और राज्य व्यवस्था पर भी यही नियम लागू होता है। इस नियम का अतिक्रमण करने के लिए आवश्यक है अहिंसा का प्रशिक्षण। उसके द्वारा व्यक्ति का आचार-व्यवहार अहिंसा से प्रभावित हो सकता है। समाज व्यवस्था, राजनीति और राज्य-व्यवस्था भी अहिंसा से प्रभावित होती है।

कन्फ्यूशियस से पूछा गया—राज्य के लिए क्या-क्या आवश्यक है? उन्होंने कहा—'तीन बातें आवश्यक हैं—१. अन्न २. शस्त्र ३. विश्वास।'

आगे पूछा गया—'यदि इन तीनों में से छोड़ना हो तो किसे पहले छोड़ा जाए?'

कन्फ्यूशियस ने कहा—'सबसे पहले शस्त्र फिर अन्न। विश्वास को कभी नहीं छोड़ा जाए। यदि विश्वास नहीं रहा तो राज्य का अस्तित्व नहीं रह पाएगा।'

कुशल शासक वही हो सकता है जो अपने राज्य की जनता में विश्वास बनाए रखता है।

अहिंसा के तीन रूप

हम अहमदाबाद शाहीबाग के सागर सदन में प्रवास कर रहे थे। उपप्रधानमंत्री लालकृष्ण आडवाणी आए। उनकी उपस्थिति में अहिंसा पर प्रवचन करते हुए मैंने अहिंसा के तीन रूपों की चर्चा की।

o अहिंसा धर्म है। मैं मुनि हूं, मेरे लिए अहिंसा धर्म है।

o अहिंसा नीति है। कुशल शासक वही हो सकता है जो अहिंसा की नीति का अनुसरण करता है। अहिंसा नीति के आधार पर ही विभिन्न जातियों, विभिन्न सम्प्रदायों, विभिन्न भाषाओं और विभिन्न आस्थाओं वाले लोगों को एक सूत्र में बांध कर रखा जा सकता है।

o अहिंसा कूटनीति है। कूट शब्द के अनेक अर्थ हैं। उसका एक अर्थ है छल-प्रपंच। उसके आधार पर सामान्यतया कूटनीति का अर्थ छलपूर्ण नीति किया जाता है। मैं जिस अर्थ में कूटनीति का प्रयोग कर रहा हूं वह इससे भिन्न है। कूटनीति का अर्थ है गूढ़नीति, रहस्यपूर्ण नीति, तात्पर्य अथवा ऐदम्पर्य तक पहुंचने वाली नीति।

महात्मा गांधी ने हिंसा के विरोध में असहयोग नीति का सूत्र दिया। यह अहिंसा की कूटनीति है।

अमरीकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन से उनके मित्रों ने कहा–'अब आप राष्ट्रपति हो गए हैं, आपको अपने शत्रुओं को समाप्त कर देना चाहिए।'

राष्ट्रपति–मैं यह काम कर रहा हूं।

मित्र–आपने इस विषय में अभी तक कोई कदम तो नहीं उठाया।

राष्ट्रपति–मैं अपने शत्रुओं को मित्र बना रहा हूं।

यह नीति अहिंसा की कूटनीति है। शत्रुओं को दण्ड देने वाला उतना सफल नहीं होता जितना उन्हें मित्र बनाने वाला होता है। इस रहस्यपूर्ण नीति को समझने की दृष्टि कम लोगों के पास है। जिनके पास दूरदर्शन (Vision) की क्षमता होती है वे ही यहां तक पहुंच सकते हैं। यह सहज रूप में स्वीकार करना चाहिये कि अहिंसा की कूटनीति का प्रयोग करने वाले लोग बहुत कम होते हैं। अहिंसा का नीति के रूप में व्यापक प्रयोग किया जा सकता है। उसका प्रयोग उन सबको करना चाहिए जो किसी छोटे या बड़े संगठन का नेतृत्व करते हैं। शासक-वर्ग के लिए उसका प्रयोग करना अति आवश्यक है। इसके द्वारा ही समाज में सामंजस्य की स्थापना और जनता में विश्वास के वातावरण का निर्माण कर सकते हैं।

अहिंसात्मक नीति का प्रयोग

मैंने इस तथ्य में सचाई का दर्शन किया–जनता का विश्वास खण्डित होता है तब जनता में असुरक्षा की भावना पैदा होती है। वह भावना प्रतिक्रियात्मक हिंसा और आतंकवाद के लिए उर्वरा भूमि बन जाती है। प्रतिक्रियात्मक हिंसा और आतंकवादी प्रवृत्ति को केवल शस्त्र बल के द्वारा नहीं रोका जा सकता। उसे रोकने का सशक्त और सहज उपाय है–अहिंसात्मक नीति का प्रयोग।

मेरे चिन्तन का निष्कर्ष रहा–हम व्यक्ति और व्यवस्था को अहिंसामय नहीं बना सकते। उन्हें अहिंसा से प्रभावित कर सकते हैं और वैसा करना भी चाहिये।

अहिंसा के विकास के लिए दो नीतियों का आलम्बन आवश्यक है–

१. अल्पकालीन नीति–समझौता वार्ता।

२. दीर्घकालीन नीति–अहिंसा का प्रशिक्षण।

कोई भी संघर्ष अथवा युद्ध अनंत काल तक नहीं चल सकता। एक कालावधि तक वह चलता है। आखिर लड़ने वालों में परस्पर समझौता होता है। यह अहिंसा की अल्पकालीन नीति है।

दीर्घकालीन नीति का प्रयोग हिंसा की चेतना के रूपान्तरण (Transformation) के लिए आवश्यक है। उसका साधन है अहिंसा प्रशिक्षण।

मैंने हिंसा और अहिंसा पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया। मुझे अनुभव हुआ—वर्तमान युग में हिंसा के अनेक रूप हैं—

१. व्यक्तिगत हिंसा

१. क्रोध, लोभ, भय आदि का आवेश।

२. निषेधात्मक दृष्टिकोण (Negative attitude)

३. भावात्मक तनाव—क्रोध आदि से उत्पन्न तनाव।

२. पारिवारिक हिंसा

१. पक्षपातपूर्ण हिंसा। २. अन्याय। ३. वाणी का असंयम।

३. व्यावसायिक हिंसा

१. अनैतिकता, अप्रामाणिकता।

४. सामाजिक हिंसा

१. असंतुलित अर्थव्यवस्था।

५. राष्ट्रीय हिंसा

१. आक्रामक नीति।

६. अंतर्राष्ट्रीय हिंसा

१. उपनिवेशवादी मनोवृत्ति।

२. बाजार पर एकाधिकार की मनोवृत्ति।

३. शस्त्र-अस्त्र का विक्रय।

४. आक्रामक नीति।

मैंने यह भी अनुभव किया—हिंसा और अहिंसा का संबंध मनुष्य की जीवन शैली से है। जैसी जीवन शैली होती है, वैसा ही उसका परिणाम होता है। जीवन शैली दो प्रकार की होती है—

जीवन शैली	**परिणाम**
१. आवेशप्रधान	हिंसा
२. उपशमप्रधान	अहिंसा

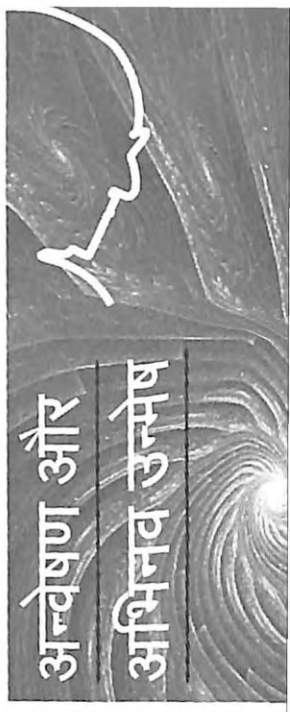

मेरा यह स्पष्ट अभिमत बन गया—अहिंसा का विकास करना है तो हिंसा के कारणों को मिटाना जरूरी है। मैंने हिंसा के कारणों की खोज की दिशा में ध्यान केन्द्रित किया। हिंसा के कारणों की सूची बनाई—

हिंसा के कारण

१. आवेश

२. मिथ्या दृष्टिकोण

३. मिथ्या आग्रह

४. मिथ्या आचार (अनैतिकता)

५. मानसिक असंतुलन

६. अभाव

७. अतिभाव

ये सभी कारण अहिंसा और शांति के बाधक तत्त्व हैं।

मैं मानता हूं—समाज व्यवस्था के साथ हिंसा और अहिंसा पर विचार करना आवश्यक है। अर्थ-केन्द्रित समाज में नैतिक मूल्यों का ह्रास होता है और हिंसा बढ़ती है। धर्म-केन्द्रित समाज में नैतिक मूल्यों का विकास होता है और अहिंसा का पल्लवन।

हिंसा बढ़ रही है—यह समस्या है। चिन्तनशील लोग इससे आशंकित हैं। मैंने उनकी आशंका के स्वरों को सुना। विचार-मंथन किया। विचार-मंथन के पश्चात् मैंने कहा—मेरी दृष्टि में इस समस्या का समाधान अहिंसा प्रशिक्षण हो सकता है। इस विषय पर हर चिन्तनशील व्यक्ति को गम्भीर चिन्तन करना चाहिये।

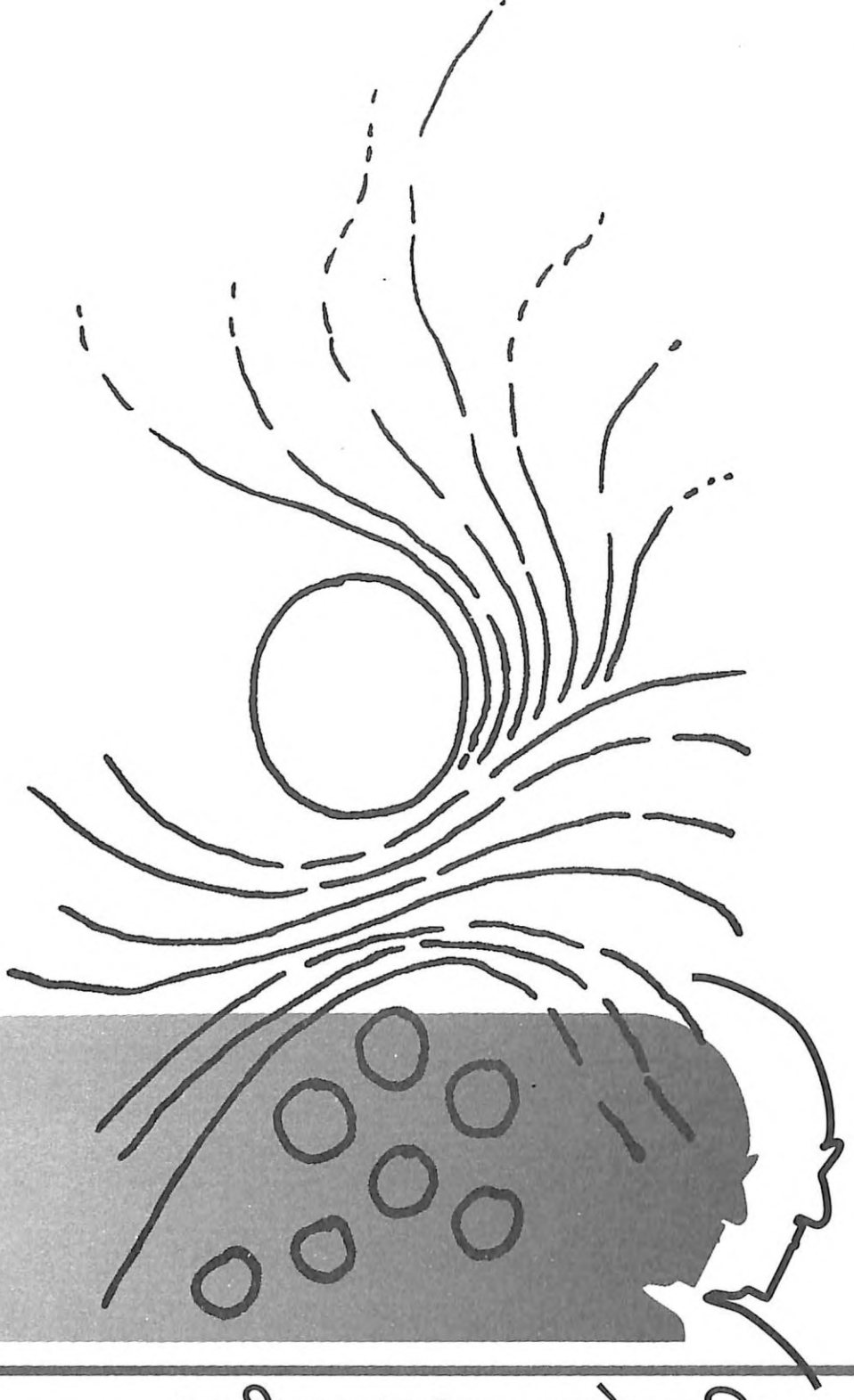

नयी व्यवस्था : नये दायित्व

संघीय व्यवस्था का दायित्व

संगठन के दो पक्ष हैं–

१. अनुशासन, व्यवस्था २. साधना

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन के छह उद्देश्य[1] बतलाए। उनमें एक है व्यवस्था। तेरापंथ के आचार्यों ने संघीय व्यवस्था को बहुत महत्त्व दिया। वह इसलिए प्रासंगिक है कि व्यवस्था-शून्य संगठन में साधना का विकास नहीं हो सकता।

तेरापंथ धर्मसंघ का नेतृत्व आचार्य करते हैं। व्यवस्था-संचालन का दायित्व भी उन्हीं के कंधों पर होता है।

मैंने अष्टम आचार्य पूज्य कालूगणी को देखा। उनके व्यवस्था-कौशल से धर्मसंघ का बहुत विकास हुआ। आचार्य तुलसी के साथ मैंने लम्बे समय तक जीवन जिया। उनकी कल्पनाशीलता, दूरदर्शी चिन्तन और दृष्टिकोण ने व्यवस्था को अनेक नए आयाम दिए।

मैं मुनि जीवन के १५ वर्ष तक केवल अपने अध्ययन में रहा। उसके बाद मैं संघीय व्यवस्था से जुड़ा।

माला का पहला मनका

वि. सं. २००३ राजगढ़ में चातुर्मासिक प्रवास। आचार्यवर ने मुझे बुलाकर कहा–मर्यादाओं का संकलन करना है। आचार्य भिक्षु से लेकर आज तक आचार्यों ने जिन मर्यादाओं का विधान किया है वे एक जगह पर संकलित नहीं हैं। उनका संकलन आवश्यक है। मैं आचार्यवर की सन्निधि में उपस्थित हुआ। संकलन का कार्य चालू हो गया। संघीय कार्यों में प्रवृत्त होने का यह पहला अवसर था।

चिन्ता और चिन्तन

वि. सं. २००४, आचार्यवर फतेहपुर (शेखावाटी) में विराज रहे थे। रात्रि का समय। प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं आचार्यवर की सन्निधि में गया। मैंने प्रार्थना की–'मैं एक समस्या के बारे में आचार्यवर से निवेदन करना चाहता हूं।' आचार्यवर ने आश्चर्यभरी दृष्टि से मेरे सामने देखा और कहा–क्या कहना चाहते हो?' मैं आचार्यवर की सन्निधि में ही रहता और बातचीत का प्रसंग भी आता किन्तु किसी समस्या को लेकर उपस्थित होने का यह पहला ही अवसर था। उन क्षणों में साहस और भय दोनों अपना-अपना काम कर रहे थे। आचार्यवर ने मेरे द्वारा प्रस्तुत समस्या को सुना और एकदम गंभीर हो गए। समस्या की बात उनके सामने नहीं आ रही थी। संभवतः यह कल्पना भी नहीं थी कि मैं उनके सामने इस कल्पना को प्रस्तुत करूंगा। मैं

१. संविभागः समभावः सौहार्दश्च परस्परम्।
व्यवस्था कलहोन्मुक्तिः मर्यादाऽऽचारशुद्धये।।

भी नहीं चाहता था कि आचार्यवर के सामने चिन्तनीय समस्या प्रस्तुत कर उनके सामने तनाव की स्थिति उत्पन्न करूं। मुझे लगा कि छोटे-छोटे साधुओं की मनोदशा से मैं परिचित हूं और उनकी मानसिक दशा को आचार्यवर तक पहुंचाना संघहित में है। मैंने आचार्यवर के सामने कुछ उलझन भरी बातें रखी।

उलझन की बात प्रिय नहीं होती, पर आचार्यवर महान् थे। उन्होंने क्षणिक अप्रियता को गौण कर संघ के हित को सामने रखकर समस्या को सुलझा दिया।

साझ का दायित्व

हमारे धर्मसंघ में व्यवस्था की प्रधानता है। दीक्षित होने के बाद साधु-साध्वी का जीवन-क्रम व्यवस्था से प्रतिबद्ध होता है। दीक्षा के अनन्तर दीक्षित व्यक्ति समुच्चय की व्यवस्था में रहता है। उस अवस्था में वह आहार तथा समुच्चय के कार्यों की बारी से मुक्त रहता है। मैं दो वर्ष तक समुच्चय की व्यवस्था में रहा। उसके बाद मंत्री मुनि के 'साझ' की व्यवस्था में रहा। पूज्य कालूगणी के स्वर्गवास के पश्चात् आचार्यवर ने मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी को समुच्चय की व्यवस्था में प्रतिष्ठित कर दिया। उनके 'साझ' में विद्यमान साधुओं को तीन 'साझ' में विभक्त कर दिया। साझ के अग्रणी थे—१. मुनि चौथमलजी स्वामी, २. मुनि सुखलालजी स्वामी, ३. मुनि चंपालालजी स्वामी।

मुनि तुलसी की पाठशाला में पढ़ रहे साधुओं को आचार्यवर ने मुनिश्री चम्पालालजी के साझ में नियुक्त किया। लगभग दस वर्ष हम उनके साझ में रहे।

वि. सं. २००४ रतनगढ़ चतुर्मास। आचार्यवर ने मुनि चम्पालालजी स्वामी को समुच्चय की व्यवस्था में प्रतिष्ठित कर दिया। उनके साझ में वर्तमान साधुओं को तीन साझ में व्यवस्थित किया—१. मुनि नथमलजी, २. मुनि दुलीचंदजी, ३. मुनि सागरमलजी।

तेरापंथ धर्मसंघ की व्यवस्था के अनुसार दायित्व का प्रथम सोपान है अग्रणी। वि. सं. २००१ में उस दायित्व को निभाने का अवसर मुझे मिला। 'साझ' का अग्रणी उसी के समकक्ष होता है। उसका दायित्व भी मुझ पर आ गया। मुझे इसका संतोष है कि मेरे 'साझ' में जितने साधु रहे, वे सब संतुष्ट रहे और उनके चरण विकास की दिशा में आगे बढ़ते रहे।

विचार प्रसार का दायित्व

कुछ दायित्व व्यवस्था से जुड़े होते हैं और कुछ विकास से। वि. सं. २००५ से विकास की नई दिशाओं के उद्घाटन का दायित्व भी मुझ पर आ गया। कुछ दायित्व आचार्यवर ने मुझे सौंपे और कुछ बिना सौंपे ही मैंने अपने ऊपर ओढ़ लिए। आचार्यवर के विचारों को हिन्दी के माध्यम से प्रसारित करने का काम मैंने शुरू कर दिया। आचार्यवर ने मुझे दायित्व नहीं सौंपा फिर भी उनका अनुग्रह बरसता रहा और सहज ही मैं तेरापंथ का प्रवक्ता बन गया।

संघीय व्यवस्था का साक्षात्

वि. सं. २०१६। उदयपुर में चतुर्मास समाप्ति के पश्चात् मेवाड़ के छोटे-छोटे गांवों की यात्रा। आचार्यवर का 'आतमा' में प्रवास। आतमा छोटा गांव है पर उसने तेरापंथ के इतिहास में अपने स्वतंत्र पृष्ठ

खोले हैं। मुनि हेमराजजी 'आतमा' से दीक्षित हुए थे। पूज्य कालूगणी के समय उनका स्थान 'तत्त्वविद्' साधुओं में प्रथम था। मुझ पर भी उनका असीम उपकार रहा।

मध्याह्न का समय। आहार के पश्चात् मैं 'गत दिवस वार्ता' का निवेदन करने के लिए गुरुदेव की सन्निधि में गया और उपासना में बैठ गया। गुरुदेव ने कहा—'इधर आओ, देखो।' मैं निकट गया और आचार्यवर ने मेरे हाथ में पत्र थमा दिया। उसमें साधु-साध्वियों की व्यवस्था के संकेत लिखे हुए थे। मैंने उसे पढ़ा। आचार्यवर ने कहा—'इतने दिन मैं संघीय व्यवस्था का कार्य अकेला करता रहा। आज पहली बार तुम्हें यह पत्र सौंप रहा हूं। इसे देखो और व्यवस्था के बारे में चिन्तन शुरू करो।' इस निर्देश के बाद मैं संघीय व्यवस्था से पूर्णरूपेण जुड़ गया। संघ के विषय में हित-चिन्तन मैं बचपन से ही करता था। वह नैसर्गिक संस्कार अब प्रस्फुटित होने लगा। मर्यादा-महोत्सव के दिनों में मैं व्यवस्था में पूर्णरूपेण सहभागी रहा।

इस संदर्भ में डायरी का आलेख मननीय है।[1]

'वि. सं. १९९३ में पूज्य गुरुदेव कालूगणी का महाप्रयाण होने के बाद मैंने तेरापंथ धर्मसंघ का दायित्व संभाला। तब से वि. सं. २०१९ तक साधु-साध्वियों के सिंघाड़ों (वर्गों) की व्यवस्था मैं अकेला ही करता था। शासन-संचालन में मंत्री मुनि मगनलालजी मेरे अनन्य सहयोगी थे पर अंतरंग व्यवस्था में उन्होंने कभी रुचि नहीं ली। आतमा गांव में मैंने पहली बार उक्त कार्य में नया सहयोग लिया। कौन साधु किस सिंघाड़े के साथ ठीक बैठ सकता है, इस विषय में मुनि नथमलजी के साथ विचार-विमर्श किया। सहचिन्तन से मुझे कुछ हलकेपन का अनुभव हुआ। यह घटना माघ कृष्णा सप्तमी (१७ जनवरी, १९६३) की है।

मुनि नथमलजी उन दिनों ध्यान-साधना पर विशेष बल दे रहे थे। वे लगातार दो-दो घण्टे ध्यान करते। उन्होंने बताया कि ध्यान से कई नए तथ्य सामने आने की संभावना है। कुछ वर्षों से साधु-साध्वियों में भी अध्यात्म तथा योगसाधना की ओर आकर्षण बढ़ रहा है। अच्छी बात है, बहुत अच्छी बात है, परम प्रसन्नता की बात है।'

व्यवस्था में सहभागिता

मर्यादा-महोत्सव के समय आचार्य के सामने दो बड़े कार्य होते हैं—

१. साधु-साध्वियों की व्यवस्था २. साधु-साध्वियों के चतुर्मास की व्यवस्था

साधु-साध्वियों की व्यवस्था में उनकी चित्त समाधि पर पूर्ण ध्यान दिया जाता है। उनकी वैयक्तिक और सामूहिक समस्याओं का समाधान और निराकरण किया जाता है। प्रत्येक साधु और साध्वी अपनी समस्या आचार्यवर के सामने प्रस्तुत नहीं कर सकते। क्योंकि उनमें मानसिक संकोच होता है और आचार्य के इंगित और दृष्टिकोण को समझने में भी कठिनाई होती है। उनकी सेवा का लाभ मुझे मिला। वे मेरे सम्मुख हृदय खोलकर अपनी बात प्रस्तुत करते। मैं उनकी समस्या को आचार्यवर तक पहुंचा देता और उचित समाधान देने का प्रयत्न करता। आचार्यवर का विश्वास मुझे प्राप्त था—इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूं। मैं इसे भी अपना सौभाग्य मानता हूं कि साधु-साध्वियों का भी मुझ पर विश्वास है।

१. मेरा जीवन : मेरा दर्शन, भाग-५, पृष्ठ २३४

वि. सं. २०२० का वर्ष मर्यादा-महोत्सव की शताब्दी का वर्ष था। बालोतरा में उसका आयोजन किया गया। उस समय मुझे आचार्यवर की सन्निधि में बैठने का बहुत अवसर मिला। प्रथम वर्ष मैं केवल साधु-साध्वियों की व्यवस्था के चिन्तन में सहभागी रहा और शताब्दी वर्ष में चातुर्मासिक व्यवस्था के संबंध में भी मेरा चिन्तन शुरू हो गया।

सेवा की व्यवस्था का विस्तार

तेरापंथ धर्मसंघ में वृद्ध-रुग्ण साधु-साध्वियों के लिए सेवा की एक समीचीन व्यवस्था है। आचार्य भिक्षु के समय से ही सेवा को बहुत महत्त्व दिया जाता रहा। जयाचार्य ने लाडनूं में साध्वियों के स्थिरवास की व्यवस्था की। प्रतिवर्ष साध्वियों का एक सिंघाड़ा उनकी सेवा में नियोजित किया जाता था। व्यवस्था की समीक्षा करते समय एक चिन्तन स्फुरित हुआ—वृद्ध साध्वियों की संख्या बढ़ रही है। सेवा करने वालों की संख्या भी अधिक अपेक्षित है। इस चिन्तन के बाद एक नई व्यवस्था दी गई। इससे पूर्व साधु और साध्वियों के सिंघाड़ों को एक बार सेवा देना आवश्यक था। नई व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक साधु-साध्वी को दो बार सेवा करना अनिवार्य हो गया। इस नई व्यवस्था के अनुसार सेवा के दो नाम निर्धारित किए—

१. चर चाकरी
२. स्थिर चाकरी

वक्तव्य : साध्वियों की शिक्षा गोष्ठी में

साध्वियों की शिक्षा गोष्ठियों में भी मैंने पर्याप्त समय का नियोजन किया। मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर शिक्षा गोष्ठियों के तीन रूप बनते हैं—

१. केवल साधुओं की गोष्ठी
२. केवल साध्वियों की गोष्ठी
३. साधु-साध्वियों की संयुक्त गोष्ठी

मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर होने वाली शिक्षा गोष्ठियों में आचार्य ही शिक्षा-प्रवचन करते हैं। वि. सं. २००५ के मर्यादा-महोत्सव से मुझे भी उस गोष्ठी में भाग लेने का अवसर मिला। प्रारम्भ में मैं साधु-साध्वियों की गोष्ठियों में अपने विचार व्यक्त करता। संघीय दायित्व के साथ जुड़ने के बाद केवल साध्वियों की गोष्ठी में भी मेरे वक्तव्य होते। मेरा मुख्य विषय रहता—साधना का विकास, व्यवस्था के प्रति जागरूकता, सेवा और बौद्धिक विकास। प्रारम्भ में यह चर्चा का विषय बना।

आचार्यवर के ज्येष्ठ भ्राता सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी ने आचार्यवर से निवेदन किया—'केवल साध्वियों की गोष्ठी में आपका ही शिक्षा-प्रवचन होना चाहिए। उसमें मुनि नथमल का वक्तव्य होता है, वह कुछ मुनियों के लिए स्पर्धा का विषय बनता है।' आचार्यवर ने मुनिश्री चम्पालालजी के निवेदन को ध्यान से सुना और संक्षिप्त उत्तर में कहा—'उनका बोलना मुझे आवश्यक लगता है।'

विकास मेरा प्रमुख लक्ष्य था। मैं चाहता था कि अन्यत्र विहार करने वाले साधु-साध्वियों में चिन्तन, वक्तृत्व, लेखन, प्रस्तुति (Presentation), वार्त्तालाप और पारस्परिक संबंध में विकास हो। स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता बढ़े और आहार के विषय में ज्ञान और संयम—दोनों बढ़े। यह मेरी प्रबल भावना थी। मैं गोष्ठियों में इन विषयों की प्रमुख रूप से चर्चा करता था। इससे आचार्यवर प्रसन्न थे और साधु-साध्वियां भी प्रसन्न थीं। अतः मेरी अभिव्यक्ति के क्रम में कोई अवरोध नहीं आया।

निकाय-सचिव

निकाय सचिव : पृष्ठभूमि

आचार्यवर वि. सं. २०२२ का चतुर्मास सम्पन्न कर हरियाणा पधारे। हिसार में मर्यादा-महोत्सव का आयोजन। आचार्यवर ने एक दिन मुझे कहा–'तुम संघीय व्यवस्था का कार्य कर रहे हो। सब साधु-साध्वियां इसे जानते हैं। कुछ व्यक्ति कभी-कभी ऊहापोह करते हैं–मुनि नथमलजी आचार्यश्री के पास इतने समय तक बैठकर क्या करते हैं?' आचार्यवर ने कहा–'इन सब प्रश्नों को समाप्त कर दिया जाए और जो कर रहे हैं उसे क्यों न प्रकट कर दिया जाए।' इस चिन्तन की परिणति 'निकाय-व्यवस्था' में की गई। मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आचार्यवर ने मुझे निकाय-सचिव के पद पर नियुक्त किया। तेरापंथ द्विशताब्दी के अवसर पर आचार्यप्रवर ने व्यवस्था को नया रूप देने का चिन्तन किया था। वह उस समय क्रियान्वित नहीं हो सका। पांच वर्ष के बाद आचार्यवर ने उसे आकार दे दिया। निकाय-व्यवस्था उनके अन्तर्मानस का स्वर था इसलिए उसकी क्रियान्विति पर उन्हें अवर्णनीय प्रसन्नता की अनुभूति हुई, जिसका स्वयंभू साक्ष्य है 'पञ्चसूत्रम्' के अंतिम दो श्लोक–

आचार्याणां प्रसादेन,
सर्वेषां पूर्ववर्तिनाम्।
नित्यं नवनवोन्मेषो,
वर्तते शासने महान्।।

जाता स्थितिः शुभनिकायचतुष्टयस्य,
जाता निकायसचिवस्य वरा नियुक्तिः।
जातो महोदयमहोत्सवसंपदानां,
सम्यग् विकासविचयो विजयश्रियश्च।।

समीचीन व्यवस्था के लिए प्रयोग

आचार्यवर ने साधु-साध्वियों की समीचीन व्यवस्था के लिए अनेक प्रयोग किये। उन प्रयोगों के पीछे एक चिन्तन था, एक अपेक्षा थी। उस चिन्तन को स्वयं आचार्यवर ने अपनी लेखनी से अंकित किया है–

'सन् १९६४ (वि. सं. २०२०) में लाडनूं मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर साध्वी-समुदाय की व्यवस्था में एक परिवर्तन किया गया। उस समय तक साध्वियों की व्यवस्था का संबंध मुख्यतः साध्वीप्रमुखा से था। मैंने चिन्तनपूर्वक उस दायित्व को तीन भागों में विभक्त कर दिया–प्रवर्तन विभाग, व्यवस्था विभाग और साधना-शिक्षा विभाग। वह प्रयोग केवल एक वर्ष के लिए था। निर्धारित कार्यकाल सम्पन्न होने पर सन् १९६५ (वि. सं. २०२१) के जोधपुर प्रवास में उन विभागों की व्यवस्था संभालने वाली साध्वियों ने अपने-अपने दायित्व का समर्पण कर दिया। प्रायोगिक रूप में वह व्यवस्था चलती रही।

सन् १९६६ का मर्यादा-महोत्सव हिसार था। एक वर्ष का समय पूरा होने पर २२ जनवरी को फिर से दायित्व के प्रत्यर्पण का प्रसंग उपस्थित हो गया। संबंधित साध्वियों ने प्रसन्नता के साथ दायित्व से मुक्ति प्राप्त की।'

निकाय-व्यवस्था का सूत्रपात

हर प्रयोग की कुछ अच्छी निष्पत्तियां आती हैं तो उसमें कुछ कमियां भी रह जाती हैं। कमियों को दूर करने और उपलब्धियों को बढ़ाने के लक्ष्य से किये जाने वाले प्रयोगों में परिष्कार और परिवर्तन का पूरा अवकाश रहता है। रूढ़ता विकास में बाधक है तो प्रवाहपातिता में लक्ष्य के विस्मृत होने की संभावना रहती है। इस स्थिति में चिन्तनपूर्वक किये गए प्रयोग कुछ विशेष परिणाम ला सकते हैं, यह धारणा हमारी प्रयोगधर्मिता का आधार रही है।

साध्वियों में नई व्यवस्था के सूत्रपात का प्रमुख कारण था उनकी संख्या का विस्तार। साधुओं की संख्या बहुत अधिक नहीं है, फिर भी धर्मसंघ में चल रही अन्यान्य गतिविधियों का संचालन करते हुए उनके सर्वांगीण विकास के लिए पर्याप्त समय निकाल पाना कठिन हो रहा है। अणुव्रत और यात्राओं के कारण हमारा सम्पर्क भी बहुत बढ़ गया है। सारी स्थितियों का आकलन कर मैंने चिन्तन किया कि साध्वियों की पूर्व व्यवस्था को स्थगित करके एक नया प्रयोग किया जाए। वह प्रयोग साध्वियों और साधुओं दोनों के लिए हो। इस विषय में कुछ साधुओं के साथ चर्चा की और उसकी रूपरेखा तैयार कर ली। उस सुचिन्तित प्रयोग की क्रियान्विति के फलस्वरूप धर्मसंघ में चार निकाय स्थापित किये गये—साधना निकाय, शिक्षा निकाय, साहित्य निकाय और प्रबन्ध निकाय।

निकाय-सचिव की नियुक्ति

साधु-साध्वियों की एक विशेष गोष्ठी में निकाय-व्यवस्था की जानकारी देते हुए उन्होंने कहा—'चारों निकायों का संबंध मूलतः मेरे साथ रहेगा। इसके लिए मैं कुछ ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करूंगा, जो मेरे कार्य को सुगम बना सकें। वे अपने-अपने निकाय के व्यवस्थापक व व्यवस्थापिका, कहलाएंगे। चारों निकायों के लिए एक व्यक्ति सचिव का काम करेगा। उसे निकाय-सचिव कहा जाएगा। निकाय-सचिव के रूप में आज मैं मुनि नथमलजी को नियुक्त करता हूं। इस नियुक्ति से पहले भी ये काम करते रहे हैं। मैंने जब कभी और जिस किसी भी काम को करने का निर्देश दिया, इन्होंने पूरे मनोयोग से उसका पालन किया। अब मैं चाहता हूं कि ये इस नये दायित्व को अपनी जिम्मेदारी समझकर निभाएं। आज एक नियुक्ति मैंने कर दी है। अन्य नियुक्तियां यथासमय कर दी जाएंगी। यह सब कार्य मैंने अपनी अन्तर्भावना से किया है। तृतीय आचार्य ऋषिराय के शब्दों में—'औरां नै जस है नहीं।'

नई व्यवस्था के बारे में आगे उन्होंने कहा—गत वर्ष तक ऐसी कोई व्यवस्था करने का ध्यान नहीं था। अब मैं महसूस करता हूं कि काम बढ़ रहा है। महोत्सव के समय व्यस्तता और अधिक हो जाती है। 'वार्षिक विवरण' पढ़ने में भी काफी समय लग जाता है। व्यक्तिगत प्रेरणा और प्रोत्साहन देने के लिए भी समय की अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार शिक्षा, साधना, वस्त्र, पात्र, गोचरी आदि सभी व्यवस्थाओं के

सम्पादन में एक व्यक्ति पर बहुत भार आ जाता है। सारे कार्य सुव्यवस्थित रूप में चलते रहें, इसी दृष्टि से मैंने उपर्युक्त व्यवस्था की है।'[१]

निकाय-व्यवस्था का प्रयोजन

आचार्यवर ने निकाय-व्यवस्था के प्रयोजन पर प्रकाश डालने के लिए साधु-साध्वियों की गोष्ठी बुलाई। गोष्ठी को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा–'हम प्रायोगिक युग में जी रहे हैं। प्रगति के लिए प्रयोग बहुत महत्त्व रखता है। मैंने अनेक प्रयोग किए हैं। मैं उनसे निराश नहीं, आश्वस्त हूं। हमारे धर्मसंघ में एक नेतृत्व रहा है और रहेगा, फिर भी समय-समय पर सुगमता के लिए कुछ व्यवस्थाएं आवश्यक हो जाती हैं। जयाचार्य ने अपने युग में पंचों की व्यवस्था की थी। आज हमारे धर्मसंघ में प्रवृत्तियां बहुत बढ़ गई हैं। उनका संचालन कोई वज्रऋषभनाराच वाला ही अकेला व्यक्ति कर सकता है। साध्वियों की वर्धमान संख्या हमारे सामने है। इतनी साध्वियों की सभी व्यवस्थाएं एक साध्वी कर सके, यह बहुत कठिन है। इस कार्य में अनेक व्यक्तियों का दायित्वपूर्ण सहयोग मिले, इस दृष्टि से यह नई व्यवस्था की गई है। इस विषय में साधु-साध्वियां पूर्ण आश्वस्त रहें। इससे हमारे पूर्व क्रम में कोई अन्तर नहीं आने वाला है।'[२]

निकाय-व्यवस्था के बारे में संबोध देने के पश्चात् आचार्यवर ने चार निकाय-व्यवस्थापकों को नियुक्त किया।

१. साधना निकाय

मुनि मीठालाल, साध्वी राजीमती

२. शिक्षा निकाय

मुनि दुलहराज, साध्वी मंजुला

३. साहित्य निकाय

मुनि चन्दनमलजी, साध्वी कानकुमारी (सरदारशहर)

४. प्रबन्ध निकाय

मुनि दुलीचन्दजी 'दिनकर', साध्वी संघमित्रा

मर्यादा-महोत्सव सम्पन्न कर आचार्यवर डाबड़ी (राजस्थान) पधारे। मैंने चारों निकायों की प्रथम गोष्ठी आयोजित की। सभी व्यवस्थापक साधु-साध्वियों में उत्साह देखा और कार्य करने की भावना।

नया प्रयोग और प्रतिक्रिया

निकाय-व्यवस्था एक नया प्रयोग था। प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। मेरे मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं थी और मुझे कुछ भी नया नहीं लग रहा था। जो निकाय-सचिव को करना था वह मैं पहले ही कर रहा था। इतना अन्तर अवश्य था कि पहले जो कर रहा था वह सबको ज्ञात नहीं था। निकाय-सचिव की नियुक्ति के बाद जो करना है वह सबको ज्ञात हो गया। आचार्यवर ने इस पर विस्तार से लिखा है–

१. मेरा जीवन : मेरा दर्शन, भाग ७, पृ. २०-२२
२. मेरा जीवन : मेरा दर्शन, भाग ७, पृ. २२

'मुनि नथमलजी को निकाय-सचिव बनाने के बाद साधुओं की ओर से काफी प्रतिक्रियाएं सामने आई, पर धीरे-धीरे सब शान्त हो गई। 'धवल समारोह' के अवसर पर मुनि बुद्धमलजी को साहित्य परामर्शक और मुनि नगराजजी को अणुव्रत परामर्शक के रूप में नियुक्त किया गया था। तब से मुनि नथमलजी को भी कुछ विशिष्टता देने की इच्छा थी, पर इस विषय में सदा इनकी अनिच्छा रही। वैसी स्थिति में इन्हें किसी पद पर स्थापित किए बिना ही मैं इनसे काम लेता रहा। इस बात को लेकर भी कुछ साधुओं में आशंका का वातावरण बराबर बना रहा। पता नहीं इन्हें कब, कौन-सा पद देंगे, इस आशंका पर कुछ प्रश्न उठते रहे। भय और आतंक की बातें भी सामने आती रहीं। मैं सब कुछ सुनता रहा। आखिर सोचा कि कुछ व्यक्ति अकारण ही संदिग्ध रहते हैं तो मुझे कुछ कर देना चाहिए।'[1]

मुझे आचार्यवर का अनुग्रह प्राप्त था। उससे अधिक कोई भी वस्तु मेरे सामने नहीं थी, जिसकी मैं कामना करूं। मैं अपना कार्य करता रहा। उसके साथ आचार्यवर के प्रति पूर्ण श्रद्धा और समर्पण भाव भी विकसित होता रहा। 'संतोषः परमं सुखम्' यह मंत्र भी मेरे हृदय में रमता रहा। मेरी ओर से न कोई मांग थी और न कोई अपेक्षा। फिर भी आचार्यवर मुझे कुछ न कुछ देने की सोचते रहे। यह उनकी अपनी उदात्त भावना है।

मनोमंथन आचार्यवर का

आचार्यवर का इस विषय में जो मनोमंथन चल रहा था उसे आप उन्हीं की भाषा में पढ़ें–

'कुछ करना है, इस मानसिकता के बाद क्या करना है? चिन्तन का यह सिलसिला शुरू हुआ। एक सुझाव आया कि मुनि नथमलजी को महामंत्री बना दिया जाए। दूसरे सुझाव का संबंध उपाध्याय पद से था। मुझे दोनों ही शब्द नहीं जचे। मैं कोई नया शब्द गढ़ना चाहता था। सोचते-सोचते निकाय-व्यवस्था और निकाय-सचिव शब्दों पर ध्यान केन्द्रित हुआ। दो तीन व्यक्तियों के साथ इस विषय में विचार-विमर्श किया। एक प्रश्न उपस्थित हुआ कि ऐसा करने से कुछ संतों में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया नहीं होगी क्या? इस प्रश्न के समाधान में मैंने दो बातें कही–

१. अमुक कार्य करने से प्रतिक्रिया होगी, इस भय से वह नहीं करना भीरुता है।

२. जो काम करना है, वह येन केन प्रकारेण करना ही है, ऐसा सोचना एक प्रकार का व्यामोह है।

उक्त दोनों स्थितियों से ऊपर उठकर सोचा। कुछ करना आवश्यक एवं उपयोगी लगा। इसी आधार पर निर्णय लिया। निर्णय की क्रियान्विति होनी ही थी। शेष सब कुछ ठीक रहा। डाबड़ी में चारों निकायों की व्यवस्था होने के बाद प्रायः भ्रांतियां समाप्त हो गई। कुल मिलाकर वातावरण अच्छा रहा।'[2]

सुरक्षित है एक नेतृत्व की परंपरा

तेरापंथ धर्मसंघ में एक नेतृत्व का संस्कार श्रद्धा से अभिषिक्त है। उसके श्रेयस्कर परिणामों से पूरा धर्मसंघ परिचित है। इस परम्परा को बदलने की मानसिकता किसी की भी नहीं है। इसलिए नई व्यवस्था

१. मेरा जीवन : मेरा दर्शन, भाग ७, पृ. २४

२. वही, भाग ७, पृ. २४-२५

के प्रति ऊहापोह होना स्वाभाविक है। अग्रणी की व्यवस्था संघ में प्रारंभ से ही चल रही है। उसका कार्यक्षेत्र सीमित है। वह बहिर्विहार में आचार्य का प्रतिनिधित्व करता है और अपने सहवर्ती साधु-साध्वियों की संयम साधना में सहयोग करता है तथा निर्दिष्ट क्षेत्रों में संघीय-दायित्व का निर्वाह करता है। निकाय-सचिव का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है। उसका संबंध सभी साधु-साध्वियों तथा पूरे संघ से है इसलिए निकाय-सचिव की व्यवस्था तर्कणीय बन गई। इस विषय में आचार्यवर का विभज्यवादी दृष्टिकोण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है–

'निकाय-सचिव की नियुक्ति के बाद साधुओं में एक ऊहापोह था–हमारे संघ में सदा से एक आचार्य ही अधिकारी रहे हैं। इसी में लाभ रहा है। हम अनेकाधिकार नहीं चाहते। निकाय-सचिव के क्या अधिकार हैं, हम नहीं जानते। हमारा अपना मन्तव्य है कि संघ में अधिकृत एक आचार्य ही रहने चाहिए।

साधुओं की यह भावना मेरे पास पहुंची। मैं जानता था कि मुनि नथमलजी के प्रति प्रायः सबकी अच्छी आस्था है, फिर भी नेतृत्व के संदर्भ में वे संघ को आचार्य-केन्द्रित ही चाहते हैं। ऊहापोह की स्थिति को समाप्त करने के लिए मैंने अपनी ओर से एक स्पष्टीकरण देते हुए कहा–'साधु-साध्वियों के मन में एक नेतृत्व की जो भावना है, उसकी मैं कद्र करता हूं और यह विश्वास दिलाता हूं कि आचार्य का नेतृत्व पूर्ण सुरक्षित रहेगा। आप सब लोग निश्चिन्त रहें। केवल कार्याधिक्य को लेकर निकायों की व्यवस्था की गई है। बिना उत्तरदायित्व कार्य व्यवस्थित नहीं होता, अतएव निकाय-सचिव का पद रखा गया है। इनके मुख्य कार्य होंगे–

- निकायों का पथ-दर्शन करना
- योजनाबद्ध कार्य संचालन करना
- सब निकायों के कार्य का संकलन करना

मेरे साथ सीधा संबंध निकाय-सचिव का रहेगा। निकाय-व्यवस्था में व्यवस्थापकों की नियुक्ति व्यापक दृष्टिकोणों से की गई है। संघ की मौलिक मर्यादाओं पर इस व्यवस्था का विपरीत प्रभाव नहीं होगा। इसलिए सब साधु-साध्वियां पूर्ण रूप से निश्चिन्त रहें। कुछ समय बाद मुझे ज्ञात हुआ कि निकाय-व्यवस्था को लेकर प्रायः सबके मन संतुष्ट हैं।'[1]

अणुव्रत शिविर

डाबड़ी से आचार्यवर ने सरदारशहर की ओर प्रस्थान किया। मुझे अणुव्रत शिविर का संचालन करना था, इसलिए दिल्ली जाना पड़ा। वह हमारे धर्मसंघ का पहला सार्वजनिक शिविर था। अणुव्रत शिविरों की सीमा में आज भी वह अंतिम बना हुआ है। उसमें लगभग २५० व्यक्ति भाग ले रहे थे। जैनेन्द्रजी, दादा धर्माधिकारी, गोपीनाथ 'अमन', मोहनलाल कठोतिया, रामेश्वर ठेकेदार आदि दिग्गज व्यक्ति भी सहभागी थे। यशपाल जैन, कविवर हरिवंशराय बच्चन, मोरारजीभाई देसाई, श्रीमन्नारायण आदि अनेक साहित्यकार, पत्रकार, राजनेता समय-समय पर सहभागी बनते थे। चार सप्ताह का शिविर सफलता के साथ सम्पन्न

१. मेरा जीवन : मेरा दर्शन, भाग ७, पृ. २५-२६

हुआ। एक बार श्रीमन्नारायण ने कहा–'मैं अनुभव कर रहा हूं कि यहां से निकलने वाला अध्यात्म का स्वर पूरे विश्व को प्रभावित करेगा।'

मुझे आश्चर्य होता है कि अणुव्रत शिविर में जैनेन्द्र और दादा धर्माधिकारी जैसे दिग्गज व्यक्ति मुझे घण्टों तक सुनते। उस शिविर में मानवीय संबंधों और पारस्परिक व्यवहारों पर विस्तार से चर्चा की। मुनि सुखलालजी और मुनि श्रीचंदजी उसे विस्तार से लिखने में काफी हद तक सफल रहे हैं। 'मैं : मेरा मन : मेरी शांति' पुस्तक इसी शिविर का प्रतिफलन है। मुझे अनुभव हुआ कि अध्यात्म की चर्चा में रस है। यदि उसका समीचीन प्रतिपादन और प्रयोग हो तो आध्यात्मिक व्यक्ति दूसरों को भी सरस बना सकता है। साध्वी राजीमती आदि साध्वियां भी अणुव्रत शिविर में सहभागी थीं। अध्यात्म साधना केन्द्र के पास भूमि थी पर भवन नहीं था। शिविर के सहभागी तम्बुओं में रहे। हम लोग छोटा सा छप्पर था उसमें रहे। ऐसा लग रहा था कि मुक्त आकाश सबके मन को मोह रहा था।

विदेश यात्रा के लिए प्रार्थना

दिल्ली से प्रस्थान कर हमने सरदारशहर में आचार्यवर के दर्शन किए। उस दिन जैनेन्द्रजी, मोहनलाल कठोतिया, गोपीनाथ 'अमन' आदि अनेक गणमान्य व्यक्ति आए। उन्होंने प्रवचन के मध्य आचार्यप्रवर से प्रार्थना की–'आचार्यवर! आपने मुनि नथमलजी को निकाय-सचिव के पद पर नियुक्त किया है। यह पद आप किसी दूसरे मुनि को दें और मुनि नथमलजी को विदेश यात्रा की अनुमति दें। वहां अध्यात्म की बहुत जरूरत है। इनके द्वारा अध्यात्म का बहुत अच्छा कार्य हो सकता है।' आचार्यवर ने उनकी प्रार्थना सुनी और कहा–'आपका प्रस्ताव बहुत अच्छा है पर विदेश यात्रा जैन मुनि के लिए संभव नहीं है।'

निकाय-सचिव : व्यवस्था पत्र

वि. संवत् २०२३, आसोज कृष्णा १४, बांठिया भवन, बीदासर में आचार्यवर की सन्निधि में साधु-साध्वियों की गोष्ठी हुई। उसमें मुनि दुलहराजजी ने एक पत्र का वाचन किया। उसमें निकाय-सचिव के पद की गरिमा का उल्लेख था, जैसे–

१. निकाय-सचिव समुच्चय के कार्य एवं बोझ से मुक्त रहेंगे।

२. स्थान में क्रम से मुक्त रहेंगे, समुच्चय में रहेंगे।

३. जहां भी रहेंगे, आज्ञा आलोचना का अधिकार उनका होगा।

४. आचार्य की अनुमति के बिना भी ये बहिनों को सेवा करवा सकेंगे, आदि-आदि।

विसर्जन निकाय-सचिव पद का

मैं धर्मसंघ के साधु-साध्वियों के विकास के लिए चिन्तन करता रहता था। निकाय-सचिव का दायित्व आने पर कुछ विशेष हुआ, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं हुआ। वह प्रकृति प्रदत्त दायित्व के साथ वैसे ही मिल गया जैसे दूध में चीनी। चार वर्षों के बाद हैदराबाद मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर मैंने निकाय-सचिव पद का विसर्जन कर दिया। मैं जो कार्य कर रहा था वह कार्य निकाय-सचिव बनने के पहले भी

चल रहा था, निकाय-सचिव बनने के बाद भी चल रहा था। परिवर्तन के क्षणों में भी अपने आपमें अपरिवर्तन की ही अनुभूति कर रहा था। डायरी में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है—[1]

'मर्यादा-महोत्सव के दिन अनेक साधु-साध्वियों ने कविता, मुक्तक, वक्तव्य, गीत आदि विधाओं में आचार्य भिक्षु के प्रति श्रद्धांजलि समर्पित की और मर्यादा-महोत्सव के महत्त्व को उजागर किया। वक्ताओं में मुनि नथमलजी भी थे। पिछले चार वर्षों से वे निकाय-सचिव के पद पर कार्य कर रहे थे। अपने वक्तव्य में इस विषय की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—'हिसार महोत्सव पर चार निकायों की व्यवस्था की गई थी और मुझे निकाय-सचिव के रूप में नियुक्त किया गया था। इस नियुक्ति की पृष्ठभूमि में लम्बी कार्य शृंखला थी। बहुत वर्षों तक मैं बिना किसी जिम्मेदारी के आचार्यश्री के आदेशानुसार कार्य करता रहा। इस दायित्व को निभाने में भी मैं सदा सतर्क रहा हूं।'

अपनी बात को दूसरा मोड़ देते हुए मुनि नथमलजी ने कहा—'कई वर्षों से मेरा मन साधना के विशेष प्रयोग करने के लिए उत्कंठित है। कार्यबहुलता के कारण मैं इस दिशा में पर्याप्त समय नहीं लगा पाता। अतः मैं चाहता हूं कि मुझे निकाय-सचिव के पद से मुक्त किया जाए ताकि मैं अधिक-से-अधिक समय इस दिशा में नियोजित कर सकूं। आप कृपा कर मुझे अवसर दें। आपकी कृपा से ही मैं अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकूंगा।'

मुनि नथमलजी की प्रार्थना मुझे अटपटी-सी लगी। जिस युग में बहुत लोग पद-प्राप्ति और उसकी सुरक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं, उस युग में पद-मुक्ति की बात आश्चर्य जैसी है। साधना के विशेष प्रयोगों का जहां तक प्रश्न है, उससे मेरी असहमति नहीं है। मैं स्वयं चाहता हूं कि संघ में साधना का विशेष विकास हो। इन वर्षों में कुछ विकास भी हुआ है किन्तु उससे मैं पूर्ण संतुष्ट नहीं हूं। साधना में उत्कर्ष लाए बिना अध्यात्म के दीप को प्रज्वलित नहीं रखा जा सकता। कोई साधक विशेष साधना करे, यह अच्छी बात है। निकाय-सचिव का दायित्व संभालते हुए भी साधना की जा सकती थी, पर मुनि नथमलजी की विनम्रता और समर्पण को देखते हुए मैंने उनका आग्रहभरा अनुरोध स्वीकार कर लिया। उनकी पदमुक्ति के साथ ही उनके सहयोगियों को अपने आप ही मुक्ति मिल गई। फिर भी हमने निकाय-व्यवस्था को सदा के लिए स्थगित नहीं किया। अपेक्षा होने पर उसे पुनः सक्रिय किया जा सकेगा।'

१. मेरा जीवन : मेरा दर्शन, भाग-९, पृष्ठ ३३-३४

महाप्रज्ञ अलंकरण

एक शुभ शकुन

वि. सं. २०३५ (१२ नवम्बर, १९७८) गंगाशहर में चातुर्मासिक प्रवास। दीक्षा का समारोह। दीक्षा-स्थल तेरापंथ भवन का खुला मैदान। आचार्यवर ने कहा—तुम घण्टा भर आगम क़ा काम करो, फिर आ जाना। मुझे यह निर्देश देकर आचार्यवर दीक्षा-स्थल पर पधारे। घण्टा भर आगम-सम्पादन का कार्य कर हम शांति-निकेतन के बाहर आए। दीक्षास्थल की ओर मुड़ रहे थे कि सामने से एक वृषभ आया और हमें देखते ही उसने 'दड़ूकना' शुरू किया। मैंने सहवर्ती मुनि दुलहराजजी से कहा—'शकुन बहुत अच्छे हुए हैं। कुछ नया होगा?' मुनिगण ने स्वीकृतिसूचक सिर हिला दिया।

प्रज्ञा शब्द का विश्लेषण और महाप्रज्ञ अलंकरण

हम आचार्यवर की सन्निधि में पहुंचे। उस समय आचार्यवर ने 'स्वामीजी! थांरी साधना री मेरू-सी ऊंचाई' इस गीत का संगान शुरू किया। साधना की सुन्दर व्याख्या की, उस प्रसंग में प्रज्ञा का भी विवेचन किया। आचार्यवर ने कहा—'आज मैं प्रज्ञा शब्द को साकार रूप देना चाहता हूं।'

आचार्यवर ने मेरी ओर दृष्टिक्षेप करते हुए कहा—'मुनि नथमलजी! खड़े हो जाओ।'

मैं खड़ा हो गया। मैं नहीं जानता था कि मैं क्यों खड़ा हुआ हूं। निर्देश था इसलिए खड़ा हो गया। आकस्मिक घटना व्यक्ति को विचार से निर्विचार की ओर ले जाती है। मैं करबद्ध होकर आचार्यवर के सामने खड़ा रहा। पूरी परिषद् में इतनी शांति थी कि सूई की आवाज भी सुनाई दे सकती थी। पहले क्षण सब आचार्यवर की ओर आश्चर्य-मिश्रित दृष्टि से देख रहे थे और दूसरे क्षण मेरी ओर। मैं न परिषद् की ओर देख रहा था और न आचार्यवर की ओर। देख रहा था केवल अपने आपको।

आश्चर्य और उत्सुकता के क्षणों में आचार्यवर ने कहा—'जैन परम्परा में प्रज्ञा शब्द का बहुत महत्त्व है। इस शब्द का प्रयोग तीर्थंकरों, गणधरों और मेधावी आचार्यों के लिए हुआ है। मुनि नथमल ने अपनी प्रज्ञा के द्वारा कुछ नए तथ्य खोजे हैं। साहित्य उनका साक्षी दे रहा है। प्रेक्षाध्यान युवापीढ़ी और बौद्धिक जगत् को आकृष्ट कर रहा है। अध्यात्म के प्रति जनमानस में आकर्षण बढ़ा है। मैं मानता हूं कि अध्यात्म की भूमिका पर काम करने वाले व्यक्ति को किसी उपाधि या विशेषण की अपेक्षा नहीं होती किन्तु संघ को उसकी अपेक्षा होती है, इसलिए मैं अपने दायित्व का अनुभव करते हुए मुनि नथमल को 'महाप्रज्ञ' विशेषण से विभूषित करना चाहता हूं।'

निर्विशेषण रहने दें

आचार्यवर की इस घोषणा ने जनता के आश्चर्य को विराम दे दिया और मुझे आश्चर्य में डाल दिया। मैंने अपने आश्चर्य को इन शब्दों में बांधकर प्रस्तुत किया—'मैं संसार के नियम को नहीं समझ पाया, जो

सदा उलटा चलता है। जो व्यक्ति निर्विशेषण की ओर जाना चाहता है, उपाधियों से मुक्त रहना चाहता है उसके सिर पर ही विशेषण या उपाधि का सेहरा बांध दिया जाता है।

भगवान महावीर ने कहा–कर्म से उपाधि होती है और अहं के साथ उपाधि जुड़ जाती है। इसीलिए कहा गया–निरुपाधिक रहो। मैं निरुपाधि के मूल्य को जानता हूं।

मैं जानता हूं पूज्य गुरुदेव का आशीर्वाद मुझे मिला। आज से नहीं तब से मिला है जब से मैं इस धर्मसंघ में दीक्षित हुआ हूं। मैंने दीक्षा ली और प्रथम दिन से ही पूज्य गुरुदेव के पास रहा, अक्षर-बोध पूज्य गुरुदेव के पास प्राप्त हुआ। मेरी दीक्षा को ४८ वर्ष सम्पन्न हो रहे हैं। मैं सौभाग्यशाली हूं कि निरंतर आचार्यश्री की सन्निधि में रहा। ऐसा योग बहुत कम व्यक्तियों को मिलता है। निकटता भी इतनी सधी हुई है कि न तो आचार्यवर भेद का अनुभव करते हैं और न मैं भेद का अनुभव करता हूं। परस्पर अभिन्नता की अनुभूति है।

प्रज्ञा का बहुत महत्त्व है। जिससे सत्य का साक्षात्कार होता है उसका नाम है प्रज्ञा। यह पातंजलयोग की परिभाषा है। धर्म की समीक्षा प्रज्ञा से ही की जा सकती है, तर्क से नहीं। इन्द्रिय चेतना, मानस चेतना और बुद्धि चेतना के स्तर नीचे रह जाते हैं। प्रज्ञा का स्तर इन सबसे ऊंचा है। आगम का यह वाक्य बहुत महत्त्वपूर्ण है–**'पण्णा समिक्खए धम्मं'**।

मेरे मन का एक स्वप्न था, बहुत पुराना स्वप्न। मैंने एक बार आचार्यवर से प्रार्थना की थी–'अभी मैं संघीय सेवा में लगा हुआ हूं। ४५ वर्ष की अवस्था में मैं इस कार्य से मुक्त होकर केवल प्रज्ञा की साधना करना चाहता हूं। हम सब परोक्ष ज्ञानी ही रहें, शास्त्र वाक्यों को दोहराते रहें, यह मुझे इष्ट नहीं है। मैं उस भूमिका पर जाना चाहता हूं जहां यह कह सकूं कि मैंने इसे जाना है, अनुभव किया है। मैं जो कह रहा हूं वह अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर कह रहा हूं।'

४५वां वर्ष चला गया। पता नहीं कब चला गया। मैंने फिर गुरुदेव से प्रार्थना की–मैं ५० वर्ष की अवस्था में प्रज्ञा की पूर्ण साधना में लगना चाहता हूं। ५०वां वर्ष भी चला गया। मैं अपनी दुर्बलता को छिपाना नहीं चाहता। मैं अपना संकल्प और अपनी भावना लेकर आचार्यवर के पास जाता हूं और अपना चिन्तन रखता हूं। आचार्यवर फरमाते–अभी नहीं। संकल्प पर पूर्ण विराम लग जाता। कोई जन्मजात संस्कार है। उसकी व्याख्या आचार्यवर भी नहीं कर सकते और मैं भी नहीं कर सकता।

५० वर्ष भी बीत गए। मैंने फिर लिखित प्रार्थना की–'५५वें वर्ष के बाद मैं विशेष प्रयोग में लगना चाहता हूं। आप मुझे अनुमति दें। ५५वें वर्ष में नव मासिक आध्यात्मिक प्रयोग के लिए प्रार्थना की। उसकी मुझे स्वीकृति मिल गई। उस प्रयोग से मैं बहुत लाभान्वित हुआ।

आचार्यवर! मैं आपके सब अनुग्रहों को स्वीकृत करता आया हूं। एक छोटे बच्चे की तरह स्वीकार करता आया हूं। मेरी एक प्रार्थना आप स्वीकार करें–जो व्यक्ति निर्विशेषण और निरुपाधिक सत्ता की ओर आगे बढ़ना चाहता है उसे निर्विशेषण रहने दें। आप मेरी प्रज्ञा को बढ़ाएं।'

आचार्यवर ने मेरी प्रार्थना का उत्तर इन शब्दों में दिया–'मैं आज बहुत प्रसन्न हूं। मैं केवल व्यक्ति नहीं हूं, संघ का नायक हूं। मुनि नथमलजी ने संघ की जो सेवा की है, उसके अंकन का यह प्रारम्भ मात्र है। इन्होंने संघ की आंतरिक सेवा की है, उसका मूल्यांकन करना मेरा कर्तव्य है।'

अभिवादन प्रज्ञा का

कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी का दिन। 'महाप्रज्ञ अलंकरण' के अभिवादन का कार्यक्रम प्रवचन के समय शांति निकेतन में रखा गया। जैसे-जैसे घड़ी की सूई आगे बढ़ती गई, अभिवादन का क्रम आगे बढ़ता गया। उस समय साधुओं, साध्वियों और श्रावक समाज में जो उल्लास का वातावरण देखा तो लग रहा था कि प्रज्ञा के विकास का आधार पुष्ट बन रहा है। शुभकरणजी दसानी के उदात्त भाव सामने आए, तब मैंने आचार्यवर की आकृति में पुलकन का भाव पढ़ा।

मैंने अभिवंदना के उत्तर में संक्षिप्त वक्तव्य दिया, उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं–'रथयात्रा निकल रही थी। लोग अष्टांग दण्डवत् कर रहे थे। सड़क पर नारों से अष्टांग वंदनाएं हो रही थीं। जो रथ था, जिसमें मूर्ति थी, उसने सोचा, मैं देवता हूं और सब लोग मुझे वंदना कर रहे हैं। लोग पथ पर लेट रहे थे। वंदना कर रहे थे। गिर रहे थे तो पथ ने सोचा, मैं देवता हूं, लोग मुझे वंदना कर रहे हैं और जो भीतर मूर्ति थी, वह सोच रही थी कि लोग मुझे वंदना कर रहे हैं। सबसे ऊपर बैठा अंतर्यामी हंस रहा था।

अभी अभिवंदना हो रही थी। कोई कुछ कह रहा था, कोई कुछ कह रहा था। शायद यह स्टेज का पत्थर सोचता होगा कि मेरी अभिवंदना हो रही है। यह कंबल सोचता होगा कि मेरी अभिवंदना हो रही है। ये कपड़े सोचते होंगे कि हमारी अभिवंदना हो रही है और अन्तर्यामी पूज्य गुरुदेव ऊपर मंच पर बैठा-बैठा हंस रहा है। किसकी अभिवंदना!

एक शिष्य गुरु के पास आया और बोला–गुरुदेव! जीवन की एक प्रबलतम आकांक्षा है। गुरु ने पूछा–क्या आकांक्षा है? शिष्य ने कहा कि सत्य की उपलब्धि के सिवा मेरे जीवन की और कोई आकांक्षा नहीं है। मैं सत्य की उपलब्धि करना चाहता हूं। केवल सत्य को उपलब्ध होना चाहता हूं। गुरु ने पूछा कि कोलकाता में चावल के भाव क्या हैं? शिष्य ने कहा–गुरुदेव! मैंने कोलकाता छोड़ दिया है। अब मुझे चावल के भाव से कुछ भी लेना-देना नहीं है। गुरु ने कहा–जाओ, तुम साधना करो। सत्य तुम्हें अवश्य उपलब्ध होगा। शिष्य ने कहा–कैसे उपलब्ध होगा? गुरु ने कहा–जो अतीत को छोड़ देता है, वह सत्य को अवश्य उपलब्ध हो जाता है।

अतीत को विस्मृत कर देना सत्य के लिए बहुत जरूरी है किन्तु अतीत की पकड़ इतनी मजबूत होती है कि छोड़ने पर भी कभी-कभी फिर से बांध लेती है। जिस अतीत को मैं भुलाना चाहता हूं, उस अतीत को ही मेरे सामने उपस्थित कर दिया गया। सारी बचपन की स्मृतियां ताजा हो गईं।

तब भगवान जागता है

मुझे एक घटना याद आ रही है–द्वितीय महायुद्ध चल रहा था। लंदन की एक महिला रात को प्रार्थना करके सो जाती और निश्चिंत नींद लेती। पड़ोसी कहते–हम लोग तो जागते हैं, डरते हैं, तुम निश्चिंत सो जाती हो। महिला कहती–मुझे तो कोई चिन्ता नहीं। लोगों ने पूछा–चिन्ता क्यों नहीं? क्या रहस्य है इसका? महिला ने कहा–जब सोती हूं, तब भगवान से प्रार्थना करके सोती हूं कि प्रभो! मेरी रक्षा करना। जब मैं सोती हूं तब भगवान जागता है। दोनों के जागने की क्या जरूरत है? वह भी जागे और मैं भी जागूं? इसकी क्या जरूरत है? सचमुच मेरा भी बचपन का जीवन ऐसे ही बीता। मैंने सोचा, पूज्य कालूगणी और मुनि तुलसी चिन्ता करने वाले हैं तो यह भार मैं क्यों ढोऊं?

निश्चिंत जीवन

भला जिसके लिए परमात्मा स्वयं जागता हो तो दोनों को कभी एक साथ जागने की जरूरत नहीं। लोग समझते हैं कि मैं भोला था, सीधा था, बच्चा था। सचमुच यही बात है। किन्तु एक ही बात ने मुझे उबारा कि मैंने कभी अपनी चिन्ता नहीं की और वह व्यक्ति धन्य है, बहुत भाग्यशाली है, जिसकी चिन्ता करने वाले गुरु मिल जाएं सचमुच वह धन्य होता है। मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूं कि मुझे एक ऐसा निर्माता मिला, जो व्यक्ति की सुप्त शक्ति को जगाना जानता है। हर व्यक्ति में शक्ति होती है। शक्ति होना एक बात है और शक्ति को जगाने वाला मिलना दूसरी बात है। भाग्यशाली वह नहीं होता, जिसमें शक्तियां होती हैं। शक्तियां और भी लोगों में हो सकती हैं। मैं सचमुच अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूं कि मुझे एक ऐसा देवता मिला, जिसने निरंतर मेरी शक्तियों को जगाने की चिन्ता की। केवल बचपन में ही नहीं आज तक भी बराबर कर रहा है।

मैं बहुत कृतज्ञ हूं। आप सब लोगों ने जो शुभकामनाएं प्रकट कीं, उन शुभकामनाओं को, शुभाशंसाओं को स्वीकार करता हूं, और जितनी प्रशंसाएं, जितने अभिनंदन किए, जिनको जहां पहुंचना चाहिए, वहां समर्पित करता हूं।

प्रज्ञा की रश्मियां बिखेरो

आचार्यवर ने आशीर्वाद देते हुए कहा—'अब तुम महाप्रज्ञ बन गए हो, धर्मसंघ में प्रज्ञा की रश्मियां बिखेरो।

महाराज दशरथ ने राम को राज्याभिषेक के लिए बुलाया। राम का मन शांत था। वनवास जाने का आदेश दिया, तब भी उनका मन शांत था। दोनों स्थितियों में समता बनी रही। आकृति में भी कोई नया रेखांकन नहीं हुआ।

मैंने मुनि नथमलजी में यह विशेषता देखी। मैंने कहा—आओ लिखो तो शांत भाव से लिखने लग गए। कभी विशिष्ट संघीय दायित्व का काम सौंपा तो उसमें लग गए। इनके मन में न कोई उतार-चढ़ाव देखा और न कोई ऊहापोह। इनका सहज स्वभाव मन को आकृष्ट करता रहा। महाप्रज्ञ अलंकरण उसका एक प्रतिबिम्ब है।

युवाचार्य पद पर मनोनयन

उत्तराधिकारी की पृष्ठभूमि :

वि. सं. २०३५ का चतुर्मास सम्पन्न और यात्रा का प्रारम्भ। भीनासर में पहला पड़ाव। जैन विश्व भारती लाडनूं में प्रेक्षाध्यान का शिविर। मुझे शिविर संचालन के लिए वहां जाना था। आचार्यवर के निर्देशानुसार मैंने उस दिशा में प्रस्थान कर दिया। दो दिन बाद मैंने आश्चर्य के साथ सुना—आचार्यवर ने मर्यादा-महोत्सव की घोषणा कर दी। उसके लिए राजलदेसर का क्षेत्र चुना गया है। आश्चर्य इसलिए हुआ कि पंजाब में मर्यादा-महोत्सव का वातावरण बना हुआ था। खेमचंदजी सेठिया अपने सहायकों के साथ पंजाब की स्थिति का अध्ययन करने गये हुए थे। आकस्मिक परिवर्तन कैसे हुआ? आश्चर्यपूर्ण प्रश्न स्वाभाविक था। मैं आचार्यवर से दूरवर्ती क्षेत्र में था इसलिए न मैं आकस्मिक परिवर्तन का साक्षी रहा और न मैं आचार्यवर से उसका उत्तर पा सका। मनोमंथन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि कुछ विशिष्ट घटना घटने वाली है।

मैं जैन विश्व भारती पहुंचा। मध्यवर्ती सभी क्षेत्रों में अतिरिक्त स्वागत किया गया। मुनि नथमल के प्रति समाज में बहुत आदर का भाव था। 'महाप्रज्ञ अलंकरण' के बाद उसमें अतिरेक आ गया।

व्यवहार आखिर व्यवहार है। मैं नहीं मानता कि उस अलंकरण से कुछ ही दिनों में मेरी अर्हता शिखर को छू गई। इस सचाई को भी हम नकार नहीं सकते कि अर्हता को समझने वाले लोगों की अपेक्षा अलंकरण को समझने वाले लोगों की संख्या अधिक है।

शिविर का प्रारम्भ हो गया। एक दिन ध्यान में बैठा था। एकाग्रता अच्छी थी। लगभग निर्विचार ध्यान की स्थिति बन गई। उस अवस्था में मैंने वह देखा जो भविष्य में होने वाला है। स्थूल जगत् में अतीत, वर्तमान और भविष्य—ये सब विभक्त हैं। सूक्ष्म जगत् में इनकी विभक्ति नहीं है। स्थूल जगत् में जो कुछ समय बाद घटित होने वाला होता है वह सूक्ष्म जगत् में पहले ही घटित हो जाता है, जो चर्म चक्षुओं से अदृश्य है वह दृश्य बन जाता है।

'सुखपाल' प्रयोग के लिए निवेदन

शिविर सम्पन्न हो गया। हम आचार्यवर की सन्निधि में जाने की तैयारी कर रहे थे। संवाद मिला—आचार्यवर का स्वास्थ्य पूर्णरूपेण ठीक नहीं है। सर्दी का मौसम है। हलका सा श्वास का प्रकोप है। मोमासर से राजलदेसर का रास्ता रेतीला है। उसमें बालू के टीले बहुत हैं। यात्रापथ कुछ चिन्तनीय बन रहा है। इस संवाद से मन कुछ विचलित हो गया। विचलन के क्षणों में मैंने एक पत्र लिखा। उसकी प्रतिलिपि आचार्यवर के पास पहुंची।

अर्हम्

युगप्रधान! गुरुदेव!

'तुलसी अध्यात्म नीडम्' तपोभूमि बन रहा है। नित नए लोग आते हैं और उसकी परिकल्पना से बहुत प्रभावित होते हैं। लगता है एक दिन (जो बहुत दूर नहीं) वह अध्यात्म चेतना के जागरण का मुख्य

केन्द्र होगा। इसलिए तुम युगप्रधान हो, तुमने युग चेतना को अध्यात्म चेतना में बदलने का वैसा स्वप्न संजोया है, जैसा बहुत कम लोग संजो पाते हैं। ऐसा बीज वपन करो, जिससे हम उस स्वप्न को साकार करने में सक्षम बनें।

जीवन विज्ञान की कल्पना ने अनेक प्रोफेसरों का ध्यान आकर्षित किया है और वे इस कार्य में अपनी सेवा देने का अनुरोध कर रहे हैं। 'विज्ञान और अतींद्रिय-ज्ञान' इस शीर्षक से एक बहुत सुन्दर पुस्तक आई है।

हमारा संघ अध्यात्म चेतना के जागरण में अगुआ बने और उसे तुम्हारा नेतृत्व और पथदर्शन मिलता रहे। हम सबकी यह मंगलभावना स्वीकार करें। श्रद्धाप्रणत वंदना और सुखपृच्छा।

मेरे सहयोगी मुनि किशनलालजी, धर्मेन्द्रजी को साथ लिए आचार्यवर के दर्शनार्थ आ रहे हैं। वे हमारे संवाद-संवाहक हैं फिर पत्र द्वारा संवाद संप्रेषित करना आवश्यक नहीं लगता। फिर भी एक बात—एक छोटी प्रार्थना किए बिना रह नहीं सका, इसलिए पत्र लिखना आवश्यक लग रहा है।

मैंने सुना है कि कालू से श्रीडूंगरगढ़ आते समय कच्चा रास्ता कुछ असुविधाजनक रहा। मोमासर से प्रस्थान करने पर फिर कच्चा रास्ता आता है। आचार्यवर ने जयाचार्य के इतिहास को बहुत दोहराया है फिर 'सुखपाल' के इतिहास की पुनरावृत्ति क्यों नहीं होनी चाहिए? यह 'सुखपाल' का प्रयोग कोई दीर्घकालीन प्रयोग नहीं है, केवल कच्चे रास्ते के लिए सिर्फ ९ कोस के लिए। आचार्यवर का स्वास्थ्य मानव जाति की अमूल्य धरोहर है। उसके लिए इतनी सी प्रार्थना अस्वीकृत नहीं होगी, यह मुझे विश्वास है।

इसमें न कोई अव्यावहारिकता है, न कोई समालोचना है और न कोई अतिरिक्तता। यह केवल समयोचित बात है, इसलिए इसमें कोई संकोच नहीं होना चाहिए। सुखपाल का प्रयोग बहुत छोटी बात है, स्वास्थ्य का ध्यान बहुत बड़ी बात है।

साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी से सुखपृच्छा।

तुम भी इस प्रार्थना में सहयोग करोगी, ऐसा मैं चाहता हूं।

मैंने यह अभ्यर्थना केवल भावनावश नहीं की है, एक यथार्थ के रूप में की है। फिर आचार्यवर जैसा देश, काल, भाव—उचित समझेंगे वैसा ही करेंगे।

८.१.१९७९

श्रद्धाप्रणत

जैन विश्व भारती, लाडनूं

मुनि नथमल

अज्ञात को समझने की दृष्टि उपलब्ध हो तो हम भविष्य को हस्तामलकवत् कर सकते हैं। इस पत्र से पूर्व मैंने आचार्यवर की सेवा में अनेक पत्र लिखे पर इस पत्र के लेखन के समय आत्मविश्वास अतिरेक को छू रहा था। अलंघनीय विश्वास था कि आचार्यवर मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर 'सुखपाल' का प्रयोग करेंगे। आचार्यवर ने वैसा ही किया और पत्र के शब्द अर्थवान बन गए। उनसे भी ज्यादा अर्थवान बन गया मेरा विश्वास।

लाडनूं से विहार कर हम सुजानगढ़ आए। वहां मुनि नथमलजी स्वामी (बागोर) अवस्थित थे। वे मुझसे वय और दीक्षा पर्याय दोनों में ज्येष्ठ थे। उनका आत्मीयतापूर्ण व्यवहार मुझे सदा आकृष्ट करता रहा। वे बहुत ही व्यवहारकुशल मुनि थे। उन्होंने स्वागत किया। दूसरे दिन हमने वहां से प्रस्थान किया। मुनि नथमलजी स्वामी स्थान से बाहर दरवाजे तक आए और जब हम आगे बढ़ने लगे तब उन्होंने उच्चस्वर में कहा–'आनन्दपूर्वक विहार करो, जय हो, विजय हो।' उनका आत्मोत्थित आशीर्वाद मुझे रहस्यपूर्ण लगा।

महाप्रज्ञ अलंकरण के बाद सर्वत्र अतिरिक्त स्वागत किया गया किन्तु मुनि नथमलजी स्वामी का व्यवहार विस्मय-बोधक बन कर रह गया।

बीदासर मार्गवर्ती नहीं था। झूमर बैंगानी आदि अनेक कार्यकर्ताओं का आग्रह था। उनके अनुरोध को स्वीकार कर हम बीदासर गए। वहां बालवाड़ी में अपूर्व स्वागत किया गया। मैंने सोचा–व्यवहार की दुनिया में 'विशेषण' का स्वागत है। निर्विशेषण का अपना मूल्य है और विशेषण का अपना मूल्य।

बीदासर से प्रस्थान कर हम राजलदेसर पहुंचे। आचार्यवर के दर्शन किए। उन्होंने कहा–'हम तुम्हारे लिए आये हैं। हमने तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार कर ली और सुखपाल से आए हैं।'

'हम तुम्हारे लिए आए हैं–यह वाक्य रहस्यपूर्ण था। उस समय मैं उसका अर्थ नहीं समझ सका।'

युवाचार्य पद पर नियुक्ति

माघ शुक्ला सप्तमी का दिन। ११५वां मर्यादा-महोत्सव। राजलदेसर। डागा परिवार की बाड़ी। २० हजार की क्षमता वाला विशाल पंडाल। आचार्यवर का मर्यादा-महोत्सव की आयोजना के लिए ससंघ पदार्पण। मंगलाचरण के साथ कार्यक्रम का शुभारम्भ। आचार्यवर द्वारा मर्यादाओं का विश्लेषण। अकस्मात् नया मोड़। आचार्यवर ने कहा–

'मैं ४३ वर्ष से धर्मसंघ का नेतृत्व कर रहा हूं। अपने दायित्व का मनसा, वाचा, कर्मणा निर्वाह करता रहा हूं और करता रहूंगा। अब मैं ६४ वर्ष का हो गया हूं। हमारे धर्मसंघ के अब तक जितने आचार्य हुए हैं उन्होंने, एक को छोड़कर सभी आचार्यों ने इस अवस्था से पहले-पहले अपना दायित्व अपने योग्य शिष्य को सौंप दिया। मैं भी आज एक घोषणा करना चाहता हूं।

इस वाक्य के साथ ही सारी सभा में उत्सुकतापूर्ण मौन का वातावरण बन गया।

मैं एक नाम की घोषणा करना चाहता हूं।

उत्सुकता और अधिक हो गई।

कुछ लोगों में बेचैनी है कि ६४ वर्ष की अवस्था है और अब तक उत्तराधिकार की कोई चर्चा नहीं है। कहीं माणकगणी की तरह स्थिति न बन जाए। कुछ लोग कहते हैं–आचार्यश्री परेशानी में हैं। करना चाहते हैं पर कर नहीं सकते। साधुओं में बड़ा भारी विरोध है। न जाने कब क्या हो जाए? ये सब बातें पागलपन की उपज हैं, निरर्थक हैं और असत् हैं। आज तक मेरे मन में इस कार्य के लिए एक क्षण भी बेचैनी नहीं हुई। इस बारे में मैंने कभी निर्णय लिया ही नहीं। एक दो बार मेरे मन में जरूर यह बात आई। तब मैंने सोचा–अकस्मात् कोई काम हो जाए तो क्या करना चाहिए? मैंने चिन्तन किया और फिर उसे छोड़ दिया।

मुझे लगता है आज भी मेरे लिए वि. सं. १९९३ का वर्ष है। मेरे उल्लास और प्रसन्नता में कोई कमी नहीं है, फिर भी आज मैं एक नाम घोषित करना चाहता हूं।

नाम पुराना है। भारतवर्ष में ही है, बाहर नहीं है। नाम उस साधु का है जो मेरी दृष्टि, आज्ञा, इंगित और चिन्तन के अनुसार चलता है। वह मेरे दायित्व को निभाने में सक्षम है।

मैं किन-किन का नाम लूं। मैं जिस किसी के सिर पर हाथ रखकर कहूं–तुम निभाओ, वही निभा सकता है। अब आप लोग आतुर हो रहे होंगे। यह मेरे समूचे जीवन का सबसे बड़ा निर्णय है। किसी साधु को कल्पना नहीं थी कि क्या होने वाला है? यह उत्तराधिकार पत्र मेरे हाथ में है। इस पत्र को आज ही मैंने दिन के ग्यारह बजे लिखा है। अब मैं अपने उत्तराधिकारी का नाम घोषित कर रहा हूं।'

आचार्यवर ने कहा–'मुनि नथमलजी खड़े हो जाओ।' मैं खड़ा हो गया।

आचार्यवर–'मैं आज तेरापंथ धर्मसंघ के ११५वें मर्यादा-महोत्सव समारोह में अपने उत्तराधिकारी के रूप में महाप्रज्ञ शिष्य मुनि नथमल को नियुक्त करता हूं।'

इस घोषणा के अनन्तर आचार्यवर ने नियुक्ति पत्र पढ़ा।

उत्तराधिकार पत्र

अर्हम्

नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स।

श्रीभिक्षुभारिमालऋषिराय-जयजस-मघवा-माणक-डालचन्द-कालूगुरुभ्यो नमो नमः।

मैं आज तेरापथ धर्मसंघ के ११५वें मर्यादा-महोत्सव समारोह में अपने उत्तराधिकारी के रूप में महाप्रज्ञ शिष्य मुनि नथमल को नियुक्त करता हूं।

मुनि नथमल प्रारम्भ से ही मेरे प्रति समर्पित रहा है और अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति करता रहा है। मेरा विश्वास है–मुनि नथमल अपने दायित्व का समग्रता से निर्वाह करते हुए हमारे धर्मसंघ को उत्तरोत्तर विकासोन्मुख बनाता रहेगा।

वि. सं. २०३५, माघ शुक्ला ७ — आचार्य तुलसी
दिनांक ३ फरवरी, १९७९ — साक्ष्य–साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा
शनैश्चर, दिनमान ११ बजे
नाहर-भवन, राजलदेसर (राजस्थान)

प्राकृत में आशीर्वाद

आचार्यश्री ने आशीर्वाद देते हुए प्राकृत भाषा के पद्यों में कहा–

नथमल-नामगं सीसं, महापण्णं समप्पियं।
आयरियो तुलसीऽहं, उत्तराहिगारमप्पेमि।।

मैं आचार्य तुलसी अपने महाप्रज्ञ और समर्पित शिष्य मुनि नथमल को अपना उत्तराधिकार सौंपता हूं।

णाणेणं दंसणेणं य, पेहाझाणेण संतयं।
विगासं कुणमाणो सो, चिरं अच्छउ सासणे।।

ज्ञान, दर्शन और प्रेक्षाध्यान के द्वारा सतत विकास करते हुए युवाचार्य महाप्रज्ञ धर्म-शासन में दीर्घजीविता प्राप्त करें।

संतो दंतो सुई दक्खो, ओयंसी सुपइट्ठिओ।
गहीय नव्वदाइत्तो, चिरं अच्छउ सासणे।।

शान्त, दान्त, शुचि, दक्ष, ओजस्वी और सुप्रतिष्ठित युवाचार्य महाप्रज्ञ अपने नए दायित्व को स्वीकार कर धर्म-शासन में दीर्घजीविता प्राप्त करें।

साहुणो साहुणीओ य, सावगा साविया तहा।
सम्मं आसासयंतो सो, चिरं अच्छउ सासणे।।

साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं को पूर्ण रूप से आश्वस्त करते हुए युवाचार्य महाप्रज्ञ धर्म-शासन में दीर्घजीविता प्राप्त करें।

संघे णवणवायामा, नवुम्मेसा णवक्कमा।
णिच्चं उग्घाडयंतो सो, चिरं अच्छउ सासणे।।

धर्मसंघ में सदा नए-नए आयामों, उन्मेषों और अभिक्रमों का उद्घाटन करते हुए युवाचार्य महाप्रज्ञ धर्म-शासन में दीर्घजीविता प्राप्त करें।

आचार्यवर ने नियुक्ति पत्र मुझे सौंप दिया। उसके बाद पछेवड़ी (चादर) की औपचारिक विधि सम्पन्न की गई। आचार्यवर ने स्वयं नई पछेवड़ी ओढ़ी और उसे उतार कर मुझे ओढ़ा दी।

आचार्यवर ने मेरे नाम का परिवर्तन किया। महाप्रज्ञ जो एक विशेषण था उसे नाम में बदल दिया।

औपचारिक विधि के पश्चात् मैंने आचार्यवर को वंदना की। मैं वंदना कर खड़ा हुआ तब आचार्यवर ने कहा–'तुम युवाचार्य बन गए हो, मेरे बराबर आसन पर बैठो। मैं मन ही मन सकुचा रहा था। दीक्षा के पहले दिन से लेकर आज तक जिनके चरणों में बैठता रहा, आज उनके बराबर कैसे बैठूं?'

आचार्यवर ने मेरे मानसिक संकोच को पढ़ा और कहा–आओ, दो क्षण के लिए तो बैठो। मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपने आसन पर बिठा लिया। उस समय मैं निर्विकल्प समाधि में चला गया था। जनता के मन में आश्चर्यमिश्रित हर्ष की तरंगें आकाश को छूने लगी।

उल्लास का अतिरेक

आचार्यवर ने जैसे ही मुझे युवाचार्य पद पर नियुक्त किया वैसे ही पूरे समवसरण में उल्लास का अतिरेक हो गया। अतिरेक की व्याख्या इन शब्दों में की जा सकती है–

मौसम स्वच्छ और शांत था। न हवा का वेग, न कोई तूफान, न कोई बवंडर। फिर भी विशाल पंडाल के खंभे लगभग ४-५ फुट ऊंचे उठ गए। स्वयंसेवक खंभों को पकड़ने का प्रयत्न कर रहे थे, पर वे उनकी पकड़ में नहीं आ रहे थे। जनता का मन आशंका से भर गया।

आचार्यवर ने कहा—'सब कुछ शांत है, सब कुछ ठीक है, चिन्ता की कोई बात नहीं।' आचार्यवर के शब्दों के साथ ही खंभे पुनः भूमि पर अवस्थित हो गए। न कोई ट्यूबलाइट नीचे गिरी, न माइक की व्यवस्था को कोई हानि पहुंची। ऐसा अनुभव हुआ मानो किसी ने पंडाल को ऊंचा उठाया हो और पुनः नीचे रख दिया हो। यह कैसे हुआ? सबके मन में आश्चर्यमिश्रित प्रश्न था। हर व्यक्ति ने इसका उत्तर खोजा और अनेक व्यक्तियों ने अदृश्य शक्तियों के आधार पर इसकी व्याख्या की। पंडाल के खंभों का ऊपर उठना और फिर अपने स्थान पर पूर्ववत् स्थिर हो जाना, न कोई चोट, न कोई टूट-फूट और न कोई क्षति-विक्षति। सब कुछ वैसा का वैसा जैसा पहले था। सारा वातावरण हर्षोत्फुल्ल लग रहा था। पंडाल के खंभों का ऊपर उठना भी हर्षातिरेक के प्रकम्पनों का परिणाम हो सकता है।

मोहनलालजी कठोतिया और श्रीचंदजी रामपुरिया दोनों आचार्यवर के पास आए और आनन्दाश्रु के साथ बोले—'आपने मुनि नथमलजी को युवाचार्य का पद देकर भिक्षुशासन की नींव सौ वर्ष के लिए गहरी कर दी।'

आचार्यवर ने अपने संक्षिप्त वक्तव्य में कहा—'मुझे बहुत प्रसन्नता है इस दायित्व को सौंपकर। तथापि मैं अपने को हलका अनुभव नहीं कर रहा हूं। दायित्व तो मैंने सौंप दिया, परन्तु मेरा भार तो मुझे वहन करना ही होगा। ये किसी दूसरे काम में संलग्न हैं। मैं बाधक बनना नहीं चाहता। मैं इनको आश्वासन देता हूं कि तुम निश्चिन्त रहकर अपनी साधना को चलाओ। बाकी सब काम मैं संभालता रहूंगा। अभी मैं स्वयं सक्षम हूं काम करने के लिए। साध्वीप्रमुखा ने कहा—आप यह काम कर तो रहे हो, क्या आपको इस कार्य से राहत मिलेगी?

मैंने कहा—मुझे राहत नहीं मिलेगी और न मैं यह चाहता हूं।

इतना सुन्दर वातावरण देखकर मैं स्वयं हर्षविभोर हो रहा हूं। धर्मसंघ के लिए एक अकल्पित काम हुआ है, जिससे धर्मसंघ की शोभा बढ़ेगी और इसका बहुमुखी विकास होगा। मैं अत्यन्त प्रसन्न मन से इनको आशीर्वाद देता हूं कि इनके नेतृत्व में धर्मसंघ फूले-फले।'

महान् परंपरा : प्रगति में भागीदार

आचार्यवर के वक्तव्य के बाद मैंने भी एक संक्षिप्त वक्तव्य दिया—

पूज्य गुरुदेव!

आपमें असीम शक्ति है। आपको राहत लेने की भी जरूरत नहीं और आपको कोई राहत दे सके, यह भी एक चिन्तनीय प्रश्न है। किन्तु आज आप स्वयं भारी हैं, गुरु हैं, स्वयं राहत लेना नहीं चाहते और दूसरे को भारी बना देना चाहते हैं। ये दोनों बातें बहुत ही अजीब-सी हैं।

मेरा सारा जीवन मेरे सामने चित्रपट की भांति अंकित है। मैं जिस दिन दीक्षित होकर आया, पूज्य आचार्य कालूगणीजी ने कहा—तुम मुनि तुलसी के पास जाओ। वहीं तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा होगी। मैं चला

गया। उनके पास रहा। कैसे रहा, यह आप लोगों को बताऊं तो शायद नहीं भी मानें। जानने वाले मानते हैं। जानने वाले भी बैठे हैं, जिन्होंने हमारे बचपन को देखा है। साक्षी हैं, जो जानते हैं।

मैं आपको नहीं कह सकता कि मैं आचार्य तुलसी के प्रति समर्पित हुआ। ऐसा लोग कहते हैं, किन्तु मैं इस बात को नहीं मानता। जहां अद्वैत हो, वहां समर्पण की बात ही कैसे हो सकती है? मैंने देखा, अनुभव किया, कोई ऐसा अज्ञात संस्कार था, जिसे मैं स्वयं नहीं समझता।

मैं मानता हूं कि मेरे जैसे निश्चिन्त व्यक्ति बहुत कम होंगे। मैंने अपनी कोई चिन्ता नहीं की। कभी नहीं की और करने की मुझे जरूरत नहीं। जब मेरे इतने बड़े चिन्ताकार का आशीर्वाद मेरे माथे पर है, तो मुझे चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं होगी। आज का साधु-साध्वी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता होगा कि पछेवड़ी ओढ़नी है, कब ओढ़नी है और कब सिलवानी है साध्वियों से। मुझे कोई पता नहीं होता। बस, यंत्रवत् होता है तो काम हो जाता है और नहीं होता है तो चलता रहता है। मुझे कभी चिन्ता नहीं होती। इतनी निश्चिन्तता का जीवन मैंने जीया।

जब कोई आचार्य बनता है, प्रसन्नता होती है। मैं यह सच कहता हूं कि आचार्य तुलसी जब आचार्य बने तो सबको बहुत प्रसन्नता हुई, पर मुझे बहुत प्रसन्नता नहीं हुई। इसलिए नहीं हुई कि मैंने सोचा—जहां मैं रहता था, मेरे सारे जीवन का संबंध था, अब नहीं रहेगा। आचार्य तुलसी पहले तो मेरे थे और अब सबके बन गए। मैं बहुत कट गया।

मैं अपना सौभाग्य मानता हूं कि पूज्य गुरुदेव ने मुझे एक नया दायित्व सौंपा है। और कसौटियां तो मेरी बहुत होती रही हैं। समय-समय पर अनेक परीक्षाएं हुई हैं, पर आज आचार्यवर ने सबसे बड़ी परीक्षा और कसौटी करनी चाही है। आज तक आचार्यवर ने मुझे जो भी काम सौंपा, मैं उसमें शत-प्रतिशत सफल हुआ हूं। मैं अपने आत्मविश्वास के साथ पूज्य गुरुदेव के चरणों में यह प्रार्थना करता हूं कि आपने जो कार्य सौंपा है, आपके आशीर्वाद से यह भी शत-प्रतिशत सफल होगा, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है।

परम पूज्य आचार्य भिक्षु और आचार्य भिक्षु की समूची परम्परा में आचार्य कालूगणी तक सभी आचार्यों की जो एक महान् परम्परा और जिस परम्परा को पूज्य गुरुदेव इतने लम्बे समय तक एक प्रगति के साथ जिस प्रकार अग्रसर कर रहे हैं, उसी कड़ी में मुझे जोड़कर और अधिक प्रगति का भागीदार बनाया है। मैं कृतज्ञता जैसे छोटे शब्द का प्रयोग करना नहीं चाहता। गुरुदेव ने अनन्त उपकार से मुझे उपकृत बना दिया है, उसके लिए कृतज्ञता की बात बहुत छोटी है।

गुरुदेव!

मैं अब तक अपने 'साझ' में था और मेरे पास कुछ संत थे। काम करता था। आज मैं किसी व्यक्ति विशेष का नहीं रहा। न मेरा 'साझ' रहा, न मेरे पास रहने वाले साधु रहे, न कोई दूसरे रहे। मैं तो अब सब का हो गया हूं। मैं आशा करता हूं कि साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका सब मुझे पूरा सहयोग देंगे। मैं चाहूंगा कि पूज्य गुरुदेव का यह आशीर्वाद, असीम करुणा मुझे निरन्तर उपलब्ध रहे। मैं अपने महान् आचार्यों की परम्परा को और उज्ज्वल बना सकूं, तेरापंथ धर्मसंघ के गौरव को और बढ़ा सकूं, यही आशीर्वाद आचार्यवर से चाहता हूं।

अभिवादन : साधु-समुदाय की ओर

मुनि बुद्धमल्लजी प्रारंभ से ही मेरे सहपाठी रहे। हमने लम्बे समय तक सहजीवन जीया। वे हमारे धर्मसंघ के प्रबुद्ध मुनि हैं। उन्होंने वर्धापन के क्षणों में साधु संघ का प्रतिनिधित्व किया। उनके वक्तव्य में आन्तरिकता की अभिव्यंजना है।

'आज हमारे लिए मर्यादा-महोत्सव अतिरिक्त महोत्सव बन गया। यह कल्पना नहीं थी कि इस प्रकार आज यह एक नया कार्य होने वाला है। पूज्य गुरुदेव अपने कार्यों को अत्यन्त गुप्त रखते हैं और अचानक लॉटरी खोल देते हैं। गुरुदेव ने आज अपने उत्तराधिकारी के रूप में महाप्रज्ञ मुनिश्री नथमल का चुनाव करके संघ की एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति कर दी है। इससे गुरुदेव ने जहां अपने दायित्व का निर्वाह किया है, वहां सारे समाज को आनन्द से आप्लावित कर दिया है। आज की यह घटना हम सबकी चिरकालीन प्यास को शांत करने वाली है। मुनिश्री नथमलजी पूज्य गुरुदेव के एक विद्वान् एवं दार्शनिक शिष्य हैं। उनकी कर्मठता से हर कोई परिचित है। ऐसे सुयोग्य युवाचार्य को पाकर हम सब अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

पूज्य गुरुदेव नए-नए कार्य करने के लिए तो प्रसिद्ध रहे ही हैं, पर उनकी कार्य पद्धति बहुधा चौंका देने वाली भी होती है। अपने रहस्य को इतना गुप्त रखते हैं कि किसी को भनक भी नहीं पड़ने देते। आज का यह कार्य भी उन्होंने उसी प्रकार से अचानक किया कि सभी को कल्पनातीत लगा।

इस चुनाव से सभी को प्रसन्नता हुई, पर मुझे अतिरिक्त प्रसन्नता हुई है। मुनिश्री बाल्यावस्था से ही मेरे सहपाठी एवं अभिन्न साथी रहे हैं। हमारे समय में अन्य भी अनेक बालसाधु थे। परन्तु हम दोनों में बहुत अच्छी बनती थी। हम लोग आचार्यवर (मुनि तुलसी) के पास साथ-साथ पढ़ते थे। एक-दूसरे को देखकर हम बहुत हंसा करते थे, इसलिए पाठ याद करते समय हमें कमरे के दो कोनों में भींत की ओर मुंह करके बिठाया जाता था, फिर भी बाल-चापल्य के कारण हम एक-दूसरे को देखा करते और हंसा करते। हमारी मित्रता बहुत अच्छी और गहरी थी। बड़े होने के पश्चात् भी यदा-कदा हम मजाक कर लिया करते थे। मुझे याद है कि एक बार किसी बात पर मैंने मुनिश्री से कहा था कि आप मुझे कहने के अधिकारी नहीं हैं। क्योंकि मैं आपसे अवस्था में नौ दिन बड़ा हूं। मुनिश्री ने तत्काल कहा–'तुम तो नौ दिन ही बड़े हो, पर मैं तुमसे दीक्षा में नौ महीने बड़ा हूं।'

आज मैं देखता हूं कि वे और भी अधिक बड़े हो गए हैं। वे सारे संघ के शीर्षस्थ व्यक्ति बन गए हैं। इतने दिन वे मेरे एक सहृदय साथी थे। अब आराध्य बन गए हैं। समय-समय पर हममें मतभेद भी रहा है, पर वह सब तो दो मित्रों की स्थिति थी। अब वे हमारे धर्मसंघ के शिरोमणि बन गए हैं। मैं उन्हें इस गौरवास्पद पद की प्राप्ति के अवसर पर मेरी ओर से एवं समग्र श्रमण समाज की ओर से बधाई देता हूं और आशा करता हूं कि वे सारे संघ की आशाओं और कल्पनाओं के अनुरूप अपने दायित्व को निभाएंगे।'

अभिवादन : साध्वी-समुदाय की ओर से

साध्वी संघ का प्रतिनिधित्व साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा ने किया। उनके भावों का गुंफन एक कविता में है। उसमें संक्षेप में विस्तृत वक्तव्य है–

आज मुदित है संघ चतुष्टय, कण-कण में छाया उल्लास।
मनोनयन शुभ युवाचार्य का, नए सृजन का यह इतिहास।।

गणमाली ने निज हाथों से, जिस पौधे को सींचा है।
उसने भी ऊपर से नीचे तक, पूरा रस खींचा है।।

ज्योतिपुंज आचार्यप्रवर से, ऊर्जा मिलती है पल-पल।
युवाचार्य की ऊर्जाधारा, हुई प्रवाहित अब कल-कल।।

कलाकार के कुशल करों ने, जिस प्रतिमा को उत्केरा।
आज उसी की अर्चा करने, उत्कंठित है मन मेरा।।

युवाचार्य आचार्यप्रवर का, युगल रहे युग-युग अविचल।
जयघोषों से रहे निनादित, धरा और पूरा नभतल।।

सविनय साध्वी-संघ समूचा, करता हार्दिक अभिवंदन।
हर संकेत तुम्हारा प्राणों-में भर दे अभिनव स्पन्दन।।

अभिनंदन आचार्यप्रवर का, युवाचार्य का अभिनन्दन।
धर्मसंघ का अभिनन्दन है, इस पल का भी अभिनन्दन।।

अभिवादन : श्रावक-समुदाय की ओर से

शुभकरण दसानी ने स्वल्प में बहुत कुछ कहा–'यह सुन्दर दृश्य देखकर मैं भाव-विभोर हो रहा हूं। क्या कहूं? मुझे गोस्वामीजी तुलसीदास की वह पंक्ति याद आ रही है–'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' जिह्वा के नयन नहीं हैं और नयनों के जीभ नहीं है। इस पुनीत अवसर पर सिर्फ एक बात कहना चाहता हूं। पद को पाकर व्यक्ति गौरवान्वित होता है, परन्तु कभी-कभी व्यक्ति को पाकर पद शोभित होता है। आज यह युवाचार्य का पद भी महाप्रज्ञ को पाकर धन्य हो रहा है।'

मर्यादा-महोत्सव का दूसरा दिन। वही प्रवचन पंडाल। आचार्यवर की पावन सन्निधि। धर्मसंघ की ओर से अभिवंदना का कार्यक्रम।

समर्पण अभिनन्दन पत्र का

श्रमण संघ की ओर से अभिनन्दन पत्र का पाठ मुनि बुद्धमल्लजी ने किया। उन्होंने प्रारंभिक भूमिका में कहा–'आज प्रातः मैं अपने कमरे में बैठा था। युवाचार्यश्री सीधे मेरे कमरे में आ गए और मुझे कहा– तुम मेरे साथी हो। सुदामा श्रीकृष्ण के पास चावल लेकर गए थे। अब मैं क्या दूं, जब द्वारकाधीश स्वयं घर आ गए हैं। मेरे पास चावल नहीं है, यह अभिनन्दन पत्र है, उसे आपको समर्पित करता हूं।' अभिनन्दन-पत्र की भाषा इस प्रकार है–

महामहिम युवाचार्य!

तेरापंथ धर्मसंघ के क्रान्तद्रष्टा युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी द्वारा अपने उत्तराधिकारी के रूप में आपश्री

का चयन समग्र धर्मसंघ के लिए गौरव का सूचक है। आप जैसे प्रज्ञाशाली युवाचार्य को पाकर हम सब गौरवान्वित हुए हैं।

महान् दार्शनिक!

आपके दार्शनिक स्वरूप ने अनेक कोणों का उद्घाटन कर विश्व के वैचारिक क्षेत्र में एक नई संभावना को जन्म दिया है। आपके अध्यात्म-अनुस्यूत दर्शन एवं साहित्य की कृतियों ने धर्मसंघ को विश्व मंच पर आरूढ़ होने का अवसर प्रदान किया है।

प्रेक्षाध्यान के पुरस्कर्ता!

अध्यात्म जगत् के ज्योतिपुंज भगवान महावीर की ध्यान-परम्परा के विलुप्त रहस्यों का अन्वेषण कर आपने अध्यात्म परम्परा को नवजीवन देते हुए प्रेक्षाध्यान की वैज्ञानिक पद्धति को प्रस्तुत किया। इससे जैन समाज ही नहीं, अपितु समग्र विश्व आशा से आप्लावित हुआ है।

आगम वारिधि!

युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के वाचना-प्रमुखत्व में आपने आगम-मंथन के महान् कार्य का जिस कौशल से वहन किया, वह आगम इतिहास की एक नई देन बन गया है। जैन धर्म के रहस्यों का अन्वेषण करने वाले विश्व के मनीषी निःसंशय इससे लाभान्वित होंगे।

आशाओं के दीप!

ज्योतिपुंज आचार्यश्री तुलसी ने आपको युवाचार्य बना कर तेरापंथ धर्मसंघ की गौरवशाली परम्परा की जो अग्रिम कड़ी जोड़ी है, उसने हमारी आशाओं और उल्लासों के दीप प्रज्वलित कर दिए हैं। आपश्री उनमें निरंतर स्नेह-दान करते रहेंगे, यही मंगल आशंसा है।

महाप्रज्ञ!

आपका जीवन शिशु-सा सुन्दर
जल-सा पवित्र
भावक्रिया से उद्भासित चैतन्य का चित्र
महकते हुए गुलाब के फूलों-सा।
यह समर्पित है संघ द्वारा
अभिनन्दन पत्र।

२०३५, माघ शुक्ला ८
राजलदेसर (राजस्थान)

आपका विनयावनत
तेरापंथ श्रमण संघ

प्रसन्न है समूचा संघ

मैंने संघीय अभिवंदना की स्वीकृति में कहा–'गुरुदेव! मैं अपने आपसे नहीं जाना जाता। मैं तो आपकी कृति हूं। मेरा अपना कुछ भी नहीं है। एक दिन में इतना सबका प्यार पाकर मैं गदगद हो रहा हूं।

श्रमण-संघ ने अभिनन्दन किया। मुनि बुद्धमल्लजी ने उसे भेंट किया और उन्होंने आज की घटना भी बताई। साथी साथी ही रहेंगे। पचास वर्षों से साथी रहे हैं। दस वर्ष की अवस्था से साथी हैं। हमारे धर्मसंघ में आज जो शक्ति है, वह सौभाग्य से ही मिलती है। मुझे गर्व है कि तेरापंथ धर्मसंघ में इतने युवक साधु और साध्वियां प्रबुद्ध हैं। एक आचार्य को इतने योग्य शिष्य और शिष्याएं भाग्य से ही मिलते हैं। आचार्य तुलसी धन्य हैं, जिन्हें ऐसे योग्य साधु-साध्वियां मिले हैं।

मैं आज पूज्य गुरुदेव का नेतृत्व पाकर गौरवान्वित हूं, महान् धर्मसंघ का उत्तराधिकार पाकर गौरवान्वित हूं। एक बार फिर पूज्य गुरुदेव को वन्दन करता हुआ आशीर्वाद चाहता हूं कि आप शक्ति प्रदान करें, ऊर्जा प्रदान करें ताकि जो दायित्व सौंपा है उसे निभाने में सफल हो सकूं।'

कार्यक्रम की सम्पन्नता के क्षण में आचार्यवर ने कहा—'मेरे जीवन का करणीय कार्य संपन्न हो चुका है। काम करने के बाद इतनी प्रसन्नता हुई कि कल रात को नींद भी निश्चिन्तता की आई। मैंने अपना कार्य किया और उससे समूचा संघ प्रसन्न है।

मैंने अनेक कार्य किए हैं और उनसे यश भी मिला है। किन्तु जितना यश इस कार्य से मिला है, उतना पहले कभी नहीं मिला और किसी कार्य से नहीं मिला। अनेक कार्यों में प्रशंसा मिली तो साथ-साथ आलोचना भी हुई। केवल यह कार्य ऐसा हुआ है, जिसमें केवल प्रशंसा मिली, आलोचना नहीं।'

अंतरंग परिषद् में प्रथम वक्तव्य

७ फरवरी, १९७९ को मैंने साधु-साध्वियों की अंतरंग परिषद् में पहला वक्तव्य दिया।

'मैं सबसे पहले अपने उस गुरु को नमस्कार करता हूं, जिसने मेरी प्रज्ञा को जागृत किया और चित्त को निर्मल किया जो मुझसे भिन्न नहीं है। गुरु कभी भिन्न नहीं होता। गुरु हो और भिन्न हो तो मानना चाहिए कि गुरु नहीं है। गुरु गुरु ही होगा। यह नहीं हो सकता कि गुरु भी हो और आलोच्य भी हो, दोनों बातें कभी एक साथ नहीं होती। मेरा बचपन का एक संकल्प था कि जिसको गुरु मान लिया, उसे गुरु ही मानना है, उसको और कुछ नहीं मानना है। गुरु भी मानते चले जाएं और सब कुछ भी करते चले जाएं, इससे दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना जीवन में और कुछ हो नहीं सकती। गुरु अभिन्न ही होगा, आत्मा से भिन्न नहीं होगा।

विश्वास और श्रद्धा की पुनरावृत्ति

मैं मानता हूं, मेरे जीवन की सफलता का एक सूत्र था—मैंने मुनि तुलसी को विद्यागुरु और आचार्य तुलसी को गुरु रूप में स्वीकार किया। मैं वैसा कोई भी काम नहीं करूंगा, जिससे मुनि तुलसी और आचार्य तुलसी अप्रसन्न हों। इस सूत्र ने मुझे बार-बार उबारा और मेरा पथ प्रशस्त किया।

मैं आज इस श्रमण-श्रमणी परिषद् में पूज्य गुरुदेव के प्रति अपनी सारी श्रद्धा समर्पित करना चाहूंगा और मानता हूं कि यह पुनरावृत्ति ही कर रहा हूं। संस्कारवश तो मैंने जिस दिन दीक्षा ली थी, उस दिन श्रद्धा ही नहीं, अपने आपको समर्पित कर चुका था। मेरे पास ऐसा कुछ बचा नहीं था जिसे मैं अपना कहूं। पर इस अवसर पर उस बात को पुनः दोहराना भी चाहता हूं और इसीलिए चाहता हूं कि पूज्य गुरुदेव ने अपने विश्वास को दोहराया है, मुझ पर अपना भरोसा दोहराया है। मैं मानता हूं कि विश्वास मुझ पर हमेशा बना रहा है और उसका सबसे बड़ा साक्षी मैं स्वयं हूं कि मुझ पर कितना विश्वास रहा। किन्तु उस विश्वास को गुरुदेव ने समूचे संघ के समक्ष जिस प्रकार दोहराया और मुझे उस विश्वास से जितना भारी बनाया, उस विश्वास की पुनरावृत्ति के साथ-साथ मैं अपनी श्रद्धा की पुनरावृत्ति करना चाहता हूं। मेरे लिए सबसे बड़ा संबल पूज्य गुरुदेव का इंगित, निर्देश और आदेश ही होगा। उसी के अनुसार मेरे जीवन का समूचा क्रम चलेगा।

प्रयोग कर्तृत्व शक्ति का

मैं नन्हा सा बालक था, छोटे से गांव में जन्म हुआ था। भोला भाला था। कुछ पढ़ना-लिखना नहीं जानता था। किसने कल्पना की थी कि उसके प्रति हमारा समाज, भारतीय समाज, प्रबुद्ध समाज किन-किन संज्ञाओं से अपनी भावना प्रकट करेगा। कोई कल्पना नहीं कर सकता था। मैं सारी बात दोहराऊं तो लग सकता है कि गर्वोक्ति कर रहा हूं। मैं नहीं चाहता कि गर्वोक्ति करूं। किन्तु एक-दो बातें इसलिए कहना चाहता हूं मेरी गर्वोक्ति नहीं, मैं उस कलाकार की कुशल साधना, कार्य-पद्धति का एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हूं कि यदि एक कुशल भाग्य-निर्माता मिलता है तो वह किस प्रकार के व्यक्ति को भी कैसा

बना सकता है। लोगों ने कहा—गुरुदेव! आपने और भी बहुत कुछ दिया, किन्तु हमें एक विवेकानन्द दिया। पता नहीं, कौन विवेकानन्द है? किन्तु यह गुरुदेव की कर्तृत्व शक्ति का ही एक प्रयोग है। मेरा अपना कुछ भी नहीं है। और भी न जाने कितनी बातें लोगों द्वारा भी कही गई, जो हमारे संघ से सर्वथा प्रतिकूल चलने वाले और विरोध रखने वाले थे, उन्होंने भी बहुत कुछ कहा। मैं चाहता हूं कि सारा जो कुछ हो रहा है, उसमें गुरुदेव का कर्तृत्व एवं सृजनशीलता ही बोल रही है। मेरा अपना कुछ भी नहीं है।

जिस महान् निर्माता ने मेरे जीवन का निर्माण किया, जिस कुशल शिल्पी ने मेरे भाग्य की प्रतिमा को गढ़ा, उसके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करूं, बहुत छोटा शब्द है। उस भार को यह कृतज्ञता शब्द उठा नहीं सकता। और कोई दूसरा शब्द खोजूं तो शायद शब्दकोश में मिलता नहीं है। सबसे अच्छा कोई शब्द हो सकता है तो यह हो सकता है कि गुरुदेव! मैं सदा अभिन्न रहा हूं और इस अर्थ में ही सौभाग्यशाली होऊंगा कि यह अभिन्नता सदैव बनी रहे, शाश्वत बनी रहे। कहीं भी भेद की रेखा सामने न आए।

मेरी धृति : मेरा संकल्प

एक बार भिवानी में गुरुदेव ने कहा था—इतने लम्बे जीवन में एक साथ रहना और कभी मानसिक भेद न होना, इसे मैं बहुत बड़ी बात मानता हूं। आचार्यवर की सेवा में रहते हुए चार दशक से भी अधिक समय बीत गया। मेरा सौभाग्य है कि मुझे ऐसा कभी नहीं लगा कि कहीं कोई मन में भेदरेखा आई हो। मैं कुछ बातें सुनता रहा हूं, जिन्हें आज दोहराना जरूरी समझता हूं। बहुत लोग कहते हैं मुनि नथमल को कहने का कोई अर्थ नहीं है। इससे भी कुछ कटु बातें मैं सुनता रहा हूं—कुछ लोग कहते, इनको कहने का अर्थ क्या है? गुरुदेव कहेंगे कि शिला दो हाथ बढ़ गई तो यह कहेंगे कि हां। गुरुदेव कहेंगे कि शिला दो हाथ घट गई तो कहेंगे, हां। मैं वैसे ही नहीं कह रहा हूं। मैं बराबर ऐसी बातें सुनता रहा हूं। पर मैंने कभी इन बातों की सफाई देने का प्रयत्न नहीं किया। मन में भी नहीं आया कि क्या कहा जा रहा है? क्योंकि मैं अपने आपमें स्पष्ट था। मैं मानता था कि मेरा गुरु कितना यथार्थवादी है कि कभी ऐसी बात मुझसे कहलाता ही नहीं। कल्पना करने वाले कल्पना करते रहें। यथार्थ कुछ और है, कल्पना कुछ और चलती रहे तो उस कल्पना के लिए हमें सफाई या साक्ष्य की कोई जरूरत नहीं होती।

हां, मैं एक बात निश्चित कहता रहा कि कोई मेरा चाहे कितना ही निकट का क्यों न हो, मैं सबसे पहले पूज्य गुरुदेव को प्रसन्न रखना चाहता हूं, फिर कोई बाद में दूसरा हो सकता है। मुझसे कोई यह आशा न करे कि मैं दूसरों की प्रसन्नता के लिए इस प्रसन्नता को तराजू पर रख दूं। यह अगर आशा है तो सर्वथा निराशा होगी। यह एक सचाई है और सभी लोग इसे जानते हैं। जो व्यक्ति एक सिद्धांत को लेकर चलता है, उसके सामने ऐसी कठिनाइयां आती हैं। किन्तु कभी मेरी धृति ने मुझे धोखा नहीं दिया। मेरे धैर्य ने मुझे धोखा नहीं दिया। मैं जिस संकल्प को लेकर चला था, चल रहा हूं और पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में इसी प्रकार चलता रहूंगा।

कभी कोई मांग नहीं

जिस महान् गुरु ने मेरे जीवन का निर्माण किया, मुझे अपना विश्वास दिया और विश्वास तथा श्रद्धा ली, उस विश्वास को अब चरम बिन्दु पर सब लोगों के सामने प्रस्तुत कर दिया, उसके प्रति कुछ भी

समर्पित करूं, बहुत तुच्छ बात होगी। उदयपुर चतुर्मास के बाद एक दिन आतमा (मेवाड़ का एक छोटा सा गांव) में पूज्य गुरुदेव ने मुझे अपना कुछ अंतरंग काम सौंपा। आपने कहा—२९ वर्षों के बाद आज मैं अपना कुछ अंतरंग काम पहली बार तुम्हें सौंप रहा हूं। इस बार गुरुदेव ने मुझे वह सब कुछ सौंप दिया, जो कुछ सौंपा जा सकता है।

मैं सोचता हूं कि मैंने कभी कुछ नहीं मांगा। अपने लिए मैंने कभी कोई मांग नहीं रखी। इस बात की सचाई स्वयं गुरुदेव जानते हैं, और भी जानने वाले जानते हैं कि कभी मेरी कोई मांग नहीं थी। आप ज्ञान, दर्शन, चारित्र की बात छोड़ दीजिए। मैं उसकी बात नहीं कर रहा हूं। वह तो जीवन की शाश्वत मांग है, किन्तु किसी वस्तु की कभी कोई मांग नहीं की। केवल एक ही मांग की थी कि मुझे आचार्य तुलसी का विश्वास मिलता रहे, उपलब्ध रहे। बस इतनी मांग थी। वह मेरी मांग पूरी हुई। आचार्यश्री तुलसी मुझे उपलब्ध थे, और उपलब्ध हो गए। जब आचार्य तुलसी मुझे स्वयं उपलब्ध हो गए तो उनका जो कुछ था, वह मुझे स्वयं उपलब्ध हो गया। यह मेरी कोई मांग नहीं थी।

इस अवसर पर मैं क्या कहूं? तीन-चार दिनों से पता नहीं मेरी स्थिति क्या बन गई है? शायद कुछ बोल नहीं पाता। बोलता हूं तो भाव-विभोर हो उठता हूं। गुरुदेव के चरणों में व्यवहारतः, वास्तव में तो उनकी आत्मा में, किन्तु व्यवहार की भाषा में कहूं तो उनके चरणों में फिर अपने सर्वस्व को समर्पित करता हूं और यह आशीर्वाद मांगता हूं कि गुरुदेव! आपका आशीर्वाद मुझे निरन्तर उपलब्ध होता रहे। आपने जिस प्रकार मेरे भाग्य का निर्माण किया, उसकी पूरी सफलता, सार-संभाल सब कुछ आपके कर-कमलों द्वारा निरन्तर होती रहे।

गुरु की गुरुता

पूज्य गुरुदेव ने मुझ पर असीम विश्वास किया है। मेरे जैसा छोटा सा बच्चा और इतने महान् आचार्य! मैं तो इनके सदा चरणों में रहने वाला था और इन्होंने हाथ पकड़कर अपने बराबर बिठा दिया। मैंने प्रार्थना की—आप और कुछ कहें, किन्तु बराबर बैठने के लिए न कहें, पर आखिर निर्देश निर्देश होता है, आदेश आदेश होता है। न चाहते हुए भी मुझे वैसा करना पड़ा। यह गुरुदेव का गौरव, उनकी गुरुता, महानता और विशालता है कि जिस अबोध बालक को इन्होंने अपने हाथों में लिया और एक दिन उसी बच्चे को अपने बराबर बना दिया और बिठा दिया। इस महानता के प्रति मैं कोई भावना व्यक्त करूं, मेरे पास कोई शब्द नहीं है। गुरुदेव ने जो विश्वास किया, जो अनुग्रह किया, जो आशीर्वाद दिया, उसे समूचे श्रमण-श्रमणी संघ ने जिस प्रकार झेला और मुझे आदर दिया, मेरे प्रति श्रद्धा, निष्ठा और भावना व्यक्त की, उसके लिए मैं बहुत कृतज्ञ हूं और सबके प्रति आभार प्रदर्शित करता हूं। प्रथम क्षण में ही आप लोगों ने मेरे प्रति जो सद्भावना प्रकट की है, वह भाग्य से ही मिल सकती है या गुरु के आशीर्वाद से ही मिल सकती है। मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूं कि मेरे गुरु का आशीर्वाद और आप सब लोगों की सद्भावना, दोनों मुझे एक साथ उपलब्ध हैं। मैं सचमुच गौरवशाली हूं, भाग्यशाली हूं।

मैं अपने भाग्य की क्या प्रशंसा करूं और आप सबके प्रति गौरव की क्या बात कहूं? मैं केवल अपने कर्तव्य को प्रकट कर देना चाहता हूं कि गुरुदेव ने जो सेवा का कार्य मुझे सौंपा है, संघ के प्रति मुझे जो सेवा

का उत्तरदायित्व सौंपा है, उस कार्य के निर्वाह के लिए मैं अपने आपको समर्पित करता हूं। गुरुदेव के निर्देशों के अनुसार संघ की प्रगति के लिए, संघ के विकास के लिए मैं अपनी सारी प्रज्ञा को समर्पित करता हूं।

बना दिया है नामातीत

अब पूज्य गुरुदेव ने मुझे नामातीत बना दिया है। मेरा नाम भी समाप्त कर दिया। महाप्रज्ञ कोई नाम नहीं होता, यह तो स्वयं में एक पद है या विशेषण है। गुरुदेव ने मुझे बिल्कुल अकिंचन बना दिया है। कम से कम व्यक्ति का नाम तो अपना होता है। उस पर अपना अधिकार तो होता है अन्य किसी पर हो या न हो। वह भी मेरा छीन लिया। जिस नाम को बीस-तीस वर्षों के कर्तृत्व से अर्जित किया, लोग जानने पहचानने लगे, वह भी समाप्त हो गया। जब नामातीत हो गया हूं तो संबंधातीत भी हो गया हूं। कोई संबंध नहीं रहा। किसी के साथ संबंध नहीं रहा और जब किसी के साथ संबंध नहीं होता है तो सहज ही सबके साथ हो जाता है। क्योंकि जब मुनि अवस्था में था, तब संबंध रखना भी जरूरी होता है और अपेक्षा भी होती है। किन्तु जब गुरुदेव ने मुझे यह कार्य सौंप दिया, तो किसी के साथ कोई संबंध नहीं रहा। अतीत की कोई रेखा भी मेरे मन में नहीं हो सकती कि किस व्यक्ति ने मेरे साथ कैसा व्यवहार किया। किसी ने मेरे साथ अप्रिय व्यवहार नहीं किया, यह मैं जानता हूं। मैं इस अर्थ में भाग्यशाली रहा हूं फिर भी कुछ हो सकता है। किन्तु अब सारे संबंध समाप्त हैं और यह कांच वैसा ही निर्मल हो गया, जिसमें कोई भी रेखा नहीं रही।

गौण हैं संबंध

संबंध कार्यों का भी होता है, पारिवारिक भी होता है और जन्मजात भी होता है। मेरी स्वर्गीया संसारपक्षीया माताजी साध्वी बालूजी आज नहीं हैं। वे भी दीक्षा में थी। बहिन (साध्वी मालूजी) भी दीक्षा में हैं। कई बहिनें हैं और उनकी पुत्रियां हैं। कम-से-कम एक परिवार के हम सात लोग दीक्षित हुए। मेरे संसारपक्षीय पिताजी चार भाई थे और चारों के परिजन दीक्षित हैं। संबंध का अपना व्यावहारिक पक्ष होता है। किन्तु जहां संघ है, वहां और सारे संबंध गौण हो जाते हैं। वहां संबंध कभी मुख्य नहीं होता। वहां संघ मुख्य होता है, और सब बातें गौण हो जाती हैं। संघ के कार्य में किसी भी संबंध को या किसी भी निजी या निकट के व्यक्ति को कभी मुख्यता नहीं दी जा सकती। जहां गौण बातें मुख्य बन जाती हैं तथा मुख्य बातें गौण बन जाती हैं वहां बड़ी कठिनाइयां और समस्याएं पैदा हो जाती हैं। मैं अपनी ओर से स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि कोई भी यह अनुभव न करे कि हम तो संबंधी हैं और हम संबंधी नहीं हैं। मेरे लिए संबंध की कोई भेदरेखा नहीं है। मेरे लिए सब उतने ही निजी और मेरे अपने हैं, जो गुरुदेव की, संघ की मर्यादा एवं अनुशासन में दक्ष हैं।

अवसर स्मृति का

अब मैं उन लोगों की स्मृति कर लेना चाहता हूं जिनका मेरे जीवन में योगदान रहा है। सर्वप्रथम पूज्य कालूगणी के चरणों में अपनी संपूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति समर्पित करता हूं, जिनका वरदहस्त मेरे सिर पर टिका और भाग्य का सूर्योदय हुआ। उनके प्रति कृतज्ञ होना यह कोई मेरा ही व्रत नहीं है, मेरे गुरु का भी यही व्रत है। गुरुदेव के सामने जब भी कोई स्थिति होती है, तब यही व्रत होता है।

महामना मंत्री मुनि की स्मृति भी करना चाहता हूं। उनके शिक्षापदों ने मुझे बहुत अवकाश दिया संभलने का।

स्वर्गीय भाईजी महाराज चम्पालालजी स्वामी को नहीं भूल सकता। उन्होंने बचपन से ही हमारे साथ सारणा-वारणा का प्रयोग किया और इन वर्षों में तो उनका इतना अटूट स्नेह मुझे मिला कि जिसकी शायद पहले कल्पना भी नहीं थी। वे बहुत बार कहते—यह पांचवां आरा है। अगर चौथा होता तो 'नत्थू' केवली हो जाता। न जाने कितनी बार इसको दोहराते।

स्वर्गीया माताजी बालूजी ने गुरुदेव के प्रति समर्पित रहने में पूरा योग दिया। वे हमेशा यही कहतीं कि आचार्यश्री की दृष्टि को हमेशा ध्यान में रखना। गुरुदेव की दृष्टि के प्रतिकूल कभी कोई कार्य मत करना। यह उनका एक सूत्र था।

अनुशासन का विकास

अब मैं अपनी अंतिम बात करना चाहता हूं। संघ की प्रगति और विकास के लिए हमें क्या करना है? हमारे संघ की प्रगति और विकास का सबसे बड़ा सूत्र है अनुशासन। गुरुदेव अनुशासन के प्रति जागरूक हैं इसलिए हम संभावना करते हैं कि गुरुदेव के द्वारा संघ का बहुत बड़ा विकास हो सकेगा, जैन धर्म का विकास हो सकेगा। सबसे पहली हमारी शक्ति है अनुशासन। इसे हम कभी गौण नहीं करें। तेरापंथ की आज जो कर्मजा शक्ति सारे विश्व के सामने प्रस्तुत हो रही है और बड़े-बड़े समाज आचार्य तुलसी का लोहा मान रहे हैं, उसका आधार क्या है? यही अनुशासन है। एक अनुशासन में इतने योग्य और क्षमताशील साधु-साध्वियों का होना, मैं बड़े सौभाग्य की बात मानता हूं। डेढ़ हजार वर्ष के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि एक आचार्य के नेतृत्व में ऐसे सशक्त साधु-साध्वियां हों। किसी आचार्य के पास पांच-दस हो सकते हैं किन्तु जहां पचासों-पचासों साधु-साध्वियां सक्षम हों, यह किसी विरले, भाग्यशाली आचार्य को ही उपलब्ध हो सकता है। यह हमारा गौरव है। इसका मूल आधार है अनुशासन। गुरुदेव ने समय-समय पर जो निर्देश दिए हैं और साधु-साध्वियों ने तत्परता से उसका पालन किया, परिणामतः आज हमारा धर्मसंघ बहुत शक्तिशाली बन गया।

बौद्धिकता का विकास

दूसरी बात, विकास के लिए बहुत जरूरी है शिक्षा। अनुशासन हो और बौद्धिक विकास न हो, शिक्षा न हो, तो काम बहुत आगे नहीं बढ़ सकता। हम एक साथ रह सकते हैं, अच्छे ढंग से रह सकते हैं, पर दूसरों को देना चाहते हैं, वह नहीं दे सकते। समाज के प्रति और एक विशाल समाज के प्रति हमारा कोई अवदान नहीं हो सकता। वह तब हो सकता है, जब हमारा बौद्धिक विकास हो। हमारे संघ ने गुरुदेव के नेतृत्व में शिक्षा के क्षेत्र में बहुत प्रगति की है, पर एक बात साथ-साथ यह भी कहना चाहता हूं कि जो प्रगति हो रही थी, उसमें थोड़ा-थोड़ा अवरोध भी आया है। प्रगति का युग वह था, जब मुनि तुलसी हमें पढ़ाते थे और हम पढ़ते थे। वह क्रम बराबर चलता तो आज संघ का रूप ही कुछ दूसरा होता। किन्तु क्या कहूं, वैसा नहीं हो सका। मुनि तुलसी मुनि नहीं रह सके और मुनि नथमल, मुनि बुद्धमल्ल विद्यार्थी नहीं रह सके। सब कुछ बदल गया। हम लोग शिक्षा के क्षेत्र में एक कार्यक्रम बनाएं

और जो कीर्तिमान हमारे धर्मसंघ ने स्थापित किया है, उस कीर्तिमान को स्थायी रखें तथा उसे आगे बढ़ाने का प्रयास करें।

अनुशासन भी हो, शिक्षा भी हो और बौद्धिकता भी हो, किन्तु अध्यात्म की साधना न हो तो बौद्धिकता लड़ाने वाली हो सकती है। आप इस बात को कभी न भूलें। तर्क आदमी को लड़ाता भी है, यह हमें ध्यान में रखना चाहिए। अध्यात्म की साधना हमारे लिए बहुत जरूरी है। शिक्षा, अनुशासन और अध्यात्म–इन तीनों दिशाओं में हमें प्रगति करनी है।

स्वास्थ्य का प्रश्न

हम कठिनाइयों की ओर भी थोड़ा ध्यान दें। सबसे बड़ी कठिनाई है स्वास्थ्य की। यह बहुत चिन्तन का प्रश्न आज हमारे सामने है। साधुओं में और विशेष कर साध्वियों में यह स्वास्थ्य का प्रश्न कुछ जटिल बनता जा रहा है। इससे बहुत बड़ी बाधाएं आती हैं। पहली बाधा तो स्वयं के जीवन में आती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की जो आराधना होनी चाहिए, वह स्वास्थ्य के अभाव में नहीं हो पाती। दूसरी बाधा आती है संघीय प्रगति में। गुरुदेव जहां भेजना चाहते हैं, वहां नहीं पहुंच पाते। जो कार्य करवाना चाहते हैं, वह नहीं हो पाता। यह बहुत बड़ा प्रश्न है। इस पर सबको विचार करना है। मैं प्रार्थना करता हूं गुरुदेव से कि इस पर भी ध्यान दें और कुछ ऐसे रास्ते खोजें, जिससे साधु-साध्वी समुदाय का स्वास्थ्य ठीक हो सके। मानसिक स्वास्थ्य काफी अच्छा है। गुरुदेव ने प्रायः सभी साधुओं को अपने पास बुलाया और उनके स्वास्थ्य आदि के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त की। मैंने देखा कि साधु बहुत उल्लसित थे। इस बार साधुओं के मानसिक स्वास्थ्य को समुन्नत करने के लिए गुरुदेव ने बहुत सुन्दर प्रयोग किया।

मैं एक बार पुनः गुरुदेव के चरणों में एक प्रार्थना प्रस्तुत करता हूं–पूज्य गुरुदेव! यह आत्मा का अद्वैत सदा बना रहे और आपका मार्गदर्शन मुझे मिलता रहे। मैं अपने जीवन के इस दृढ़संकल्प को फिर दोहराता हूं कि आपका जो भी इंगित होगा, वह मेरे लिए बड़े से बड़ा व्रत होगा और उस व्रत में सदा मैं अपने जीवन को समर्पित करता रहूंगा।'

युवाचार्य मनोनयन : क्रिया और प्रतिक्रिया

प्रतिक्रिया के कुछ सूत्र

उस क्रिया का मूल्य नहीं होता जिसकी प्रतिक्रिया नहीं होती। सार्वभौम नियम है कि हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है पर साधारण प्रतिक्रिया क्रिया की ओट में छिप जाती है। कोई विशिष्ट प्रतिक्रिया ही क्रिया के सम्मुख प्रतिरोध भित्ति बनकर खड़ी रहती है।

आचार्यवर ने मुझे युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। उस क्रिया की अनुकूल प्रतिक्रिया असंख्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा की गई। कुछ व्यक्तियों ने प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी की। उनकी प्रतिक्रिया का मूल तत्त्व था मनोवांछित प्रतिमा का खण्डन। अमुक व्यक्ति के मन में युवाचार्य पद की प्रतिमा बनी हुई थी और कुछ व्यक्ति उसकी प्राण-प्रतिष्ठा में लगे हुए थे। उन सबको आचार्यवर के इस निर्णय से काफी निराशा हुई।

तेरापंथ धर्मसंघ की मर्यादा है कि कोई भी व्यक्ति आचार्य पद का उम्मीदवार न बने। लेख पत्र में प्रतिदिन बोला जाता है—'मैं पद के लिए उम्मीदवार नहीं बनूंगा।'

मानवीय दुर्बलता है कि मनुष्य में पदलिप्सा जाग जाती है। आचार्य भिक्षु ने भारमलजी का युवाचार्य पद पर मनोनयन किया। चंद्रभाणजी और तिलोकचंदजी पर उसकी प्रतिक्रिया हुई और वे धर्मसंघ से पृथक् हो गए। जयाचार्य ने मघवा का युवाचार्य के पद पर मनोनयन किया। छोगजी और चतुर्भुजजी पर उसकी प्रतिक्रिया हुई और वे धर्मसंघ से पृथक् हो गए। आचार्य तुलसी ने मुझे युवाचार्य पद पर मनोनीत किया। यह मनोनयन भी प्रतिक्रिया से मुक्त नहीं रहा। फलस्वरूप कुछ संत धर्मसंघ से पृथक् हो गए।

प्रतिक्रिया के कुछ सूत्र जनता के सामने प्रस्तुत किए गए। आचार्य तुलसी के निर्णय पर कुछ प्रश्नचिह्न लगाए गए—

१. मुनि नथमलजी प्रशासन करने में सक्षम नहीं हैं फिर उन्हें युवाचार्य पद कैसे दिया गया?

२. मुनि नथमलजी अवस्था में प्रौढ़ हैं फिर उन्हें युवाचार्य क्यों बनाया गया?

प्रतिक्रिया के लिए इन दो के सिवाय तीसरा कोई तथ्य प्रतिक्रियाकारी के सामने नहीं था।

प्रतिक्रिया के सर्वाधिक शिकार बने शुभकरण दसानी। आचार्यश्री ने जो काम किया है उसमें उनका प्रमुख हाथ था, नहीं तो ऐसा नहीं होता। दसानीजी के बारे में जितना अपवादात्मक प्रचार किया, उसका मान एक विशालकाय ग्रंथ से कम नहीं है।

दसानीजी का चिन्तन गंभीर था। उनकी विचार-शक्ति प्रखर थी। उनमें कल्पना शक्ति थी, सूझ-बूझ थी, उच्च दृष्टिकोण था। वे समस्या के तल तक पहुंच कर उसे सुलझाने का प्रयत्न करते थे। आचार्य तुलसी के प्रति उनका अणु-अणु समर्पित था। उनके हर चिन्तन में आचार्य तुलसी और धर्मसंघ के दर्शन होते थे। उनके सामने व्यक्ति का प्रश्न गौण था। प्रमुख प्रश्न था धर्मसंघ की सुरक्षा और धर्मसंघ का

विकास। उन्हें बहुत निकटता से देखने और समझने का प्रयत्न किया। निष्कर्ष यही निकला कि वे किसी के नहीं हैं। मेरे पास बहुत कम बैठते थे। जिन मुनियों के पास बैठते थे उनसे भी औपचारिक संबंध था। हृदय का तार केवल आचार्य तुलसी से जुड़ा हुआ था।

आचार्यवर उन पर बहुत विश्वास करते थे। उनके चिन्तन को बहुत महत्त्व देते थे। युवाचार्य की नियुक्ति के संबंध में आचार्यवर ने उनसे बात की या न की, यह मैं प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में नहीं कह सकता किन्तु अनुमान प्रमाण के आधार पर कह सकता हूं कि आचार्यवर ने जो कार्य किया, वह उनके परामर्श से अस्पृष्ट नहीं होना चाहिए। व्यक्ति के चयन का प्रश्न आचार्य पर निर्भर है। किन्तु समय के चयन में परामर्श का अवकाश है। दसानीजी में दूरदर्शिता और राजनीतिक चातुर्य भी था। वे हर समस्या पर काफी गंभीरता से विचार करते थे। उन्हें लगा कि आचार्यवर को अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन कर लेना चाहिए अन्यथा भविष्य में कुछ उलझनें बढ़ सकती हैं। आचार्यवर ने इस परामर्श से जुड़ी हुई सचाई का अनुभव किया और भटिण्डा में संभाव्य मर्यादा-महोत्सव की राजलदेसर में घोषणा की।

चयन का निर्णय कब

आचार्य तुलसी ने अपने उत्तराधिकारी के चयन का निर्णय कब किया? यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका उत्तर केवल आचार्यवर ही दे सकते थे। मेरा अनुमान था–इसका निर्णय आचार्यवर ने सं. २०३५, गंगाशहर चतुर्मास में किया। इस अनुमान की पुष्टि डायरी के एक आलेख से हो गई–

स्वस्थ चिन्तन

'मेरे मन में आता है कि संघ के भविष्य का प्रबंध मुझे अब कर देना चाहिए। क्योंकि शरीर बार-बार अस्वस्थ हो जाता है। वर्ष भी ६४ पूरे हो रहे हैं। मघवा, माणक, डाल, कालू कोई भी इस उम्र तक नहीं रहे। यह भी एक चिन्तनीय पहलू है। यद्यपि व्यवस्थित प्रबंध तो समय आने पर ही होगा। परन्तु आकस्मिक स्थिति का मुकाबला करने के लिए तो कोई उपक्रम हो ही जाना चाहिए। निर्णय कर लिया है।'[1]

पृष्ठभूमि और प्रतिक्रिया को आचार्यवर के शब्दों में पढ़ना अधिक महत्त्वपूर्ण होगा–

युवाचार्य-नियुक्ति : पृष्ठभूमि

'प्रेक्षाध्यान पद्धति बल पकड़ रही है। समाज के भूले-भटके युवक पथ पर आ रहे हैं। मुनि नथमलजी इस विषय में बहुत अच्छा काम कर रहे हैं, वह अभिनन्दनीय है, अनुकरणीय है। वे मेरे प्रति पूर्ण समर्पित हैं, दृष्टि-सम्पन्न हैं, एक चित्त हैं। यह बड़ी उपलब्धि है, प्रसन्नता का विषय है।'[2]

'कल से प्रेक्षाध्यान शिविर, १० दिन का लग रहा है। मालू गेस्ट हाउस बिल्कुल पास में है। हम भी प्रतिदिन उपस्थित हो सकेंगे।

१. डायरी नं. ११, पृ. २१, आश्विन शुक्ला ११, सं. २०३५, १२.१०.७८, गंगाशहर
२. डायरी नं. ११, पृ. १८, आश्विन शुक्ला ८, सं. २०३५, ९.१०.१९७८, गंगाशहर

प्रेक्षाध्यान साधना पद्धति हमारे हाथ में आ गई। इसने प्रबुद्ध और युवकों को खूब प्रभावित किया है। यह मनुष्य को स्वस्थ जीवन प्रदान करती है, शांति प्रदान करती है। यह उदीयमान पद्धति है। हमारे शासन को विशिष्ट ख्याति प्रदान करने वाली पद्धति है।

इसको आविष्कृत करने का श्रेय मुनि नथमलजी को है। १४ वर्ष के सतत प्रयत्न से एक नया क्रम उपस्थित किया। ये बड़े विनम्र एवं समर्पित हैं। इनसे कभी कोई खतरा नहीं दिखाई देता। ये हमारे धर्मसंघ के लिए वरदान सिद्ध हो रहे हैं।'[1]

'मुनि नथमलजी को आज दीक्षा समारोह के मध्य विशिष्ट माहौल में महाप्रज्ञ विशेषण से अलंकृत किया गया। यह कार्य इतना आकस्मिक और सहसा हुआ कि लोग समझ ही नहीं सके। पर सबकी प्रतिक्रिया बहुत अच्छी रही। सबको अतिरिक्त प्रसन्नता हुई और शब्द-संगठना सबको बहुत पसंद आई।'

ऐसा लगा कि एक अत्यन्त आवश्यक अपेक्षा की पूर्ति हो गई। 'महाप्रज्ञ' कोई आगमिक पद नहीं, महाप्रज्ञ कोई अलंकरण नहीं, यह तो गुणात्मक पक्ष है। जिसका उचित समय पर उचित प्रयोग हुआ। मुझे भी आनंद हुआ।

मुनि नथमल एक ऐसा व्यक्ति है जो साधक है, विद्वान् है, वक्ता है, लेखक है, चिंतक है, अन्वेषक है, प्रयोक्ता है। यश, पद और नाम की भूख से काफी ऊपर है। विनम्र है, विश्वस्त है, भक्त है, समर्पित है। एक व्यक्ति में इतने गुणों का एक साथ समावेश बहुत बड़ी बात है। संघ विकास की मेरी कल्पना के ये कलाकार हैं। अतः इनको महाप्रज्ञ विशेषण से अलंकृत करके मैंने बहुत बड़ा काम किया हो ऐसा नहीं बल्कि अपने दायित्व का निर्वहन मात्र किया है, ऐसा मैं मानता हूं।

साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने एक कीर्तिमान स्थापित किया है तो साधना के क्षेत्र में प्रेक्षाध्यान का आविष्कार एक मौलिक देन है इनकी। बौद्धिक क्षेत्र में एक हलचल पैदा करने वाली बात है यह। लगता है अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसकी बहुत अच्छी प्रतिक्रिया होगी। हमारे शासन की प्रभावना में इनका अपूर्व योग रहा है। अतएव मेरे मुंह से कल यह शब्द निकल गया कि तुम्हें महाप्रज्ञ बनाकर मैं कृतज्ञता का भाव अनुभव कर रहा हूं। अस्तु!'[2]

युवाचार्य मनोनयन

महोत्सव दिन[3]

'२०-२५ हजार की उपस्थिति, डागा की विशाल बाड़ी, मध्याह्न में महोत्सव प्रारंभ हुआ। दो से ढाई बजे मैंने अकस्मात् एक महत्त्वपूर्ण निर्णय की घोषणा की कि मैं अब ६४ वर्ष का हो गया हूं। फिर भी स्वस्थ हूं। १८ घण्टे तक दिन में काम करता हूं। अब तक के मेरे पूर्वाचार्य इस उम्र से पहले ही निश्चिन्त हो गए थे। मैं आज अपने उत्तराधिकारी की घोषणा करता हूं। वह कौन होगा? सारी जनता सतृष्ण आंखों

१. डायरी नं. ११, पृ. २९, कार्तिक कृष्णा ६, सं. २०३५, २२.१०.१९७८, गंगाशहर
२. डायरी नं. ११, पृ. ६१ से ६३, कार्तिक सुद १४, सं. २०३५, १३.११.१९७८, गंगाशहर
३. डायरी नं. ११, पृ. ६१ से ६३, माघ शुक्ला ७, सं. २०३५, राजलदेसर

से देखने लगी। विस्मय में बहने लगी। एक शब्द कहकर मैंने गहरे विस्मय में डाल दिया जनता को। वह व्यक्ति इसी हिन्दुस्तान के किसी कोने में है। अब क्या था। लोगों के दिमाग आसमान में लग गए। फिर मैंने कहा—क्यों परेशान हो रहे हो? अपने मस्तिष्क को क्यों भटकाते हो, सुनिए।

मेरे पास बैठे मुनि नथमलजी खड़े हो जाओ। ये मेरे उत्तराधिकारी युवाचार्य होंगे। सारी जनता हर्ष से खिलखिला उठी। मैंने नियुक्ति पत्र पढ़कर सुनाया। फिर साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा से एक पछेवड़ी (चद्दर) मांगी। मैंने स्वयं तत्काल उसे ओढ़ा फिर उतारी। मुनि नथमलजी को अपने हाथों से ओढ़ा दी। हर्ष-ध्वनि जय जयकार से आकाश गूंज उठा।

नथमलजी का युवाचार्य बनने के साथ ही नाम परिवर्तन कर दिया। अब से इनका नाम नथमल नहीं महाप्रज्ञ ही रहेगा। फिर हर्ष-ध्वनि। महाप्रज्ञ ने भाषण दिया, महाश्रमणी ने भाषण दिया, कृतज्ञता ज्ञापित की। अभिनन्दन में मुनि बुद्धमल्लजी बहुत अच्छा बोले। थोड़ा कार्यक्रम और रहा।

उस समय का वातावरण इतना सरस और सौरभमय बन गया, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।'

आश्चर्य

जनता को आश्चर्य इस बात का हुआ कि किसी को आभास तक नहीं हुआ। और तो क्या, स्वयं महाप्रज्ञ को एक क्षण पहले तक यह कल्पना नहीं थी कि आज कुछ होगा और होगा तो उनका ही नाम आएगा। बिल्कुल अज्ञात सब कुछ एकदम हो गया। इसकी ज्यादा प्रसन्नता थी।

दो को ज्ञात

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा को दो दिन पहले ज्ञात हो गया और दसानी को ज्ञात था। दो के सिवाय तीसरा कोई व्यक्ति नहीं जो इस बात का आभास पा सके।

मैंने कहा—आज जो कार्य हुआ, इसके लिए जनता बड़ी बेचैन थी, चिंतित थी, साधु-साध्वियां भी। सब सोचते थे कैसे, क्या होगा, पर मैं कहता हूं मैं एक क्षण के लिए भी परेशान नहीं था, चिंतित नहीं था। हां, सोचता था कभी करना है। इसके बारे में निर्णय इसी वर्ष किया और सामने ला दिया।

पंजाब की यात्रा शीतकाल में जो नहीं हुई इसमें स्वास्थ्य के साथ यह एक मुख्य कारण था, जिसके लिए राजलदेसर को चुना। अब मैं निश्चिन्त हो गया हूं।

मेरे जीवन का सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण निर्णय और वह ऐसा निर्णय हुआ है जो सर्वमान्य होगा।

पंडाल ऊपर उठ गया

तत्काल उसी समय उत्तराधिकार की घोषणा के बाद एक चमत्कार हुआ। बीच में से पंडाल ऊपर उठ चला। बिना हवा तूफान के चलता-चलता ही गया। लोग देखते ही रह गए। फिर वापस आकर वैसे ही बैठ गया जैसा पहले था। किसी के चोट-फोट नहीं आई। कोई दैवी चमत्कार था। इसमें संदेह नहीं।

महोत्सव सम्पन्न कर हम लोग स्थान पर आए। गए तब मैं अकेला था। आए तब दो आए—आचार्य और युवाचार्य।

सर्वत्र फोन, टेलीग्राम से सूचना दी गई। रेडियो में खबर दी गई और वह तत्काल प्रसारित हो गई। कोलकाता, बॉम्बे, देशभर में फैली। सर्वत्र अपार हर्ष हुआ। बधाइयों का तांता जुड़ गया।

कमलेश ने विशेष विज्ञप्तियां निकाली और बड़े शानदार ढंग से प्रसारित किया। मैंने प्रवचन में शुभकरण दसानी का नामोल्लेख किया, प्रसन्नता से किया। वातावरण बड़ा शांत रहा। राजलदेसर के लोग फूले नहीं समाए।

प्रतिकूल प्रतिक्रिया का इतिहास गुरुदेव की डायरी में अंकित है। इस विषय में आचार्यवर की डायरी की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं[1]—

'राजलदेसर मर्यादा-महोत्सव पर आकस्मिक घोषणा कर दी और विधिवत् युवाचार्य का पद प्रदान कर दिया। समूचे संघ में जबर्दस्त स्वागत हुआ। निश्चिन्तता बनी....

संघ का जहां तक प्रश्न है वहां मैं संघहित को सर्वोपरि मानता हूं। व्यक्तिगत प्रश्न को सर्वथा गौण समझता हूं, क्योंकि मेरा दायित्व है कि मैं संघ को कभी भी संदिग्ध अवस्था में नहीं रख सकता। इसके लिए चाहे मुझे कितनी ही बड़ी कीमत चुकानी पड़े। मैं इसमें दृढ़ हूं, दृढ़ रहूंगा।'

विवेकपूर्ण निर्णय

आचार्य तुलसी का व्यक्तित्व विशाल और व्यापक था। हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े नेता, विचारक, साहित्यकार, लेखक और धार्मिक उनसे परिचित थे और वे लोग मुझे भी जानते हैं। इसलिए युवाचार्य पद की प्रतिक्रिया व्यापक स्तर पर हुई। जिसका व्यक्तित्व संघ तक सीमित होता है उसकी प्रतिक्रिया भी सीमित होती है और जिसका संबंध विराट् से होता है उसकी प्रतिक्रिया भी व्यापक होती है। इस सचाई का मैंने अनुभव किया।

युवाचार्य की नियुक्ति का प्रत्यक्ष संबंध तेरापंथ धर्मसंघ से है। फिर भी हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े विचारकों का उससे प्रत्यक्षतः संबंध हो गया। कुछ विचारकों ने मौखिक रूप से प्रतिक्रिया व्यक्त की और कुछेक ने लिखित रूप से। सुप्रसिद्ध पत्रकार अक्षय कुमार जैन ने कहा—'आचार्य तुलसी ने अनेक विवेकपूर्ण कार्य किए हैं उनमें मुनि नथमलजी को उत्तराधिकारी बनाकर सर्वाधिक विवेकपूर्ण कार्य किया है।'

प्रतिक्रियाओं की सम्प्राप्ति के पश्चात् आचार्यवर ने कहा—मुझे युवाचार्य की नियुक्ति के कारण जितना यश मिला है, वह अतीत में प्राप्त यश से बहुत अधिक है।

योग्य मुनि का चयन

उपाध्याय अमरमुनि को मैं जैन शासन की परम्परा में एक क्रान्तद्रष्टा मुनि मानता हूं। वे प्रारंभ से ही मेरे लेख, चिन्तन और काव्य के समर्थक रहे। इस अवसर पर उनकी सहृदयतापूर्ण प्रतिक्रिया प्राप्त हुई। उन्होंने लिखा—'क्रान्तदर्शी महामनीषी मुनिश्री नथमलजी को जब महाप्रज्ञ पद से अलंकृत किया गया था, तब हर सहृदय के हृदय सरोवर में प्रसन्नता की तरंग नाचने लगी थी और अब जबकि उन्हें भावी आचार्य

१. डायरी नं. ११, पृ. ६६,, चैत्र शुक्ला १५, सं. २०३६, १२.४.१६७६

के रूप में युवाचार्य पद से अभिषिक्त किया गया है तो अन्तर्मन आनन्द की हजारों-हजारों उच्छल लहरों से अभितः व्याप्त हो गया।

मुनिश्री प्रज्ञा की ज्योतिर्मयी सजीव मूर्ति हैं। उनका सरल, स्वच्छ, सहज सद्व्यवहार हर किसी सहृदय के हृदय को सहसा आप्यायित कर देता है। उनका व्यापक अध्ययन एवं सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन कठिन-से-कठिन, दुर्धर, गंभीर विषय का भी अन्तस्तल तक स्पर्श करता है। प्राचीन आगमों के सम्पादन में उन्हें सत्य का अनुसरण करते पाया गया है, जो सम्प्रदाय विशेष से प्रतिबद्ध व्यक्ति के लिए प्रायः असंभव ही होता है।

आत्मप्रिय मुनिश्री से मेरा परिचय लगभग २१ वर्ष पुराना है। आगरा के प्रथम मिलन में मुझे उन्होंने स्नेहाकृष्ट किया था। तभी मैंने उनके चिन्तन में क्रांति के स्फुलिंग विकीर्ण होते देखे थे, जो अब बहुत कुछ ज्वाला ही नहीं, निर्धूम ज्वाला बन गए हैं। सत्य को बेलाग स्वीकार करने में अनेक बार वे सर्वथा बेदाग सिद्ध हुए हैं।

प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं पर मुनिश्री की अव्याहत साधिकार गति है। तद्-तद् भाषाओं में उनकी अनेक रचनाएं जहां लोकप्रिय हुई हैं, वहां विद्वत्प्रिय भी हैं। वे संस्कृत के आशु कवि भी हैं। आगरा की एक सभा में सभा के तत्कालीन भव्य दृश्य को उन्होंने संस्कृत छन्दों में जब आशुरचना का रूप दिया तो हम सब प्रतिभा के इस अद्भुत चमत्कार से मंत्रमुग्ध हो गए थे। यथाप्रसंग मुनिश्री ने अपनी साहित्यिक कृतियों पर मेरे अभिमत लिए हैं और मैंने प्रशंसामुखर शब्दावली में योग्य अभिमत दिए हैं। यह कोई लोक व्यवहार के नाते औपचारिक रूप में सतही तौर पर नहीं होता रहा है। मुनिश्री की बहुत कुछ बातें मुझे अच्छी लगी हैं और मैंने खुले निर्व्याज मन से उनका अभिनन्दन किया है। यद्यपि मेरे कुछ कट्टर साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के साथियों को यह पसंद नहीं था, परन्तु सत्य को दूसरों की पसंदगी या नापसंदगी से कुछ लेना-देना नहीं है। सत्य का मूलाधार तो एकमात्र अपनी स्वानुभूति से प्रस्फुटित सहज अभिरोचना है। यही हेतु है कि साम्प्रदायिक द्वन्द्वों के कटु वातावरण में भी मेरी और मुनिश्री की आत्मीयता की निष्कलुष स्नेहधारा अबाध गति से विकास पथ पर अग्रसर होती जा रही है।

आचार्यप्रवर श्री तुलसीजी ने युवाचार्य के रूप में योग्य पद पर योग्य मुनि का चयन किया है, एतदर्थ शत-शत साधुवाद। यह चयन केवल तेरापंथ सम्प्रदाय के हित में ही नहीं, समग्र जैन समाज के हित में फलप्रद होगा, ऐसा मुझे उनके निरंतर उज्ज्वल होते-जाते भविष्य पर प्रतिभासित होता है। मेरी हार्दिक शुभकामनाएं मुनिश्रीजी के साथ हैं।'

बधाई पत्र संस्कृत भाषा में

मुनि नथमलजी (बागौर) हमारे धर्मसंघ के प्रबुद्ध और तत्त्वज्ञ मुनि थे। वे पुराने विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे, मैं नए विचारों का। फिर भी हम दोनों में बहुत माधुर्यपूर्ण संबंध था। उन्होंने इस अवसर पर संस्कृत भाषा में बधाई पत्र लिखा। उसके नौ श्लोक हैं। उनमें से कुछ श्लोक यहां उद्धृत किए जा रहे हैं–

हृष्टास्तुष्टा अभिनयपराः श्याममेघान्मयूरा
श्चंचच्चन्द्रात् प्रकटपुलकाश्चारुचित्ताश्चकोराः

सर्वा गोत्रा हरितभरिता फुल्लिता वै वसन्तात्
(प्रत्यूषाकांच्चपलचपलाश्चक्रवाकाः प्रवाकाः)
त्वन्नैयुक्त्या वयमिह तथा पुण्यपूर्णाः प्रसन्नाः।।

जिस प्रकार काली घटा वाले बादलों को देखकर मयूर हर्षित और प्रफुल्लित होकर नाचने लग जाते हैं चारु (प्रसन्न) चित्त वाले चकोर चमकते हुए चांद को देख कर स्पष्टतः पुलकित हो जाते हैं। और वसन्त ऋतु के आने पर सारी पृथ्वी हरी-भरी और लहलहाने लग जाती है उसी प्रकार युवाचार्यश्री की नियुक्ति से हम मुनिजन अत्यन्त प्रसन्न और अपने आपको धन्य मानते हैं।

पोतात्स्वीयाऽनुनयविनयैः पोतवाहः प्रजात,
आश्चर्यं तद्विकचहृदये नैव भाति प्रथिष्ठम्।
वांछाम्येवं भवतु फलवत् पोतवाहत्वमेत-
ल्लोके श्लोकः प्रसरतुतरां सर्वतः सर्वथैव।।

अपने अनुनय-विनय के द्वारा मुनि नथमल नाव से नाविक बन गए—शिष्य से गुरु बन गए—यह बहुत बड़ा आश्चर्य हमारे हृदय में नहीं समा रहा है। मैं उनके प्रति मंगलकामना करता हूं कि उनका नेतृत्व फलदायी बने और उनकी यशोगाथा सर्व प्रकार से सर्वत्र व्याप्त हो।

सामर्थ्यं कीदृशं शस्तं तेरापंथपथेशितुः।
क्षणेनैकेन यद्बिन्दोः सिन्धुर्निर्मितवानहो।।

तेरापंथ धर्मसंघ के अधिशास्ता का कैसा प्रशस्त सामर्थ्य है कि जिन्होंने एक क्षण में बिन्दु को सिन्धु बना दिया—

चन्द्रश्चन्द्रिकया रविः स्वविभया वज्रेण वज्रेश्वरः,
विश्वं शान्तिमयं यथा वितनुते ज्योतिर्मयं शासितम्।
पूर्वोपार्जितपुण्यपुंजपणवे रत्नत्रयेणाद्भुत-
मर्हच्छ्रीमुनिभिक्षुशासनमयं कुर्वीत वीतस्पृहः।।

जिस प्रकार चन्द्रमा अपनी ज्योत्स्ना से विश्व को शीतलता देता है, सूर्य अपनी किरणों से विश्व को ज्योति देता है और इन्द्र अपने शस्त्र वज्र से विश्व को शासित करता है, उसी प्रकार कामनाओं से रहित युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ अनेक अर्हताओं से संपन्न पूर्वार्जित पुण्यसमूह से प्राप्त इस भिक्षु शासन को रत्न-त्रय से वर्द्धापित करें—उसे ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रशस्त मार्ग पर और आगे बढ़ाएं।

स्तूयमानः सदा स्तोत्रैर्युवाचार्यो नवोदयः।
दर्शनीयो द्वितीयेन्दुवत् स वै नित्यवर्द्धतः।।

नवोदित युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ की स्तवना के द्वारा श्लाघ्य होते हुए सदा दर्शनीय दूज के चन्द्रमा की भांति नित्य विकास करते रहें।

वर्द्धापनपरा पत्री, परमाह्लादपूरिता।
प्रेष्यते श्रीयुवाचार्ये नथमल्लर्षिणा शुभम्।।

मैं (मुनि नथमल, बागोर) श्री युवाचार्य महाप्रज्ञ के प्रति आह्लाद से पूरित यह बधाई-पत्र भेज रहा हूं।

अभिवंदना और विश्वास के स्वर

शिवाजी भावे धूलिया में प्रथम बार मिले। प्रथम मिलन और प्रथम वार्तालाप में ही उन्होंने मुझे आत्मसात् कर लिया। मैं मानव जाति के लिए कुछ कर सकूंगा—यह संकल्पना उनके मन के गहरे में जम गई। उनकी प्रतिक्रिया में वही ध्वनि प्रतिध्वनित हुई है—

मुनिश्री नथमलजी की तपस्या, विद्वत्ता और व्रत-धर्म निष्ठा अद्भुत गिनी जाएगी। साथ-साथ उनकी विवेक-विराग भावना भी इतनी गहरी है कि न केवल तेरापंथ को अपितु वे समग्र जैन जगत् को, इतना ही नहीं, समूची भारतीय संस्कृति को मार्ग-दर्शन करने में हमेशा अग्रसर रहेंगे। हमारे तत्त्वज्ञान मंदिर संस्था की तरफ से तथा व्यक्तिगत रूप से आचार्यश्री नथमलजी को शत-शत प्रणाम के साथ बधाई देता हूं।'

मैंने जैन जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वानों को साक्षात् देखा। उनमें प्रमुख हैं—पं. सुखलाल संघवी, पं. बेचरदास दोसी, मुनि जिनविजयजी, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, पं. दलसुखभाई मालवणिया, डॉ. नथमल टाटिया। युवाचार्य की नियुक्ति के समय अनेक विद्वान् दिवंगत हो चुके थे। जो विद्यमान थे उन सबके स्वर में व्यापक भविष्य का उल्लेख मिलता है। श्री दलसुखभाई मालवणिया ने लिखा—

'मुनिश्री नथमलजी का मेरा परिचय बहुत पुराना है। हमने वाद-विवाद भी किया है। इन प्रसंगों में आपका बर्ताव विद्वान्-जनोचित और अद्वितीय था। मैंने आपको सदा प्रसन्न ही देखा है। विनम्रता और गुरु के प्रति समर्पण भाव—ये दो आपकी उत्कृष्ट विशेषताएं हैं। आपको गुरु भी ऐसे उपलब्ध हुए हैं, जिन्होंने आपको स्व-चिन्ता से मुक्त किया है। यदि गुरु सारी चिन्ताओं का भार ढोने की स्वीकृति दे देते हैं, तो भला कोई क्यों अपनी चिन्ता करेगा? ऐसी परिस्थिति में आपने जो विकास साधा है, वह विलक्षण है।

आचार्यश्री तुलसी ने जैन समाज को जो दिया है, उससे भी अधिक केवल जैन समाज को ही नहीं किन्तु भारतीय समाज को, ये मुनि नथमलजी आचार्य बनकर देंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है।'

पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री दिगम्बर परम्परा के प्रौढ़ और बहुत सम्मान्य विद्वान् थे। वे मेरी समन्वय दृष्टि के सदा प्रशंसक और समर्थक रहे। युवाचार्य की नियुक्ति के अवसर पर उन्होंने पैनी दृष्टि से देखा और गंभीरतापूर्ण प्रतिक्रिया व्यक्त की—

'गणीजी का यह चयन अत्यन्त सुन्दर है और जैन परम्परा के सामने एक उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करता है। मुनि नथमलजी जैसा चिन्तक, विचारक, लेखक, विद्वान् किसी संघ को बड़े सौभाग्य से मिलता है। गणीजी ने तेरापंथ के लिए जो कुछ किया है, वह मेरे सामने है। मुनि नथमलजी से उसमें और भी वृद्धि होने की पूर्ण आशा है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में त्याग-मार्ग के पथिकों की यह परम्परा सदा समादृत होगी।'

मानवता का महामंगल

डॉ. नेमीचंद जैन चिन्तन-प्रधान और समस्या की गहराई तक पहुंचकर उसका स्पर्श करने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने उसी गंभीर अनुभूति के साथ अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की—

'मैंने पूज्य मुनिश्री नथमलजी को काफी नजदीक से देखा है और अनुभव किया है कि उनमें अखिल जैन समाज का ही नहीं वरन् अखिल मानवता का महामंगल स्पन्दित है। वे एक उच्चकोटि के चिन्तक हैं, उनके रूप में सुकरात ही जैसे जन्मा है। उनकी वाणी प्रश्निल होती है, इतने प्रश्न, इतने निशान और निशान का अपना अचूक निशाना, सच यह कोई महाविभूति ही कर सकती है। मुझे राशि-राशि साधुवाद देने दीजिए पूज्य आचार्यश्री तुलसी को, जिन्होंने एक अतीव योग्य व्यक्तित्व को युग नेतृत्व सौंपा है। मुझे विश्वास है कि जिस युगाश्व की वल्गा मुनिश्री के हाथों में दी गई है, वह दिग्विजय करेगा और युगप्रवर्तक सिद्ध होगा। मैं इन क्षणों में भावविभोर हूं और उन्हें प्रणाम करता हूं।'

मनोनयन का इतिहास

आचार्यवर ने अपने उत्तराधिकारी के मनोनयन का निश्चय कब किया? पंजाब यात्रा को कुछ समय तक विलंबित करने का हेतु क्या रहा? आचार्यवर ने अपने विशद आलेख में मनोनयन का इतिहास अंकित किया है। वह आलेख इस प्रकार है–

वि. सं. २०३७, मृगसर कृष्णा पंचमी (२६ नवम्बर, १९८०), रात्रि का समय। हम लोग जाहूमलजी घोड़ावत के मकान में थे। महाप्रज्ञजी मेरे पास बैठे थे। उस समय जैन विश्व भारती का मंत्री श्रीचंद सुराणा आया। उसने कहा–'इस बार आपने मर्यादा-महोत्सव सरदारशहर घोषित किया, पर पड़िहारा का रास्ता नहीं लिया?' मैं बोला–'अब तो हमारा सरदारशहर तक पूरा कार्यक्रम निश्चित हो गया है।' यह सुनकर श्रीचंद ने कहा–'आपका रास्ता और कार्यक्रम निश्चित है, इसलिए हम आपके लिए कुछ भी निवेदन नहीं कर सकते। किन्तु आप कृपा करके युवाचार्यश्री को पड़िहारा के रास्ते से भेज दीजिए। क्योंकि ये जब युवराज पद लेने के लिए लाडनूं से राजलदेसर गए थे, तब पड़िहारा होकर नहीं पधारे थे।' वह कुछ और बोले, इससे पहले ही मैंने उसे टोकते हुए कहा–'ये युवराज पद लेने नहीं आए थे बल्कि हम आए थे इन्हें अपना उत्तराधिकार सौंपने के लिए गंगाशहर से चलकर राजलदेसर।' महाप्रज्ञजी और भाई श्रीचंद दोनों ही चौंक गए यह बात सुनकर। महाप्रज्ञजी दो क्षण रुककर बोले–आप इस प्रसंग को लिपिबद्ध करा दीजिए ताकि इतिहास सुरक्षित रह सके। उनका यह प्रस्ताव मुझे अच्छा लगा। क्योंकि बिना बताए या लिखाए मेरे मन की बात कोई दूसरा कैसे जान सकता है?

तेरापंथ के आचार्य के जीवन का सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण काम है सुयोग्य उत्तराधिकारी का मनोनयन। मैं अपने इस दायित्व को समझता था, पर वर्षों तक इस संबंध में कुछ सोचा नहीं था। वि. सं. २०१३ के यांदा-महोत्सव पर मंत्री मुनि मगनलालजी ने मेरा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा–अब आपको आगे की व्यवस्था के बारे में जरूर सोच लेना चाहिए। हम इस स्थिति के भुक्त-भोगी हैं। हमारे सामने काफी गंभीर चिन्तन की स्थिति उपस्थित हो गयी थी। आप महान् हैं। आपके हाथ से जो काम हो जाए, उसकी कोई सानी नहीं होती। मैंने मंत्री मुनि की बात गंभीरता से ली, पर उस समय कोई चिन्तन नहीं किया।

दक्षिण यात्रा से लौटने के बाद बीदासर में आकस्मिक अस्वस्थता से मेरे चिन्तन को एक झटका-सा लगा और मैंने संघ की भावी व्यवस्था के बारे में थोड़ा-सा सोचा। चतुर्विध धर्मसंघ की मंगल भावनाओं ने मुझे शीघ्र ही स्वस्थ कर दिया। अतः उस ओर केन्द्रित ध्यान विकेन्द्रित हो गया।

वि. सं. २०३५ के चतुर्मास से पूर्व तक मैंने अपनी भावी व्यवस्था के संबंध में कोई निर्णय नहीं लिया। २०३५ का चतुर्मास गंगाशहर था। उस समय मेरे मन में आकस्मिक चिन्तन आया कि पंजाब-यात्रा से पहले मुझे अपने उत्तराधिकारी का निर्णय कर निश्चिंत हो जाना चाहिए और उसके लिए आकस्मिक रूप से पंजाब यात्रा को कुछ विलंबित करने का मानसिक निर्णय लेना पड़ा। उधर चतुर्मास के बाद पूर्व घोषित पंजाब यात्रा की पूरी तैयारी हो चुकी थी। खेमचंदजी सेठिया और पंजाब के कार्यकर्ता यात्रा की दृष्टि से

उन-उन क्षेत्रों का सर्वे करके लौट आए थे। उनकी दृष्टि में भटिण्डा क्षेत्र मर्यादा-महोत्सव के लिए सब तरह से उपयुक्त था। पंजाबवासियों तथा विशेषकर भटिण्डावासियों ने अपनी ओर से महोत्सव की तैयारी शुरू कर दी थी। इन सारी परिस्थितियों को मोड़ देने में मुझे डॉ. एस. आर. मेहता का सहारा मिला।

डॉ. मेहता हमारे श्रद्धालु श्रावक बलवन्तराजजी भण्डारी (जोधपुर) के दामाद हैं। वे पिछले कई वर्षों से समय-समय पर मेरे स्वास्थ्य की जांच करते रहे हैं। यात्रा के संबंध में उनका क्या अभिमत है, इस दृष्टि से उनको याद किया गया। वे आए, उस समय मैं गंगाशहर से प्रस्थान कर भीनासर पहुंच गया था। उन्होंने पूरे शरीर की जांच की। स्वास्थ्य सामान्य था। फिर भी उनका परामर्श था कि पंजाब यात्रा के लिए शीतकाल का समय टाल दिया जाए तो अधिक उपयुक्त होगा। डॉक्टर का परामर्श मेरी भावना के अनुकूल था। मैंने कहा—हमने डॉक्टर साहब को याद किया है तो इनके सुझाव पर भी ध्यान देना होगा।

भीनासर, मृगसर कृष्णा चतुर्थी, शनिवार (१८ नवम्बर १९७८) भीनासर में प्रातःकालीन प्रवचन का समय। भीनासर, गंगाशहर, बीकानेर आदि क्षेत्रों के हजारों लोगों की उपस्थिति में प्रवचन करने लगा। न तो जनता में कोई नई उत्सुकता थी और न ही कोई मर्यादा-महोत्सव की प्रार्थना थी। किसी को कोई संभावना भी नहीं थी। मैंने अप्रत्याशित रूप से मर्यादा-महोत्सव के लिए राजलदेसर का नाम घोषित कर दिया। लोग देखते रह गए। यह क्या? कहां पंजाब और कहां राजलदेसर? उस समय मुनि नथमलजी वहां नहीं थे। उन्हें दो दिन पूर्व ही मैं जैन विश्व भारती, लाडनूं के लिए प्रस्थान करा चुका था। उस समय वि. सं. २०३५, मृगसर कृष्णा तृतीया, शुक्रवार (१७ नवम्बर, १९७८) मेरे मन में स्पष्ट अवधारणा हो गयी थी कि इस मर्यादा-महोत्सव पर मुझे कोई निर्णय लेना है। पर मैंने इसका आभास किसी को भी नहीं होने दिया। भीनासर से श्रीडूंगरगढ़ होते हुए हम मोमासर पहुंचे। रास्ते में थोड़ा श्वास का प्रकोप हो जाने से वहां से प्रस्थान करते समय सुखपाल का प्रयोग किया। यह भी मेरे जीवन की एक नई घटना थी। मोमासर से हम माघ कृष्णा ९ को राजलदेसर पहुंचे। उसी दिन मुनि नथमलजी लाडनूं से चलकर राजलदेसर पहुंच गए।

वसंत पंचमी के दिन प्रातःकाल साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा नया रजोहरण, चोलपट्टा और पछेवड़ी लेकर आई और बोली—'ये उपकरण मुनिश्री नथमलजी को देने की कृपा करें।' मैंने उसके निवेदन पर रूखापन दिखाते हुए कहा—इन्हें वापिस ले जाओ। ये शब्द सुनकर उसने आश्चर्य के साथ मेरी ओर देखा पर पूछा कुछ भी नहीं। बाद में उसने बताया कि उस दिन मैं इस बात में उलझ गई कि हो क्या गया? मुझसे कोई भूल हो गई या मुनिश्री के प्रति आचार्यश्री की नाराजगी है। लाए हुए उपकरण वापिस ले जाने के लिए क्यों कहा? वह दूसरे दिन आयी तब मैंने उससे कहा—कल महोत्सव में आओ तब एक नई पछेवड़ी साथ ले आना। वह कुछ समझी नहीं। तब मैंने उसको थोड़ा-सा संकेत दे दिया। कनकप्रभा को संकेत देने के बाद एक बार मेरे मन में आया कि जनता को भी संकेत दे दिया जाए, किन्तु तत्काल चिन्तन बदल गया। फिर भी मैंने प्रवचन के समय इतना कह दिया कि मर्यादा-महोत्सव का आयोजन बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। जो लोग ऐसे अवसर खो देते हैं, उन्हें बाद में अनुताप करना पड़ता है। इस बात से कुछ लोगों ने अटकलें लगाई पर अधिकांश व्यक्ति कुछ समझ नहीं पाए।

सप्तमी के दिन कनकप्रभा आई तो मैंने पूछा—तुम्हारे पास कोई पत्र है? उसने नकारते हुए कहा—अभी साध्वियों को भेजकर मंगवा लूं? मैंने मना कर दिया। क्योंकि मैं नहीं चाहता था—किसी भी साधु-साध्वी

को अनुमान लगाने का अवसर मिले। उसने अपनी कॉपियां संभाली। उनमें श्रावक-सम्मेलन के लिए तैयार किए गए मेरे वक्तव्य के मुद्रित फोल्डर थे। उनके पीछे का पृष्ठ खाली था। उसने वे प्रस्तुत क़िए और मेरा निर्देश पाकर अंतिम पृष्ठ अलग कर मुझे दे दिया।

भोजन के बाद मैं कमरे में अकेला बैठा। बिल्कुल एकांत था वहां। लगभग ग्यारह बजे मैंने नियुक्ति-पत्र लिखा। पत्र संपन्न करने से पहले ही कनकप्रभा दो साध्वियों के साथ वहां पहुंच गई। पत्र पूरा लिखकर मैंने उसे कनकप्रभा को पढ़ने के लिए दे दिया। वह पत्र पढ़कर लौटाने लगी तो मैंने कहा—इसमें साक्षी तुम्हारी रहेगी, तुम अपने हस्ताक्षर कर दो। वह बोली—'मेरी साक्षी की क्या अपेक्षा है?' मैंने कहा—'तुम्हारा कथन ठीक है। हमारी प्राचीन परम्परा में ऐसी कोई विधि नहीं है। किन्तु आज के युग में मैं इसे आवश्यक मानता हूं। तुम पांच सौ से अधिक साध्वियों का प्रतिनिधित्व करती हो, इसलिए साक्ष्य का भी ऐतिहासिक मूल्य है।' उसने हस्ताक्षर कर पत्र लौटा दिया। मैंने उसे अपने पूठे (पुस्तक-मंजूषा) में रख दिया।

इस प्रकार पूरी तैयारी के बाद हम मर्यादा-महोत्सव के लिए बने पंडाल में पहुंच गए। विशाल प्रवचन पंडाल खचाखच भरा था। महोत्सव का कार्यक्रम शुरू हुआ। साधु-साध्वियों के वक्तव्य हुए। मैंने मर्यादा-गीत का संगान किया—

वार्षिक मर्यादोत्सव आया।
खुशियों की झोली भर लाया।।

गीत के इस ध्रुवपद से किसी अकल्पित प्रसन्नता की झांकी मिल रही थी, पर उसे देखने की दृष्टि स्पष्ट नहीं थी। मुझे जो कुछ कहना था, कहा। उसके बाद मैंने एक नया मोड़ लेते हुए कहा—मैं अपने जीवन के ६४ वसंत पार कर ६५वें वर्ष से गुजर रहा हूं। इस वर्ष मैं एक नई घोषणा करना चाहता हूं।

ये शब्द सुनते ही सभा में सन्नाटा छा गया। सभासद उद्ग्रीव होकर देखने लगे। साधु-साध्वियां भी चौकन्ने हो गए। मैं आगे फिर बोलने लगा—मैं आज अपने उत्तराधिकारी की घोषणा करना चाहता हूं। मेरे पूर्ववर्ती सभी आचार्य इस उम्र से पहले-पहले अपना भार सौंपकर निश्चिन्त हो गए थे। यद्यपि मैं आज भी स्वस्थ हूं, फिर भी मैं चाहता हूं कि जो काम करना है, उसे आज ही संपन्न कर दूं।

लोगों की उत्सुकता और बढ़ गई। किसका नाम आता है? प्रश्नचिह्न सबकी आकृतियों पर उभर आया। चिन्तन की दौड़ शुरू हो गई। मैंने उस दिन पंडाल की जो स्थिति देखी, ऐसी कभी नहीं देखी। मैंने कहा—'आप जल्दी न करें। मैं जिनका नाम घोषित करूंगा, वह हिन्दुस्तान के भीतर ही है, बाहर नहीं।' इतना कहकर मैं खामोश हो गया पर जनता के मन में जिज्ञासा, कुतूहल और उत्सुकता, अहमहमिका उभर रही थी। उनका मन चारों ओर दौड़ रहा था किन्तु आंखें मेरी ओर टिकी थीं। नथमलजी मेरे पास ही बैठे थे। मैंने उस ओर दृष्टिक्षेप किया। वे स्वयं गंभीर चिन्तन की मुद्रा में थे। मानो वे भी, कुछ होने वाला है, इसकी थाह पाने का प्रयास कर रहे थे। मैंने कहा—खड़े हो जाओ। आगे कुछ कहूं, उसे सुनने के लिए जनता एकदम अधीर थी। मैं बोला—नथमलजी! खड़े हो जाओ। इतना कहते ही पूरा पंडाल हर्षध्वनि से गूंज उठा। मैंने उत्तराधिकार-पत्र पढ़कर मुनि नथमलजी को दे दिया। उसके बाद नई पछेवड़ी मैंने स्वयं ओढ़ी फिर उसे उतारकर उन्हें ओढ़ा दी। लगभग बीस हजार की उपस्थिति में जो उल्लासमय वातावरण बना, वह अद्भुत था, अपूर्व था। इसके लिए भी और कोई शब्द गढ़ा जाए तो वह छोटा ही रहेगा।

मुनि नथमलजी को श्रद्धेय गुरुदेव कालूगणी ने दीक्षित कर मुझे सौंप दिया। ये मेरे पास पढ़े और बढ़े। मेरे प्रति इनका समर्पण भाव उस समय भी अद्भुत था। इनकी गति-प्रगति देखकर मुझे प्रसन्नता होती थी। ये आचार-कुशल (जो आचार्य पद की योग्यता का सर्वोत्कृष्ट मानक होता है), प्रकृति से ऋजु, विवेकशील, प्रखर मेधा के धनी, असाधारण अध्ययनशील, दृष्टिसंपन्न, विस्मृतप्रायः जैन साधना पद्धति को उजागर करने वाले और सर्वात्मना गुरु-दृष्टि की आराधना करने वाले थे। इतना सब कुछ होने पर भी इनके मन में किसी प्रकार का अहं नहीं था। जैन धर्म और तेरापंथ धर्मसंघ की प्रभावना में इनका असाधारण योग रहा। इन्हीं सब तथ्यों का आकलन कर मैंने गंगाशहर में (वि. सं. २०३५) कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को दीक्षा महोत्सव के अवसर पर हजारों की उपस्थिति में इनको महाप्रज्ञ की सम्मान्य उपाधि दी। उस समय अनेक व्यक्तियों ने सोचा—आचार्यश्री ने अब अपना रास्ता साफ कर दिया। मेरा अपना स्वतंत्र चिन्तन और स्वतंत्र निर्णय था। चतुर्विध धर्मसंघ के उल्लास ने मेरे चिन्तन और निर्णय को सही प्रमाणित कर दिया। इस बात की भी मुझे प्रसन्नता है।

मुनि नथमलजी मेरे उत्तराधिकारी बने। एक और मुनि हमारे धर्मसंघ में मुनि नथमलजी नाम के हैं। हमारी परम्परा के अनुसार आचार्य का नाम दूसरे मुनि का नहीं होना चाहिए। मैंने सोचा—मुनिश्री नथमलजी (बागोर) का नाम बदलूं, यह नई बात नहीं होगी। इनका नाम बदल दिया जाए, यह भी एक नया काम होगा। यह सोचकर मैंने उसी समय उन्हें प्रदत्त उपाधि महाप्रज्ञ को उनका नाम घोषित कर दिया। उस समय हजारों-हजारों आंखों ने मुनि नथमलजी के बदले हुए परिवेश को युवाचार्य महाप्रज्ञ के रूप में देखा। मैं अपना काम पूरा कर निश्चिन्त हो गया। साथ-साथ महाप्रज्ञजी को भी निश्चिन्त रहने का निर्देश देते हुए मैंने कहा—तुम अभी संघीय दायित्व से निश्चिन्त रहो। तुम अपनी साधना और साहित्य का जो महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हो, उसी में अपनी शक्ति का नियोजन करते रहो।

इस आह्लादमय वातावरण में मैंने कहा—महाप्रज्ञ! तुम युवाचार्य बन गए हो। आओ, मेरे बराबर आसन पर बैठो। वे सकुचाए, तब मैंने कहा—संकोच मत करो, दो क्षण के लिए ही बैठो। मैंने हाथ से पकड़कर उन्हें अपने पास बिठाया। एक नया दृश्य देख समूचा पंडाल जय-जय की ध्वनि से गूंज उठा।'

ध्यान में पूर्वाभास

आचार्यवर ने जिन दिनों मुझे उत्तराधिकारी बनाने का निर्णय लिया, उन्हीं दिनों का प्रसंग है।

एक दिन मैं समणियों को अध्ययन करा रहा था। समणी नियोजिका स्मितप्रज्ञा (साध्वी विश्रुतविभा) ने पूछा—आचार्य तुलसी आपका उत्तराधिकारी के रूप में चयन करेंगे। क्या इसका आपश्री को कोई आभास या संकेत मिला था? यदि यह प्रश्न युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने से पूर्व पूछा जाता तो मैं उत्तर नहीं दे पाता। समणी स्मितप्रज्ञा ने यह प्रश्न युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद पूछा इसलिए मैंने जो अनुभव किया वह स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया।

'तुलसी अध्यात्म नीडम्' जैन विश्व भारती लाडनूं। ऊपर का कक्ष। पश्चिम रात्रि का समय। मैं एकान्त में बैठकर ध्यान कर रहा था। अकस्मात् मेरे सामने एक दृश्य उभरा। मैंने जो देखा वह नीले रंग में देखा। एक पट्ट है और मुझे उस पर बैठने के लिए कहा जा रहा है। यह दृश्य एक बार नहीं, अनेक बार मेरे

सामने आता रहा। आज ध्यान के समय यह मुझे क्यों दिखाई दे रहा है? इसका अर्थ मैं नहीं समझ सका। युवाचार्य बनने के बाद उसका अर्थ बुद्धिगम्य हो गया और अब उसका निर्वचन किया जा सकता है।

एक ज्योतिर्विद की भविष्यवाणी

मैं शांति निकेतन के ऊपर के कक्ष में बैठा था। आसकरण चौपड़ा एक ज्योतिषी को लेकर मेरे पास आए। वह ज्योतिर्विद शिक्षक भी था। भीनासर के विद्यालय में पढ़ाता था। वह मेरी जन्म कुण्डली का अध्ययन करके आया था। उसने फलादेश बताते हुए कहा—'माघ के महीने में उच्च पद की प्राप्ति का योग है। आपका भाग्य प्रबल है। यदि आप रविवार के दिन नमक का वर्जन करें तो अति उत्तम होगा।'

जिज्ञासा और समाधान

युवाचार्य पद की नियुक्ति के बाद अनेक प्रश्न प्रस्पन्दित हुए और इसीलिए हुए कि अनेक लोगों के सामने मेरी प्रतिमा एक अध्यात्म पुरुष के रूप में थी, किन्तु वे मेरे प्रशासन कौशल के प्रति संदिग्ध थे। यह संदेह अस्वाभाविक नहीं था। मैं धर्मसंघ और समाज के लिए जो चिन्तन अथवा कार्य करता, वह पर्दे के पीछे रहकर करता। प्रश्नोत्तरों की एक लम्बी शृंखला है। उनमें से कुछेक को प्रस्तुत करना चाहता हूं–

● आचार्यश्री ने आपको तेरापंथ धर्मसंघ के सर्वोच्च पद पर अप्रत्याशित रूप से प्रतिष्ठित कर दिया। संभव है, उस समय आप स्तब्ध रह गए हों। किन्तु आपको इस संबंध में एकान्त क्षणों में कुछ सोचने का अवकाश मिला, इस घटना की आपके मन पर पहली प्रतिक्रिया क्या हुई?

❐ इस नियुक्ति के बाद मेरे मन में यह आया कि आचार्यश्री ने मुझे समाज के उस स्थान पर प्रतिष्ठित किया है, जहां व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहकर, स्वयं समाज बन जाता है। उसे पूरे समाज को आत्मसात् करना होता है। उसके लिए न केवल समाज को साथ लेकर ही चलने की अपेक्षा है, अपितु उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर चलना जरूरी है। मैं अकेलेपन की स्थिति में अधिक रस लेता था, पर यह न नियति को इष्ट था और न स्वयं आचार्यश्री को ही। इसलिए मैं एक व्यक्ति समाज में रूपान्तरित हो गया। इस भूमिका पर आरूढ़ होने के बाद आचार्यप्रवर ने जो गुरुतर दायित्व मुझे सौंपा है, उसके निर्वाह हेतु मैं अधिक शक्ति-स्रोतों की आवश्यकता अनुभव करता हूं। आचार्यवर का आशीर्वाद, अपनी अध्यात्म-साधना और समस्त समाज की सद्भावना, इसी त्रयी के योग से मैं उन शक्ति-स्रोतों को उद्घाटित करूं, यह मेरी पहली प्रतिक्रिया है।

● यह दस-बारह दिनों का समय आपको कैसा लगा? क्या आप अपने भीतर कोई परिवर्तन अनुभव कर रहे हैं?

❐ जहां तक मेरे अंतःकरण या भीतरी व्यक्तित्व का प्रश्न है, वहां तक मुझे अस्वाभाविक जैसा कुछ भी नहीं लगता, क्योंकि मेरा मन साधना से इतना भावित है कि उस पर किसी प्रकार के भार का अनुभव होता ही नहीं। दूसरी बात–मुझे आचार्यवर का साक्षात् सान्निध्य उपलब्ध है, इसलिए भी मैं अपने आपमें बहुत हलका हूं।

बाह्य व्यक्तित्व के संदर्भ में मैं अपने आपमें और वातावरण में भी एक परिवर्तन देख रहा हूं। इन दिनों मुझे एक चिन्तन बार-बार आंदोलित कर रहा है कि आचार्यवर ने मुझे इतना बड़ा दायित्व सौंपा और समूचे संघ ने उसके प्रति इतना उल्लास व आनंद प्रदर्शित किया। केवल तेरापंथ समाज में ही नहीं, व्यापक रूप से मेरे प्रति जो आकांक्षाएं संजोई जा रही हैं, उनसे मेरा दायित्व और अधिक व्यापक हो जाता है। उन सब आकांक्षाओं की पूर्ति में कैसे करूं, यही विचार मुझे बार-बार उत्प्रेरित करता रहता है।

● क्या आपकी साधना और साहित्य-लेखन में अवरोध नहीं आएगा?

❐ यह निर्णय यदि पांच-दस साल पहले होता तो मेरी साधना और लेखन—दोनों में अन्तर आता। किन्तु यह काम एक अवधि के बाद हुआ, इसलिए मेरे सामने कठिनाई या अवरोध जैसी कोई स्थिति नहीं है। क्योंकि साधना की एक सीमा मैं अतिक्रांत कर चुका हूं और लेखन को भी अब वक्तृत्व में बदल चुका हूं।

• आपकी रुचि प्रशासन में है या ध्यान में?

❐ मेरी काम करने की पद्धति यह रही है कि या तो मैं कोई काम करूं नहीं, करूं तो पूरी रुचि के साथ करूं। अस्वीकार या पूरी तन्मयता, इन दोनों मार्गों में से एक मार्ग का निर्धारण कर मैं चलता हूं। अतः प्रशासन को भी अपनी रुचि का अंग बनाकर ही चलूंगा। रुचि-निर्माण के स्थान पर रुचि के अनुरूप काम हाथ में लेने का प्रश्न आता तो मैं इस संबंध में कुछ निवेदन भी करता, पर ऐसा अवकाश ही मुझे नहीं मिला।

दूसरी बात यह है कि दूसरों के सामने किसी भी काम के स्वीकार या अस्वीकार में मैं पूरी स्वतंत्रता का उपयोग करता हूं, किन्तु आचार्यवर का जो आदेश मिल जाता है, उसके लिए सर्वथा अस्वीकार की बात मेरे लिए बहुत कठिन हो जाती है। जिस समय आचार्यश्री ने मुझे अपने सामने खड़ा होने का निर्देश दिया, मैं एक—बारगी स्तब्ध रह गया। मुझे लगा—मैं कोई स्वप्न देख रहा हूं या यथार्थ के धरातल पर खड़ा हूं।

• आपने अपने बारे में कभी ऐसी कल्पना की थी क्या? अपने भविष्य के संबंध में आपका क्या चिन्तन था?

❐ मैं तेरापंथ संघ की सेवा का कुछ विनम्र प्रयत्न कर चुका हूं। अब मेरी इच्छा थी अध्यात्म के व्यापक क्षेत्र में समग्र मानव जाति की सेवा। इस चाह ने मुझे चिन्तन का नया परिवेश दिया। उस परिवेश में मेरी कल्पना थी, मैं अपने धर्मसंघ में साधना की विशिष्ट भूमिका में रहूं और उसी माध्यम से मानव जाति की सेवा करता हुआ अपने लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ूं। संघ का दायित्व आचार्यवर किसी को भी सौंपें, उसमें न मेरा कोई हस्तक्षेप होगा और न मैं किसी व्यवस्था में भाग ही लूंगा। मैं केवल अध्यात्म की दिशा में, अध्यात्म चेतना का जागरण करने के लिए चलता रहूंगा, चलता रहूंगा। इस संबंध में मैंने कई बार आचार्यश्री से प्रार्थनाएं भी कीं। एक बार लिखित निवेदन भी किया ध्यान की विशेष भूमिका पर आरूढ़ होने के लिए, किन्तु वैसा नहीं हो सका। अब मैं सोचता हूं कि मेरी नियति यही थी या आचार्यवर ने मेरी नियति का निर्माण इसी क्रम से गुजरने के लिए किया है, इसलिए मैं कल्पना, संभावना आदि सब स्थितियों में न उलझ अपने दायित्व का निर्वहन करने की दिशा में आगे बढ़ूं।

• आप अपने नेतृत्व में धर्मसंघ को कौन-सा नया मोड़ देना चाहेंगे?

❐ हमारे सामने दो बातें हैं—अध्यात्म और समाज। समाज शक्तिशाली तब बनता है जब वह अध्यात्म से अनुप्राणित हो, जब उसमें सांस लेने वाला हर व्यक्ति सशक्त हो। आचार्यवर ने जब मुझे समाज में काम करने का अवसर दिया है तो मैं चाहूंगा कि मेरा दर्शन समाज में क्रियान्वित हो। सुकरात का नाम सुना होगा। उसका यह सिद्धांत था कि शास्ता किसी दार्शनिक को होना चाहिए। दार्शनिक शास्ता अपनी जनता को जीवन-दर्शन की गहराई से परिचित करा सकता है और उसे तदनुरूप व्यवहार भी दे सकता है।

मेरी आकांक्षा यह है कि सबसे पहले व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण करे। व्यक्तिगत निर्माण की बात को प्राथमिकता दे और संघ सेवा का काम उसके अनन्तर क्रियान्वित करे।

जीवन-निर्माण का दर्शन मुझे आचारांग से उपलब्ध हुआ है। वहां एक सूक्त है—'आवीलए, पवीलए निवीलए'—इस संदर्भ में मुनि के समग्र जीवन का स्पष्ट निदर्शन है। दीक्षित होने के बाद मुनि सबसे पहले अध्ययन और साधना में अपना जीवन लगाए, यह आपीडन है। उसके बाद वह संघ से जो सेवा ली है, उसका ऋण चुकाए, यह प्रपीड़न है और ऋण-मुक्त होने के बाद समाधिमरण की तैयारी करे, यह निष्पीडन है। मैं चाहता हूं मेरा यह दर्शन हमारे धर्मसंघ में क्रियान्वित हो।

• आपका यह दर्शन और उसकी क्रियान्विति बहुत अच्छी बात है, किन्तु इसका तरीका क्या होगा?

❐ तरीका तो कुछ निर्धारित करना ही होगा। वैसे हर कार्य की निष्पत्ति के लिए कुछ विशिष्ट परिस्थितियों का निर्माण जरूरी होता है। जीवन-निर्माण के दर्शन की क्रियान्विति का श्रीगणेश व्यक्तिगत साधना के लिए कम-से-कम एक घंटा समय लगाने के संकल्प से शुरू हो ही गया है। इसकी निष्पन्नता के आसार मैं आगामी दशक में देख रहा हूं। इतनी बड़ी योजना के क्रियान्वयन में दस वर्ष का समय कोई अधिक नहीं है। मुझे विश्वास है कि आचार्यवर का सफल मार्ग-दर्शन उपलब्ध होने पर यह काम और अधिक सरल हो जाएगा।

• साधना में एक घण्टा समय लगाने का संकल्प कई साधु-साध्वियों ने लिया है, पर क्या समय लगाने मात्र से हमारा लक्ष्य पूरा हो जाएगा? मुझे तो ऐसा लगता है कि जब तक वृत्तियों का रूपान्तरण नहीं होगा, व्यक्ति-निर्माण का स्वप्न भी मात्र स्वप्न बनकर रह जाएगा। इस संबंध में आपकी क्या राय है?

❐ केवल समय लगाने मात्र से वृत्ति-परिवर्तन की बात से मैं भी सहमत नहीं हूं। एक-दो घंटे के समय में स्वयं को प्रशिक्षित करने की विधि हस्तगत हो जाए, यह जरूरी है। इसके लिए मैं सोचता हूं कि साधु-साध्वियों को प्रशिक्षण के लिए व्यवस्था और अवकाश दिया जाए, तो हमारा स्वप्न स्वप्न न रहकर यथार्थ बन जाएगा। इस स्वप्न को फलीभूत देख मुझे जो प्रसन्नता होगी, वह भी अनिर्वचनीय ही होगी।

• आपका साध्वी-समाज संख्या की दृष्टि से बहुत बड़ा है। संख्या के अनुपात से गुणात्मकता भी बढ़े, इस दृष्टि से आप साध्वी-समाज से क्या अपेक्षाएं रखते हैं तथा क्या विशेष निर्देश देना चाहते हैं?

❐ हमारा साध्वी-समाज निश्चित ही एक बड़ा समाज है। उसमें नयी जिज्ञासाओं की स्फुरणा है। वह कुछ होने या बनने की चाह भी रखता है, पर इसके लिए उसे विशिष्ट संकल्प-शक्ति का संचय करना होगा तथा तदनुरूप अपने आपको ढालना होगा। इस दृष्टि से सबसे पहली बात है—स्वार्थ का विसर्जन। कोई भी व्यक्ति या समाज तब तक विशिष्ट नहीं बन सकता, जब तक उसमें स्वार्थ-चेतना से मुक्त होने का संकल्प दृढ़ नहीं हो जाता। व्यक्ति की स्वार्थ-चेतना उसे खान-पान जैसी छोटी बातों में उलझा देती है तो कभी किसी बड़ी बात को लेकर उत्पात मच जाता है।

साध्वियों से मेरी दूसरी अपेक्षा है—दीर्घकालीन चिन्तन की क्षमता का विकास। तत्काल जो कुछ प्राप्त होता है, उस पर तात्कालिक प्रतिक्रिया दीर्घकालीन हितों के पक्ष में नहीं होती इसलिए तत्कालीन प्रतिक्रिया को सुरक्षित रखते हुए समय पर ही उसके संबंध में निर्णय लेना उचित है।

तीसरी बात है—शिक्षा का गहरा अभ्यास। अध्ययन का धरातल ठोस न हो तो पल्लवग्राही विद्वत्ता से व्यक्ति न अपने आपको उपलब्ध कर सकता है और न ही शिक्षा के क्षेत्र में नये आयामों का उद्घाटन कर पाता है।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक बात है अनुप्रेक्षा और ध्यान का अभ्यास, वह भी वृत्तियों को रूपान्तरित करने के उद्देश्य से। इन सब बातों के प्रति साध्वी-समाज जागरूक रहा तो वह वर्तमान की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध और गतिशील हो सकता है।'

मैं ऋण से उऋण हो गया

युवाचार्य नियुक्ति के बाद पहला चतुर्मास लुधियाना में हुआ। एक दिन प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं आचार्यवर की उपासना में बैठा था। प्रसन्नमुद्रा के साथ आचार्यवर ने कहा—'मेरी प्रसन्नता का हेतु उऋणता का मनोभाव है। मैं युवाचार्य की नियुक्ति कर संघीय ऋण से उऋण हो गया। मुझे इस बात की और अधिक प्रसन्नता है कि मैंने यह कार्य प्रियता और अप्रियता के भावों से ऊपर उठकर किया है। यदि मैं ऐसा नहीं करता तो कालूगणी का 'दावणगिर' हो जाता।'

आचार्यवर ने कहा—'तुम काफी वर्षों से मेरे साथ कार्य कर रहे हो, तुम्हें कार्य का अनुभव है। फिर भी अब तुम्हें संघीय गतिविधि को काफी गंभीरता से देखना है।' मैंने आचार्यवर के इंगित को खूब गहराई से शिरोधार्य किया।

मैं जान रहा था कि अब भी आचार्यवर पर काफी दबाव आ रहे हैं। पर यह भी जानता था कि आचार्यवर में दबावों को झेलने की असीम क्षमता है। इसलिए कोई उलझन की बात नहीं थी। मुझे युवाचार्य के कर्तृत्व की सीमा का बोध था इसलिए मैं अपनी मर्यादा के साथ कार्य कर रहा था।

प्रशासनिक दायित्व संभालने का निर्देश

आचार्य तुलसी का व्यक्तित्व प्रयोगधर्मा और वर्तमान के प्रति जागरूक था। उनकी जागरूकता से नए-नए उन्मेष निकले। ८ नवंबर सन् १९९१, जैन विश्व भारती लाडनूं में चातुर्मासिक प्रवास। कार्तिक शुक्ला द्वितीया को जन्म दिवस का आयोजन। आचार्यवर ने अपने प्रवचन में कहा—'मैं लम्बे समय से संघीय प्रशासन का कार्य करता रहा हूं। अब युवाचार्य मेरे सामने हैं। कार्य में सक्षम हैं। मैं चाहता हूं कि ये अब दायित्व को संभालें।'

आचार्यश्री को विश्राम का समय बहुत कम मिलता था। पूरे संघ की यह भावना थी—आचार्यश्री अवस्था और स्वास्थ्य—दोनों को ध्यान में रखकर पर्याप्त विश्राम करें, जिससे दीर्घकाल तक आपका नेतृत्व संघ को मिलता रहे। इस आकांक्षा को ध्यान में रखकर आचार्यश्री ने उक्त भावना व्यक्त की। आचार्यश्री की भावना के आधार पर मैंने एक पत्र तैयार किया। मैं बोलता गया, मुनि मुदितकुमार उसे लिखते गए। वह पत्र आचार्यवर को निवेदित किया। वे बहुत प्रसन्न हुए। वह पत्र इस प्रकार है—

संघ के दीर्घकालीन हित तथा स्वास्थ्य के विषय में पूरी जागरूकता रहे और समुचित विश्राम का अवसर मिले, पूरे संघ की इस प्रार्थना को ध्यान में रखकर आचार्यश्री ने मुझे निर्देश दिया कि प्रशासन कार्य

अब मैं (महाप्रज्ञ) करूं। आचार्यश्री का नेतृत्व, आवश्यक निर्देश और दिशा-दर्शन मुझे सतत मिलता रहा है और मिलता रहेगा।

आचार्यश्री उस प्राचीन उदाहरण को प्रत्यक्ष करना चाहते हैं। जयाचार्य अपना अधिक समय स्वाध्याय, ध्यान, सृजन और पथदर्शन में लगाते, प्रशासन का कार्य युवाचार्य मघवा करते। जनसंपर्क का कार्य भी उनका सीमित था।

अब हम सबका यह कर्तव्य है कि आचार्यश्री ने संघनिर्माण और साधना के विशिष्ट प्रयोग की जिस जीवनशैली को स्वीकार किया है, उसमें सब सहयोग करें और ठीक निर्धारित समय पर दर्शन, सेवा, मंगलपाठ श्रवण आदि करें। आचार्यश्री की शक्ति का अधिक उपयोग विश्वविद्यालय के माध्यम से जैन विद्या, अहिंसा प्रशिक्षण, जीवन विज्ञान, अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान आदि को व्यापक और सुनियोजित करने में लगे—संघीय विकास के लिए यह बहुत अपेक्षित है।

आचार्यश्री ने इन छह दशकों में संघविकास और मानवता के लिए जो कार्य किया है, यह समय उसकी निष्पत्ति का है। उत्पत्ति की अपेक्षा निष्पत्ति और अधिक श्रम, और अधिक शक्ति का नियोजन मांगती है। हम चाहते हैं कि निष्पत्ति इतनी परिपक्व बने कि शताब्दियों तक उसका लाभ जनता को मिलता रहे।

महाश्रमण मुदितकुमार और महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा—ये दोनों मेरे प्रशासनिक कार्य में सहयोगी रहेंगे।

महाश्रमणी साध्वियों का कार्य करती रही हैं। हमारे धर्मसंघ में साध्वियों का प्रमुख स्थान रहा है, और है। सामयिक चिन्तन के संदर्भ में आचार्यश्री ने इस महत्त्व को उजागर करने के लिए महाश्रमणी की महानिदेशिका के रूप में नियुक्ति की है। उनका पूरे संघ की व्यवस्था में सहयोग मिलेगा ही, साध्वियों के निर्माण और व्यवस्था-संचालन में वे और अधिक दायित्वपूर्ण ढंग से कार्य करेंगी।'

दायित्व में सहभागिता : निर्भारता का अनुभव

संघीय दायित्व के दो आयाम हैं—

१. सामान्य २. विशेष

सामान्य दायित्व का निर्वाह प्रतिदिन करना होता है। विशेष दायित्व के तीन महीने हैं—पौष, माघ और फाल्गुन। इस अवधि में धर्मसंघ के समस्त साधु-साध्वियों के वार्षिक विहार और चातुर्मासिक प्रवास क़ा निर्धारण किया जाता है। मर्यादा-महोत्सव के दौरान बहिर्विहारी साधु-साध्वियों का आगमन, उनकी चर्या और कार्यक्रमों का निरीक्षण, अनुमोदन और संशोधन आदि आदि कार्य सम्पन्न किए जाते हैं। मैं मुनि अवस्था में ही विशेष दायित्व के साथ संलग्न रहता था। युवाचार्य का दायित्व आने के बाद संलग्नता और बढ़ गई। विहार व्यवस्था और चातुर्मासिक व्यवस्था का कार्य प्रायः मैं सम्पन्न करता था। सम्पन्नता के बाद आचार्यवर को निवेदित कर देता। मुझे प्रसन्नता है कि आचार्यवर के गुरुतर दायित्व में सहभागी बनने का अवसर मिला और उससे आचार्यवर ने निर्भारता का अनुभव किया।

युवाचार्य-नियुक्ति का उत्तरकाल

मेरा विद्यार्थी जीवन और कार्यकारी जीवन दोनों गुरुदेव की कृपा से परिपूर्ण रहे। मुझे लगता था कि मैं गुरुदेव के लिए 'आकर्षण' बना हुआ हूं। युवाचार्य पद की नियुक्ति के बाद अनुग्रह का प्रसाद शतगुणित हो गया। इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं है।

मैं मुनि-अवस्था में था तब अपेक्षावश मेरा चतुर्मास दिल्ली (सन् १९६४) में हुआ। उस चतुर्मास में अध्यात्म साधना केन्द्र और अणुव्रत-न्यास की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। चतुर्मास के बाद मैं फिर गुरुदेव की सन्निधि में पहुंच गया। उसके बाद अपेक्षावश अल्पकालीन प्रवास समय-समय पर गुरुदेव के विहार-क्षेत्र से भिन्न-क्षेत्र में होता रहा।

• युवाचार्य पद पर नियुक्त होने के बाद दो दिन का स्वतंत्र विहार हुआ। वि. सं. २०३५, फाल्गुन कृष्णा ९-१०, मैं दूधवाखारा से टमकोर गया। मेरे साथ ९ साधु और ७ साध्वियां थीं। दो दिन पश्चात् फाल्गुन कृष्णा १२ (२३.२.७९) को मैंने राजगढ़ में आचार्यश्री के दर्शन किए। बहुत बड़े जुलूस के साथ स्वतंत्र रूप में प्रवेश किया। प्रायः सभी साधु अगवानी करने आ गए। जैसे ही मैं कोठारी भवन पहुंचा, आचार्यवर हॉल के बरामदे में अगवानी करने पधारे। वहां से हम प्रवचन-पंडाल में गए। ज्योंही मैं आचार्यवर को वंदन करके उठा, आचार्यवर ने मुझे छाती से चिपका लिया और इतना स्नेह प्रदर्शित किया कि मैं भाव-विभोर हो उठा, गद्‌गद हो गया।

आचार्यवर ने कहा—युवाचार्य महाप्रज्ञ दो दिन की संक्षिप्त यात्रा कर आ गए। मैं यहां अधूरा आया था। आज हम पूरे हो गए हैं। पहले मैं अकेला काम करता था। अब हम दो हो गए हैं। 'एक एक सो एकलो, दो मिल बावन वीर।' मुझे विश्वास है कि मानव-जाति के लिए ये मुझसे भी सवाया काम करेंगे।

आचार्यवर का आशीर्वाद प्राप्त कर मैंने धन्यता का अनुभव किया।

• आचार्यवर वहां से दिल्ली पधारे। आचार्यवर की पंजाब यात्रा निश्चित थी। आचार्यवर ने कहा—तुम्हारा दिल्ली रहना आवश्यक है। तुम कुछ दिन यहां रह जाओ। आचार्यवर ने पंजाब की ओर विहार कर दिया। मेरा यह पृथक् प्रवास लगभग दो मास का रहा। इस प्रवास में जीवन विज्ञान और प्रेक्षाध्यान का व्यापक वातावरण बना। पूर्व वित्तमंत्री सी. सुब्रमण्यम्, पूर्व थलसेनाध्यक्ष ओ. पी. मल्होत्रा की धर्मपत्नी आदि अनेक प्रबुद्ध व्यक्ति अनेक दिनों तक लगातार प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने के लिए अणुव्रत भवन आते रहे। सी. सुब्रमण्यम् ने कहा—'प्रेक्षाध्यान के प्रयोग से मेरी स्थिति अपूर्व बनी है। पहले में ट्रेन, प्लेन आदि की यात्रा में अपना समय बातचीत करने या पत्र-पत्रिका पढ़ने में व्यतीत करता था। अब मैं उस समय प्रेक्षा का प्रयोग करने में तन्मय बन जाता हूं। मेरे मित्र पूछते हैं—क्या तुम इस प्रकार निकम्मे बैठे बोर नहीं होते? मैं उनसे कहता हूं—मैं बिल्कुल बोर नहीं होता। अपने आपमें डूबा रहता हूं। जब तुम बात करते हो तो अवश्य बोर हो जाता हूं।' सी. सुब्रमण्यम् ने कहा—'महाराज! मैं जुकाम से बहुत पीड़ित रहता था।

मेरे जीवन की यह स्थायी बीमारी थी। प्रेक्षाध्यान के प्रयोग से इस बीमारी से मुक्ति मिली है। मानसिक एवं भावात्मक स्थिति में भी बदलाव आया है।'

मैं दिल्ली से रोहतक, हिसार, हांसी होते हुए टोहाना पहुंचा। टोहाना में पहली बार मेरा जन्म-दिवस 'प्रेक्षाध्यान दिवस' के रूप में मनाया गया। सुनाम, संगरूर, धुरी, मलेरकोटला की यात्रा करते हुए मैंने लुधियाना में पूज्य गुरुदेव के दर्शन किए। क्षेत्रीय द्वैत अद्वैत में बदल गया।

● लुधियाना का चातुर्मासिक प्रवास संपन्न हो रहा था। गुरुदेव ने कहा—'हम मर्यादा-महोत्सव संगरूर करेंगे। तुम यहां से जैन विश्व भारती लाडनूं में मर्यादा-महोत्सव का कार्य संपन्न करोगे। इस योजना के अनुसार मृगसर कृष्णा २ को मैंने लुधियाना से लाडनूं की ओर प्रस्थान किया। गुरुदेव विदा देने के लिए बहुत दूर तक पधारे। एक नीम के पेड़ के नीचे मैंने वंदना की। उस समय एक भावमय वातावरण बना हुआ था। शब्द मूक हो रहे थे और भाव वाङ्मय बन रहे थे। प्रस्थान के पांच दिन बाद मुनि पूनमचंदजी गुरुदेव द्वारा लिखित पत्र लेकर आए। उसमें लिखा था—

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ!

सादर सुखपृच्छा! धर्मपालजी की कोठी से जब हमने चतुर्विध संघ के साथ विदा किया, तब उस नीम के वृक्ष के नीचे हम दोनों के कंठ अवरुद्ध थे, विशेष बोल नहीं पाए। पर अत्यंत उल्लासपूर्ण वातावरण में विदाई हुई, प्रसन्नता।

मार्ग में स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए सानन्द विहार करना और लाडनूं जैन विश्व भारती में यथासमय सानन्द पहुंच जाना। तुम हमारे संघ की निधि हो। मेरे मन में तुम्हारे प्रति जो हार्दिक वात्सल्य भाव है, वह न वाणी का विषय है और न लेखनी का। वैसे तुम्हारे मन में भी जो श्रद्धाभाव है, वह भी वैसा ही है, अनिर्वचनीय है। बस, वैसा ही दोनों का भाव प्रवर्धमान रहे। हम मिले-जुले प्रयत्न से शासन की दीर्घकाल तक सेवा करें, शासन को शिखर पर चढ़ाएं। यही अनन्त मंगलकामना है।

शिवास्तु ते पन्थानः।

९.११.७९ **आचार्य तुलसी**

फिल्लोर

● गुरुदेव संगरूर मर्यादा-महोत्सव संपन्न कर लाडनूं पधार रहे थे। मार्ग के मध्य गुलेरिया गांव आया। हम लोग लाडनूं में प्रवास कर रहे थे। हम अगवानी के लिए लाडनूं से विहार कर गुलेरिया गांव के बाहर पहुंचे। वहां एक बालू के टीले पर गुरुदेव के दर्शन किए। गुरुदेव ने उस मिलन को एक पद्य में गुंफित किया है—

गुलेरिया के रेतीले टीले पर मधुर मिलाप हुआ,
युवाचार्य आचार्य युगल का आपस में आलाप हुआ।
जंगल में मंगल का दृश्य अनोखा, अद्भुत लगी बहार,
सदा फूलता-फलता खिलता श्री भैक्षवगण वन गुलजार।

• गुरुदेव से अलग विहार करना मुझे अच्छा नहीं लगता था और गुरुदेव को भी अच्छा नहीं लगता था किन्तु कार्यवश वैसा करना आवश्यक होता था। मई १९८३, अहमदाबाद प्रवास के बाद गुरुदेव बाव के रास्ते से बालोतरा पहुंचे। मैं माउण्ट आबू में प्रेक्षाध्यान शिविर का संचालन कर बालोतरा पहुंचा। १७ जुलाई १९८३ दो मास के बाद मैंने गुरुदेव के दर्शन किए। गुरुदेव ने उस मिलन को एक पद्य में निबद्ध कर दिया–

चले अहमदाबाद से, करते निज निज कार्य।
आज मिले बालोतरा, युवाचार्य आचार्य।।

• सुजानगढ़ के गांधी आश्रम के पास मैंने आचार्यवर के दर्शन किए। उस समय आचार्यवर ने संस्कृत श्लोक के पदों के साथ मेरे अभिवादन को स्वीकार किया–

एहि स्वागतमाविशासनमिदं कस्माच्चिराद् दृश्यते।
का वार्त्ता परिदुर्बलोऽसि नितरां प्रीतोस्मि ते दर्शनात्।

• वि. सं. २०३७, मृगसर कृष्णा चतुर्दशी, दसानी गेस्ट हाउस के ऊपर मध्यवर्ती कमरा। रात्रि का समय। मुझे हल्का-सा ज्वर था। मैं विश्राम कर रहा था। अकस्मात् गुरुदेव वहां पधारे। मैं आसन को छोड़ पट्ट से नीचे बैठ गया। गुरुदेव पट्ट पर विराजे। गुरुदेव ने उल्लास की मुद्रा में कहा–'तुम मेरे आसन पर आसीन हो और हम तुम्हारे आसन पर।' मैंने निवेदन किया–'सब कुछ तुम्हारा ही है, मैं स्वयं तुम्हारा ही हूं।' गुरुदेव ने स्वास्थ्य की सुखपृच्छा की। मैंने उस घटना-प्रसंग को छह श्लोकों में निबद्ध कर दिया–

१. एकदा रात्रिवेलायां आचार्यप्रवरान्तिके।
उपासीनोऽहमन्येपि, मुनयः श्रावकौ तथा।।

एक बार रात्रि के समय मैं, मुनिवर्ग और दो श्रावक आचार्यप्रवर के पास उपस्थित थे।

२. मधुकरहीरालालौ, नगराजः सुजानगढ़वासी।
श्रीचंद्रदुलहराजौ, किशनलालश्च राजेन्द्रः।।

मुनि मधुकर, मुनि हीरालाल, सुजानगढ़वासी मुनि नगराजजी, मुनिश्रीचंदजी, मुनि दुलहराज, मुनि किशनलाल, मुनि राजेन्द्र–ये सात साधु उपस्थित थे।

३. धनंजयो मुनिरपि दसाणी शुभकरणनामा।
श्रीचन्द्रो बैंगानी आसीना आर्यपादाब्जे।।

मुनि धनंजय, शुभकरणजी दसानी, श्रीचंदजी बैंगानी–ये सभी आचार्यवर के चरण कमलों में आसीन थे।

४. मत्कृते विस्तृते पट्टे आचार्याः समुपस्थिताः।
सोल्लासं सविनोदं च प्रोक्तमार्यैरिदं वचः।।

५. त्वं ममासनमासीनः वयं तवासनं स्थिताः।
मया प्रोक्तमिदं सर्वं तवैवाहमपि स्वयम्।।

मेरे लिए बिछाए गए पट्ट पर आचार्यवर विराजमान हुए। उल्लास और विनोद के साथ आचार्यवर ने कहा—'तुम मेरे आसन पर आसीन हो गए हो और आज हम तुम्हारे आसन पर बैठे हैं।'

मैंने कहा—'यह सब तुम्हारा है और मैं भी तुम्हारा हूं।'

६. पश्चाद् विकल्प उत्पन्नः, किमद्भुतमिदं भवेत्।
त्वं मे मानसमासीनः किमासनकथा तदा।।

बाद में विकल्प उत्पन्न हुआ—यह क्या आश्चर्य! तुम तो मेरे मन में आसीन हो, फिर आसन की क्या बात?

प्रसाद को शतगुणित करने वाले प्रसंग अनेक हैं। उनमें से कुछेक का आकलन किया गया है।

आचार्य पदाभिषेक : पृष्ठभूमि

वि. सं. २०३५ माघ शुक्ला सप्तमी को आचार्यवर ने उत्तराधिकार के दायित्व का सूत्र मेरे हाथ में सौंपा। वि. सं. २०५० तक उसे मैंने अपने हाथों में थामे रखा। अचानक एक मोड़ आया। आचार्यवर ने आचार्य पद का विसर्जन किया और अपने युवाचार्य को आचार्य पद पर आसीन कर दिया। यह इतिहास की एक विरल घटना है। आचार्यवर ने ऐसा क्यों किया? यह कार्य आकस्मिक रीति से किया गया, ऐसा नहीं माना जा सकता। एक नई परम्परा का सूत्रपात आचार्य तुलसी जैसे महान् आचार्य आकस्मिक रीति से नहीं कर सकते। यह मानने में कोई कठिनाई नहीं कि इस कार्य के पीछे कोई गंभीर चिन्तन था।

जो अब तक नहीं हुआ, जिसकी परम्परा भी ज्ञात नहीं है, उस कार्य के सम्पादन की प्रेरणा संभवतः मैं ही बना। मेरा कर्तृत्व निर्माण की दिशा में साकार हो रहा था। व्यक्तित्व निर्माण की दिशा भी उससे अछूती नहीं थी। कुछ व्यक्तियों के मन में संदेह था—महाप्रज्ञ इतने विशाल धर्मसंघ का नेतृत्व कैसे करेंगे? वे बहुत करुणाशील हैं। संघीय व्यवस्था का सम्यक् सम्पादन कैसे करेंगे? व्यवस्था के सम्पादन में करुणा और कठोरता दोनों अपेक्षित हैं। महाप्रज्ञ कठोर बनना नहीं जानते। इस अवधारणा के आधार पर संदेह होना स्वाभाविक था। आचार्यवर इस संदेह का उत्तर अपने प्रयोग से देना चाहते थे।

युवाचार्य की नियुक्ति होते ही कुछ व्यक्तियों ने इस बात का बहुत प्रचार किया कि युवाचार्य आचार्य बन नहीं पाएंगे। आचार्यवर का स्वास्थ्य अच्छा है, युवाचार्यश्री का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। अनेक ज्योतिषियों के द्वारा यह कहलाया गया कि आचार्यवर का आयुमान लम्बा है, युवाचार्यश्री का आयुमान छोटा है। आचार्यवर इस प्रसारित सचाई को नहीं मानते थे, फिर भी मन के एक कोने में चिन्तन का कोई स्फुलिंग हो सकता है कि कहीं ऐसा न हो कि युवाचार्य को आचार्य बनने का अवसर ही न मिले। आचार्य पदाभिषेक की पृष्ठभूमि में इस चिन्तन को भी नकारा नहीं जा सकता।

आचार्यवर बहुत बार मुझे कहते थे—'तुमने धर्मसंघ की बहुत सेवा की है। विकास की यात्रा में तुम्हारा बहुत योगदान रहा है। हर स्थिति में तुम्हारे चरण मेरे साथ-साथ चले हैं। मैं चाहता हूं तुम्हारी सेवा का अंकन करूं और मैं मेरी आंखों के सामने तुम्हें धर्मसंघ के सर्वोच्च आसन पर आसीन करूं।'

आचार्यवर के मन में पल रहे अनेक भाव समन्वित हुए, तब हुआ आचार्य पद का विसर्जन और आचार्य पद का अभिषेक।

नई दिशा के चिन्तन में मैं प्रत्यक्ष सहभागी नहीं रहा। संभव है आचार्यवर ने किसी से परामर्श किया हो।

घटना के परिपार्श्व में कुछ ज्योतिर्विदों का मत भी सामने रहा। मैं नियति के चक्रव्यूह को भी अस्वीकार नहीं करता। अनेक सूत्रों ने मिलकर इस चीनांशुक का निर्माण किया।

माघ शुक्ला सप्तमी का दिन। प्रातःकाल का समय, सूर्योदय के आसपास मैं पूज्य आचार्यवर की सन्निधि में उपस्थित हुआ। आचार्यवर ने मुझे एक अलौकिक दृष्टि से देखा। संभवतः वैसी भावपूर्ण दृष्टि

से पहले कभी नहीं देखा। उस दृष्टि-निक्षेप ने ही यह अनुभव करा दिया कि आज कुछ नया होने वाला है। मैं वन्दना की मुद्रा में बैठा और आचार्यवर ने मुझे अपनी बांहों में भर लिया। सूर्योदय हो चुका था। साध्वियां वन्दन करने आईं। उन्होंने भी इस दृश्य को देखा। वे भी स्तंभित-अचंभित रह गईं। उस दृश्य को साध्वियों ने देखा, साधुओं ने देखा और श्रावक समाज ने भी देखा। सबके मन में प्रश्न हिलोरें लेने लगा। कुछ लोग मन ही मन बुदबुदाने लगे कि युवाचार्यवर सूर्योदय के समय आचार्यवर की सन्निधि में प्रतिदिन आते हैं पर आज जो देखा वह व्यवहार कभी नहीं देखा। इसका प्रयोजन क्या है? प्रश्न प्रतीक्षा के प्रकोष्ठ में चला गया।

युवाचार्य का मनोनयन माघ शुक्ला सप्तमी को हुआ था। १५ वर्ष पूरे हो चुके थे। १६वें वर्ष का चरणन्यास। साधु-साध्वियों ने मंगल भावनाएं प्रस्तुत कीं। मैंने कृतज्ञता की भाषा में कहा–

'आज का सारा उपक्रम मर्यादा-महोत्सव को समर्पित है। आचार्यवर ने मेरे लिए ऐसा दिन चुना जैसा आज तक किसी आचार्य ने नहीं चुना। मेरे गुरु ने मुझे मर्यादा में प्रतिष्ठित किया। फलस्वरूप मेरा महोत्सव मर्यादा-महोत्सव बन गया और मर्यादा-महोत्सव मेरा महोत्सव बन गया।

साध्वीप्रमुखा ने समर्पण की बात कही। साध्वियों ने अपने गीत में कहा–आचार्यश्री ने अंगुली पकड़कर आपको चलना सिखाया। पर मेरी स्थिति तो यह थी कि मैं अंगुली पकड़ना भी नहीं जानता था। मैं मानता हूं कि महापुरुष के संश्रय में अघटित भी घटित हो जाता है। आचार्यश्री के महान् उपकारों के प्रति कृतज्ञता जैसा छोटा शब्द प्रयुक्त करना नहीं चाहता। इसके लिए तो दो शब्द ही पर्याप्त हैं–जीवन का अर्पण और प्राण का समर्पण। इतिहास में खोजना पड़ेगा कि किसी गुरु ने अपने शिष्य को क्या इतना दिया है?

धर्मसंघ में शिखर को छूने वाले उत्साह को देखकर अपने दायित्व के दायरे को विस्तृत करना चाहता हूं। मेरी आकांक्षा है–धर्मसंघ की सेवा करूं। साधु-साध्वियों की चित्त समाधि में निमित्त बनूं। श्रावक समाज की धर्माराधना में सहायक बनूं। इन मंगल क्षणों में आचार्यवर से प्रार्थना करता हूं कि आप मुझे ऐसी शक्ति और ऐसा आशीर्वाद दें, जिससे मैं तेरापंथ का सच्चा सेवक बन सकूं।

आचार्यवर! जिस समय आपको संघीय दायित्व मिला आपने सोचा होगा कितना बड़ा दायित्व। मैं संघीय दायित्व को संभालता हुआ सोचता हूं कितना कितना कितना बड़ा दायित्व। पर मुझे कोई चिन्ता नहीं है। आपने मुझे अपनी अनन्त ऊर्जा से अभिषिक्त किया है। बस यही आकांक्षा है कि मैं आपके पदचिह्नों पर चल सकूं और संघ को आगे बढ़ाने में निमित्त बन सकूं।'

आचार्यवर ने अपने मंगल आशीर्वाद में कहा–

'हमारे युवाचार्य अभी तक नाबालिग हैं, साबालिग नहीं बने हैं। यह अच्छा भी है। बचपन में जितना श्रम, जितना ग्रहण होता है, उतना बाद में नहीं। इनमें ग्रहणशीलता है और वितरण की क्षमता भी। इनको दायित्व सौंपे पन्द्रह वर्ष व्यतीत हो रहे हैं पर अभी तक इन्होंने अपना दायित्व संभाला नहीं है। यह पहला वर्ष है कि इस रूप में अपना दायित्व निभाना प्रारंभ किया है। इतने दिन ये नाम निक्षेप ही रहे। अब भाव निक्षेप बन रहे हैं। इससे पूर्व मैं इन्हें जब-जब कहता–ये टालमटोल कर जाते। पर इस बार इन्होंने कार्य प्रारंभ किया है। इसमें मेरा स्वास्थ्य भी निमित्त बना है। अपने गौरवशाली इतिहास को देखता हूं–भिक्षु

स्वामी और भारमलजी—दोनों साथ-साथ रहे। आचार्य जीतमलजी ने मघवागणी को अपना दायित्व सौंपा और स्वयं मुक्त हो गए। उनके पास कोई आता तो आप कहते—मघजी की सेवा करें। हमारे युवाचार्यश्री मघवा अब बने हैं। अब कोई साधु-साध्वियां, श्रावक-श्राविकाएं आते हैं तो मैं कहता हूं—जाओ महाप्रज्ञ की सेवा करो। उनसे प्रार्थना करो। इस संदर्भ में वे सोचेंगे और करणीय कार्य करेंगे।

मैंने इन दिनों कोई अनुशासनात्मक कार्यवाही नहीं की। फिर भी सब काम पूरी व्यवस्था से सम्पादित हो रहे हैं। हमारे श्रावक-श्राविकाएं भी बड़े सजग हैं। जैसी दृष्टि मिलती है, उसी के अनुरूप कार्य करते हैं। आशीर्वाद की मुद्रा में यह हाथ उठता है, वही इनके लिए छत्र बन जाता है। इशारा होते ही उसमें प्राणपण से जुट जाते हैं। सबकी श्रद्धा, आस्था को देखकर मैं भावाभिभूत हो जाता हूं। यह सब भिक्षु स्वामी का प्रताप है, संघ का प्रताप है। सब परम प्रसन्नता के साथ अपनी साधना एवं संघीय साधना में संलग्न रहें।'

अचानक आचार्यवर ने मेरी ओर संकेत किया। मैं पट्ट से नीचे उतरा। मैं गुरुदेव के उपपात में खड़ा हो गया। पूज्य गुरुदेव ने फरमाया—'मैं राजलदेसर के युवाचार्य मनोनयन के उस नयनाभिराम दृश्य को पुनः सजीव बनाना चाहता हूं।'

'आओ, युवाचार्यजी मेरे पट्ट पर बैठो'—इस निर्देश-वाक्य को सुन मैं अवाक् रह गया। आचार्यवर के समकक्ष कैसे बैठूं?—संकोच सघन हो गया। मैं कुछ निवेदन कर पाता, उससे पहले ही आचार्यवर ने हस्तावलंब के साथ पट्ट पर बिठा लिया।

तेरापंथ धर्मसंघ का एक नेतृत्व, एक अनुशासन और पूरे संघ की यात्रा की व्यवस्था करना, हिन्दुस्तान के बड़े भाग में फैले हुए क्षेत्रों की संभाल एक बड़ा कार्य है। यह सारी व्यवस्था मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर की जाती है। गुरुदेव इन वर्षों में इस व्यवस्था से काफी मुक्त रहते थे। वह कार्य मैं सम्पादित करता। गुरुदेव ने उस कार्य के बारे में लिखा—

'महाप्रज्ञ चतुर्मासों की नियुक्ति के चिन्तन में लगे हुए हैं। कितना जटिल काम है यह। मैंने चालीस-पचास वर्षों तक अकेले यह काम किया है।'

वैसे इस कार्य में मैं लगभग पन्द्रह-बीस वर्षों से संलग्न था पर पूरा कार्य दो-तीन वर्षों से कर रहा था। मैं चाहता था—गुरुदेव हमारे कार्य की परीक्षा, निरीक्षण और समीक्षा करते रहें। इस कार्य में उनकी शक्ति और श्रम अधिक न लगे। मुझे लगता है माघ शुक्ला सप्तमी को गुरुदेव जो करना चाहते थे, मानसिक पृष्ठभूमि भीतर ही भीतर बन रही थी। यत्र-तत्र उनके उद्‌गार भी प्रकट होते और तदनुकूल व्यवहार भी सामने आने लगा।

आचार्य पद विसर्जन के दिन गुरुदेव के मुखमण्डल पर एक नई आभा, नई चमक और नई प्रसन्नता देखी। मुझे लगा—आज कोई विशिष्ट मनोभाव है और कुछ विशिष्ट होने वाला है। उस मनोभाव का चित्रण गुरुदेव ने अपनी डायरी में इस प्रकार किया है—

'आज प्रातः महाप्रज्ञजी का सोलहवां चयन दिवस उल्लासमय वातावरण में सहजभाव से संघ ने मनाया। हमने आलिंगन किया और अपने पट्ट पर एक क्षण के लिए बिठाया। सबमें हर्षातिरेक छा गया।'

आचार्य पद का विसर्जन और आचार्य पद पर नियुक्ति

वि. सं. २०५०। सुजानगढ़ मर्यादा-महोत्सव। माघ शुक्ला सप्तमी का दिन। मध्याह्न की वेला। साढ़े तीन बजे का समय। मैं चतुर्मास की घोषणा कर रहा था। वह कार्य संपन्न हुआ। घड़ी ने चार बजाए। कार्यक्रम संपन्नता की ओर था। उस समय गुरुदेव ने कहा–

'आज कुछ नया होने वाला है। वह क्या होगा, उसकी प्रतीक्षा कीजिए। कहीं ऐसा न हो, आप उस महान् कार्यक्रम से वंचित रह जाएं। आज के कार्यक्रम में कुछ विशेष बातें होने वाली हैं। जो लोग उन्हें नहीं सुन पाएंगे, वे अतृप्त रह जाएंगे। हमारे संघ में तो यह नई बात होगी ही, संभवतः अन्यत्र भी ऐसा नहीं हुआ।'

आचार्यवर की वाणी को सुन सारी परिषद् उत्सुक हो गई, मौन और उत्कंठित हो गई। सभी साधु-साध्वियां आश्चर्यभरी दृष्टि से आचार्यवर की ओर अपलक निहारने लगे।

आचार्यवर ने मुझे निर्देश दिया–खड़े हो जाओ। मैं खड़ा हुआ और आचार्यवर ने मुझे अपनी बांहों में भर लिया, प्रसन्नमुद्रा तथा उत्फुल्ल स्वर में कहा–

'यों तो मैं बार-बार कहता रहता हूं कि तुम अपना काम संभालो। संघ-व्यवस्था अपने हाथ में लो, पर वह काम पूरा नहीं हुआ। इसलिए अब मैं अपने आचार्य पद का भार तुम्हें सौंप रहा हूं, हस्तांतरित कर रहा हूं।'

आचार्यवर ने कहा–'भिक्षु स्वामी और भारमलजी साथ-साथ रहे। जयाचार्य ने मघवा को काम सौंपा और स्वयं निवृत्त हो गए। तुम्हें युवाचार्य बनाए पन्द्रह वर्ष हो गए, पर पूरा कार्य मैं ही कर रहा हूं। तुम कार्यक्षम होते हुए भी दूसरे कामों में लगे हुए हो। अब मैं पूरा दायित्व तुम्हें सौंप रहा हूं। मैं इस दायित्व को सौंप कर अपनी साधना और मानव जाति के लिए व्यापक कार्यक्रम में लगना चाहता हूं।'

'तेरापंथ के भाग्यविधाता आचार्य भिक्षु और भिक्षु शासन की परम्परा के अनुसार आचार्य अपने उत्तराधिकारी के रूप में युवाचार्य की नियुक्ति करते हैं और मैंने भी की है। पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने अपने युवाचार्य को आचार्य के रूप में नहीं देखा। मैं इसे देखना चाहता हूं। अतः मैं निर्देश देता हूं कि युवाचार्य महाप्रज्ञ आचार्य पद का दायित्व संभाले।'

आचार्यवर के निर्देश को स्वीकार कर मैंने विनम्रभाव से कहा–'जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं जहां वाणी मौन हो जाती है। मैं पहले बहुत कम बोलता था। आजकल बहुत बोलता हूं। पर अभी ऐसा अनुभव हो रहा है, जैसे वाणी थम गई है।'

उस समय मेरे पैर धरती पर टिके हुए थे और मन कल्पनालोक के शिखर को छू रहा था। मैंने नई व्यवस्था के प्रकम्पनों को संभालते हुए कहा–

'पूज्य गुरुदेव! गण के कार्य और विस्तार को ध्यान में रखकर आप व्यवस्था को नया रूप देना चाहते हैं, यह आपका युगानुरूप चिन्तन है। आप अध्यात्म के उच्च शिखर पर पहुंच चुके हैं। अतः आप हमारी नेतृत्व की परम्परा के नियंता, अनुयोग के नियामक तथा अध्यात्म-गुरु के पवित्र आसन पर विराजमान होकर 'गणाधिपति' के पद को सुशोभित करें।'

गुरुदेव ने कहा–'मैं कोई विशेषण या पद नहीं चाहता। मेरे नाम के साथ कोई पद या विशेषण जुड़े, यह आवश्यक नहीं है। मेरा तुलसी नाम आम जन-जन में परिचित हो गया है।'

मैंने आग्रहपूर्ण अनुरोध किया–'पूज्य गुरुदेव! आपको किसी पद या विशेषण की जरूरत नहीं, किन्तु मुझे और मेरे संघ को आपके पथदर्शन की जरूरत है। इसलिए आपको हमारी प्रार्थना स्वीकार करनी होगी। मैं आपका शिष्य हूं। आपने मुझे यह अधिकार दिया है। उस अधिकार का उपयोग करते हुए मैं प्रार्थना करता हूं कि आप मेरे अनुरोध को स्वीकार करें। इस प्रार्थना में सभी साधु-साध्वियां भी मेरा समर्थन करेंगे।'

यह संकेत पाते ही सभी साधु-साध्वियां प्रार्थना की मुद्रा में खड़े हो गए। हजारों-हजारों श्रावक भी खड़े हो गए। ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो पूरी परिषद् खड़ी हो गई।

आचार्यवर फिर अपने दृढ़संकल्प पर रहे। उस समय श्री शुभकरण दसानी ने कहा–'आचार्यवर! आपने मुझे एक वचन दिया था। मैं उससे अपने लिए कुछ भी नहीं मांगता। मैं उसका इस अवसर पर प्रयोग करना चाहता हूं। आप संघ की प्रार्थना को मानकर 'गणाधिपति पूज्य गुरुदेव' के पद को स्वीकार करें।'

चतुर्विध धर्मसंघ के साग्रह अनुरोध को देखते हुए आचार्यवर को अपना निर्णय बदलना पड़ा और मौन भाव से स्वीकृति प्रदान की।

इस अवसर पर गणाधिपति गुरुदेव के जयघोषों से विशाल प्रवचन पंडाल गूंज उठा।

गुरुदेव प्रायः प्रतिदिन डायरी लिखते थे। आचार्य पद का विसर्जन एक नवीन और लोकोत्तर घटना थी। उस पर अनेक प्रतिक्रियाएं हुई। गुरुदेव की डायरी में उसका सारसंक्षेप बहुत मार्मिक शब्दों में अंकित है–

[1]मैंने एक छोटा-सा लिखित वक्तव्य पढ़ा। उसमें आचार्य पद का विसर्जन और संघ का नया रूप सामने आया। मैंने कहा–अब तक किसी ने अपने युवाचार्य को आचार्य के रूप में नहीं देखा। मैं देखना चाहता हूं। अतः युवाचार्य महाप्रज्ञ को आचार्य के रूप में नियुक्त करता हूं। मैं पद का विसर्जन कर साधना करूंगा। महाप्रज्ञ का आलिंगन किया, छाती से लगाया। सब देखते रह गए।

महाप्रज्ञ बोले–मैं आपका शिष्य हूं। मुझे आपके आदेश का पालन करना होगा। पर आपको भी गणाधिपति गुरुदेव का पद स्वीकारना होगा। पूरे संघ को समर्थन में खड़ा कर लिया। मैं टालना चाहता था। आखिर समूचे संघ की बात को स्वीकारना पड़ा।

१. डायरी नं. १५, पृ. ६, १८.२.९४, माघ शुक्ला ७, २०५०

विचित्र माहौल बना। हजारों की आंखों में अश्रु बह चले। अनेक प्रतिक्रियाएं हुई। संघ का उस समय का दृश्य (सीन) दर्शनीय था। सुजानगढ़ का महोत्सव ऐतिहासिक बन गया। २०००० से अधिक जनता की उपस्थिति होगी।

महाप्रज्ञ आचार्य बन गए। तुलसी गणाधिपति गुरुदेव बन गए। सर्वथा नया इतिहास बना। परिणाम अच्छा ही रहेगा। भविष्य बतलाएगा।'

आचार्य पद का विसर्जन क्यों?

आचार्यवर ने आचार्य पद का विसर्जन क्यों किया? इस प्रश्न का उत्तर मैं दूं उससे पहले गुरुदेव की डायरी[1] के एक पृष्ठ का उल्लेख आवश्यक है।

'नया परिवर्तन अप्रत्याशित तो था ही, अकल्पित भी। क्यों हुआ? कैसे हुआ? क्या हुआ? प्रत्युत्तर किसी के पास नहीं। मैं भी मौन था। साध्वी समाज को अटपटा लगा। ऐसा क्यों हुआ? बोलने की क्षमता किसी की नहीं।

हमारे संघ का अनुशासन बेजोड़ जो रहा है। सर्वसम्मत यह एक स्वर से स्वीकृत हुआ। कहीं ऊहापोह नहीं। आशंका नहीं, हलचल नहीं। पद प्राप्ति के लिए, सुरक्षा के लिए जी-तोड़ प्रयत्न होता रहता है, अंतिम श्वास तक होता रहता है। पदत्याग के लिए यह प्रयत्न कैसा है। किसी ने शायद कह दिया होगा, कालूगणी ने इन्हें युवाचार्य इसी के लिए बनाया था क्या कि वे अंत में पदत्याग कर दें? चिंतन का एक कोण है। कोई कह सकता है, पर जो किया गया वह सुचिंतित था। अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ। बड़ी चेष्टाएं हुई जानने की। यहां परामर्श किनका रहा। पर प्रत्युत्तर कुछ नहीं।'

आचार्य तुलसी ने आचार्य पद का विसर्जन क्यों किया? यह प्रश्न लम्बे समय तक वातावरण में पर्यटन करता रहा। इसका समग्र उत्तर गुरुदेव भी नहीं दे रहे थे।

एक बार बातचीत के प्रसंग में गुरुदेव ने मुझे बताया–'लोगों के मन में यह भ्रांति है कि महाप्रज्ञ में और सब ठीक है, पर ये प्रशासन नहीं कर सकते। लोगों की इस आशंका को दूर करने के लिए मैंने ऐसा किया है।'

यह मेरा सौभाग्य है कि मेरे कार्य-कलाप के समर्थन में अधिसंख्य लोग थे तो कुछ हितैषी लोग मेरी अपूर्णता की ओर भी गुरुदेव का ध्यान आकृष्ट करते रहते थे। मैं अनेकांत में विश्वास करता रहा हूं। मैंने अनेकान्त का जीवन जीया है और उसे व्यवहार में उतारने का प्रयत्न किया है। हितैषी लोगों द्वारा किए जाने वाले प्रयत्नों को मैं सकारात्मक दृष्टि से देखता रहा हूं और आज भी देख रहा हूं।

मैं लम्बे समय तक गुरुदेव के साथ प्रशासनिक क्षेत्र में काम करता रहा और गुरुदेव मेरी प्रशासनिक गतिविधि पर विश्वास करते थे, पर कभी-कभी हितैषी लोगों की एकपक्षीय प्रतिक्रिया पर गुरुदेव का ध्यान चला जाता था। डायरी का एक पृष्ठ इस सचाई को प्रकट कर रहा है[2]–

१. डायरी नं. १५, पृ. १०, १८.२.९४, माघ शुक्ला ६, २०५०, गुरुवार
२. डायरी नं. १५, पृ. १८६, फाल्गुन कृष्णा ८, वि. सं. २०४८

'महाप्रज्ञ को कार्य सौंप दिया। काम किया भी। पर प्रशासनिक क्षमता का विकास करना अब तक शेष है, ऐसा लगता है। स्वतः निर्णय नहीं हो रहा है। प्रवाह में जल्दी आ जाते हैं। निर्णय में परिवर्तन भी जल्दी हो जाता है आदि-आदि।'

प्रशासनिक क्षमता को लेकर गुरुदेव का मनोमंथन अनेक रूपों में चलता रहा। अनेक-अनेक आलेख इस विषय के साक्षी हैं[1]—

'मेरा मन मुझे कह रहा है कि अब संघ व्यवस्था का दायित्व पूरा ही युवाचार्यजी पर छोड़ दिया जाए। मैंने ४६ वर्ष तक किया। अब मुझे अपने स्वाध्याय, ध्यान तथा अध्यात्म के विशेष कार्य में अपने आपको लगा देना चाहिए। मेरी महाप्रज्ञजी से बात भी हुई। उनको भी तैयार जैसा कर लिया। पर अब तक वैसा हो नहीं पाया। अब महाप्रज्ञ और महाश्रमण दो हो गए, फिर मुझे विराम क्यों नहीं लेना चाहिए? लगता है कोई व्यर्थ का अहं मन में काम कर रहा है कि वे इस कार्य को अभी कर नहीं सकेंगे। बाद में कैसे करेंगे? यह सब होने का काम होता रहा है, होता रहेगा। मुझे अब निर्णय कर ही लेना चाहिए।'

मैंने कभी भी अपने आपको परिपूर्ण नहीं माना। मेरा मंतव्य यह है कि कोई भी शरीरधारी परिपूर्ण नहीं हो सकता। जिसके पास वाणी है और मन है, वह परिपूर्ण कैसे हो सकता है? इसलिए मैंने नकारात्मक प्रतिक्रियाओं को भी सकारात्मक रूप में लेने का प्रयत्न किया। कभी किसी को विरोधी या शत्रु नहीं माना, किन्तु हितैषी माना और मेरी अपूर्णता को पूर्णता की ओर ले जाने में सहयोगी माना।

मैंने प्रशासन के क्षेत्र में भी अनेकांत और नयदृष्टि का प्रयोग किया इसलिए वह प्रयोग किसी की समझ में आता है और किसी की समझ से परे भी होता है।

गुरुदेवश्री प्रयोगधर्मा थे। अपने जीवन में नए-नए प्रयोग करते रहते थे। आचार्य पद का विसर्जन और चाड़वास महोत्सव ये दोनों उनके नए प्रयोग थे। इन दोनों के पीछे अनेक कारण थे। उनके विषय में गुरुदेव भी मौन थे और मैं भी मौन हूं। बाह्य जगत् में बताया जाने वाला कारण इतना ही है कि गुरुदेव मेरी प्रशासनिक क्षमता को साक्षात् देखना चाहते थे और दूसरे लोगों को भी उसकी प्रतीति कराना चाहते थे। गुरुदेव का आत्मविश्वास उनके शब्दों में बोल रहा है[2]—

'मैं जो था जहां था, वहीं हूं। आचार्य पद के दायित्व से मैंने मुक्ति ले ली है। महाप्रज्ञ में यह पद प्रतिष्ठित कर दिया है। ये सर्वथा सक्षम हैं। सबको संभाल लेंगे। मैं अब अणुव्रत अनुशास्ता के रूप में मानवता का मार्ग प्रशस्त करता रहूंगा। सब निश्चिन्त रहें। आश्वस्त रहें। स्वस्थ रहें। हमारा संघ भाग्यशाली है। सर्वत्र इस बात की प्रतिक्रिया बहुत अच्छी रही।'

गुरुदेव अपने आत्मविश्वास को दूसरों में भी संप्रेषित करना चाहते थे, यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है।

१. डायरी नं. १४, पृ. १, पौष सुद ४, वि. सं. २०४६, १.१.१९९०
२. डायरी नं. १५, पृ. ११, माघ शुक्ला ७, वि. सं. २०५०

जयपुर का एक संस्कृत वक्तव्य इसका पुष्ट प्रमाण है–

अस्ति आस्था प्रवर्धमाना। वयं जयपुरे समागताः। अनेके लोकाः अनेके परिवाराश्च आयातवन्तः। नाऽहं तान् जानामि। तैः सर्वैरपि श्रद्धा प्रकटीकृता।

अस्माकं संघेन प्रारम्भत एव प्रतिष्ठा प्राप्ता। अधुनाऽसौ विशेषतः सर्वेषामाकर्षणकेन्द्रं संजातोस्ति। सर्वेषां मनसि एका धारणा संजाता–एष संघः कार्यं कर्तुं समर्थः। कश्चित् तेरापंथसंघस्य अनुयायी नापि स्यात् तथापि तस्य मनसि एतं प्रति आस्थाभावो विद्यते।

भिक्षुरस्मिन्नेव संघे बभूव। आचार्यभिक्षुं प्रति यादृशी श्रद्धा अस्माकं संघे वर्तते तादृशी कस्मिन्नपि संघे स्वगुरुं प्रति न दृश्यते। स महत् नक्षत्रमासीत्। एतादृशः महापुरुषः सहस्राब्द्यामेव कश्चित् भवति। तस्य प्रज्ञा विलक्षणा आसीत्। स न प्राकृतपाठी आसीत् न तेन संस्कृतमधीतम् न च स हिन्दीभाषाविद् तथापि प्रतिभा विलक्षणा आसीत् तथाजातमासीद् अन्तर्दृष्टिजागरणम्। अद्भुता तस्य कार्यक्षमता। भिक्षोर्नाम अस्ति गंगायाः उद्गमस्रोतः। तस्मिन् वयं सदा निष्णाता भवामः वरमिदम्।

अस्मिन् वर्षे यज्जातं तन्मया कृतमिति नाऽहं मन्ये। ममाभिमतमिदम्–यज्जातं तत्र भिक्षोरेव काचिदज्ञातप्रेरणा। तत एव सञ्जातमिदम्। नियत्या कारितमिदम्। मया आकस्मिकरूपेण एकः स्वप्नो दृष्टः। केन कल्पना कृता–एवं भविष्यति। न मया केनापि सह चर्चा कृता। येन सह किञ्चिद् आलोचितं स आत्मीय एव। एतस्मिन् कार्ये संवृत्ते सर्वत्र अतीव अनुकूला प्रतिक्रिया सञ्जाता। अस्माकं विरोधिशिरोमणिभिरपि प्रशंसितमिदम्। कल्ये एव राजस्थानप्रदेशस्य मुख्यसचिवः मीठालालमेहताः समागतः। तेनोक्तम्–भवता आदर्शः पुरस्कृतः।

आचार्यकाले मया यदपि कृतम्–उपालम्भः प्रदत्तः, प्रायश्चित्तं प्रदत्तं तद् उत्तरीकरणार्थम्। तेन केषाञ्चन मनसि ग्लानिरपि संजाता स्यात्। तदर्थमहं क्षमायाचनां करोमि। आचार्यकल्पा युवाचार्या अपि मया कदाचिद् उपालब्धाः, परन्तु एतेषां विनयः नम्रतापूर्णव्यवहारश्च सर्वेषां कृते शिक्षणीयः प्रशिक्षणीयश्च। न मया केवलं उपालम्भ एव प्रदत्तः वर्धापनमपि विहितम्। इदानीमहं पितृस्थानीयः गुरुस्थानीयोस्मि। यूयं सर्वे मम मानस-पुत्राः शिष्याश्च। सर्वान् प्रति मम मनसि प्रगाढ़ं प्रेम विद्यते। यदा युष्माकं सर्वेषां विनयं आत्मीयभावं च पश्यामि मम चक्षुषी आर्द्रीभवतः।

एषु दिनेषु चौधरी कुम्भाराम आर्यः आयातः। वार्तालापः कृतः। तत्र एषां विनयपूर्णां मुद्रा व्यवहारं च दृष्ट्वा तेन प्रोक्तम्–कियद् अद्वैतम्। नैतादृशम् अद्वैतं मया क्वाऽपि दृष्टम्। अद्य किमहं वच्मि। अत्यन्त प्रसन्नमना अस्मि। भारहीनताम् अनुभवामि। अहं वाञ्छामि–साधुसंघे कोऽपि प्रमादी न तिष्ठेत्। कदाचित् ध्यानं, कदाचित् स्वाध्यायं, कदाचित् स्मृतिं कुर्वाणाः, सर्वेऽपि तिष्ठेयुः। सर्वे प्रसन्नाः आनन्द-निमग्नास्तिष्ठेयुः इत्युक्त्वा विरमामि।

अन्यच्च–इदानीम् अयं महाप्रज्ञः आचार्यः। सर्वाधिकारसंपन्नोऽयम्। सर्वे साधवः सर्वाः साध्व्यश्च मत्तोप्यधिकं विनयभावं श्रद्धाभावं भक्तिभावम् अनुशासनभावं च एनं प्रति रक्षेयुः। नास्मिन् विषये मम पुनः कथनावसरः समागच्छेत्। एषा अस्माकं गौरवमयी परंपरा विद्यते।

'हम लोग जयपुर में आ गए हैं। लोगों में श्रद्धा प्रवर्द्धमान है। अनेक लोग और परिवार आए। मैं उन सबको जानता भी नहीं हूं फिर भी उन्होंने गहरी श्रद्धा प्रकट की है।

हमारे धर्मसंघ ने प्रारंभ से ही प्रतिष्ठा प्राप्त की है। आज तो इसके प्रति विशेष आस्था का भाव देखा जा रहा है, सबके आकर्षण का केन्द्र बन रहा है। सबके मन में एक धारणा बन गई कि यह संघ कार्य करने में समर्थ है। कोई तेरापंथ का अनुयायी न भी हो, फिर भी उसके मन में इस संघ के प्रति आस्था का भाव दिखाई दे रहा है।

आचार्य भिक्षु इसी संघ में हुए। आचार्य भिक्षु के प्रति जैसी श्रद्धा हमारे संघ में है वैसी श्रद्धा किसी भी संघ में अपने गुरु के प्रति देखने को नहीं मिलती। आचार्य भिक्षु तेरापंथ संघ के एक महान् नक्षत्र थे। ऐसा महापुरुष सहस्राब्दी में ही कोई-कोई होता है। उनकी प्रज्ञा विलक्षण थी। वे न प्राकृत जानते थे, न उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और न ही वे हिन्दी भाषा जानते थे। फिर भी उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। लगता है उनकी अंतर्दृष्टि का जागरण हो गया था। उनकी कार्यक्षमता अद्भुत थी। भिक्षु का नाम गंगा का उद्गम स्रोत है। उसमें हम सदा निष्णात होते रहें, यह श्रेयस्कर है। इस वर्ष जो (आचार्य पद का विसर्जन) हुआ, वह मैंने किया, ऐसा मैं नहीं मानता। मेरा यह अभिमत है कि जो हुआ, उसमें आचार्य भिक्षु की ही अज्ञात प्रेरणा रही है। इसलिए यह सारा काम हुआ है अथवा नियति ने यह कार्य कराया है। मैंने अचानक एक स्वप्न देखा। किसने कल्पना की थी कि ऐसा होगा। मैंने किसी के साथ इस बारे में चर्चा भी नहीं की। जिसके साथ कुछ विचार-विमर्श किया वह आत्मीय व्यक्ति ही है। यह जो कार्य मैंने किया है, इसकी सर्वत्र अनुकूल प्रतिक्रियाएं प्राप्त हो रही हैं। हमारे विरोधी भी इस कार्य की प्रशंसा कर रहे हैं। कल ही राजस्थान प्रदेश के मुख्य सचिव मीठालाल मेहता आए थे। उन्होंने कहा—'आपने एक आदर्श प्रस्तुत किया है।'

मैंने अपने आचार्यकाल में जो कुछ भी किया, किसी को उपालम्भ दिया, किसी को प्रायश्चित्त दिया, वह सब मैंने विशोधन के लिए किया था। उससे किसी के मन में ठेस भी पहुंची होगी, इसलिए मैं क्षमायाचना करता हूं। आचार्य तुल्य युवाचार्य को भी मैंने कभी-कभी उपालम्भ दिया। किन्तु इनका विनय और नम्रतापूर्ण व्यवहार सबके लिए सीखने योग्य है।

मैंने केवल उपालम्भ ही नहीं दिया, वर्धापन भी किया है। अब मैं पिता-तुल्य, गुरु स्थानीय हूं। तुम सब मेरे पुत्र हो, शिष्य हो। सबके प्रति मेरे मन में प्रगाढ़ प्रेम है। जब तुम सबमें विनय और आत्मीय भाव देखता हूं तो मेरी आंखें गीली हो जाती हैं।

अभी इन दिनों चौधरी कुम्भाराम आर्य आए थे। उनसे वार्त्तालाप हुआ। उस समय इन (महाप्रज्ञजी) की विनयपूर्ण मुद्रा और व्यवहार को देखकर चौधरीजी ने कहा—'आप दोनों में जो अद्वैत है, ऐसा अद्वैत मैंने कहीं नहीं देखा।'

आज मैं क्या बताऊं? मैं अत्यन्त प्रसन्नमना हूं। भारहीनता का अनुभव कर रहा हूं। मैं चाहता हूं साधुसंस्था में कोई प्रमादी न रहे। सभी साधु-साध्वियां कभी ध्यान, कभी स्वाध्याय, कभी स्मरण (कंठस्थ) करें। सभी प्रसन्न, आनन्द-निमग्न रहें, इतना कहकर विराम लेता हूं।

एक बात और, अब महाप्रज्ञजी आचार्य हैं। ये सर्वाधिकार सम्पन्न हैं। सभी साधु-साध्वियां मेरे से भी अधिक विनयभाव, श्रद्धाभाव, भक्तिभाव और अनुशासन का भाव इनके प्रति रखें। इस विषय में मुझे पुनः कहने का अवसर मत देना। यह हमारी गौरवमयी परम्परा है।'

आचार्य पदाभिषेक

आचार्य पद का विसर्जन और आचार्य पद की नियुक्ति दोनों कार्य सम्पन्न हो चुके थे। आचार्य पद का अभिषेक अभी शेष था। युवाचार्य पद की नियुक्ति की सामाचारी संक्षिप्त होती है–

१. पछेवड़ी का परिवर्तन

वर्तमान आचार्य स्वयं नई पछेवड़ी धारण करते हैं फिर वही पछेवड़ी युवाचार्य पद के लिए घोषित भावी युवाचार्य को ओढ़ाते हैं।

२. आचार्य भावी युवाचार्य को अपने हाथों से नियुक्ति-पत्र देते हैं।

इस सामाचारी के बाद एक मुनि युवाचार्य के रूप में युवाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है।

गणाधिपति तुलसी ने कहा–'आचार्य पद पर अभिषिक्त करने की सामाचारी युवाचार्य की अभिषेक सामाचारी से भिन्न होनी चाहिए। इस पर चिन्तन किया जाए।'

चिन्तन का प्रारंभ हुआ। आचार्यवर ने चिन्तन किया। कुछ साधु-साध्वियों ने भी चिन्तन किया। मेरा यह विषय नहीं था फिर भी मैंने चिन्तन किया और इसलिए कि यह अभिषेक विधि प्रायोगिक बने। गुरुदेव ने प्रायोगिकता को पसंद किया और अभिषेक की प्रायोगिक पद्धति निश्चित हो गई। अभिषेक विधि उसी के आधार पर सम्पादित की गई।

आचार्य पदाभिषेक : मुख्य कार्यक्रम

भारत की राजधानी दिल्ली, माघ शुक्ला षष्ठी, (५ फरवरी, १९९५), आद्या कात्यायनी शक्तिपीठ का विशाल प्रांगण।

दस बजकर पैंतालीस मिनिट पर अध्यात्म साधना केन्द्र (महरौली) से हमने प्रस्थान किया। दोनों ओर केन्द्रीय युवा वाहिनी के सदस्यों की पंक्ति थी। सबसे आगे जैन ध्वज फिर पारमार्थिक शिक्षण संस्था की मुमुक्षु बहनें, समणीवृंद, साध्वीवृंद और उसके पश्चात् महाश्रमण मुनि मुदितकुमार मर्यादा-पत्र को दोनों हाथों में धारण कर चल रहे थे। गुरुदेव मेरा हस्तावलम्ब लेकर चल रहे थे।

ग्यारह बजकर पन्द्रह मिनिट पर हम मर्यादा समवसरण पर उपस्थित हुए। लगभग पचास हजार जन-समूह ने अभिवादन किया।

आचार्य पदाभिषेक का कार्यक्रम महाश्रमण मुनि मुदितकुमार द्वारा उद्घोषित जयघोष से प्रारंभ हुआ। उस समय ये स्वर बार-बार कानों से टकराए–

१. जय जय शासनः जय मर्यादा २. संघ पुरुष : चिरायु हो चिरायु हो।

गणाधिपति गुरुदेव द्वारा आचार्य पदाभिषेक के कार्यक्रम की विधिवत् घोषणा की गई–

'श्रद्धा विनय समेत णमो अरहंताणं' इस संगान के पश्चात् पूज्य गणाधिपति ने कहा–'मर्यादा-

महोत्सव के त्रिदिवसीय कार्यक्रम का दूसरा दिन। संघ को सर्वोच्च गरिमा देने वाला आचार्य पदाभिषेक समारोह। आज का कार्यक्रम ख्याति, पद और सत्ता के विसर्जन की साक्षात् प्रेरणा देने वाला है। मैं अपने आपमें बहुत प्रसन्न हूं, आनन्दित हूं, आह्लादित हूं।' इस वक्तव्य के साथ गणाधिपति गुरुदेव ने आचार्य पदाभिषेक के कार्यक्रम की उद्घोषणा की।

आचार्य पद विसर्जन : आकिंचन्य का नया संकल्प

गणाधिपति गुरुदेव ने नमस्कार महामंत्र की मंगल ध्वनि का उच्चारण कर एक लिखित वक्तव्य पढ़ा।

'इस अभ्युदय के समय में, मंगल घड़ी में मैं एक मंगल कार्य सम्पन्न करने जा रहा हूं। आचार्य महाप्रज्ञ को नियुक्ति-पत्र देने से पूर्व मैं अपनी लिपिबद्ध भावना को प्रस्तुत करना चाहता हूं–

मैंने आज से छह दशक पूर्व तेरापंथ धर्मसंघ का दायित्व संभाला। बाईस वर्ष की अवस्था। युवकोचित कल्पनाएं और उत्साह। विकास की अदम्य भावना। इन सबके साथ जैन शासन और तेरापंथ का अनुशासन मुझे नहीं मिलता तो संभव है जो काम करना चाहता था, नहीं कर पाता।

भगवान महावीर के अनेकांत दर्शन ने मेरे दृष्टिकोण को व्यापक बनाया। मुझे साम्प्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठने का अवसर मिला। उसके आधार पर मैंने एक विचार दिया–धर्म सम्प्रदाय से ऊपर है। धर्म का स्थान पहला है और सम्प्रदाय का स्थान दूसरा। धर्म मूल है और सम्प्रदाय है उसका तना या शाखा-प्रशाखा।

मैंने दूसरा विचार दिया–जातिवाद अतात्त्विक है। जातियां उपयोगिता की दृष्टि से बनती हैं, पर वे शाश्वत नहीं हैं। इसलिए जातिवाद उतना ही खतरनाक है जितना सम्प्रदायवाद। इन अवधारणाओं के फलस्वरूप मेरा दृष्टिकोण मानवतावादी बन गया। फलतः मानवता को बांटने वाली रेखाओं से मैं परे हो गया।

भगवान महावीर की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले आचार्यों में एक हुए हैं–आचार्य भिक्षु। उनसे मुझे अध्यात्म, आचारनिष्ठा और अनुशासन के सूत्र मिले। उनके आधार पर मैंने तेरापंथ की शक्ति को बढ़ाने का प्रयास किया। अध्यात्म की दिशा में हमारे चरण आगे बढ़े। उसमें धर्मसंघ का भी पूरा योगदान रहा। मैं अतिशयोक्ति के बिना कह सकता हूं कि अध्यात्म के क्षेत्र में हमारा कार्यक्रम पूरे विश्व में महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। इस काम को और आगे बढ़ाना है, यह मेरा संकल्प है। आचारनिष्ठा के संस्कार ने मुझे राष्ट्रीय चरित्र निर्माण की दृष्टि से काम करने के लिए प्रेरित किया। अणुव्रत आंदोलन उसी प्रेरणा की फलश्रुति है। अनुशासन से मुझे जो शक्ति मिली, उससे अपने कार्यक्रमों को विस्तार देने में सफलता मिली है।

एक ओर प्रबुद्ध साधु समाज और श्रावक समाज का नेतृत्व, दूसरी ओर विशाल जनसमुदाय से सम्पर्क। आध्यात्मिक, शैक्षणिक और प्रशासनिक गतिविधियों के साथ वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान खोजना। एक साथ इतने कार्यों का सम्पादन कोई सरल बात नहीं है। फिर भी मैं पूर्वज आचार्यों की कृपा से इस गुरुतर कार्य को संचालित करता रहता हूं। मुझे अपने कार्य में कहीं भी विफलता नहीं मिली, ऐसा मैं नहीं मानता। किन्तु निःसंकोच रूप से इतना अवश्य कह सकता हूं कि सफलता ने मेरा साथ दिया। एक बृहत्तर समाज इसका साक्षी है।

मैंने जनता के लिए कुछ किया या जनता को कुछ दिया, बात यहीं समाप्त नहीं होती। मैंने जनता से बहुत कुछ पाया भी है। अपनी व्यापक पद-यात्राओं के मध्य देश के साहित्यकारों, चिन्तकों, वैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों, शिक्षाशास्त्रियों, समाजविदों और जनसाधारण से मैं सीधा मिला। इसी कारण मैं जनता के निकट आ सका या जनता मेरे निकट आ सकी। धर्मसंघ के साहित्य ने भी जनमानस को आकृष्ट किया। कुल मिलाकर जनता मुझे अपना मानने लगी। वहां से यहां तक पहुंचने की इस अवधि में मेरी प्रशस्ति बहुत हुई, विरोध भी कम नहीं हुआ। इन दोनों स्थितियों ने मेरा संतुलन बनाए रखा। न कभी हीनभावना आई, न अहं की अनुभूति हुई। इस साम्य से मेरा कार्य आगे बढ़ता रहा है।

मैं प्रयोगधर्मा रहा हूं। इस छह दशक की अवधि में नए-नए प्रयोग करता रहा हूं। मैंने सोचा—मैं अध्यात्म का कोई नया प्रयोग करूं। मैंने आकिंचन्य के प्रयोग का निर्णय किया, जिससे मेरा कुछ भी न रहे और सब कुछ मेरा बन जाए। प्रश्न उपस्थित हुआ—तीन लोक का अधिपति कौन हो सकता है? कोई सत्ताधारी, पूंजीपति या चक्रवर्ती सम्राट् तीन लोक का अधिपति नहीं हो सकता। देवों का इन्द्र भी नहीं हो सकता, तो फिर कौन हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में अध्यात्म के आचार्य ने कहा—

अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यमिदं प्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः।।

योगियों द्वारा ज्ञात परमात्मा का रहस्य यह है कि जो व्यक्ति अकिंचन होता है, वही तीन लोक का अधिपति हो सकता है।

मैंने आकिंचन्य के नए संकल्प को स्वीकार किया है, उसकी परिणति है—आचार्य पद का विसर्जन।

वर्तमान युग में सत्ता, सम्पदा और अधिकार की लालसा बढ़ रही है। उसे रोकने के लिए उपदेश प्रभावी नहीं होगा। जो लोग बड़े पदों पर हैं, वे त्याग का उदाहरण उपस्थित करें तो नए वातावरण का सृजन हो सकता है। उस भूमिका पर मैंने पहला चरण रखा है।

वर्तमान जीवन शैली हिंसा, संघर्ष और अपराध की ओर ले जाने वाली है। मैंने सोचा कि जीवन शैली को बदलने के लिए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक नया अभियान प्रारंभ करूं। उस अभियान के साथ-साथ मैं अपने परिपार्श्व में रहने वाले संघ और समाज की आध्यात्मिक चेतना जगाने का भी प्रयत्न करूं। प्रशासनिक कार्यों में लगने वाली शक्ति को संस्कार-निर्माण और जीवन शैली के बदलाव की दिशा में नियोजित करूं।

तेरापंथ धर्मसंघ की परम्परा के अनुसार आचार्य अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति करते हैं, युवाचार्य बनाते हैं पर अब तक किसी आचार्य ने अपने युवाचार्य को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया। मेरे मन में एक संकल्प जागा। मैं लकीरों पर चलना जानता हूं और नई लकीरें खींचना भी मुझे पसन्द है। मैंने एक नई लकीर खींचने का निर्णय लिया। युवाचार्य महाप्रज्ञ को आचार्य के रूप में देखने का चिन्तन किया।

मैंने छह दशक तक संघ की सेवा की। उसे यथाशक्ति विकसित एवं पल्लवित किया। उसके साथ-साथ धर्म और अध्यात्म को नई भूमिका दी। विशाल जन-समुदाय के साथ संबंध जोड़ा। जैन धर्म को जन धर्म बनाने के लिए प्रयास किया और तेरापंथ को एक असाम्प्रदायिक संघ की पहचान देने का लक्ष्य

बनाया। इसी संदर्भ में मैंने चिन्तन किया कि अब मुझे अध्यात्म के व्यापक क्षेत्र में काम करना है, इसलिए धर्मसंघ का दायित्व अपने उत्तराधिकारी को सौंप देना चाहिए।

चिन्तन, निर्णय और क्रियान्विति के बीच कालक्षेप मुझे मान्य नहीं है। इसलिए अपने निर्णय के अनुसार मैंने एक वर्ष पहले ही १८ फरवरी, १९९४ को अपना दायित्व युवाचार्य महाप्रज्ञ को सौंप दिया। तब से वे अपना काम संभाल रहे हैं। पर उस समय घोषणा आकस्मिक थी। उस घोषणा के साथ मैंने संकेत भी दिया था कि इस काम को विधिवत् सम्पादित करना है। यद्यपि यह काम मैं ५ नवम्बर, १९९४ को करना चाहता था, पर प्राकृतिक कठिनाई के कारण नहीं कर पाया। देश की राजधानी दिल्ली में अब वह क्षण उपस्थित हुआ है। आज मैं अपने संकल्प को परिपाक के चरमबिन्दु पर पहुंचाता हूं और यह आशीर्वाद देता हूं कि आचार्य महाप्रज्ञ तेरापंथ धर्मसंघ की मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए विकास के नए आयाम उद्घाटित करें, जैन शासन की प्रभावना करें और मानव जाति के लिए कल्याणकारी कार्यक्रम प्रस्तुत करें। तेरापंथ धर्मसंघ, जैन समाज और पूरी मानव जाति आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा निर्दिष्ट पथ पर आगे बढ़ती रहे, यही शुभेच्छा है।'

वक्तव्य को सम्पन्न कर पूज्य गुरुदेव ने मेरी ओर अभिमुख होकर कहा—

'महाप्रज्ञजी! अब हमें दूरी को पाटना होगा। बंधुओ! ये मेरे शिष्य हैं, युवाचार्य हैं, अब आचार्य हैं। एक शब्द में कहूं तो ये मेरे सब कुछ हैं। मैंने इनका लालन-पालन किया है, पढ़ाया-लिखाया है और कुछ बनाने का प्रयत्न किया है। विवेकानन्द को रामकृष्ण मिले, सचमुच विवेकानन्द धन्य हो गए, पर रामकृष्ण को विवेकानन्द जैसा शिष्य मिला, यह भी कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी। ठीक इसी प्रकार आचार्य महाप्रज्ञ जैसे शिष्य मुझे मिले, यह मेरे लिए सात्त्विक गौरव का विषय है।'

पूज्य गुरुदेव के आह्वान के साथ मुनि सुमेरमल 'सुदर्शन', मुनि मधुकर, मुनि सुमेरमल, 'लाडनूं', मुनि महेन्द्रकुमार और मुनि किशनलाल मेरे पास आए और वर्धापनपूर्वक मुझे गुरुदेव के निकट ले गए। मैंने तीन बार प्रदक्षिणा कर वंदना की और विनम्रमुद्रा में गुरुदेव के सम्मुख खड़ा हो गया। पूज्य गुरुदेव ने विशाल जनसमुदाय के बीच नियुक्ति-पत्र का वाचन किया।

नियुक्ति-पत्र

अर्हम्

श्री जिनेन्द्राय नमः

श्री भी. भा. रा. ज. म. मा. डा. का. गुरुभ्यो नमः।

तेरापंथ धर्मसंघ के अष्टम आचार्य श्री कालूगणी ने मुझे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया।

मैंने ५८ वर्षों तक धर्मसंघ की सेवा की। वि. सं. २०५० (सन् १९९४) सुजानगढ़ मर्यादा-महोत्सव के मध्य अन्तःप्रेरणा से अपने आचार्य पद का विसर्जन कर युवाचार्य महाप्रज्ञ को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

वि. सं. २०५१ (सन् १९९५) दिल्ली मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आज माघ शुक्ला षष्ठी रविवार के दिन मैं महाप्रज्ञ को विधिवत् आचार्य पद पर अभिषिक्त कर रहा हूं। धर्मसंघ की परम्परा में यह

एक नया प्रयोग है। आचार्य महाप्रज्ञ अपने प्रज्ञाबल से धर्म शासन की गौरववृद्धि करेंगे और मानव जाति का सही पथदर्शन करेंगे। हमारा विनीत एवं अनुशासित धर्मसंघ आज्ञा-मर्यादा का अखण्ड पालन करता हुआ उत्तरोत्तर विकास करेगा। आचार्य महाप्रज्ञ का शासनकाल अधिक यशस्वी और कार्यकारी बने, यह मेरी मंगल भावना है।

वि. सं. २०५१ माघ शुक्ला षष्ठी, रविवार
(वीर संवत् २५२०)
(५ फरवरी, १९९५)
अध्यात्म साधना केन्द्र, महरौली
नई दिल्ली (भारत की राजधानी)

गणाधिपति तुलसी

अन्तर्मन के उद्‌गार

पूज्य गुरुदेव ने नियुक्ति-पत्र मेरे हाथों में थमाया। समूचा समवसरण 'ॐ अर्हम्' की मंगलध्वनि से गूंज उठा। प्रसन्नता की अभिव्यक्ति के लिए हजारों-हजारों हाथ एक साथ ऊपर उठ गए। उसके बाद पूज्य गुरुदेव ने एक आलेख पत्र मुझे सौंपा। उसका शीर्षक था 'मेरे अन्तर् मन के उद्‌गार–

'मैंने जो अपने आचार्य पद का विसर्जन किया है वह वास्तविक विसर्जन है। उसको औपचारिक मानने की भूल कोई न करे। स्वयं आचार्य महाप्रज्ञ तो करे ही नहीं। इससे भविष्य के चिन्तन में निश्चिन्तता रहेगी। किसी प्रकार का मानसिक संकोच रहा तो वह चिन्तन सही नहीं होगा।

इसीलिए मेरा पुनः आवेदन है, प्रवेदन है, निवेदन है कि संघ के शुभ भविष्य का सम्पूर्ण दायित्व तुम पर है। महाप्रज्ञ! आप पर है।

ये शब्द इसलिए कह रहा हूं–मुझे अनुभव हो रहा है कि कभी-कभी (तुम) आशंकित रहते हो। यह मेरे विसर्जन को दुर्बल बनाता है। इसलिए मानसिक संकल्प करो–मैं अपने दायित्व को गंभीरता से लूंगा। और उसी रूप में उसके निर्वाह का नितांत प्रयत्न रखूंगा।

मैं (तुलसी) स्वयं भारहीन और अपने दायित्व से निश्चिन्त रहता हुआ अपने आपमें संघीय विकास तथा अध्यात्म और अहिंसा को व्यापक बनाने में अपना समुचित समय लगाता रहूंगा।

मैं अपने जीवनकाल में महाप्रज्ञ को मेरे से अधिक यशस्वी आचार्य देखना चाहता हूं। इसमें मेरा परामर्श और मार्गदर्शन जहां भी जरूरी समझोगे वह निश्चित उपलब्ध रहेगा।

संघ के मौलिक स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए उसे नया रूप देना, नये इतिहास का निर्माण करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य लग रहा है। इसमें अपनी अन्तर्दृष्टि और जागृत प्रज्ञा का निस्संकोच प्रयोग करना है।

इस मेरे विसर्जन से जो मुझे यश और ख्याति मिली है उसमें भी मेरे उत्तराधिकारी को सहभागी बनाना चाहता हूं।

तुम अधिक स्वस्थ रहो। क्योंकि जीना जानते हो। जीने की कला तुम्हें प्राप्त है। प्राप्त ही नहीं उसका सतत उपयोग कर रहे हो। इसीलिए मैं अपनी ओर से शुभाशंसा करता हूं कि तुम स्वस्थ रहो ताकि हमारा

संघ युग-युग तक इस जागृत प्रज्ञा का उपयोग कर धन्यता का अनुभव करे और जैन, जैनेतर, पूरे मानव समाज का सही पथदर्शन होता रहे।

वास्तव में यह दुर्लभ क्षमता हमारे संघ को पूर्वाचार्यों की संचित तपस्या से सहज प्राप्त है। इसका जितना उपयोग हो मानव जाति का उतना ही भला होगा।

जैन धर्म और उसका यथार्थ प्रतिनिधि 'तेरापंथ' हमें विरासत में मिला है। उसके साथ अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान जैसे व्यापक कार्यक्रम भी हमारे हाथ में आए हैं। उनका उपयोग अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रारंभ हो गया है। यह मानवता के शुभ भविष्य का सूचक है।

'तेरापंथ प्रबोध' के इस सूक्त को हमेशा सामने रखो–'शुभ भविष्य है सामने।'

यह आलेख आज–वि. सं. २०५१ कार्तिक कृष्णा ३, ईस्वी सन् १९९४, दिनांक २२ अक्टूबर, शनिवार, रात्रि के ८.३० बजे, अध्यात्म साधना केन्द्र के एक प्रकोष्ठ, जिसमें महाप्रज्ञ बैठते हैं, मैंने लिखाया।

शुभं भवतु

गणाधिपति तुलसी

'तेरापंथ समाज–शुभ भविष्य है सामने'

'मेरे अन्तर् मन के उद्गार' यह आलेख मैंने सहज भाव से रात को लिखाया जो पिछले पृष्ठों में पढ़ा जा सकता है।

महाप्रज्ञ के अनुरोध पर उसी आलेख को अपनी लेखिनी से लिखकर उन्हें समर्पित कर रहा हूं।

दिनांक ५ फरवरी, १९९५, रविवार **तुलसी**

माघ शुक्ला ६, संवत् २०५१

अध्यात्म साधना केन्द्र, नई दिल्ली

छत्तरपुर रोड

अभिषेक की प्रक्रिया

अभिषेक की प्रक्रिया में श्रव्य और दृश्य दोनों का प्रयोग हो रहा था।

मैं वन्दना की मुद्रा में पूज्य गुरुदेव के सामने बैठ गया। गुरुदेव ने क्रमशः मेरे तीन चैतन्यकेन्द्रों पर अंगुष्ठ से शक्ति का संचार किया।

१. गुरुदेव ने अपने दाएं हाथ के अंगुष्ठ से दर्शनकेन्द्र का स्पर्श किया–

'आइच्चेसु अहियं पयासयरा

सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु'

इस मंत्र का तीन बार उच्चारण किया।

२. गुरुदेव ने अपने दाएं हाथ के अंगुष्ठ से ज्योतिकेन्द्र का स्पर्श किया–

'चंदेसु निम्मलयरा

सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु'

इस मंत्र का तीन बार उच्चारण किया।

३. गुरुदेव ने अपने दाएं हाथ के अंगुष्ठ से शांतिकेन्द्र का स्पर्श किया–

'सागरवर गंभीरा

सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु'

इस मंत्र का तीन बार उच्चारण किया।

४. गुरुदेव ने अपना वरदहस्त मेरे मस्तक पर रखा–

'आरोग्ग बोहिलाभं

सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु'

इस मंत्र का तीन बार उच्चारण किया।

५. **अरहंते सरणं पवज्जामि**

सिद्धे सरणं पवज्जामि

साहु सरणं पवज्जामि

केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि

इस प्रकार पांच चरणों में आध्यात्मिक अभिषेक का अनुष्ठान सम्पन्न हुआ।

इस आध्यात्मिक अभिषेक, तिलक और शक्ति-संप्रेषण के कार्यक्रम को देख दर्शक भावविभोर हो गए। ऐसा अनुभव हो रहा था कि पूज्य गुरुदेव ने अपने उपक्रम से मुझमें अपनी साधना, तेजस्विता, पुरुषार्थ और सौभाग्य को संक्रांत कर दिया।

अभिषेक के पश्चात् दायित्व समर्पण का कार्य शुरू हुआ–

पूज्य गुरुदेव पट्ट से नीचे उतरे। एक नई पछेवड़ी (चद्दर) धारण की और कहा–अभी-अभी मैंने नई पछेवड़ी ओढ़ी है। वह महाप्रज्ञ को प्रदान कर रहा हूं। गुरुदेव ने वह पछेवड़ी उतारकर अपने हाथों से मुझे ओढ़ाई। दायित्व के हस्तान्तरण का यह प्रयोग दर्शकों के मन को मोह रहा था। इस प्रयोग के बाद मैंने बैठकर गुरुदेव को वन्दना की। गुरुदेव ने मुझे उठाकर अपनी बांहों में भर लिया। उस समय साधु-साध्वी गण ने 'जय-जय धर्मसंघ अविचल हो' गीत का सुमधुर ध्वनि में संगान किया।

संकल्प विधि

अभिषेक की प्रकिया के सम्पन्न होने पर आचार्य पद के दायित्व की संकल्प विधि का समाचरण पूज्य गुरुदेव ने स्वयं किया। मैंने संकल्पों का पुनरुच्चारण करते हुए उन्हें स्वीकृत किया–

१. मैं तेरापंथ की परम्परा, मर्यादा, आचार, विचार और सामाचारी की एकता को अक्षुण्ण रखूंगा।

२. मैं तेरापंथ धर्मसंघ के दायित्व का पूर्ण निष्ठा के साथ निर्वाह करूंगा।

३. मैं तेरापंथ के व्यापक दृष्टिकोण एवं कार्यक्रम को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करूंगा।

संकल्प ग्रहण के पश्चात् पूज्य गुरुदेव ने कहा—महाप्रज्ञजी! आओ, मेरे पास बिछे पट्ट पर बैठो। मैं गुरुदेव को वन्दना कर समक्ष रखे हुए पट्ट पर बैठ गया। एक बार पुनः समवसरण जयघोष से गूंज उठा।

आचार्य पद का अभिषेक होने के पश्चात् मैंने एक संक्षिप्त वक्तव्य दिया—

मैं दस वर्ष की अवस्था में मुनि बना। मुनि बनने से पूर्व ही परिचय हो गया मुनि तुलसी से। पहले ही दिन जैसे ही मुनि बना, परम पूज्य कालूगणी ने मुझसे कहा—'तुम जाओ और मुनि तुलसी के पास रहो। उनकी भाषा में कहूं तो 'तुलछू के पास रहो।' उकार प्रधान बोलते थे वे। मैं समझता हूं—उसी समय पूज्य गुरुदेव कालूगणि ने मेरे भाग्य की लिपि अंकित कर दी।

मैं एक छोटे गांव में जन्मा। बहुत ही छोटा गांव, जहां विद्यालय भी नहीं था। मैंने विद्यार्थी के रूप में कभी विद्यालय का दरवाजा नहीं देखा। मुनि बन गया। पूज्य गुरुदेव (मुनि तुलसी) के संरक्षण में रहने लगा। भोला बालक था। कुछ ऐसा योग था कि मुनि तुलसी ने मुझे अपना लिया, अपना बना लिया, दूरी नहीं रही। यह एक सुयोग था। पतंजलि ने जिसे कहा—'समापत्ति'। तो समापत्ति हो गई, तादात्म्य हो गया। मुझे नहीं पता था कि मैं बहुत लिख-पढ़ पाऊंगा। उस समय की घटनाएं आपको सुनाऊं तो बड़ी विचित्र लगेगी। ऐसे प्रश्न पढ़ाते समय मैं पूछता था कि मुनि तुलसी को कहना पड़ता—'क्या तुम भी कभी समझ पाओगे?' किन्तु जिसे अच्छा गुरु मिल जाता है उसे फिर चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहती। मुझे क्या करना है, क्या खाना है, कहां रहना है, कहां सोना है, इन सबकी मैंने कभी कोई चिन्ता नहीं की। जब चिन्ता करने वाला कोई दूसरा है तो चिन्ता क्यों करूं? द्वितीय विश्वयुद्ध में जब जर्मनी के वायुयान इंग्लैण्ड पर बम-वर्षा कर रहे थे तो एक बुढ़िया निश्चिन्त सो जाती थी। पड़ोसी ने कहा—'हम सब डरते हैं, तुम इतना निश्चिन्त होकर कैसे सो जाती हो?' उस बुढ़िया ने कहा—'चिन्ता करने वाला जब ऊपर बैठा है तो मैं क्यों चिन्ता करूं?'

प्रबल है गुरु

मैंने भी कभी चिन्ता नहीं की। फलस्वरूप मेरा सारा भार, सारा दायित्व इस उत्तरीय को सौंपने वाले ने अपने उत्तरीय में ले लिया, अपने ऊपर ओढ़ लिया। उस समय मेरी स्थिति को जानने वाले आश्चर्य करते हैं कि मैं क्या था, क्या हो गया। कहां था कहां पहुंचा दिया गया। मैंने कभी नहीं सोचा कि मैं निकाय-सचिव बनूंगा किन्तु बन गया। मैंने कभी नहीं सोचा कि मैं युवाचार्य बनूंगा किन्तु बन गया और मैंने कभी भी यह नहीं सोचा कि तेरापंथ धर्मसंघ जैसे विशाल धर्मसंघ का आचार्य बनूंगा। न चिन्तन किया, न सोचा, न चाहा और न मांगा। बहुत से लोग मेरी जन्म-कुंडली को देखते हैं। आज भी चैनरूप भंसाली के साथ बम्बई से एक ज्योतिषी आए। समय नहीं था, किन्तु उन्होंने आग्रह कर दस मिनट का समय लिया। कुंडली देखी और कहा—'आपने मांगा नहीं, चाहा नहीं, किन्तु आचार्य पद आपके गुरु ने आपको दे दिया।' मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने कहा—'आपका गुरु बहुत प्रबल है।' मैंने कहा—'गुरु ही तो प्रबल

होता है और प्रबल होता ही क्या है?' और जिसका गुरु प्रबल होता है, उसे फिर इस दुनिया में कोई चिन्ता करने की जरूरत नहीं रहती।

इस अवसर पर आज मैं क्या कहूं? क्या मैं कृतज्ञता प्रकट करूं? बहुत छोटा पड़ता है यह कृतज्ञता शब्द। जिस गुरु ने मेरे जीवन का निर्माण किया, जिस गुरु ने एक अबोध बालक को प्रबुद्धता के उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया, उसके लिए मैं कृतज्ञता जैसे छोटे शब्द का प्रयोग करूं, यह मैं नहीं चाहता। जो जीवनदाता होता है, भाग्यविधाता होता है, उसे समझ लेना ही अच्छा है। राम ने हनुमान से कहा—मैं तुम्हें धन्यवाद देना नहीं चाहता, कृतज्ञता प्रकट करना नहीं चाहता, यह जीर्ण हो जाए, बस, मुझमें ही पच जाये कि हनुमान ने मेरी कितनी सेवा की है।

गुरुदेव! आपने मुझ पर जो अनंत उपकार किया है, इतना वात्सल्य दिया है और कितना क्या-क्या किया है, उसके प्रति आभार व्यक्त करने के लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नहीं हैं। पंडित दलसुखभाई मालवणिया कहते हैं—'पन्द्रह सौ वर्ष के इतिहास में, जैन परम्परा के इतिहास में गुरु-शिष्य का ऐसा संबंध देखने में नहीं आया।'

भक्त भगवान बन गया

मैं अपना सौभाग्य मानता हूं कि मुझे ऐसा गुरु मिला, जिसने मेरे सौभाग्य का निर्माण किया। आज गुरुदेव ने मुझे अपने आसन पर प्रतिष्ठित किया। मैं मानतुंग सूरि के उन शब्दों को याद करूं, जो उन्होंने भक्तामर स्तोत्र में लिखे—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!
भूतैर्गुणैर्भुविभवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति।।

मुझे लगता है संभवतः अणुव्रत अनुशास्ता गणाधिपति तुलसी को लक्ष्य कर ही उन्होंने ये पंक्तियां लिखी होंगी। उन्होंने लिखा—इसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं कि आपकी स्तुति और भक्ति करने वाला आपके समान बन जाता है। आचार्य मानतुंग कहते हैं—'मैं उस भगवान को कोई मूल्य नहीं देता, जो भक्त को सदा भक्त बनाए रखता है और स्वयं भगवान बना रहता है। मैं उस भगवान को मूल्य देता हूं, जो अपने भक्त को भी अपने समान भगवान बना दे।' इस श्लोक को लाखों ने पढ़ा है, प्रतिदिन जैन लोग इसका सस्वर पाठ करते हैं, किन्तु किसी ने भी इसका क्रियान्वयन नहीं किया। इसका क्रियान्वयन किसी ने किया है तो एकमात्र मेरे भाग्यविधाता ने किया है।

अपनी बात

अब मैं अपनी बात कहूं। आपने बहुत कुछ किया। मुझे जिस संघ का दायित्व सौंपा है, वह बहुत विशाल धर्मसंघ है। संख्या की दृष्टि से, और उससे भी अधिक कार्य की दृष्टि से। जब गुरुदेव आचार्य बने थे, तो उस समय हमारे धर्मसंघ में मात्र एक सभा थी—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता। इसके अतिरिक्त न कोई संस्था और न कोई कार्यक्रम। गुरुदेव ने अपने श्रम से धर्मसंघ का इतना विस्तार किया कि

आज पूरे देश में लगभग चार सौ तेरापंथी सभाएं हैं। डेढ़ सौ से अधिक युवक परिषदें हैं, दो सौ इक्यावन महिला मंडल की संस्थाएं हैं। पचास से अधिक अणुव्रत समितियां, अणुव्रत शिक्षक संसद के डेढ़ लाख से अधिक सदस्य, देश और विदेश में स्थापित प्रेक्षाध्यान केन्द्र, अहिंसा प्रशिक्षण केन्द्र, जीवन विज्ञान अकादमी और प्रायः हर क्षेत्र में चल रही ज्ञानशालाएं–इतने सारे कार्यक्रम आपके दिए हुए चल रहे हैं। मैं कहना चाहता हूं कि गुरुदेव ने संभवतः और ज्यादा ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी। यह कैसे कहूं कि ध्यान नहीं दिया किन्तु संकोचपूर्वक कहूंगा कि और ध्यान देते तथा मुझसे ज्यादा किसी सक्षम को ढूंढ़ते तो कितना अच्छा होता। दुबला-पतला हूं। मेरे दुर्बल कन्धों पर इतना भार रखते समय गुरुदेव ने कुछ सोचा तो होगा ही। नहीं सोचा होगा, यह मैं कैसे मान लूं? जरूर सोचा होगा। किन्तु सोचता हूं कि कितना अच्छा होता कि किसी मजबूत कन्धे वाले को गुरुदेव चुनते। पर आखिर गुरु गुरु होता है। जो कर दिया, वह मान्य है, शिरोधार्य है। आज ही क्या, साठ वर्ष से स्वीकार करता आ रहा हूं, आज क्यों नहीं स्वीकार करूंगा?

अनुशासित और विनीत धर्म परिवार

मैं इस अवसर पर पूरे धर्मसंघ को आश्वस्त और विश्वस्त करना चाहता हूं कि मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। चिन्ता करना सीखा ही नहीं। इसलिए कि मुझे भगवान महावीर का अनेकांत दर्शन मिला है, मुझे आचार्य भिक्षु के अनुशासन का सूत्र मिला है, पूज्य कालूगणी की अनन्त करुणा मिली है, उनके साये में मैं जीया हूं और मुझे अपने भाग्यविधाता गुरुवर तुलसी का तो सब कुछ मिला है। फिर मुझे किस बात की चिन्ता? इतने बड़े दायित्व और इतने बड़े धर्मसंघ के संचालन का मैं पूरी निष्ठा के साथ, जैसा कि गुरुदेव ने संकल्प करवाया है, निर्वाह करूंगा। चिन्ता इसलिए भी मुझे नहीं है कि ऐसा विनीत और अनुशासित धर्मसंघ हमें मिला है जो इशारे को समझता है, आचार्य के इंगित को मानकर चलता है, कहने की जरूरत ही नहीं पड़ती। मेरे सहयोगी के रूप में महाश्रमण मुदितकुमार को गुरुदेव ने पहले से ही नियुक्त कर रखा है जो मेरे अंतरंग कार्य के सहयोगी हैं। महाश्रमणीजी, जो हमारी साध्वियों और समणियों का नेतृत्व करती हैं, मेरी पूरी सहयोगी हैं। जब इतने शक्तिशाली सहयोगी हों तो फिर मैं क्यों चिन्ता करूं? मेरे सभी साधु-साध्वियां आज्ञा और अनुशासन को पूर्ण रूप से मानने वाले और आत्मनिष्ठ हैं, इन सबका सहयोग मुझे प्राप्त है। श्रावक समाज अत्यन्त विनीत और अनुशासित है। ऐसा समाज जिसे मिल जाये, उसे क्या चिन्ता होगी।

कृतज्ञता के स्वर

मैं इस अवसर पर अपनी स्वर्गीया माता साध्वीश्री बालूजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। उन्होंने मुझे अध्यात्म के संस्कार दिये। बचपन की बात याद है मुझे। जब वे रात्रि के पिछले प्रहर में गाती थी– **'संत भीखणजी रो समरण कीजै।'** चौबीसी, आराधना के बोल उनके द्वारा मेरे भीतर जमते गए।

साध्वी मालूजी, जिन्होंने मेरा पालन-पोषण किया, के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

मैं नहीं भूल सकता छबीलजी स्वामी को, जिन्होंने प्रथम बार बीज बोने का काम करते हुए मुझसे कहा–'तुम गंगाशहर जाओ, पूज्य कालूगणी के दर्शन करो। वहीं तुम्हें मुनि तुलसी भी मिलेंगे, उनके भी दर्शन करना।'

मैं कभी नहीं भूल सकता सेवाभावी मुनि चम्पालालजी स्वामी को, चतुर्विध धर्मसंघ जिन्हें भाईजी महाराज के नाम से जानता है। उनके साथ मैं बहुत वर्षों तक रहा और उन्होंने मेरे लिए बहुत कुछ किया।

और सबसे अधिक मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी के प्रति कृतज्ञता। उनके जैसा प्रबुद्ध चिंतक और गंभीर व्यक्ति मैंने दूसरा नहीं देखा। मेरे साथ वे जो कुछ बात करते, उससे मुझे ऐसा लगता, जैसे वे सचमुच कोई बीज बो रहे हैं।

अन्य अनेक साधु-साध्वियों का मुझे स्नेह और संरक्षण मिला है। मुनि चंपालालजी (बेगवानी), मुनि चंपालालजी (बैद) आदि अनेक संतों ने मेरी खूब सेवा की। सभी का मुझ पर उपकार है। सबके प्रति कृतज्ञभाव से मैं अभिवंदना करता हूं और चाहता हूं कि हमारे धर्मसंघ में इस तरह एक-दूसरे को बनाने की, निर्माण करने की प्रक्रिया चालू रहे।

व्यापक दृष्टिकोण

गुरुदेव! आपने मुझे तेरापंथ धर्मसंघ का आचार्य बनाया, किन्तु आपने अपने लिए अध्यात्म का विशेष मार्ग चुना है। अभी तक आपने अपने हर कार्य में मुझे अपने साथ रखा है, अध्यात्म के कार्य में भी रखा है। धर्म को व्यापक रूप दिया। धर्माचार्य कहते–विज्ञान ने धर्म का सत्यानाश कर दिया, किन्तु आपने मुझसे कहा कि इस सचाई को हमें स्वीकार करना है कि विज्ञान ने धर्म का बहुत उपकार किया है। उस समय लोग कहते–समाजवाद और साम्यवाद एक मुनि को नहीं पढ़ना चाहिए, अन्यथा वह भ्रष्ट हो जायेगा। कभी ऐसी ही शिकायत मुनियों ने गुरुदेव से की।

गुरुदेव ने कहा–'तुम लोग चिन्ता मत करो, वह मेरी आज्ञा से पढ़ रहा है।' मैंने साम्यवाद पढ़ा, समाजवाद पढ़ा, राजनीतिक प्रणालियों को पढ़ा, विज्ञान के बारे में पढ़ा। यह सब कुछ न पढ़ पाता अगर गुरुदेव की प्रेरणा और निर्देश न होता। आपने दृष्टिकोण को भी व्यापक बनाया है।

लोग पूछते हैं मुझसे कि अब आप नई भूमिका में क्या करेंगे? कल दूरदर्शन वालों ने पूछा, और भी अनेक विशिष्ट लोगों ने पूछा कि अब आप क्या करेंगे? मैंने कहा–मैं कोई नया काम तो नहीं शुरू करूंगा, हां, नया कुछ जरूर जोड़ूंगा।

पहली प्राथमिकता

मानव के सामने आज तीन बड़ी समस्याएं हैं–

१. रोटी की समस्या २. चारित्र की समस्या ३. मानसिक शांति की समस्या।

ये तीन बड़ी समस्याएं हैं आज की। रोटी की समस्या को सुलझाने का दायित्व राजनेताओं पर है। शेष बची दो–चारित्र की समस्या और मानसिक शांति की समस्या। चारित्र की समस्या को सुलझाने से भी अधिक वरीयता मैं देना चाहता हूं मानसिक समस्या को सुलझाने को। मैं अपनी और अपने धर्मसंघ की पूरी शक्ति का इस कार्य में नियोजन करना चाहता हूं। (पूज्य गुरुदेव ने टिप्पणी की–यदि यह समस्या सुलझ जाए तो समस्या रह ही नहीं जायेगी।) गुरुदेव ने बिल्कुल ठीक कहा कि प्राथमिकता दी जा रही है गरीबी को, जबकि प्राथमिकता देनी चाहिए चारित्र को, मानसिक स्वास्थ्य को, जिनके आधार पर गरीबी पनप रही है और चल रही है। गरीबी चरित्रहीनता की ही तो उपज है।

मानव जाति के लिए

एक और आशीर्वाद मैं आपसे चाहता हूं। उसे चाहे आप मेरी नीति की घोषणा समझें या कुछ और। वह यह–

१. मानसिक समस्याओं को सुलझाने में

२. अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करने में

३. अध्यात्मनिष्ठ साम्यवादी समाज व्यवस्था के द्वारा स्वस्थ समाज की रचना करने में

मैं अपनी शक्ति और अपने धर्मसंघ की शक्ति का नियोजन करूं, यह आशीर्वाद आप मुझे प्रदान करें।

समाज से कट कर हम चल नहीं सकते। हमारा विश्वास एकान्त में नहीं, अनेकान्त में है। जितनी अच्छी समाज व्यवस्था, उतना अच्छा चरित्र का विकास। जितना अच्छा चरित्र उतनी अच्छी समाज की व्यवस्था। इन दोनों का एक योग है, जिसे कभी अलग नहीं किया जा सकता। यही हमारा मुख्य कार्य रहेगा। हमारा दृष्टिकोण, जो व्यापक बना है, कभी संकुचित नहीं होगा। तेरापंथ धर्मसंघ का असाम्प्रदायिक व्यापक दृष्टिकोण और पूरी मानव जाति के लिए निर्धारित उसका कार्यक्रम, जैसा गुरुदेव द्वारा प्रदत्त है, वैसा ही चलेगा। मुझे आशीर्वाद दें कि उसमें कुछ और जोड़ सकूं, उसमें कुछ और निखार ला सकूं।

धर्मसंघ की अपेक्षाएं

हमारे धर्मसंध की आज कुछ अपेक्षाएं हैं–

१. चित्त समाधि
२. सेवा और श्रम
३. उच्च शिक्षा
४. स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता
५. अनेकांत का जीवन व्यवहार में प्रयोग

हमारी पहली आवश्यकता होती है–चित्त समाधि। हम अपने संघ में साधु-साध्वियों की अंतरंग परिषद् में सबसे पहली प्राथमिकता देते हैं चित्त समाधि को। जो आचार्य अपने साधु-साध्वियों की चित्त समाधि को नहीं रख पाता, वह सफल आचार्य नहीं कहलाता। प्रयत्न रहे कि प्रत्येक साधु-साध्वी के चित्त समाधि रहे। दूसरी बात सेवा और श्रम की। हमारे धर्मसंघ में सेवा को जितना महत्त्व दिया गया है उतना और किसी दूसरी चीज को नहीं। इसके साथ-साथ उच्च शिक्षा। कोरा भजनानन्दी नहीं बनना है। युग के साथ चलने के लिए उच्च शिक्षा की अनिवार्यता है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता और अनेकांत को जीवन व्यवहार में लाना ये सूत्र हमारे धर्मसंघ में विकसित होते रहें, इसके लिए भी मैं आपसे आशीर्वाद चाहता हूं।

रोहिणी का दायित्व निभाऊं

चार प्रकार की मनोवृत्तियां हैं–

सेठ ने अपनी पुत्रवधुओं को पांच चावल देते हुए कहा–पांच वर्षों के बाद इन्हें लौटाना है।

एक पुत्रवधू ने उन्हें गली में फेंक दिए–पांच वर्ष बाद नए चावल दे दूंगी। यह उज्झिता मनोवृत्ति है।

एक ने उन्हें खा लिया। यह भोगवती मनोवृत्ति है।

तीसरी पुत्रवधू ने उन्हें सुरक्षित डिब्बे में रख लिया। यह रक्षिता मनोवृत्ति है।

चौथी पुत्रवधू ने पांच चावलों से खेती शुरू की और उसके बीज बढ़ा दिए। यह है रोहिणी मनोवृत्ति।

गुरुदेव मैं उज्झिता में विश्वास नहीं करता, भोगवती में विश्वास नहीं करता। रक्षिता में अपेक्षित विश्वास करता हूं। आप मुझे आशीर्वाद दें कि मैं रोहिणी का दायित्व निभाऊं।

महाभारत में पुरुषार्थ के चार प्रयोजन बताए गए हैं–

अलब्धं चैव लिप्सेत, लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव, वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्।।
एतच्चतुर्विधं विद्यात्, पुरुषार्थप्रयोजनम्।
अस्य नित्यमनुष्ठानं, सम्यक् कुर्यादतन्द्रितः।।

जो नहीं मिला, उसे पाने की चेष्टा करो। जो मिल गया, प्रयत्न के साथ उसकी रक्षा करो। जिसकी रक्षा की या जो रक्षित है, उसे और बढ़ाओ, उतना ही मत रखो। और जो बढ़ गया, उसे पात्र में नियोजित करो।

संघ में जो बढ़ा है, उसे मैं पात्र में नियोजित करने का प्रयत्न करूंगा। पात्र का बड़ा महत्त्व होता है। संस्कृत कवि ने कहा है–

जलस्य वह्निना वैरं, विधात्रा परिकल्पितम्।
सुपात्रं यदि मध्यस्थं, नृणां भोगाय कल्पते।।

जल का अग्नि के साथ वैर है। अग्नि में जल डालो, बुझ जायेगी। बीच में पात्र रख दो, पानी गर्म होकर उपयोगी बन जायेगा।

लक्ष्य है अध्यात्म का विकास

आपका आशीर्वाद और पथदर्शन मुझे निरन्तर मिलता रहे कि मैं इस संघ की संपदा को सुरक्षित रखूं, उसे बढ़ाऊं और पात्र में नियोजित भी करूं।

मेरे जीवन का सदा से ही लक्ष्य रहा–अध्यात्म का विकास। मेरी धारणा है कि जिस व्यक्ति, समाज या राष्ट्र में अध्यात्म का विकास नहीं होता, वहां फिर अपराध का ही विकास होता है। गुरुदेव! मुझे ऐसा आशीर्वाद दें कि अध्यात्म के क्षेत्र में अधिक से अधिक मैं स्वयं की शक्ति और संघ की शक्ति को भी उसमें लगा सकूं। आपका आशीर्वाद, आपका वरदहस्त मेरे सिर पर है। जो दायित्व आपने मुझे सौंपा है, उसे चलाने में, बढ़ाने में मेरी ऊर्जा, प्राणशक्ति और अधिक सक्रिय बने।'

मेरे वक्तव्य के बाद अभिनन्दन, अभिवादन और वंदना का क्रम चला।

विकास महोत्सव

मैं बचपन से ही गुरुदेव के साथ अभेद का अनुभव करता रहा। आचार्य पद का दायित्व सौंपने के पश्चात् मुझे लगा कि अभेद की मात्रा सहस्रगुणित हो गई। उसकी कुछ रेखाओं का अंकन उपयोगी होगा।

विकास महोत्सव : उद्भव का इतिहास

भाद्रपद शुक्ला नवमी का दिन सामने था। गुरुदेव ने कहा–इस बार हमारा पट्टोत्सव नहीं मनाया जाएगा। मैं आचार्य पद का विसर्जन कर चुका हूं। आचार्य पद का दायित्व तुम्हें सौंप चुका हूं फिर मेरा पट्टोत्सव क्यों मनाया जाए?

मैंने गुरुदेव का वक्तव्य सुना, पर मुझे प्रिय नहीं लगा। जिस दिन के साथ हजारों-हजारों लोगों की गहरी श्रद्धा जुड़ी हुई है उसे क्यों न मनाया जाए? मैंने गुरुदेव के सामने यह तर्क प्रस्तुत किया, पर गुरुदेव को मेरा तर्क मान्य नहीं हुआ। एक समस्या सामने आ गई–गुरुदेव की बात मुझे मान्य नहीं हुई और मेरी बात गुरुदेव को मान्य नहीं हुई। इसका समाधान करने के लिए कोई नया रास्ता खोजना जरूरी हो गया।

मैं एकान्त में चिन्तन की मुद्रा में बैठ गया। चिन्तन के बीच कुछ क्षण अचिन्तन के भी आए और समाधान हो गया। उस समाधान को गुरुदेव भी अस्वीकार नहीं कर सके। भाद्रपद शुक्ला नवमी का महत्त्व कम न हो, बढ़ता रहे, यह मेरा संकल्प था। मैंने गुरुदेव के सामने विकास महोत्सव का प्रस्ताव रखा। इस विषय में गुरुदेव का आलेख बहुत महत्त्वपूर्ण है–

'तेरापंथ धर्मसंघ में महोत्सवों की एक सार्थक शृंखला रही है। उसमें एक नई कड़ी जुड़ी वि. सं. २०५१, दिल्ली चातुर्मास्य में। भाद्रपद शुक्ला नवमी का प्रसंग सामने था। उसे लेकर सदा की तरह पट्टोत्सव की तैयारियां होने लगीं। मैंने कहा–'मैं अपना पद विसर्जित कर चुका हूं। उसके साथ ही पट्टोत्सव की प्रासंगिकता बदल गई है। इसलिए नवमी को पट्टोत्सव का आयोजन नहीं हो सकता।' चारों ओर से अनुरोध और आग्रह के बावजूद मैंने उसे अमान्य कर दिया। मेरी दृढ़ता ने उस संदर्भ में कुछ भी सोचने का रास्ता बन्द कर दिया।

अब महाप्रज्ञजी को अपनी महाप्रज्ञा का प्रयोग करना था। उनका स्वभाव ही ऐसा है कि वे झटपट हार नहीं मानते। वे बोले–'हमें आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, पर आप हमारे उत्साह को रोक नहीं सकते, हम इस दिन को अवश्य मनायेंगे।'

मैंने कहा–'आज्ञा भी शिरोधार्य और दिन को भी मनाना–ये दो विरोधी बातें कैसे हो सकेंगी?' महाप्रज्ञजी बोले–'गुरुदेव! आपने संघ में विकास के अनगिनत आयाम खोले हैं। उनको निमित्त बनाकर हम 'विकास महोत्सव' मनाएंगे और यह तेरापंथ धर्मसंघ में मर्यादा-महोत्सव की तरह व्यापक रूप में मनाया जायेगा।' मैंने इसे भी टालना चाहा, किन्तु महाप्रज्ञजी के तर्क इतने अकाट्य थे कि मुझे मौन स्वीकृति देनी पड़ी। यह है 'विकास महोत्सव' के उद्भव का संक्षिप्त-सा इतिहास।'

वह धर्मसंघ चिरजीवी होता है, जिसमें मर्यादा और अनुशासन का असाधारण महत्त्व होता है।

वह धर्मसंघ शक्तिशाली होता है जिसमें विकास की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

तेरापंथ धर्मसंघ इसीलिए चिरजीवी है कि उसमें मर्यादा और अनुशासन का अमाप्य मूल्य है।

तेरापंथ धर्मसंघ इसीलिए शक्तिशाली है कि उसमें विकास की यात्रा निरन्तर गतिशील है।

जयाचार्य ने दूसरी शताब्दी में मर्यादा-महोत्सव की स्थापना की। वह अनुशासन की रीढ़ बना हुआ है। गुरुदेव द्वारा पट्टोत्सव की आयोजना का अस्वीकार और मेरे द्वारा पट्टोत्सव के रूपान्तरण का दृष्टिकोण–दोनों के समन्वय से विकास महोत्सव की स्थापना हो गई।

गुरुदेव ने कहा–पट्टोत्सव न मनाया जाए। मैंने निर्णय किया–पट्टोत्सव को नया रूप दिया जाए। इन दोनों भावनाओं के मिश्रण से एक नई प्रजाति बन गई। उसका नाम है विकास महोत्सव।

विकास महोत्सव की स्थापना का श्रेय न गणाधिपति तुलसी को है न आचार्य महाप्रज्ञ को। उसका श्रेय है धन (Positive) और ऋण (Negative) ऊर्जा को। गुरुदेव के नकार और मेरे सकार से एक नई ऊर्जा पैदा हो गई और एक नई परिकल्पना साकार बन गई।

१३ सितम्बर, १९९४, भाद्रपद शुक्ला नवमी, वि. सं. २०५१। अध्यात्म साधना केन्द्र महरौली। जनाकीर्ण प्रवचन पंडाल। मैंने विकास महोत्सव की परिकल्पना प्रस्तुत करते हुए कहा–'आज हम मंगल युग में प्रवेश कर रहे हैं। इसलिए मैं चाहता हूं कि मंगल-ध्वनि का सामूहिक उच्चारण किया जाए। 'मंगलं भगवान वीरो'–आदि पद्यों का समवेत स्वर में समुच्चारण करते हुए मैंने आगे कहा–आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ में नए आयाम उद्घाटित किए जिससे इतिहास में नए अध्याय का सृजन हुआ। आज से एक सौ तीस वर्ष पूर्व तेरापंथ के भाग्यविधाता जयाचार्य ने तेरापंथ की भाग्यलिपि में कुछ नए अक्षर लिखे–'मर्यादा-महोत्सव! मर्यादा, व्यवस्था और अनुशासन में रहने वाला संघ ही नया विकास, नया विश्वास पैदा कर सकता है। उसके सामने विकास का असीम अवकाश है। पदार्थ असीम नहीं होता, अध्यात्म जैसा शाश्वत तत्त्व ही असीम हो सकता है। एक सौ तीस वर्ष बाद महोत्सव की शृंखला में एक नई कड़ी जुड़ रही है–विकास महोत्सव की। किसी संघ में मर्यादा का महोत्सव मनाया जाता है, विकास का महोत्सव मनाया जाता है, हमने नहीं सुना। हमारे संघ की नियति ही शुभ है। यहां अध्यात्म और विकास के नए-नए आयाम खुलते जा रहे हैं और भविष्य में खुलते रहेंगे।'

'अब तक हम मर्यादा-महोत्सव, भिक्षु चरमोत्सव और वर्तमान आचार्य का पट्टोत्सव–ये तीन महोत्सव मनाते रहे हैं। आज से इसी क्रम में विकास महोत्सव जुड़ रहा है। पूज्य गुरुदेव के पट्टोत्सव का दिन अब से विकास महोत्सव के रूप में मनाया जाएगा। पूज्य गुरुदेव! तेरापंथ है, तब तक विकास महोत्सव मनाया जाता रहेगा। इसका आधार हमारा विकास महोत्सव का परिपत्र है।'

विकास महोत्सव : आधार-पत्र

मैंने विकास महोत्सव की पृष्ठभूमि, उद्देश्य और आधारभूत तत्त्वों की प्रस्तुति देने वाले परिपत्र का वाचन किया। वह इस प्रकार है–

'धर्म-शासन की शक्ति का उन्नयन हो, यह गण के प्रत्येक सदस्य का पवित्र मनोरथ होना चाहिए। शक्ति का उन्नयन विकास की प्रक्रिया के द्वारा संभव है। उत्तरोत्तर विकास नहीं होता तब शक्ति कुंठित हो जाती है। इसलिए विकास की प्रक्रिया निरन्तर चलनी चाहिए। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का प्रवर्तन (वि. सं. १८१७, ईस्वी सन् १७६०) किया। उन्होंने विकास का बीज-वपन कर दिया। साहित्य के क्षेत्र में उनका अवदान निश्चित रूप से अविस्मरणीय है।'

अनुस्मृति है कि हेमराजजी स्वामी की दीक्षा (वि. सं. १८५३, ई. सन् १७९६) के पश्चात् संघ का चतुर्मुखी विकास शुरू हुआ। श्रीमज्जयाचार्य विकास के मेरुदण्ड बने। उन्होंने अनुशासन, मर्यादा, व्यवस्था, साहित्य आदि अनेक क्षेत्रों में विकास के कीर्तिमान स्थापित किए। मर्यादा-महोत्सव उनकी दूरदर्शी दृष्टि का परिणाम है।

प्रत्येक आचार्य ने अपने-अपने समय में विकास की कोई न कोई रेखा खींची। तेरापंथ के आधुनिक विकास के मंत्रदाता हैं—पूज्य कालूगणी। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत विद्या का बीज-वपन कर तेरापंथ धर्मसंघ को मध्यकालीन जैनयुग में प्रवेश करवा दिया तथा साथ-साथ आधुनिक युग में प्रवेश का द्वार खोल दिया।

विकास के शलाकापुरुष हैं—आचार्यश्री तुलसी। आचार्यवर ने शिक्षा, साहित्य, शोध, आगम-सम्पादन, अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान, अहिंसा-प्रशिक्षण, विहारक्षेत्र-विस्तार, समण श्रेणी, विदेश-यात्रा आदि विकास के नए-नए आयाम उद्घाटित किए। आचार्यवर की सृजनात्मक प्रतिभा, कल्पना शक्ति और कर्मजा मति ने विकास का मार्ग प्रशस्त किया। हमारी विकास की गति निरन्तर आगे बढ़े, इसलिए विकास महोत्सव की परिकल्पना की गई है।

आचार्यश्री तुलसी की अभिवंदना में भाद्रपद शुक्ला नवमी का दिन विकास महोत्सव के रूप में मनाने का निश्चय किया गया है।

भाद्रपद शुक्ला नवमी के दिन आचार्य तुलसी आचार्य पद पर अभिषिक्त हुए। प्रतिवर्ष यह दिन 'पट्टोत्सव' के रूप में मनाया जाता है। वि. सं. २०५० माघ शुक्ला सप्तमी, मर्यादा-महोत्सव के दिन सुजानगढ़ में आचार्य पद का दायित्व युवाचार्य महाप्रज्ञ में प्रतिष्ठित कर दिया। अतः अब 'पट्टोत्सव' विकास महोत्सव के रूप में मनाया जाएगा।

विकास-पत्र

अर्हं ॐ ऐं अर्हं। णमो अरहंताणं।

विकास महोत्सव : विक्रम संवत् २०५१, भा. शु. ९

विकास का आधार—

मर्यादा-महोत्सव जैसे हमारी संघीय-व्यवस्था के लिए आधार-स्तम्भ है, वैसे ही विकास महोत्सव संघीय विकास के लिए आधार-स्तम्भ है।

तेरापंथ के विकास के मौलिक आधार हैं—

१. अनुशासन–एक आचार्य का नेतृत्व २. अध्यात्म ३. अप्रमाद

अनुशासन के बिना विकास की प्रक्रिया को सुनियोजित ढंग से आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

विकास की दिशाएं–

आध्यात्मिक दृष्टि से विकास के पांच बिन्दु हैं–

१. ज्ञान २. दर्शन ३. चारित्र ४. तप ५. वीर्य।

संघीय विकास के चार बिन्दु हैं–

१. पारस्परिक सौहार्द, २. सेवा, ३. विहार-क्षेत्र, ४. श्रावक समाज की सार-संभाल की संवृद्धि।

सार्वजनिक दृष्टि से विकास के पांच बिन्दु हैं–

१. जन-सम्पर्क २. साहित्य ३. वक्तृत्व ४. संगीत ५. कला।

विकास के साधन–

१. शिक्षा–अध्ययन-अध्यापन २. स्वाध्याय ३. आगम अनुसंधान ४. अहिंसा प्रशिक्षण

५. अणुव्रत ६. प्रेक्षाध्यान ७. जीवन विज्ञान।

तेरापंथ धर्मसंघ में जैसे मर्यादा की अक्षुण्ण परम्परा है, वैसे विकास की भी अक्षुण्ण परम्परा रहे। आचार्य का कर्तव्य होगा कि इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखे। पूरे संघ का कर्तव्य है कि वह इस कार्य में संभागी रहे। विकास के तीन आयाम हैं–१. आगे बढ़ना, २. रुकना, ३. पीछे मुड़कर देखना, समीक्षा करना।

विधि और निषेध दोनों विकास के अंग हैं। प्रवर्तन और निवर्तन दोनों का समन्वय करके ही विकास की प्रक्रिया को स्वस्थ रखा जा सकता है। कोरी विधि उच्छृंखलता का रूप ले सकती है। कोरा निषेध रूढ़िवाद का रूप ले सकता है। इसलिए विधि और निषेध दोनों का समन्वित प्रयोग करना चाहिए। कोई भी समाज या संगठन विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाए बिना उपयोगी नहीं रह सकता। इस दृष्टि से विकास महोत्सव की स्थापना की गई है। इससे धर्मसंघ तेजस्वी बना रहेगा।

विकास महोत्सव को प्रभावी बनाने के लिए विकास परिषद् की स्थापना की गई है। विकास परिषद् के सदस्य गतवर्ष के विकास का लेखा-जोखा तथा आगामी वर्ष के विकास की योजना विकास महोत्सव के अवसर पर प्रस्तुत करेंगे।

धर्मशासन की शक्ति का उन्नयन गण के प्रत्येक सदस्य का पवित्र मनोरथ होना चाहिए। साधुसंघ की जितनी भावात्मक उन्नति होगी, उतनी ही चित्त समाधि, जितनी चित्त समाधि उतनी ही विकास की गति त्वरित होगी।

हमारा विकास अनेकांत की पृष्ठभूमि पर हो, यह अपेक्षित है। अनेकांत का प्राणतत्त्व है–त्रिपदी।

उत्पाद व व्यय के आधार पर हम परिवर्तन को स्वीकार करें। ध्रौव्य के आधार पर हम स्थायित्व को स्वीकृति दें। विकास के लिए परिवर्तन और मौलिकता की सुरक्षा, दोनों अनिवार्य हैं।

विकास के लिए आवश्यक है पुरातन और अधुनातन का समन्वय; सत्यपरक प्राचीन और सत्यपरक अर्वाचीन का सम्यक् उपयोग।

विस्तार और अपूर्णता से पूर्णता की दिशा में प्रस्थान–विकास की प्रक्रिया है।

विकास इन दिशाओं में चले–

१. संयम, त्याग, तपस्या, अध्यात्म।

२. स्वाध्याय, ध्यान, आत्मनिरीक्षण।

३. चित्तसमाधि, निर्जरार्थ सेवा।

विकास महोत्सव तेरापंथ की प्रगति का प्रतीक बने।

गणाधिपति तुलसी आचार्य महाप्रज्ञ

विक्रम संवत् २०५१ भा. शु. ६

दिल्ली

विकास महोत्सव परिपत्र मैंने विनतभाव से पूज्य गुरुदेव को समर्पित किया। आचार्यवर ने विकास महोत्सव परिपत्र को स्वीकृत करते हुए कहा–'महाप्रज्ञजी ने मेरे पट्टोत्सव को संघ-विकास का प्रतीक बना दिया। हमारे महाप्रज्ञजी का दिमाग उर्वर है। इन्होंने चिन्तनपूर्वक नए इतिहास के सृजन की परिकल्पना कर ली। संघीय विकास का सिंहावलोकन, वर्तमान विकास की समीक्षा और भविष्य के विकास की संभावनाओं को सामने रखकर एक सार्थक आयोजन की प्रस्तुति की है। महाप्रज्ञजी ने चतुर्विध धर्मसंघ के सामने 'विकास महोत्सव परिपत्र' समर्पित किया, मैं इसे स्वीकार करता हूं।'

इस महान् अनुग्रह के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए मैंने कहा–'प्रभो! आपने संघ में नए हस्ताक्षर करने का हमें मौका दिया, इस नवीन इतिहास के साथ जोड़ा और योजनाबद्ध कार्य करने का अनुपम अवसर दिया, आपकी यह अनन्त-अनन्त करुणा हमें निरंतर मिलती रहे। इसके साथ-साथ गुरुदेव से मैं आशीर्वाद मांगता हूं कि प्रभो! हमारा संघ सदैव रक्षिता-रोहिणी बनकर आगे बढ़ता रहे।'

प्रसन्नता, प्रमोद और पुलकन भरी उद्घोषणा का चतुर्विध धर्मसंघ ने वंदना की मुद्रा में 'वंदे गुरुवरम्' घोष के साथ अभिनन्दन किया।

विकास परिषद्

पूज्य गुरुदेव ने अनेक बार कहा–प्रवृत्तियों का विस्तार बहुत हो चुका है। अब उनका नियोजन करना जरूरी है। इस नियोजन की वार्ता और विकास महोत्सव की परिकल्पना के साथ विकास परिषद् का उद्भव हुआ।

तेरापंथ विकास परिषद् की नौ इकाइयां हैं। इनमें सभी प्रवृत्तियों का नियोजन किया गया है–

इकाई	संबद्ध संस्थाएं
१. तेरापंथ, जैनधर्म, जैनविद्या, कर्मणा जैन, ऐतिहासिक स्मारक	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा अ. भा. तेरापंथ युवक परिषद्

	अ. भा. तेरापंथ महिला मंडल
	अ. भा. तेरापंथ स्मारक समिति
२. जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)	जैन विश्व भारती
३. अणुव्रत	अखिल भारतीय अणुव्रत समिति
	अखिल भारतीय अणुव्रत न्यास
	अणुव्रत विश्व भारती
प्रेक्षाध्यान	अध्यात्म साधना केन्द्र (दिल्ली)
	तुलसी अध्यात्म नीडम् (जैन विश्व भारती)
जीवन विज्ञान	जीवन विज्ञान अकादमी (जैन विश्व भारती)
४. अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र	अणुविभा
	अणुव्रत इण्टरनेशनल
५. साहित्य	आदर्श साहित्य संघ
	जैन विश्व भारती (प्रकाशन-प्रसार)
६. शिक्षा	जय तुलसी फाउण्डेशन
७. जनसंपर्क, प्रसार	तेरापंथ विकास परिषद्
८. इतिहास	जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
९. समीक्षा	

प्रत्येक इकाई के एक या उससे अधिक नियोजक हैं। उन नियोजकों का समुदाय ही नियोजन मंडल के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। अमृत-संसद भी उस विकास परिषद् का एक अंग है।

पूज्य गुरुदेव ने आचार्य पद का दायित्व संभाला तब तेरापंथ की एक संस्था थी—श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा। इन छह दशकों में प्रवृत्तियों के साथ संस्थाओं का भी विस्तार हुआ है। अन्य भी अनेक संस्थाएं हैं।

उन सबकी प्रवृत्तियां नियोजित हों, कार्य की पुनरावृत्ति न हो, इस दृष्टि से नियोजन के माध्यम की अपेक्षा हुई और उसका माध्यम बनी तेरापंथ विकास परिषद्।

हम असीम विकास की कल्पना को मूल्य नहीं देते। जो विकास मानव की समस्याओं को सुलझाने में सहयोगी न बने, मानवीय अस्तित्व के लिए खतरा बने, वह हमें इष्ट नहीं है। हमारा सीमा और सापेक्षता में विश्वास है। विकासमूलक प्रवृत्तियों के नियोजन का तात्पर्य यही है कि ऊंचाई के साथ गहराई भी बढ़े। छितरा हुआ जल भूमि की आर्द्रता के लिए उपयोगी हो सकता है, किन्तु उससे बिजली पैदा नहीं

की जा सकती, उस पर जलपोत भी नहीं चल सकते। थाली में जल है। उसमें चिड़िया नहा सकती है, किन्तु नौका नहीं चल सकती।

तेरापंथ धर्मसंघ हमारे विकास का मूल आधार है। आचार्य भिक्षु ने जो विचार, सिद्धांत, दृष्टिकोण और अनुशासन दिया उसकी ऊंचाई और गहराई दोनों बढ़ें, यह तेरापंथ विकास परिषद् की केन्द्रीय पीठ है। उसके आधार पर ही हम इस सार्वभौम कार्यक्रम का निर्देशन और संचालन कर सकते हैं।

विकास की गति में दो बड़े विघ्न हैं–

१. अहं २. एकांगी दृष्टिकोण

हमें समर्पण का मंत्र मिला है और अनेकांत का दर्शन मिला है। समर्पण सत्य के प्रति, सिद्धांत के प्रति, अनुशासन के प्रति, संघ और संघपति के प्रति। अहं के विघ्न का विनाशक है समर्पण। अनेकांत पूर्वाग्रह के निवारण का अमोघ उपाय है।

हमारे विकास की दिशा है आध्यात्मिक उन्नयन। विकास के साधन हैं मस्तिष्कीय प्रशिक्षण और हृदय-परिवर्तन। विकास की सीमा है साधन-शुद्धि का विचार।

तेरापंथ धर्मसंघ के पास मर्यादा-महोत्सव का दीप और विकास महोत्सव के चक्षु विद्यमान हैं। हम इनका उपयोग करें, सत्य को देखें और उसके सहारे आगे बढ़ें।

मेरी प्रत्येक सृजनात्मक प्रवृत्ति, रचनात्मक दृष्टिकोण और कल्पना पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा का इतिहास है। विकास महोत्सव उन्हीं की अक्षत प्रेरणा का प्रसाद है। यह हमारे धर्मसंघ की प्रगति के लिए ज्योति-स्तंभ बनेगा।

मंत्रणा के दुर्लभ क्षण

गुरुदेव के सामने चिन्तन के अनेक आयाम थे। उनमें पहला आयाम था धर्मसंघ। उनका स्पष्ट मत था कि धर्मसंघ हमारे लिए शक्ति का स्रोत है। उसे तेजस्वी बनाए रखना हमारा प्रथम कर्तव्य है।

इस प्रथम कर्तव्य के विषय में वे चिन्तन करते रहते। २५ जुलाई, १९९४, मैं गुरुदेव के पास बैठा। धर्मसंघ के बारे में चिन्तन शुरू हुआ। इस विषय में गुरुदेव की डायरी की कुछ पंक्तियां बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।[1]

'रात प्रतिक्रमण के बाद हम दोनों के बीच काफी बात हुई। संघ का भविष्य कैसे प्रभावी रहे? खुलकर चर्चा हुई। कठिनाइयों का जिक्र हुआ।

महाश्रमण, महाश्रमणी का प्रसंग भी बीच में आया। इनका संघ में प्रभाव है, कैसे सुरक्षित रहे? मेरा त्याग भी प्रभावी रहे, आदि-आदि।'

जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं, जिनकी तुलना सहस्राब्दि से भी नहीं हो सकती। वे क्षण उस उक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं–बिन्दु में सिन्धु को खोजा जा सकता है।

रात्रि का समय, अर्हत् वंदना सम्पन्न हो गई। गुरुदेव ने कहा–चलो, हम बैठें। जिस कक्ष में मैं बैठता था, वहां गुरुदेव पधारे।

मैंने प्रार्थना की–'गुरुदेव जहां विराजते हैं मैं वहीं आ जाऊं।'

गुरुदेव ने कहा–'यहीं बैठना है, यहीं बातचीत करनी है।' यह नया नहीं था। इससे पहले भी कोई विशेष बातचीत करनी होती तो गुरुदेव जहां मैं बैठता, वहीं पधार जाते। यह नया इसलिए हो गया कि लम्बे समय तक यह क्रम चला, संभवतः डेढ़-दो महीने तक यह क्रम चला। इस अवधि में अनेक विषयों पर चिन्तन हुआ। धर्मसंघ का वर्तमान और भविष्य, मर्यादा और व्यवस्था, विकास और समस्या–ये चिन्तन के केन्द्र बिन्दु रहे। इसके परिपार्श्व में समाज-व्यवस्था, राजनीति, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संबंध, मानवीय संबंध–इन विषयों पर भी चिन्तन चलता रहा। यदि सारे चिन्तन को लिपिबद्ध किया जाए तो एक बड़ा ग्रंथ बन सकता है। यह स्वीकार करना उचित होगा कि मेरा एक प्रमाद हुआ। मैंने इन बहुमूल्य विचारों को तत्काल लिपिबद्ध नहीं किया। और उनके संकेत भी अंकित नहीं किए। स्मृति के आधार पर उनका संक्षेप में सार प्रस्तुत किया जा रहा है।

गुरुदेव ने कहा

१. तेरापंथ धर्मसंघ तेजस्वी धर्मसंघ है। उसे अनुशासन का वरदान मिला हुआ है। उसके पास एक सुदृढ़ संगठन है, एक नेतृत्व है और पूरा श्रावक समाज आचार्य के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित है। इस विषय में हमें जागरूक रहना है। धर्मसंघ का वर्तमान स्वरूप बना रहे और उत्तरोत्तर विकास भी होता रहे।

१. डायरी नं. १५, २६ जुलाई, १९९९ पृ. ३२

२. धर्मसंघ में सैकड़ों साधु-साध्वियां हैं। सबके विचार समान नहीं होते। आचार और व्यवहार-कुशलता में भी तारतम्य रहता है।

(१) आचार्य का कर्तव्य है—विचारभिन्नता में अपेक्षानुसार सामंजस्य स्थापित करे।

(२) आचार और व्यवहार की कमी का परिष्कार करे।

धर्मसंघ की मजबूती के लिए यह बहुत आवश्यक है।

३. विचारभेद स्वाभाविक है। वह कोई समस्या नहीं है। कभी-कभी विचारभेद वैचारिक संघर्ष का रूप ले लेता है। हमारे सामने वैसा वैचारिक संघर्ष आया। हमने सहिष्णुता, विनम्रता और तटस्थता के साथ उसका सामना किया और उस समस्या को सुलझाने में सफलता भी मिली। विचार-संघर्ष की स्थिति में मनोबल, तर्कबल, आगमबल तथा भिक्षुस्वामी, जयाचार्य आदि की अनुभव वाणी का आलम्बन अपेक्षित रहता है।

४. कुछ साधु-साध्वियां महाव्रत, समिति, गुप्ति और मर्यादा की अनुपालना में अनेक बार प्रमाद करते हैं। उस प्रमाद की विशुद्धि के लिए उपालंभ, प्रायश्चित्त और अनुशासन का प्रयोग किया जाता है। किन्तु प्रमाद करने वालों के प्रति आचार्य के मन में हीनता और अवमानना का स्थायी भाव न बने।

५. सब साधु-साध्वियों में सहिष्णुता समान नहीं होती। कभी-कभी असहिष्णुता के कारण व्यवहार की त्रुटियां हो जाती हैं। उनके परिस्कार के लिए जागरूक रहना जरूरी है।

६. कुछ छोटे-छोटे प्रमादाचरण को देखकर साधुत्व के प्रति अनास्था पैदा न हो, इस विषय में बहुत सावधानी रहे। यथावकाश बार-बार जयाचार्य की उस ढाल (शिव मग जाता चोरटा ए, शंक कंख ए दोय) का प्रतिवाचन करना अपेक्षित है।

७. धर्मसंघ का विस्तार बहुत हुआ है। साधु-साध्वियों की संख्या काफी है और समणियों की संख्या भी बढ़ रही है। उनमें संघ, मर्यादा, जैन शासन के प्रति निष्ठा पैदा करना, अनुशासन और आचार्य के प्रति निष्ठा के संस्कारों को पुष्ट करना नितान्त अपेक्षित है। इसके लिए विकेन्द्रित व्यवस्था पर भी ध्यान जाना चाहिए।

एक नेतृत्व भिक्षुशासन की मूलभूत अवधारणा है। इसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता, किन्तु व्यवस्था और कार्य के सम्यक् सम्पादन के लिए विकेन्द्रीकरण भी उपयोगी है। विकेन्द्रित व्यवस्था की पृष्ठभूमि में एक नेतृत्व, एक आज्ञा और एक अनुशासन की अवधारणा पुष्ट रहनी चाहिए।

८. हमने संघीय व्यवस्थाओं में अनेक परिवर्तन किए हैं। युग के अनुरूप चिन्तन भी किया है और बदलाव भी आया है। उसके लिए हमें काफी संघर्ष करना पड़ा।

परिवर्तन का विरोध साधुओं में भी था और श्रावक समाज में भी। अब स्थितियां अनुकूल हैं। अब सब अनुभव कर रहे हैं—परिवर्तन आवश्यक था।

परिवर्तन की एक सीमा है। अनावश्यक परिवर्तन होते रहें, यह वांछनीय नहीं है। अपनी सुविधा के लिए वैयक्तिक स्तर पर परिवर्तन किया जाए, यह अनुचित है।

परिवर्तन की पृष्ठभूमि में हमने चिन्तन किया था और उसके साथ अध्यात्म के विकास की बात भी सोची थी। फलस्वरूप परिवर्तन मान्य हो गया। हमने जो भी मूलभूत परिवर्तन किए, वे चिन्तनपूर्वक किए। अकस्मात् कोई परिवर्तन नहीं किया। जयप्रकाशजी ने हमारे सामने माइक लाकर रख दिया फिर भी हमने उसका प्रयोग नहीं किया।

हम आगम को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। परम्परा का भी हमारी दृष्टि में बहुत मूल्य है। शाश्वत सत्य और सामयिक सत्य दोनों के विषय में हमारी दृष्टि बहुत साफ है। हमने सामयिक सत्यों में यथावकाश और यथोचित परिवर्तन किया है।

९. इन तीन-चार दशकों में साधु-साध्वियों के स्वास्थ्य की समस्या भी जटिल हो रही है। इससे क्षेत्रों की सार-संभाल में भी बाधा आ रही है। सुदूरवर्ती क्षेत्रों में यात्रा करने वाले साधुओं के सिंघाड़े बहुत कम हैं। साध्वियों के सिंघाड़े भी पर्याप्त नहीं हैं। स्वास्थ्य के विषय में गंभीर चिन्तन आवश्यक है।

१०. हमें इस दिशा में भी चिन्तन करना चाहिए कि बहिर्विहारी सिंघाड़ों में पारस्परिकता का विकास हो। मृदु, मधुर और सामंजस्यपूर्ण व्यवहार का विकास हो।

सहिष्णुता, विनम्रता और सामंजस्य का विकास प्रयोग के द्वारा हो सकता है, किन्तु उसके पहले इस विषय में निष्ठा पैदा करना जरूरी है।

११. वर्तमान समाज संचार माध्यमों के कारण बहुत चंचल मन वाला बना हुआ है। साधु-साध्वियां भी यदा कदा दूरदर्शन आदि के दृश्यों को देखते हैं। इस संक्रमण काल में उनके मनोबल और वैराग्य को बनाए रखना तथा युग के प्रवाह से उन्हें अप्रभावित रखना बहुत आवश्यक है।

१२. पांच दशक पहले हमारा विहारक्षेत्र सीमित था। आचार्यों का प्रवास भी प्रायः राजस्थान में होता था। वर्तमान में विहारक्षेत्र व्यापक बन गया। मैंने भी लम्बी-लम्बी यात्राएं की हैं। दक्षिण भारत और बंगाल में पहली बार श्रावक समाज ने आचार्य को अपने क्षेत्र में देखा। पंजाब, गुजरात और महाराष्ट्र में भी काफी नए-नए क्षेत्र बने हैं। हमारा अध्ययन का क्षेत्र भी बढ़ा है। बौद्धिक जगत् से सम्पर्क भी बढ़ा है। इन सारी स्थितियों के साथ सामंजस्य बनाए रखना और मूल परम्परा को सुरक्षित रखना—यह कार्य सरल नहीं है। जागरूकता हो तो बहुत कठिन भी नहीं है। इसलिए आचार्य का काम है कि इन सबमें सामंजस्य बनाए रखें।

१३. हमने मर्यादा, व्यवस्था और परम्परा के कुछ विषयों में परिवर्तन किए हैं। उनके पीछे हमारी दृष्टि और नीति दोनों शुद्ध रही। हमने ऐसा कोई परिवर्तन नहीं किया, जिससे हमारी मौलिकता विखण्डित हो। आगम सम्पादन के प्रारंभ काल में दोनों बैठे, उस समय हमने जो चिन्तन किया वह आज भी बहुत उपयोगी है। यदि हम परिवर्तन से पूर्व अध्यात्म की पृष्ठभूमि मजबूत नहीं करते तो जनमानस में विचलन पैदा हो जाती। इस चिन्तन के साथ हमने आध्यात्मिक प्रयोग शुरू किए। हमारी अध्यात्मनिष्ठा में जनता का विश्वास हो गया। फलतः परिवर्तन की अपेक्षा सबको अनुभूत हुई। ऊहापोह का वातूल वेगवान नहीं बन सका। हम रूढ़ नहीं हैं, पर भविष्य में कोई परिवर्तन करना आवश्यक हो तो पूर्ण जागरूकता की अपेक्षा है।

१४. समणश्रेणी का प्रवर्तन फलदायी हो रहा है। तुम जानते हो इसकी स्थापना के लिए हमें कितना चिन्तन करना पड़ा, कितनी समस्याओं से जूझना पड़ा! कितने साहस का काम था यह।

आचार्यवर की धारा को बीच में ही रोकते हुए मैंने कहा—गुरुदेव! आपमें जो साहस है वह अतुलनीय है। आपने अनेक साहसपूर्ण काम किए हैं। संभवतः उन सबमें यह सर्वाधिक साहसपूर्ण कदम है। यह नए युग का प्रवर्तन है। इसका आकार सुन्दर बना है और प्रकार भी। इसके संचालन में बहुत सावधानी और सतर्कता की जरूरत है।

गुरुदेव—यह सच है। हमें बहुत सावधान रहना चाहिए। समणश्रेणी की जितनी उपयोगिता है उसके प्रति उतनी ही जरूरत है जागरूकता की। तुम जागरूक हो इसलिए कोई समस्या आने वाली नहीं है। इसका विकास होता रहेगा, इसकी उपयोगिता बढ़ती रहेगी।

गुरुदेव का वह वक्तव्य आज अधिक चरितार्थ हो रहा है। आज से दस वर्ष पूर्व समणश्रेणी का जितना मूल्यांकन नहीं किया जा रहा था उतना आज किया जा रहा है। इसकी उपयोगिता बढ़ रहीं है, सबको अनुभव हो रहा है। गुरुदेव के इस वक्तव्यांश को मैं गौण करना नहीं चाहता कि जागरूकता की नितान्त अपेक्षा है।

१५. प्राचीनकाल में साधु-साध्वियों के अध्ययन का मुख्य विषय था आगम, आचार्य भिक्षु और जयाचार्य द्वारा निर्मित सिद्धान्त ग्रंथ और व्याख्यान। वर्तमान में अध्ययन का स्तर बहुत व्यापक हो गया है। संस्कृत, प्राकृत भाषा के अतिरिक्त जैन परम्परा के अनेक ग्रंथ पढ़े जाते हैं, विश्व के अनेक दार्शनिक ग्रंथ पढ़े जाते हैं और अनेक पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन भी होता रहता है। फलस्वरूप युगीन चिन्तन विकसित हुआ है। तर्क की शक्ति भी बढ़ी है। साधु संस्था प्रबुद्ध बनी है। इस स्थिति में श्रद्धा और तर्क का सामंजस्य रखने का कार्य भी दुष्कर है। इस दुष्कर कार्य के सम्पादन में भी आचार्य को जागरूक रहना बहुत जरूरी है।

१६. अध्ययन के प्रति जितना आकर्षण है उतना व्यवहार-कौशल के प्रति नहीं। अध्ययन बहुत जरूरी है। व्यवहार-कौशल के बिना पढ़ाई भी समस्या पैदा करने वाली बन जाती है। हमारे लिए चिन्तनीय विषय है कि व्यवहार-कौशल का प्रशिक्षण कैसे दिया जाए?

नवदीक्षित साधु-साध्वी के लिए शैक्ष-शिक्षा, आचारबोध, संस्कारबोध, व्यवहारबोध आदि की रचना की गई। साधु-साध्वियों ने उसे कण्ठस्थ भी किया है। उनका स्वाध्याय भी करते हैं पर उनके द्वारा जितना परिवर्तन होना चाहिए उतना नहीं हो रहा है। इसके लिए भी जरूरी लगता है प्रशिक्षण।

१७. अणुव्रत, आगम-सम्पादन और साहित्य—ये हमारे धर्मसंघ के लिए वरदान बने हैं। इनसे जनता बहुत लाभान्वित हो रही है। साथ-साथ तेरापंथ धर्मसंघ का क्षेत्र व्यापक बना है।

अणुव्रत युग की अपेक्षा है इसलिए इसे कभी गौण नहीं किया जा सकता। तुम स्वयं इसके व्याख्याता रहे हो, इसे व्यापक रूप देने में अग्रणी रहे हो। इसलिए इस विषय में कुछ कहना आवश्यक नहीं है।

१८. आगम सम्पादन का कार्य सौभाग्य से हमारे पास आया है। इस क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। इसे नए-नए आयाम देना बहुत आवश्यक है। हमारे सामने बहुत प्रवृत्तियां हैं इसलिए हम बहुत व्यस्त हो गए हैं।

डॉ. डी. एस. कोठारी का लम्बे समय तक आग्रह रहा–'युवाचार्य महाप्रज्ञ अन्य कार्यों को गौण कर आगम-सम्पादन में ही लगे रहें।'

१९. आचार्य विद्यानन्दजी का आग्रह है कि 'युवाचार्य महाप्रज्ञ प्रेक्षाध्यान में ही सारी शक्ति का नियोजन कर दें, शेष सारा काम बंद कर दें।'

इन भावनाओं का हम बहुत आदर करते हैं। इन सुझावों की उपयोगिता को भी हम स्वीकार करते हैं। फिर भी हम किसी एक प्रवृत्ति में लगकर शेष प्रवृत्तियों को गौण नहीं कर सकते।

२०. हमारा साहित्य भी आज आकर्षण का विषय बना है। उससे बहुत लोग निकट आए हैं। यह कार्य गतिशील रहे, इसकी अपेक्षा है। पर एक ध्यान रखना जरूरी है कि हमारे साहित्य का स्तर उन्नत होना चाहिए।

२१. साहित्य के विषय में एक बात चिन्तनीय है–साहित्यकार तैयार कम हो रहे हैं। काफी साधु-साध्वियां साहित्य निर्माण में संलग्न हैं, पर जिस स्तर (Quality) का साहित्य आना चाहिए उस स्तर का बहुत कम आ रहा है।

स्तरीय साहित्य के लिए तीन बातें जरूरी हैं–

१. मौलिक चिन्तन २. अध्ययनशीलता ३. प्रकृति के साथ तादात्म्य

२२. गंभीर अध्ययन की मनोवृत्ति कम हुई है। आज हलके-फुलके साहित्य के प्रति जो आकर्षण बढ़ा है वैसा गंभीर ग्रंथों के अध्ययन के प्रति नहीं। इस समस्या का चिन्तनपूर्वक समाधान खोजना चाहिए।

२३. सौभाग्यवश हमें प्रेक्षाध्यान का प्रयोग मिला है। उससे बहुत लोग लाभान्वित हो रहे हैं। इस समस्या पर भी चिन्तन करना होगा कि गृहस्थ प्रेक्षाध्यान से जितने लाभान्वित हो रहे हैं, साधु-साध्वियां उतने लाभान्वित नहीं हो रहे हैं।

साधु-साध्वियों के सामने चर्या की कुछ समस्याएं हैं फिर भी साधु-जीवन की विशुद्धि और स्वास्थ्य–दोनों दृष्टियों से ध्यान का विकास जरूरी है। इस मानसिकता का निर्माण होना चाहिए।

गुरुदेव को प्रतीत हो रहा था कि मैं आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद संकोच के साथ कार्य कर रहा हूं। अनेक बार मुझे गुरुदेव ने कहा–तुम मुक्तभाव से काम करो। तुम्हारे मन में किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए। इस विचार और व्यवहार की पुष्टि ५ फरवरी, १९९५ के आलेख से होती है।

गुरुदेव ने कहा–तुम लिखो मैं लिखाना चाहता हूं। मैंने लिखने की तैयारी कर ली। गुरुदेव का पहला वाक्य था–**मेरे अन्तर् मन के उद्गार।**[1]

इस आलेख को मैंने नई प्रेरणा के रूप में देखा और देखा–गति को प्रगति में बदलने का संकल्प।

मैं लम्बे समय से व्यवस्था के साथ जुड़ा रहा इसलिए व्यवस्था करने में मैंने कभी समस्या का अनुभव नहीं किया। मैं लम्बे समय से साधु-जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता रहा हूं इसलिए मेरे मन में समस्याओं के समाधान के प्रति कोई आशंका नहीं थी। फिर भी मैं कुछ संकोच का

१. देखें, पृ. ३०५-३०६

अनुभव कर रहा था। उसका कारण है कि मैं अपनी मर्यादा को समझ रहा था। गुरुदेव ने आचार्य पद का विसर्जन कर मुझे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। मैं तेरापंथ धर्मसंघ के संचालन की सर्वोच्च शक्ति से संपन्न बन गया। फिर भी मैं गुरुदेव की सन्निधि में कैसे रहूं? किस प्रकार का व्यवहार करूं? यह मेरी विनय-जनित मर्यादा थी। मैं उसका अनुपालन करता रहा, गुरुदेव उसे संकोच के रूप में देखते रहे। उस संकोच से मुक्त करना इस आलेख की पृष्ठभूमि है। गुरुदेव के एक लेख से यह स्वयं स्पष्ट हो रहा है[1]—

'इन दिनों हम सायं प्रतिक्रमण के बाद अर्हत् वंदना कराकर महाप्रज्ञजी के कक्ष में बैठते हैं। घंटा भर अंतरंग चिन्तन करते हैं। एक दिन अचानक मैंने कहा—देखो, मेरा पद विसर्जन जो है वह वास्तविक है। इसको औपचारिक समझने की कोई भूल न करे। मैंने कहा—लो लिखो, मैं लिखाता हूं। एक पूरा आलेख लिखा दिया। कोई चिन्तन नहीं किया। अचिन्तन से चिन्तन निकल गया। वह एक ऐतिहासिक आलेख बन गया। महाप्रज्ञ के लिए अपूर्व-निधि बन गया। उन्होंने उसे संतसभा में सुनाया। सबको आश्चर्य और आनन्द हुआ। वह रात अध्यात्म साधना केन्द्र के लिए विशिष्ट यादगार बन गई।'

यह रात्रि-पर्व का चिन्तन बहुत विशाल था। मैंने उसमें से कुछेक बिन्दुओं का स्पर्श किया है। रात्रि के अंधकार में जो प्रकाश मिला वह दिन के प्रकाश से भी अधिक उजला है। आचार्यवर जितने चिन्तनशील थे उतने ही दूरदर्शी थे। जितने दूरदर्शी थे उतने ही समस्या के अन्तर् का स्पर्श करने वाले थे। जितने समस्या के अन्तर् का स्पर्श करने वाले थे उतने ही समाधान की खोज में दक्ष थे। उनकी दक्षता से धर्मसंघ को दिशा और दृष्टि—दोनों मिली।

गुरुदेव ने मुझे अनेक बार कहा—'आचार्य पद का विसर्जन एक असाधारण घटना है। 'यह न भूतं न भविष्यति' की घटना है। तुम ध्यान दो, यह परम्परा न बने।'

गुरुदेव ने महाश्रमण मुदितकुमार से कहा, तुम लिखो। उन्होंने गुरुदेव के आदेशानुसार लिखा—'गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी व आचार्यश्री महाप्रज्ञ दोनों का यह सम्मिलित चिन्तन है कि सामायिक परम्परा को स्थापित परम्परा का रूप न दिया जाए। हमारे संघ में ऐसी परम्परा न अतीत में थी और न भविष्य में बने, जिससे गण की एकता व अखण्डता अक्षुण्ण बनी रहे।' (यह नोट १९९४ आचार्य पद विसर्जन के कुछ दिनों बाद का है।)

मैं गुरुदेव की उपासना में बैठता तब गुरुदेव कभी-कभी अपने अनुभव को मुझे बताते रहते।

वि. सं. २०३९, मिगसर के शुक्ल पक्ष में दिवेर में विराज रहे थे। एक दिन मैं गुरुदेव के उपपात में बैठा था। चिंतन के प्रसंग में आपने कहा—मुझे कालूगणी ने अंतिम शिक्षा में यह नहीं कहा—तुम यह ध्यान रखना। उन्हें विश्वास था इसलिए कहना आवश्यक नहीं समझा। साथ-साथ पूज्य कालूगणी का यह चिंतन भी रहा होगा कि इसका दिल न टूटे।

बातचीत को आगे बढ़ाते हुए दो बिंदुओं पर मेरा ध्यान आकृष्ट किया—

१. आचार्य होने का अहंकार नहीं होना चाहिए।

१. डायरी नं. १५, पृ. ५९, कार्तिक सुदी ७, वि. सं. २०५०

२. ज्ञातिजनों को विशेष अधिकार देने की प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिए।

विसर्जनोत्तर

मैंने तीन काल-खण्डों में दायित्व का अनुभव किया। पहला कालखण्ड वि. सं. २०१९ से २०३५ तक का है। इस कालखण्ड में मैं मुनि अवस्था में था फिर भी मैं आचार्यवर द्वारा प्रदत्त दायित्व का निर्वाह करता था।

दायित्व का दूसरा कालखण्ड वि. सं. २०३५ से २०५० तक का है। इस कालखण्ड में मैंने युवाचार्य के रूप में दायित्व का निर्वाह किया था। मुझे इन दोनों कालखण्डों में दायित्व की दृष्टि से अंतर लगा पर कार्य की दृष्टि से अन्तर नहीं लगा। आचार्यवर मुनि अवस्था में भी मुझ पर बहुत विश्वास करते थे इसलिए हम दोनों के मध्य कोई अंतराल नहीं था।

तीसरे कालखण्ड में मुझे पूर्ण दायित्व सौंपा गया, पर मैंने युवाचार्य और आचार्य–इन दोनों कालखण्डों में कोई अंतर नहीं पाया। मेरे हर कार्य में आचार्यवर मेरे सामने रहते इसलिए वह तादात्म्य मेरे दोनों दायित्वों के मध्य कोई विभाजनरेखा नहीं खींच सका। मैं अपना सौभाग्य मानता हूं कि मुझे दायित्व से भी अधिक आचार्यवर का एकात्मभाव प्राप्त हुआ।

आचार्य पदाभिषेक का उत्तरकाल

८ फरवरी, १९९५, दिल्ली से प्रस्थान और लाडनूं जैन विश्व भारती पहुंचने का लक्ष्य। मध्य में हरियाणा का स्पर्श हुआ। राजस्थान पहुंचे। राजगढ़ के बाद टमकोर आया। वहां जाने में कठिनाई थी। उस कठिनाई का समाधान हो गया। टमकोर की यात्रा बहुत आनंदमय रही। गुरुदेव ने उस यात्रा का भावी कल्पनाओं के साथ वर्णन किया है–

'आज टमकोर पहुंचे। यह महाप्रज्ञजी की जन्मस्थली है। महाश्रमणी कनकप्रभा का ननिहाल है। इस रूप में प्रथम आगमन है। टमकोर बदल गया। जनता की इतनी बड़ी उपस्थिति कल्पनातीत है। सरकार ने रास्ते का सहयोग किया। सड़क बना दी। जनता का भला हो गया। टमकोर की जनता का सार्वजनिक उत्साह दर्शनीय था। श्रमाधिक्य से कुछ स्वास्थ्य की समस्या रही। शेषं कुशलम्।

आज टमकोर का दूसरा दिन। गंगाशहर चोखला में आगामी चतुर्मास की प्रार्थना। माहौल बन रहा है। टमकोर को अणुव्रत ग्राम बनाया जाए, वैसी संभावनाएं। जनता में अपूर्व उत्साह। दिनभर व्यस्तता। महाप्रज्ञ में नई चमक आ रही है। प्रसन्नता। भविष्य में प्रयोगात्मक प्रवृत्तियां चलाई जाएं, निर्णय बन रहा है। लाडनूं केन्द्र बनेगा, ऐसा लग रहा है।

पिछले दिनों से हम दोनों मिल-बैठकर सोचते हैं कि अब अणुव्रत विचार को आचार-परिणत करने का प्रारंभ होना चाहिए। उसका लाडनूं से श्रीजिनेश करेंगे। पर स्वप्न में कितनी शक्ति होती है, उसका उदाहरण टमकोर है। टमकोर अणुव्रत प्रयोग का सघन क्षेत्र बने, निर्णय और उद्घोषणा हुई। टमकोर और आसपास के ग्राम का कोई व्यक्ति शिक्षा, चिकित्सा और आजीविका से वंचित नहीं रहेगा। व्यसन-मुक्त और शान्त सहवास होगा। अणुव्रत ग्राम का रूप लेगा।'

टमकोर से चूरू होकर सुजानगढ़ पहुंचे। वहां से विहार कर चैत्र शुक्ला नवमी को लाडनूं पहुंचे। लाडनूं के नागरिकों ने बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया–'आज लाडनूं विश्व भारती में प्रवेश हुआ। लाडनूं नया बन गया। सारा शहर उत्फुल्ल, प्रफुल्ल नजर आ रहा था। पूरे शहर की परिक्रमा कर जैन विश्व भारती में प्रवेश किया। मानसिक प्रसन्नता बढ़ी।'

चिन्तन में परिवर्तन

सुजानगढ़ मर्यादा-महोत्सव के पश्चात् यात्रा प्रारंभ हुई और लाडनूं में वह संपन्न हुई। इस कालावधि में अनेक प्रसंग सामने आए। गुरुदेव ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किए। उन सबका लेखा-जोखा प्रस्तुत प्रकरण में नहीं है। इस प्रकरण में आचार्य पद विसर्जन तथा उसके पश्चात् उससे संबद्ध जो प्रसंग हुए, उनका संक्षिप्त विवरण है। वह विवरण उस महान् चेतना की गाथा है जिसने एक नया सृजन किया, स्पर्धाक्रान्त चेतना को नया पथदर्शन किया, त्याग की महिमा का बिना छंद लिखे संगान किया। वह संगान, जिसकी प्रतिध्वनि युग-युग तक मानस की वीणा को झंकृत करती रहेगी।

आचार्य पद विसर्जन के बाद चिन्तन में परिवर्तन आ रहा था, उसकी अभिव्यक्ति अनेक बार हुई। डायरी का लेखन लंबे समय से चल रहा था। २४ मई, १९९५ के बाद डायरी लेखन बंद रहा। उसका पुनः प्रारंभ २१ जून, १९९५ से हुआ। प्रारंभ से पूर्व गुरुदेव ने कुछ पंक्तियां लिखीं। वे चिन्तन के नए आयाम दर्शा रही हैं–

'बहुत दिनों के बाद आज डायरी लिख रहा हूं। स्वास्थ्य आदि अनेक कारण बने हैं। कुछ अब डायरी लिखने का मानस भी कम होता जा रहा है। आचार्य पद का विसर्जन–स्वाध्याय, ध्यान और जीवन-निर्माण का काम। अब क्या डायरी लिखना है? सोचता हूं–यह डायरी जो चालू है, इसे पूरा कर लिया जाए। फिर बन्द कर दिया जाए। खैर।'

वर्तमान और भविष्य में दूरी रहती है। यह व्यवहार है। निश्चय में वर्तमान भविष्य को अपने अंक में बिठाने का प्रयत्न करता रहता है। कभी उसका पता चल जाता है और कभी नहीं चलता। अव्यक्त में जो चलता है, वह भविष्य का सूचक होता है, पर उसे पकड़ पाना सहज संभव नहीं होता। गुरुदेव ने १७ अक्टूबर, १९९५ की डायरी में फिर लिखा–

'बीच में कई दिनों डायरी नहीं लिखी गई। लगता है अब डायरी लेखन व्यवस्थित नहीं चलेगा। स्थितियां बदल गईं, आचार्य पद का विसर्जन हो गया। दायित्व बहुत कम कर दिया। वैसी हालत में डायरी लिखने का कोई खास मतलब नहीं है। यदा-कदा विशेष बात होगी तो लिखा जा सकता है। निरंतर लिखा जाना जरूरी नहीं है। अतः....।'

अवस्था के साथ चिन्तन और कार्य सब में परिवर्तन होता है। गुरुदेव की चिन्तनशैली और कार्यशैली में भी परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। अपने प्रति जागरूकता, करुणा, वत्सलता, विनम्रता, तादात्म्य–ये गुण उत्तरोत्तर वृद्धिंगत हो रहे थे।

मेरा जन्म दिन

२५ जून, १९९५ (वि. सं. २०५२, आषाढ़ कृष्णा द्वादशी) को मैंने पचहत्तर वर्ष पूरे किए। त्रयोदशी को छिहत्तरवें वर्ष में प्रवेश कर रहा था। प्रातःकाल चार बजे उठा, ध्यान और जप की साधना में बैठ गया। नियत क्रम के अनुसार मैं पांच बजे गुरुदेव की सन्निधि में जाता और उनसे प्रज्ञा-प्रसाद प्राप्त करता। अचानक गुरुदेव मेरे कक्ष में पधार गए। मैं ध्यान संपन्न कर उठा और मैंने प्रार्थना की–'मैं वहां आ ही रहा था। गुरुदेव यहां क्यों पधारे?'

गुरुदेव ने कहा–'अब तुम आचार्य हो गए हो इसलिए मंगल भावना व्यक्त करने के लिए मैं आया हूं। तुम आते इसमें कौन-सी बड़ी बात है। मैं आया हूं, यह बड़ी बात है।

लगभग बीस मिनट तक गुरुदेव वहीं विराजे। मंगल संवाद चला। वहां से हम प्रज्ञालोक में गए। वहां सामूहिक गोष्ठी प्रारंभ हो गई। अनेक साधुओं और श्रावकों ने अतीत को वर्तमान में उतारने का प्रयत्न किया तथा भविष्य के लिए मंगल भावनाएं प्रस्तुत की। गुरुदेव ने कहा–महाप्रज्ञ! तुम्हें अपने आपको देखने के लिए तुलसी की जरूरत है। तुम नहीं जानते कि मैं क्या हूं। आंख सबको देखती है पर अपने आपको नहीं देखती। अपने आपको देखने के लिए उसे जरूरत है दर्पण की।'

मैं इस दर्पण में अपने आपको देखता और उसके आधार पर कार्य भी करता था। मैं हीनभावना और अहंभावना दोनों से परे जीवन जी रहा था। गुरुदेव ने किसी भी काम के लिए मुझे कहा और मैंने उसे सहर्ष स्वीकार किया। 'मैं यह काम नहीं कर सकता' संभवतः यह मैंने कभी नहीं कहा।

प्रवचन के समय मंगल भावना समारोह की आयोजना हुई। गुरुदेव ने उसका संक्षिप्त चित्रण किया है—'महाप्रज्ञजी का ७६वां जन्मदिन आज जगह-जगह मनाया गया। यहां लाडनूं जैन विश्व भारती में उपस्थिति खूब अच्छी थी। प्रसन्न वातावरण रहा। इनका स्वास्थ्य ठीक रहे, कार्यकारी रहे।'

आचार्य जितना दृष्टि-संपन्न होता है उतना ही संघ का विकास होता है। केवल दृष्टिसंपन्नता ही नहीं, उसके साथ पुरुषार्थ-संपन्नता भी विकास के लिए अनिवार्य है। गुरुदेव में ये दोनों विशेषताएं थीं। इसके साथ-साथ प्रवृत्ति और घटना के साथ सामंजस्य स्थापित करने की भी अलौकिक विशेषता थी। संवत्सरी के आसपास मेरे पैर में दर्द हो गया था। उस प्रसंग में गुरुदेव ने अनेक का एक साथ अंकन किया—'आज हम लोगों ने केश लोच करवाया। बाद में प्रवचन किया। महाप्रज्ञजी कुछ अस्वस्थ हैं। डॉ. माथुर बीकानेर से डॉ. मरोठी तथा भंवर डागा के साथ आए, जांच की। कुछ बताया। माथुर बहुत विवेकी हैं। कुछ सुलझे हुए हैं। बात गहरी करते हैं। मेरे पैर में शून्यता रहती है। उन्होंने कहा—'यह नाड़ी के दबने से ऐसा होता है। कोई खास बीमारी नहीं है।'

प्रभावपूर्ण रहा विकास महोत्सव

विकास महोत्सव एक नया प्रयोग था। अनेक लोगों में आशंका थी। गुरुदेव का मन भी आशंका से सर्वथा मुक्त नहीं था। उन्होंने ३१ अगस्त, १९९५ को लिखा—'अब सामने विकास महोत्सव है। नया-नया काम है। देखें, कैसे जमता है। जम गया तो कार्यक्रम और भावी व्यवस्था बहुत प्रभावशाली बनेगी। निश्चिन्तता भी रहेगी, विश्वास है।'

विकास महोत्सव का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण रूप में संपन्न हुआ। गुरुदेव ने संक्षेप में उसका प्रत्यक्ष दर्शन जैसा चित्रण किया है—'ठीक पौने नौ बजे ध्वनि-आवाज हुई। सब साधु-साध्वियां आईं। समणियां, मुमुक्षु, साध्वियां, साधु सब कटिबद्ध तैयार खड़े हैं। हमारे कदम बढ़े। महाश्रमण विकास महोत्सव-पत्र लेकर आगे-आगे चले। पंक्तिबद्ध चलते-चलते सुधर्मा सभा में पहुंचे। सारी जनता घुटनों के बल बैठी 'वंदे गुरुवरम्' की ध्वनि कर रही थी। मंच पर हम आए, घोष लगे। कार्यारंभ हुआ। जनता की उपस्थिति विशाल थी। महोत्सव सानन्द संपन्न हुआ।'

विकास महोत्सव का कार्यक्रम तीन दिनों तक चला। विकास परिषद् की गोष्ठियां भी हुईं। कार्यक्रम की भव्यता को देखकर गुरुदेव बहुत प्रसन्न हुए। 'विकास महोत्सव प्रभावपूर्ण रहा' यह एक पंक्ति ही उनकी प्रसन्नता की अभिव्यंजना है।

संघीय समस्याएं : एक चिन्ता

गुरुदेव का व्यक्तित्व एकांगी नहीं था। उनका चिन्तन सब दिशाओं में चलता था। आचार्य पद का विसर्जन किया। फिर भी संघ के प्रति उतना ही आकर्षण था और उसके प्रति उतनी ही सजगता थी। डायरी

(१ जनवरी, ९६) की दो-तीन पंक्तियां उसका साक्ष्य दे रही हैं–'संघीय समस्याएं कुछ कठिन हैं। समाधान ढूंढ़ना है। महाप्रज्ञजी सोच रहे हैं। निर्णय क्या होता है?'

समस्याओं के बारे में हमारा चिन्तन चलता रहता था। उसके समाधान के उपाय भी खोजते रहते थे। गुरुदेव ने कुछ समस्याओं का उल्लेख (डायरी ५ जनवरी, ९६) भी किया है–'संघ में साधु-साध्वियों के स्वास्थ्य की समस्या है। बीमारियां, दर्द, दुर्बलता, बुढ़ापा–ये सब समस्याएं हैं। इन सब समस्याओं से महाप्रज्ञजी जूझ रहे हैं। चिन्तन भी स्वस्थ है। मार्ग निकाल रहे हैं। हार नहीं मान रहे हैं। विलक्षण शक्ति है। महाप्रज्ञजी मेरा सहयोग तो ले ही रहे हैं। यह समय बहुत व्यस्तता का है, सफलता का भी है। गुरुदेवः शरणम्।'

द्रष्टाभाव : कर्ताभाव

आचार्य पद विसर्जन के बाद गुरुदेव की भूमिका द्रष्टा की अधिक रही। कर्ता की नहीं रही ऐसा नहीं कहा जा सकता, पर वह कर्तृत्व माध्यम से मुखर हो रहा था। प्रतीत हो रहा है कि उनका द्रष्टाभाव दूसरों के लिए सहज कर्ताभाव बन रहा था। गुरुदेव ने १९९६ के मर्यादा-महोत्सव की संपन्नता पर महोत्सव को द्रष्टा की दृष्टि से देखा और संतोष की भाषा में लिखा–

'सभी सिंघाड़ों की, क्षेत्रों की सारी व्यवस्था इस बार महाप्रज्ञजी ने की। महाश्रमण और महाश्रमणी का पूरा-पूरा योग और उपयोग हुआ। मैं प्रायः तटस्थ रहा। देखता रहा, जानता रहा, सुनता रहा। अच्छा रहा। लगभग सभी कार्य सानंद संपन्न हो गए। विहार भी हो गए हैं। किसी प्रकार की विघ्न-बाधा सामने आई ही नहीं। धर्मसंघो विजयतेतराम्।'

गुरुदेव के शासनकाल में साठ मर्यादा-महोत्सवों की आयोजना हुई। मर्यादा-महोत्सव तेरापंथ धर्मसंघ की व्यवस्था का मध्य-मेरु है। उस समय पूरे धर्मसंघ की व्यवस्था, नियोजन, यात्रा आदि-आदि का निर्धारण होता है। इस कार्य में मैं लम्बे समय से संलग्न रहा। गुरुदेव के अनुभवों का हमने लाभ भी उठाया। आवश्यकतानुसार पथ-दर्शन भी लिया। फिर भी संपूर्ण दायित्व के निर्वाह में कुछ विशेष जागरूकता अपेक्षित होती है। हमारे संघ की परंपरा है–प्रत्येक साधु-साध्वी के चित्त समाधि की व्यवस्था करना। आचार्य में सारे संघ की शक्ति केन्द्रित होती है। इसलिए उनका विशेष दायित्व होता है कि उस शक्ति का संघ के प्रत्येक सदस्य के हित में उपयोग करे।

मैंने गुरुदेव से प्रार्थना की–'हमारे यहां साधु-साध्वियों को अपनी बात कहने के लिए काफी स्वतंत्रता है। व्यवस्था में अनुकूलता, प्रतिकूलता, सुविधा और असुविधा–ये सब हो सकते हैं। जिन्हें प्रतिकूलता और असुविधा का अनुभव हो, वे पुनः अपनी प्रार्थना कर सकें, ऐसे वातावरण का निर्माण कैसे हो?'

गुरुदेव ने कहा–'अपनी व्यवस्था में उसका पूरा अवकाश है। उस अवकाश का उपयोग करने में व्यक्तिगत समस्या ही अवरोध पैदा कर सकती है। कुछ संकोच-प्रकृति वाले होते हैं वे अपनी अनुभूति को अपने तक ही सीमित रख लेते हैं। जो स्थिति का पुनः निवेदन करना चाहें, उनके लिए पूरा अवकाश है।'

हमने इस अवकाश का उपयोग किया। परिणाम अच्छा रहा। मैं मानता हूं कि कार्य की सफलता में गुरुदेव के अनुभव बहुत उपयोगी रहे। ज्योतिस्तंभ बनकर हमारे पथ को प्रशस्त करते रहे।

यात्रा की समस्या

तेरापंथ के आचार्य के सामने अनेक समस्याएं आती हैं। उन समस्याओं का समाधान खोजना उनका प्रमुख कार्य है। पदयात्रा की समस्या अनेक स्रोतों से आ रही थी। गुरुदेव ने एक दिन कहा–'इस विषय पर विचार-विनिमय होना चाहिए।' किसी भी विषय पर चिंतन करने के लिए समय-समय पर गोष्ठियां आयोजित की जाती थीं। माघ कृष्णा दूज को एक गोष्ठी आयोजित की गई। गुरुदेव ने उस प्रसंग का स्वयं उल्लेख किया है–'आज मध्याह्न में एक गोष्ठी सीमित साधु-साध्वियों की हुई। उसमें यात्रा संबंधी समस्या और समाधान की चर्चा चली। पदयात्रा में जो कठिनाइयां आ रही हैं उनका क्या समाधान हो? इस पर मुक्त चर्चा हुई। यह स्वस्थ परंपरा है। खुलकर चर्चा हो, फिर समाधान ढूंढ़ा जाए, यह तेरापंथ की विशिष्टता है। आगे भी चालू रहेगी।'

साध्वी मालूजी का स्वर्गवास

उन दिनों मेरी संसारपक्षीया भगिनी साध्वी मालूजी अस्वस्थ थीं। एक दिन गुरुदेव ने कहा–'मालूजी के विषय में एक गीतिका बनाओ और उनको सुना दो।' सामान्यतः स्वर्गवास के बाद गीतिका बनाने की परंपरा है। गुरुदेव ने कहा–'फिर कौन सुनेगा? उन्हें जीवनकाल में ही सुना दो।' मैंने गीतिका बनाई। गुरुदेव साध्वियों के स्थान पर पधारे। उनकी सन्निधि में साध्वी मालूजी को मैंने वह गीतिका सुनाई। वातावरण उल्लासमय बन गया। उनका अंतिम समय बहुत शान्त-प्रशान्त रहा। शान्त-प्रशान्त रहना तो उनकी प्रकृति थी। गुरुदेव ने उनके अंतिम समय का बहुत सुन्दर चित्रण किया है–

'आज (२७-२-९६) प्रातः महाप्रज्ञ अपनी भगिनी साध्वी मालूजी को दर्शन देने गए। मैंने कहा–अब आध्यात्मिक चिकित्सा हो तो अच्छा रहे। वे गए। होश में भी नहीं थी। सागारी संथारा पचखाया। आकर मुझे सुनाया। प्रसन्नता हुई। कल्पना नहीं थी कि आज ही सब कुछ हो जाएगा। हम आहार करके लेटे ही थे। इतने में एक साधु आया और बोला–संथारा सीझ गया। आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। यह कैसे हुआ? पर हुआ अवश्य। लगभग सवा आठ बजे संथारा और एक बजे संपन्न हो गया। सब लोग मिले। कुछ लोगों ने चाहा–शवयात्रा कल संपन्न हो। मैंने कहा–'ऐसा क्यों? आज समय काफी सामने है, फिर कल क्यों?' सबने माना। आज ही वैसा किया। जैन विश्व भारती परिसर के एक कोने में दाह-क्रिया कर दी गई। सब प्रसन्न।

आज (२८-२-९६) प्रवचन में मालू-स्मृति दिवस मनाया गया। महाप्रज्ञ प्रसन्न हैं। थोड़े भगिनी-विरह से खिन्न भी लगते हैं। हैं कि नहीं, कह नहीं सकते। अच्छा माहौल है। समय सीमित है।'

चिन्ता उत्तराधिकारी की

'तेरापंथ धर्मसंघ जनसंख्या की दृष्टि से बहुत बड़ा नहीं है, पर बहुमुखी आध्यात्मिक, धार्मिक और नैतिकताप्रधान प्रवृत्तियों की दृष्टि से बहुत छोटा भी नहीं है। विकास की यहां अनेक प्रवृत्तियां चल रही हैं। उनमें नये-नये उन्मेष आ रहे हैं। प्रत्येक उन्मेष के पीछे एक गहरा चिन्तन होता है। पूज्य गुरुदेव बहुत बार कहते थे–हमारा एक दिन भी खाली नहीं जाता होगा जब हम संघ, समाज, राष्ट्र अथवा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति

के बारे में चिंतन न करते हों। हमारे कार्यक्रम का मूल आधार धर्मसंघ का संगठन है। एक आचार्य के नेतृत्व में चलने वाला संगठन वर्तमान युग में बहुत चिंतन मांगता है।

गुरुदेव ने मुझे राजलदेसर (३ फरवरी, १९७९) में अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। मैंने सोचा—मैं आगम सम्पादन, साहित्य-सृजन, प्रेक्षाध्यान आदि प्रवृत्तियों में संलग्न रहा। मुझे इस संघ की व्यवस्था के कार्य का उत्तरदायित्व क्यों सौंपा? चिंतन को मोड़ दिया—गुरुदेव ने किया है, उसके पीछे कोई गहरा चिंतन है। एक महान् चिंतनशील, प्रबुद्ध और अनुभवी पुरुष हठात् कोई कार्य नहीं करते। गुरुदेव के साथ मेरा तादात्म्य था। 'यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि'—इस सूत्र को मैं मान कर चलता था। मैं अपने दायित्व के विषय में भी चिंतन करने लग गया। तेरापंथ के आचार्य की चिंता का एक सर्वोपरि विषय होता है—संघ की अविच्छिन्नता, परंपरा अथवा आम्नाय का सातत्य। मैंने कुछ दिनों बाद ही चिंतन शुरू कर दिया—मेरा उत्तराधिकारी कौन हो सकता है? खोज चलती रही। अन्वेषण होता रहा।

गुरुदेव ने आचार्य पद का विसर्जन (१८ फरवरी, १९९४) किया। उस समय कुछ नया नहीं लगा। युवाचार्य के चयन के समय मैं चिंतन में सहभागी नहीं था। आचार्य पद विसर्जन का विषय मुझसे अज्ञात नहीं था किन्तु इस चिंतन में मेरी प्रत्यक्ष सहभागिता भी नहीं थी। गुरुदेव चाहते तो जयाचार्य की प्रथा अपना सकते थे। जयाचार्य संघीय दायित्व अपने उत्तराधिकारी युवाचार्य मघवा को सौंप कर स्वयं मुक्त रहते थे। संघीय प्रवृत्तियों का संचालन युवाचार्य मघवा करते थे। गुरुदेव ने ऐसा नहीं किया। आचार्य पद का विसर्जन कर एक अभिनव प्रयोग किया। यह प्रयोग जैन परंपरा में प्रायः नहीं हुआ है। यदि हुआ है तो कदाचित् हुआ है।

आचार्य पद के विसर्जन के समय अनेक चिंतन-बिन्दु सामने थे। उनमें एक चिंतन-बिन्दु यह था—युवाचार्य महाप्रज्ञ बहुत करुणाशील हैं। ये शासन सूत्र का संचालन कैसे कर पाएंगे? गुरुदेव ने अनेक बार कहा—'मेरे मन में कोई संदेह नहीं है। पर कुछ लोग बार-बार ऐसा प्रश्न उपस्थित करते हैं। क्यों न उनके प्रश्न का समाधान कर दिया जाए? चाड़वास में स्वतंत्र रूप से मर्यादा-महोत्सव के पीछे भी चिंतन का एक बिन्दु यह रहा। स्वतंत्र मर्यादा-महोत्सव कराने का निर्णय आकस्मिक नहीं था। उसका चिंतन भादवे में ही शुरू हो गया था। मर्यादा-महोत्सव स्वतंत्र करने की पृष्ठभूमि को मैं जानता था। फिर भी मैं चाहता था कि मर्यादा-महोत्सव का कार्य गुरुदेव की सन्निधि में ही चले। मैंने अनेक बार गुरुदेव के समक्ष अपना चिन्तन भी रखा पर गुरुदेव हर बार यही कहते रहे कि यह प्रयोग आवश्यक है, इसलिए हमें यह करना है। वे इस चिन्तन, निर्णय और क्रियान्विति पर अडिग थे। गुरुदेव ने इस विषय में (१ सितम्बर, १९९६) लिखा—

एक नया चिंतन

महाप्रज्ञजी को अलग विहार करा दिया जाए। अच्छा तो हो चौमासा भी अलग ही करें। पर इस बार गंगाशहर की घोषणा कुछ ऐसी हो गई कि कठिनाई है। पर मर्यादा-महोत्सव अलग करा दिया जाए। क्या हर्ज है? कनकप्रभाजी से कल बात हुई, और होनी है। यह निर्णय अवश्य करना है।'

इस निर्णय के पीछे अनेक कारण थे। उनमें एक कारण यह भी था—स्वतंत्र विहार और मर्यादा-महोत्सव के कार्य का सम्पादन जनता में नया विश्वास पैदा करेगा, कुछ लोगों की आशंका का भी परिमार्जन कर देगा और आचार्य पद के विसर्जन की सार्थकता भी सबकी समझ में आएगी।

गुरुदेव ने मुझसे कहा–'इस बार का मर्यादा-महोत्सव तुम स्वतंत्र करो। यह उपयोगी लगता है।'

मैंने प्रार्थना की–'मैं यह नहीं चाहता।'

गुरुदेव–'मैं जानता हूं, तुम नहीं चाहोगे। पर यह एक प्रयोग है। यह गणहित में अच्छा है।'

मैंने प्रार्थना की–'मैं अलग रह कर करूं, इसकी अपेक्षा अच्छा है गुरुदेव के साथ ही रहूं और मर्यादा-महोत्सव का सारा कार्य मैं स्वतंत्र रूप से सम्पादित करूं।'

गुरुदेव ने कहा–'ऐसा होता नहीं है। तुम हर बात मेरे सामने लाकर रख देते हो। मैं चाहता हूं कि मुझे कुछ भी न बताया जाए। सारा कार्य अपनी स्वतंत्रता से सम्पादित किया जाए।'

मैंने प्रार्थना की–'स्थिति का निवेदन करना एक आत्मतोष का विषय है। कार्य तो अपने ढंग से होता ही है।'

वार्तालाप का यह क्रम अनेक बार चला। पर आखिर निर्णय वही हुआ जो गुरुदेव चाहते थे। गुरुदेव ने इस बात के संकेत भी दे दिये। वे संकेत ऊहापोह के हेतु बन गए। श्रावक समाज का भी आग्रह होने लगा–गुरुदेव मर्यादा-महोत्सव में अवश्य पधारें। मर्यादा-महोत्सव चाड़वास में हो और गुरुदेव पचीस किमी. की दूरी पर लाडनूं में रहें, यह कैसा लगेगा? एक ओर गुरुदेव का दृढ़ निर्णय, दूसरी ओर साधु-साध्वी और श्रावक समाज का आग्रह। दोनों का लम्बे समय तक द्वंद्व चलता रहा, पर अंतिम विजय दृढ़ निश्चय की ही हुई।

स्वतंत्र विहार का निर्णय

एक ओर गुरुदेव हमारे स्वतंत्र विहार के वातावरण का निर्माण कर रहे थे तो दूसरी ओर उसकी प्रतिक्रियाएं भी हो रही थीं। पहली प्रतिक्रिया तो मेरी अपनी ही थी। मैं चाहता था कि गुरुदेव के साथ रहकर ही मर्यादा-महोत्सव संपन्न करूं। जनता की प्रतिक्रियाएं भी सामने आ रही थीं कि यह क्यों हो रहा है? इसके पीछे कारण क्या है? गुरुदेव प्रतिक्रियाओं को सुनते रहते थे। अपने निर्णय पर दृढ़ थे और जनता को समझाने के प्रयत्न में भी थे। डायरी (५ नवम्बर, १९९६) का एक पृष्ठ है–

'इस बार का विहार महाप्रज्ञजी का अलग हो, हम अभी यहीं रहें, ऐसा निर्णय है। इस बात की हलचल हो रही है। माघ महोत्सव पर भी हम यहीं रहें, चाड़वास नहीं जाएं, यही निर्णय है। पर लोग इतने पीछे पड़ रहे हैं। देखें, कैसे समझाएंगे।'

उत्तराधिकार मनोनयन पत्र

स्वतंत्र विहार का निर्णय हो चुका था। घोषणा १२ नवम्बर को होनी थी। १० नवम्बर को दीपावली का दिन था। इस पवित्र दिन मैंने आचार्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह करते हुए उत्तराधिकार–मनोनयन पत्र लिखा। भिक्षु विहार के जिस हॉल में मैं बैठा था, उसके भीतर उत्तराभिमुख में एक छोटा कक्ष है। उस कक्ष में मैंने पत्र लिखा। कक्ष के बाहर मुनि धनंजयकुमारजी प्रहरी के रूप में बैठे थे। किसी के आने-जाने का पूर्णतः निषेध था। पत्र लिखकर मैंने एक लिफाफा मंगाया। मुनि धनंजयजी तत्काल लिफाफा ले आए। मैंने वह पत्र लिफाफे में रखा। मैं वह पत्र लेकर गुरुदेव की सन्निधि में पहुंचा

और उनके चरणों में समर्पित कर दिया। गुरुदेव ने उसे पढ़ा। प्रसन्नता व्यक्त करते हुए मुझे साधुवाद दिया। नियुक्ति पत्र की भाषा इस प्रकार है–

जैन विश्व भारती
दीपावली
१०/११/९६

विक्रम संवत् २०५३

अर्हम्

प्रभवे नमः नमो विभवे

नमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

श्री भिक्षु भारमल ऋषिराय जयजश मघवा माणक डालचंद कालू तुलसी गुरुभ्यो नमः।

मैं आज दीपावली के पावन पर्व पर अपने उत्तराधिकारी के रूप में महाश्रमण मुनि मुदितकुमार को नियुक्त करता हूं। मुनि मुदितकुमार की अध्यात्मनिष्ठा और आचारनिष्ठा ने मेरे मन को प्रभावित किया है। विनम्रता भी आकृष्ट करती रही है। मेरा विश्वास है, मुनि मुदितकुमार अपने दायित्व का सम्यक् निर्वाह करता हुआ तेरापंथ संघ, भिक्षु संघ की गौरव-वृद्धि करेगा।

–आचार्य महाप्रज्ञ

स्वतंत्र विहार की घोषणा

कार्तिक शुक्ला द्वितीया (१२ नवम्बर, १९९६) का दिन निर्णय की घोषणा का दिन रहा। गुरुदेव ने कहा–'तुम अपने कार्यक्रम की घोषणा कर दो।' हमें श्रीडूंगरगढ़ से कालू-लूणकरणसर होते हुए बीकानेर-गंगाशहर पहुंचना था। प्रारंभ में श्रीडूंगरगढ़ तक कार्यक्रम की घोषणा की। इस घटना का भी गुरुदेव ने उल्लेख किया है–

'महाप्रज्ञजी ने अपना कार्यक्रम घोषित किया, श्रीडूंगरगढ़ तक का। कुछ प्रतिक्रमण (दीक्षा के लिए) के निर्देश दिए। हमने अपनी घोषणा की। विहार महाप्रज्ञ का होगा।'

सुदृढ़ बनें अंतरंग स्थिति

जागरूक नेतृत्व का दृष्टिकोण केवल अतीत पर आधारित नहीं होता और केवल वर्तमान पर आधारित भी नहीं होता। अतीत के अनुभवों का उपयोग करना, वर्तमान की समीक्षा करना, उसका परिष्कार करना–शुभ भविष्य के लिए ये दोनों आवश्यक हैं। गुरुदेव धर्मसंघ को जागरूकता का संदेश देना चाहते थे, उसके साथ-साथ उसकी अंतरंग स्थिति को सुदृढ़ बनाने की दिशा में भी निरंतर सचेष्ट थे। इस विषय में हमारा चिन्तन चलता रहता। गुरुदेव का दृष्टिकोण उनकी लेखनी में प्रस्फुटित हुआ है–

'महाप्रज्ञजी से कल चर्चा हुई। हमारी व्यापकता बढ़ रही है। ठीक है, पर अंतरंग स्थिति को सुदृढ़ रखना ज्यादा जरूरी है।'

अंतरंग स्थिति की दृढ़ता के लिए समय-समय पर अध्यात्म और योग के विशेष प्रयोग किए गए। गुरुदेव की चिन्ता को ध्यान में रखकर साधु-साध्वियों की एक गोष्ठी का आयोजन किया गया। उसमें

आध्यात्मिक व्यक्तित्व के निर्माण की एक प्रयोग पद्धति प्रस्तुत की गई। उसमें साधु-जीवन के लक्ष्य साधना के उत्कर्ष की चर्चा की गई। गोष्ठी के बारे में मैंने कुछ भी नहीं लिखा। वह गुरुदेव की लेखनी से अस्पृष्ट नहीं रहा–

'आज (२० नवम्बर, १९९६) प्रातः एक छोटी गोष्ठी साधुओं की की। उसमें महाप्रज्ञजी के समक्ष शिक्षा दी गई। हमने पूछा–बोलो, लक्ष्य क्या है? आखिर यहां से बतलाया गया–लक्ष्य है अच्छा साधु बनना। कैसा होता है अच्छा साधु? इसकी मानसिक प्रतिमा बने, पंचांग प्रतिमा बने–

शिर	उपशांत कषाय
दायीं भुजा	विनम्रता
बायीं भुजा	सामंजस्य
दायां पैर	सहिष्णुता
बायां पैर	सेवा-सहयोग

ऐसे पंचांग प्रतिमा बन जाती है। फिर ध्यान धरें एक-एक अंग पर। प्रत्येक अंग पर अलग-अलग कम से कम दो-दो मिनट, ऐसा करने से वैसी परिणति शुरू हो जाएगी। कहा है–

जं जं भावे आविसई, तं तं भावे परिणमई।

शनिवार के प्रवचन में भी यह क्रम चला। सबको प्रयोग कराया।'

पूर्णता में शून्यता की अनुभूति

मेवाड़ यात्रा का एक प्रसंग है। गुरुदेव लावासरदारगढ़ में विराज रहे थे। राजसमंद में प्रेक्षाध्यान शिविर की आयोजना थी। शिविर के लिए मुझे वहां जाना था। विहार के समय मैंने वंदना की। गुरुदेव ने कहा– 'अब तुम्हारा अलग विहार करना अटपटा-सा लगता है।' यह अनुभूति एक दिन की नहीं थी, दीर्घकालीन थी और दीर्घकाल तक चलती रही। चाड़वास मर्यादा-महोत्सव से पूर्व वही अनुभूति अनेक बार सामने आती थी। गुरुदेव की डायरी (१ दिसम्बर, १९९६) का एक पृष्ठ उसी का साक्ष्य दे रहा है–

'अब तीस दिसम्बर निकट आ रहा है। आचार्य महाप्रज्ञजी का विहार होना है। हमें यहां रहना है। नया-नया लगता है, कैसा-कैसा लगता है। कौन-कौन साथ रहेंगे? कौन साध्वियां रहेंगी? निर्धारण करना है। हो जाएगा। सब जगह हलचल तो है पर वैसा पहले से चिन्तनपूर्वक निर्णय लिया गया है। परिवर्तन कैसे हो सकता है? लगता है–एकांतवास सहज हो जाएगा। कनकप्रभाजी भी यहीं रहेंगी। नई व्यवस्था भी करनी होगी।'

गुरुदेव से अलग रहना मैं भी नहीं चाहता था। मैं अलग रहूं, यह गुरुदेव भी नहीं चाहते थे। इसे विशिष्ट प्रयोजन मानूं या नियति का लेख? कुछ भी हो! आखिर चाड़वास मर्यादा-महोत्सव करने के लिए विहार का समय निकट आ गया। पूर्णता में भी एक शून्यता की अनुभूति होती रही।

मर्यादा-महोत्सव स्वतंत्र रूप से करना था और गुरुदेव से पृथक् विहार भी सुनिश्चित था। यात्रा से गुरुदेव को श्रम अधिक होगा, यह भी मैं जानता था, पर जो होना था वह होना ही था। आखिर व्यवस्था से संबद्ध व्यक्तियों का निर्णय भी हो गया। निर्णय की कुछ बातें गुरुदेव की डायरी में अंकित हैं–

''अब हमने बैठकर तय कर लिया है कि यहां कौन-कौन रहेंगे और विहार कौन-कौन करेंगे? साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा यहां रहेंगी। महाश्रमण महाप्रज्ञजी के साथ जाएंगे। यहां हम व्यवस्थित कार्यक्रम चलाएंगे। मुमुक्षु, समणियां, विश्वविद्यालय के विद्यार्थी, प्रोफेसर आदि के लिए प्रशिक्षण का क्रम चलाएंगे। प्रवचन आदि कैसे क्या होंगे, यह विचार कर तय कर लेंगे।

पहला अवसर है हमारा इस रूप में अलग रहना। सबको आश्चर्य होता है।'

विकास हो पंचाचार का

तेरापंथ का आचार्य संघ के लिए समर्पित होता है। उसका लक्ष्य होता है संघीय-विकास। विकास का समग्र स्वरूप है पंचाचार की आराधना। कोरा ज्ञान संघीय विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। ज्ञान के साथ जरूरी है सम्यग् दृष्टिकोण। इन दोनों की कसौटी है चरित्र। तप और वीर्याचार के बिना आराधना की समग्रता नहीं बनती। इसलिए आचार्य का लक्ष्य होता है–संघ में पंचाचार का विकास होता रहे। इस विषय में गुरुदेव बहुत सजग थे। उनकी दृष्टि समग्र विकास पर टिकी रहती थी। समय-समय पर प्रयोग चलते और गोष्ठियां होतीं। साधना, व्यवस्था, अनुशासन इन सबको एक साथ लेकर चलना दुरूह कार्य है, पर आचार्य के लिए नितांत आवश्यक है। गुरुदेव की डायरी (२६-१२-१९९६) का एक पृष्ठ इस स्थिति की स्पष्ट व्याख्या है–

'बाहर से सिंघाड़े आ रहे हैं। मुनि बुद्धमल्लजी आज आए हैं। साध्वियां भी आ रही हैं। साध्वियों की गोष्ठी आज की। अच्छी साध्वी बनने का संकल्प है, पर कैसे बनें? उसका रास्ता बताया। पंचांगी चित्र बताया। सबने अभ्यास का आश्वासन दिया। कनकप्रभा ठीक है। गोष्ठी में थी। यहां रहेगी, इसकी भी बड़ी हलचल है। आग्रह चल रहा है, पर हम दृढ़ हैं। सभी हलचलें शान्त हो जाएंगी। अच्छा महोत्सव होगा।'

पौष का महीना साधु-साध्वियों के सिंघाड़ों के आगमन का समय होता है। उस समय अनेक संघीय समस्याओं, गतिविधियों का निरीक्षण, परीक्षण, समस्याओं का समाधान और चिन्तन होता रहता है। मुनि शुभकरणजी कुछ वर्षों से मेवाड़ में साधना कर रहे थे। उनके विषय में कुछ प्रवाद आए कि वे संघ-मुक्त होकर साधना करना चाहते हैं। गुरुदेव ने उनसे बातचीत की। वार्तालाप के उपरान्त गुरुदेव ने अपनी डायरी में लिखा–'मुनि शुभकरण (सरदारशहर) से चर्चा चली। कोई स्वतंत्र साधना की बात नहीं है। संघ में रहकर साधना चले, ऐसी भावना है। ठीक है। वातावरण तदनुरूप बने, यह अपेक्षा है। महाप्रज्ञजी को भोला (सौंप) दिया है।'

'अब आज महाप्रज्ञजी का विहार होना है। नया क्रम है। सबमें उत्सुकता है।'

साधु-साध्वियों की संगोष्ठी

विहार की चर्चा सर्वत्र हो रही थी। साधु-साध्वियों में भी उसकी चर्चा थी। अनेक प्रश्न भीतर ही भीतर उभर रहे थे। रहस्य जानने का प्रयत्न भी हो रहा था। विहार से पूर्व साधु-साध्वियों की गोष्ठी करनी भी आवश्यक थी। हमने चिन्तन किया और गोष्ठी आयोजित की। गोष्ठी में यात्रा और गुरुदेव की उपासना के विषय में अनेक विषय चर्चित हुए। गुरुदेव ने बहुत मार्मिक ढंग से कुछ बातें कहीं। उनका संक्षेप डायरी (३१-१२-९६) में भी अंकित है–

'एक दिन पहले साधु-साध्वियों की गोष्ठी भी हुई। अच्छे विचार चले। महाप्रज्ञजी विहार करें, हम यहा रहें, इसको ज्यादा तूल नहीं दें। सुविचारित है, सही है। रहस्य कुछ प्रगट हो जाए तो अच्छा रहे। हमने कहा–'अभी रहस्य ही रहने दो, यह अच्छा है। हम दोनों एक हैं। महाप्रज्ञ तुलसी हैं। तुलसी महाप्रज्ञ हैं। सबको इनके अनुशासन में रहना है। मेरा विश्वास है–चाड़वास महोत्सव सफल रहेगा, लोग याद करेंगे।'

आखिर पौष कृष्णा पंचमी का दिन आ गया। विहार की तैयारियां हुईं। गुरुदेव से अलग रहना मुझे बहुत ही अटपटा लग रहा था। गुरुदेव को भी लग रहा था। पर संघीय दृष्टि से कुछ कार्य करणीय होते हैं। वे न चाहते हुए भी करने होते हैं। मैं नहीं चाहता था कि गुरुदेव से अलग रहूं। गुरुदेव भी नहीं चाहते थे– महाप्रज्ञ मुझसे अलग रहें। पर कुछ चिन्तन सामने थे और उन्हें क्रियान्वित करना था।

मंगल भावना : मंगल विहार

दिसम्बर, १९९६, मैं विहार से पंद्रह मिनट पूर्व तीन बजे गुरुदेव के कक्ष में पहुंचा। उस समय गुरुदेव ध्यान-साधना में लीन थे। ज्योंही ध्यान संपन्न हुआ। मैंने वंदना की। गुरुदेव ने यात्रा के प्रति मंगलभावना व्यक्त करते हुए आशु रचित दो श्लोक फरमाए–

शुभास्ते सन्तु पन्थानः, प्रशस्ताः सन्तु ते दिशः।
स्वास्थ्यं विकासमाप्नोतु, यशः विस्तारमाप्नुयात्।।१।।
संघः संघसमोऽस्माकं, तीर्थं तीर्थचतुष्टयम्।
महाप्रज्ञः महाप्रज्ञः स्मरामि विस्मरामि किम्?।।२।।

गुरुदेव के पावन मुखारविन्द से शब्द सरिता प्रवाहित हो रही थी, साध्वीप्रमुखा उसे कलमबद्ध कर रही थीं। चतुर्विध धर्मसंघ के सदस्य उत्सुक भाव से सुन रहे थे। इस उत्साहमय वातावरण को श्लोकबद्ध करते हुए गुरुदेव ने कहा–

प्रवक्ताऽहम् प्रवक्ताऽयम्, लेखिका कनकप्रभा।
सर्वे उत्कन्धरा लोकाः, द्रष्टुं श्रोतुं समुत्सुकाः।।

मैंने भी अपनी भावना के साथ सद्यः रचित श्लोक प्रस्तुत किया–

धन्यं तद्दिवसं भावि, यस्मिन् प्राप्स्यामि दर्शनम्।
रक्षणीयं सदा देव! शिष्यत्वं मे स्मृतौ वरम्।।

सवा तीन बजे हमारा विहार हुआ। गुरुदेव का श्वास कुछ भारी था। फिर भी गुरुदेव वर्षा-संजय (संवर) सदन तक विहार में साथ चले, पैदल चले। साधन का प्रयोग नहीं किया। वर्षा-संजय सदन से हमें विदाई दी और हमने 'भाग्यश्री' (श्री निहालचंद भागचंद बरड़िया का मकान) के लिए प्रस्थान किया। गुरुदेव की डायरी में इसका सजीव वर्णन उपलब्ध है–

'विहार सवा तीन बजे हुआ। हम साथ-साथ चले। संवर के बरामदे में ऊंचे स्थान पर हम परस्पर आलिंगन से गले मिले। सानन्द विदा किया। दृश्य दृश्य था। जनता की भीड़ दर्शक थी। ऊपरले वास 'भाग्यश्री' पहुंचे। जुलूस लंबा और दर्शनीय था। रात भर वहां रहे। सवेरे विदा होकर सुजानगढ़ पहुंच गए।'

कल्पनाओं और योजनाओं से जुड़ी रात

नए वर्ष का प्रवेश। १९९६ का वर्ष संपन्न हुआ और १९९७ का प्रारंभ। पौष कृष्णा सप्तमी, बुधवार। गुरुदेव ने प्रारंभ के लिए शुभकामना की। उनका विश्वास सदा शुभ में रहता था। सर्दी का मौसम था। श्वास कुछ भारी था। हमें विदा देने के लिए कुछ दूर पधारे। उससे शरीर का श्रम हुआ। पसीने से ठंडी हवा लगी। उससे कुछ शारीरिक अस्वस्थता बढ़ गई। गुरुदेव ने उसका उल्लेख करते हुए लिखा–

'आज नववर्ष प्रवेश है। वर्षारंभ शुभ मानना चाहिए। कल मेरा स्वास्थ्य गड़बड़ा गया। श्वास भारी हो गया, थोड़ा ज्वर भी। महाप्रज्ञजी को विदा करने कुछ दूर 'संवर' तक चले गए। वापिस थकान, पसीना आया। ठण्डी हवा लगी। जुकाम का आक्रमण हो गया। डॉ. घोड़ावत आए और देखा। श्वास का इंजेक्शन लगाया। प्रातः ठीक पाया। मानसिक प्रसन्नता। ज्वर नहीं, श्वास जमाव पर है। लगा, नववर्ष का प्रवेश शुभ हुआ है। कनकप्रभा भी ठीक है। दोनों का यहां रहना अनेक दृष्टियों से ठीक रहा। महाप्रज्ञजी को पूरा काम स्वावलंबिता से करना होगा। कोई रुकावट नहीं रहेगी।'

गुरुदेव की सन्निधि से विहार कर हमने पहली रात 'भाग्यश्री' में बितायी। वह रात अनेक कल्पनाओं, योजनाओं के भविष्य से जुड़ी हुई रात थी। गुरुदेव से अलग रहना पहले ही कठिन था। इन वर्षों में और भी कठिन हो गया। इसका एक हेतु है अपने गुरु के प्रति अनुराग, प्रशस्त धर्मानुराग। दूसरा हेतु है–कार्य की संबद्धता। आगम सम्पादन, साहित्य का कार्य, संघीय चिंतन, संघीय व्यवस्था आदि-आदि से जुड़े हुए कार्यों में एक अपूर्व संलग्नता थी। परस्पर निर्भरता और सापेक्षता का अपूर्व प्रयोग था। अलग विहार करना उसमें एक अवरोध जैसा लग रहा था।

उस रात को गुरुदेव भी चिन्तन की मुद्रा में थे। प्रतिदिन प्रतिक्रमण प्रज्ञालोक में होता था। उस रात को गुरुदेव भिक्षु-विहार के दक्षिणाभिमुखी बरामदे में विराजे। बहुत ठंडी हवा थी। फिर भी लम्बे समय तक विराजे रहे। श्रीचंदजी रामपुरिया, बच्छराजजी नाहटा, जेसराजजी सेखानी आदि ने प्रार्थना की–'हवा ठंडी है। बहुत समय हो चुका। अब भीतर पधारने की कृपा करें।' गुरुदेव ने प्रार्थना सुन ली और वहीं विराजे रहे। उन लोगों ने पूछा–'आज यहां कैसे विराजे हैं?'

गुरुदेव ने कहा–'आज हम महाप्रज्ञजी के अभिमुख होकर बैठे हैं।'

जेसराजजी, नाहटाजी आदि हमारे पास आए और उन्होंने सारा वृत्त सुनाया। मुझे अनुभव हुआ–गुरु का प्रसाद अध्यात्म का प्रसाद है। वह श्रोता और वक्ता सबको प्रसन्नता से भर देता है। कहने वाले भी प्रसन्नता से सराबोर थे और हम सब सुनने वाले भी प्रसन्नता में निमज्जन कर रहे थे। स्थान हमारे दो हो गए। ऐसा लगता है कि स्थान की दूरी ने अभिमुखता को और अधिक निकट ला दिया।

पत्रों का गमनागमन

प्रत्यक्ष में दर्शन अधिक काम करता है, शब्द मौन रहते हैं। परोक्ष में दर्शन मौन हो जाता है, शब्द सक्रिय बन जाते हैं। हमारा बहुत सारा व्यवहार शब्दों के आधार पर चलता है। संवाद, समाचार और पत्र लेखन की परम्परा इसीलिए स्थापित हुई कि हम परोक्ष को भी प्रत्यक्ष बना सकें। सुजानगढ़ में साधु-साध्वियों का गमनागमन और पत्रों का गमनागमन प्रारंभ हो गया। यह सिलसिला चाड़वास मर्यादा-

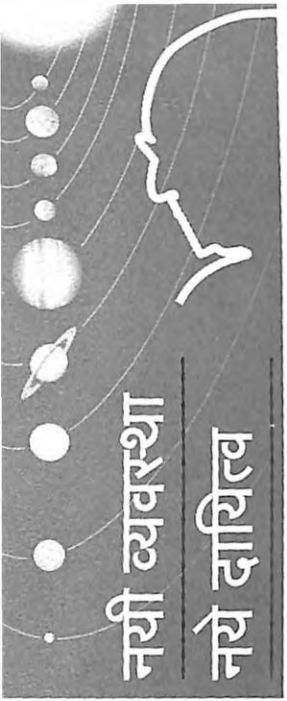

महोत्सव तक चलता रहा। सर्वप्रथम साध्वी जिनप्रभाजी आदि कुछ साध्वियां गुरुदेव के दर्शन करने गईं। वे आते समय कुछ पत्र लेकर आईं। गुरुदेव ने डायरी में इसका उल्लेख किया है–

'सुजानगढ़ से साध्वी जिनप्रभाजी आदि आईं। संवाद सुनाए, कुछ समस्याएं रखीं। साध्वीप्रमुखा ने यहां से पत्र लिखकर दिया। यहां से लेकर गईं। वहां चतुर्दशी की हाजरी में सुनाया गया। पत्र इतना भाव-भक्तिपूर्ण था कि सुनकर महाप्रज्ञ भावविभोर हो गए। वक्तव्य दिया। सारी सभा गद्‌गद् हो गई। ऐसा पत्र महाश्रमणी ही लिख सकती है। फिर वहां से आचार्य महाप्रज्ञ ने संदेश-पत्र लिखा। उसे लेकर मुनि ताराचंदजी आदि चार ठाणा आए।'

पत्र पठनीय हैं इसलिए उसे उद्धृत किए बिना परोक्ष को प्रत्यक्ष में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। उसका प्रथम भाग साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने लिखा। उसके परिशेष में गुरुदेव का उदान था। प्रवचन के समय पत्र पढ़ा गया। वह सचमुच श्रद्धासिक्त था। उसने एक मानसिक आह्लाद पैदा किया। गुरुदेव के उदान में दायित्व-बोध की वह भाषा थी जिसने एक साथ सिहरन, पुलकन और अनुभव का आत्म-तोष पैदा कर दिया। पत्र का अविकल पाठ इस प्रकार है–

परम श्रद्धेय, परम प्रतीक्ष्य आचार्यप्रवर!

श्रद्धासिक्त अन्तहीन प्रणतियां।

तेरापंथ धर्मसंघ अत्यधिक गौरवशाली है, जिसे गणाधिपति गुरुदेव और आचार्यप्रवर का युगपत् नेतृत्व उपलब्ध है। आपश्री के सक्षम अनुशासन में हमारा धर्मसंघ विकास के नित नए क्षितिज उन्मुक्त कर रहा है। हम सब आध्यात्मिक विकास के उन्नत शिखरों को छू सकें, इस दृष्टि से आप अहर्निश प्रयत्नशील हैं। आपने अनिर्वचनीय कृपा कर मुझे परमाराध्य गुरुदेव की सेवा का अवसर प्रदान किया, इसके लिए कृतज्ञता ज्ञापन की बात बहुत छोटी पड़ती है। यहां गुरुदेव की मंगल सन्निधि में सब साधु-साध्वियां सानन्द हैं। अपने-अपने दायित्व के प्रति जागरूक हैं। पर गुरुदेव और आचार्यवर को एक साथ देखने की अभ्यस्त हमारी आंखें एक प्रकार से खालीपन का अनुभव कर रही हैं। वह प्रभात अधिक आह्लाददायक होगा जिस दिन आपश्री गुरुदेव का साक्षात् सान्निध्य प्राप्त करेंगे और हम अपनी आंखों एवं मन के खालीपन को भर पाएंगे।

आपश्री के प्रस्थान के बाद परमाराध्य गुरुदेव को प्रतिश्याय, श्वास-प्रकोप और हलका-सा ज्वर हो गया। श्रम तो कारण था ही, संभवतः कुछ भावनात्मक प्रभाव भी था। अब स्वास्थ्य में उत्तरोत्तर गति है। प्रतिश्याय का असर अब तक है। आपश्री और संपूर्ण धर्मसंघ की मंगल भावनाओं से पूज्यवर शीघ्र ही पूर्ण आरोग्य का वरण करेंगे, ऐसा विश्वास है।

यह समय आपश्री के लिए अतिरिक्त श्रम का समय है। सही समय पर भोजन और विश्राम नहीं होता होगा। प्रवचन, जनसंपर्क, अध्यापन, साधु-साध्वियों की अंतरंग संभाल आदि बहुत कार्य सामने रहते हैं। स्वास्थ्य की उपेक्षा न हो, यह प्रार्थना है। आज जिनप्रभाजी आदि साध्वियां सुजानगढ़ से यहां आईं। आपके सुख-संवाद पाकर प्रसन्नता हुई। आप समय-समय पर मुझे भी दिशादर्शन और प्रेरणा देने की कृपा करते रहें। मेरे योग्य कोई सेवाकार्य हो तो दिशा-निर्देश दिलाते रहें।

आदरास्पद महाश्रमणजी को आपश्री की सेवा में रहने का सौभाग्य मिला है। उनका समर्पण और विनम्रभाव सबके लिए अनुकरणीय है। महाश्रमणजी आदि सभी संतों को वंदना एवं सुखपृच्छा ज्ञात हो।

यहां से साध्वी कल्पलताजी आदि सब साध्वियों की ओर से हार्दिक भाव से वंदना।

लाडनूं **कनकप्रभा**

७ जनवरी, १९९७

मैंने पत्र लिखकर परमाराध्य गुरुदेव को निवेदन किया तो आपने फरमाया कि मेरी ओर से भी कुछ पंक्तियां लिख दो। गुरुदेव के शब्दों को मैं यहां अंकित कर रही हूं–'पुनः-पुनः सुखपृच्छा और अनेकानेक शुभकामनाओं के साथ महाप्रज्ञजी से आवेदन–सुना है कि कार्य की व्यस्तता के कारण नियमित दिनचर्या में कुछ व्यवधान हुआ है। नैसर्गिक नियमित व्यक्तियों के जीवन में ऐसा कैसे हुआ? व्यस्तता होती है, बढ़ती है, बढ़ती रहे पर उससे नियमितता में कमी नहीं आनी चाहिए।

महाप्रज्ञजी! अभी तुम्हारे स्वास्थ्य पर बहुत कुछ क्या, सब कुछ निर्भर है। इसके लिए सूचित करना लगता तो अनावश्यक ही है। फिर भी मन में आया तो महाश्रमणी को लिखने के लिए प्रेरित कर दिया।'

सुजानगढ़ प्रवास की कार्य-योजना

सुजानगढ़ प्रवास के लिए हमने कार्य-योजना बना ली। मैं योजना और घड़ी–इन दोनों में बहुत विश्वास करता हूं। हमारा कार्यक्रम शुरू हो गया। साधु-साध्वियों के सिंघाड़े काफी आ चुके थे और कुछ आ रहे थे। मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर ज्ञानाचार, साधना, सेवा और पारस्परिक व्यवहार–ये विषय प्रमुख रहते हैं। आगम का सामूहिक स्वाध्याय शुरू किया। उत्तराध्ययन के उनतीसवें अध्ययन पर मीमांसा-पूर्वक वाचन चला। पौष और माघ इन दो महीनों में आगम-सम्पादन और ग्रंथ-लेखन का कार्य स्थगित कर देते हैं। इन दो महीनों का अधिकांश समय संघीय व्यवस्था, न्यारां (बहिर्विहार) से आने वाले साधु-साध्वियों के कार्य विवरण, भावी व्यवस्था, सहचिन्तन आदि में लगता। गुरुदेव की सन्निधि में ये कार्य चलते तो अधिक उल्लास का अनुभव होता। हम कार्य सम्पादन कर गुरुदेव के ध्यान में ला देते। गुरुदेव अनुमोदन कर देते। हमें अतिरिक्त आह्लाद की अनुभूति होती। अब आह्लाद हो रहा था, साथ-साथ अतिरिक्त आह्लाद की अनुभूति का संयम भी हो रहा था।

संवाद संप्रेषण : तीन पत्र

परोक्ष के प्रत्यक्षीकरण का एक साधन है संवाद का संप्रेषण। मैंने भी गुरुदेव तक अपने भाव पहुंचाने के लिए पत्र लिखा। गुरुदेव ने पत्र की समीक्षा करते हुए लिखा–'मुनि ताराचंदजी द्वारा पत्र-संदेश और वहां के सारे संवाद सुने। दूसरे दिन व्याख्यान में हम गए। पत्र पढ़ा गया। वह पत्र प्रभावकारी था। महाश्रमणी का उसमें सही अंकन किया गया। पढ़ कर मुझे अतिरिक्त प्रसन्नता हुई। यहां से हमने एक पत्र लिखा। मुनि ताराचंदजी लेकर गए। वहां पढ़ा गया। वातावरण बहुत प्रसन्न बना।'

मुनि ताराचंदजी तीन पत्र लेकर गए थे, उनका पाठ इस प्रकार है–

प्रथम पत्र

सुजानगढ़
९/१/१९९७

अर्हम्

परम पावन पूज्य गुरुदेव!

अनुग्रह और आशीर्वाद का फल प्रतिफलित हो रहा है, प्रतिपल उसका अनुभव हो रहा है।

प्रणत वंदना और सुखपृच्छा।

हम सब सानन्द हैं। कार्यक्रम व्यवस्था के साथ चल रहा है। हमारा धर्मसंघ बहुत अनुशासित और विनीत है। इसलिए कार्य सहज-सरल हो जाता है। ऐसा धर्मसंघ सौभाग्य से ही मिलता है। आप जैसे महान् गुरु का नेतृत्व संघ को मिल रहा है, यह परम सौभाग्य है।

आंतरिक एकता और निकटता होने पर भी क्षेत्रीय दूरी आखिर दूरी ही है।

आप मेरे श्रम की चिन्ता करते हैं और मुझे लग रहा है कि गुरुदेव के अधिक श्रम का निमित्त मैं भी बना हूं।

स्वास्थ्य और श्रम की सापेक्षता सदा अपेक्षित है। गुरुदेव का स्वास्थ्य पूरे संघ के स्वास्थ्य की संजीवनी है।

हमारा सुजानगढ़ का प्रवास प्रायः संपन्न हो रहा है। काफी सुखद रहा है। साधु-साध्वियों को भी सुविधा का अनुभव हुआ है। महाश्रमण मुदितकुमार पूरी निष्ठा से सहयोगी हैं। व्यवस्था कार्य भी सम्यक् चल रहा है।

साध्वियां अपने-अपने दायित्व का सम्यक् निर्वाह कर रही हैं। मेरी दैनिक चर्या नियमित रूप से चल रही है। कभी-कभी दिन में विश्राम में व्यवधान हो जाता है।

गुरोः प्रसादः कुशलानुवादः।

प्रणत

महाप्रज्ञ

द्वितीय पत्र

सुजानगढ़
९/१/१९९७

अर्हम्

परमाराध्य पूज्य गुरुवर!

श्रीचरणयोः विनम्रवंदना मम, अत्रस्थितानां सर्वेषां साधूनां साध्वीनां च। सुखानुभूति निश्चयः।

१. प्रसादः पत्रसिद्धोऽसौ, लब्धो लब्धाश्च पंक्तयः।
अनुभूतं क्षणं ताभिः साक्षात्कारोऽत्र साधितः।।

२. पंथा दर्शयितव्योऽस्ति, येन प्रगतिरुत्तमा।
शासनस्य विकासार्थं, अव्याबाधा भवेद् मम।।

सर्वे साधवः सर्वाश्च साध्व्यः गुरुवरस्य उपासनायामासीनाः सुखप्रश्नेन प्रष्टव्याः।

प्रणतः
महाप्रज्ञः

तृतीय पत्र

सुजानगढ़
९/१/१९९७

अर्हम्

साध्वीप्रमुखा महाश्रमणी कनकप्रभाजी!

भावनापूर्ण पत्र को पढ़ा। प्रसन्नता हुई। इस बात की और अधिक प्रसन्नता है कि हमें ऐसी प्रबुद्ध, कुशल और समयज्ञ साध्वीप्रमुखा मिली है।

पत्र में कृतज्ञता प्रकट की। यह कृतज्ञता नहीं, मेरे लिए आश्वासन है।

गुरुदेव की सेवा में रहूं, यह मेरा धर्म है, कर्तव्य है, दायित्व है। मैं नहीं रह सका, पर तुम्हारे वहां रहने को मैं कर्तव्य का निर्वाह मान रहा हूं।

महाश्रमणीजी! साध्वियों की व्यवस्था में तुम्हारा सहयोग सर्वाधिक आवश्यक है। इस विषय में जो भी सूचनाएं, संवाद अपेक्षित लगे, देती रहोगी।

स्वास्थ्य के प्रति जागरूक।

गुरुदेव के आभामंडल में रहने वाली सभी साध्वियां प्रसन्न रहें, यह नैसर्गिक है। सबसे सुखपृच्छा। यहां उपस्थित सभी साध्वियां अपने-अपने दायित्व और कर्तव्य का सम्यक् अनुपालन कर रही हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ

साध्वियों की व्यवस्था

सुजानगढ़ पहुंचने के बाद सर्वप्रथम हमने व्यवस्था पर ध्यान दिया। महाश्रमण इस समय युवाचार्य नहीं थे, फिर भी अंतरंग व्यवस्था में वे मेरे सहायक थे इसलिए उनसे परामर्श किया। जो करना था वह उन्हें बताया। संत अपने-अपने दायित्व को निभा रहे थे। साध्वियों की व्यवस्था पर अधिक ध्यान देना आवश्यक था। कुछ साध्वियों को आमंत्रित किया। साध्वी कमलूजी को अग्रणी का दायित्व दिया गया। आज्ञा और आलोयणा का काम उनके जिम्मे रहा। साध्वी जिनप्रभाजी को न्यारां से आने वाली साध्वियों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्य सौंपा गया। चंदनबालाजी को स्वास्थ्य और चिकित्सा संबंधी दायित्व दिया गया।

साध्वियों की अंतरंग व्यवस्था का कार्य जटिल प्रश्न बना हुआ था। साध्वीप्रमुखा गुरुदेव की उपासना में थी। उनका सहयोग नहीं मिल पा रहा था। इसलिए वैकल्पिक व्यवस्था की गई। उस व्यवस्था का कार्य साध्वी विमलप्रज्ञा और साध्वी विश्रुतविभा को सौंपा गया। वह पूर्व निर्धारित था। विहार से पूर्व

इस विषय में चिन्तन हुआ था। मैंने गुरुदेव से प्रार्थना की—साध्वीप्रमुखा का गुरुदेव की उपासना में रहना जरूरी है। इस अवस्था में साध्वियों की व्यवस्था का कार्य कौन करे? गुरुदेव ने कहा—'तुम चाहो, जिससे काम लेना।' चिन्तन के बाद उक्त दो नामों का निर्धारण किया गया। साध्वीप्रमुखा को भी इसकी जानकारी दी गई थी। साध्वी विमलप्रज्ञा और विश्रुतविभा को जब यह दायित्व सौंपा तब उन्होंने विनम्रता से कहा—'यह कार्य किसी और को सौंपें, हम इसके लिए उपयुक्त नहीं हैं।' बहुत समझाने पर भी उनका यह आग्रह बना रहा। विश्रुतविभा का आग्रह अति हो गया। उसने अपनी समस्या साध्वीप्रमुखा के सामने प्रस्तुत की, साध्वी जिनप्रभाजी के साथ साध्वीप्रमुखा के लिए एक संवाद-पत्र भेजा। साध्वियां गुरुदेव के दर्शन करने के बाद पुनः सुजानगढ़ आईं। उनके साथ साध्वीप्रमुखा का विश्रुतविभा के नाम एक पत्र था और वह बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण था। उस पत्र से कुछ आश्वासन मिला और दोनों साध्वियां अपने कार्य में लग गईं।

साध्वी जिनप्रभाजी के विहार में संभवतः कुछ विलंब हो गया। गुरुदेव ने विलंब पर ध्यान दिया और तत्काल वहां पहुंचने की प्रेरणा दी। उस प्रेरणा को तीन श्लाकों में गूंथ दिया। उस गुंफन में आशीर्वाद और निर्देश—दोनों की बोधि भी प्राप्त हुई—

व्याख्याने श्रावयिष्यन्ति, त्वद्दलं भक्तिभावितं।
पश्चाद् गतेन तत् किं स्यात्, अत एव द्रुतं व्रजेत।।

स्वस्थाः सन्तः महाप्रज्ञाः, महाश्रमणसंयुताः।
प्रतिक्षणं प्रचेष्टंतां, धर्मसंघसमृद्धये।।

यातायातोऽविधातव्यः, निर्हेतुकं पुनः पुनः,
व्यवधानं न कार्ये स्यात्, अत्र तत्र सुखं स्थिताः।।

o तुम्हारे भक्तिभावित पत्र को व्याख्यान में सुनाया जाएगा इसलिए जल्दी जाओ, व्याख्यान संपन्न होने के बाद पहुंचने से क्या होगा?

o महाश्रमण मुदित सहित महाप्रज्ञ स्वस्थ रहें। धर्मसंघ की समृद्धि के लिए प्रतिक्षण चेष्टा करते रहें।

o निर्हेतुक बार-बार यातायात (साधु-साध्वियों का गमनागमन) न किया जाए। कार्य में व्यवधान नहीं होना चाहिए। यहां-वहां सब सुख में स्थित रहें।

गुरुदेव का संदेश-पत्र

मुनि ताराचंदजी तीन दिन गुरुदेव की उपासना में रहे। वापस गुरुदेव का संदेश-पत्र लेकर आए। वह पत्र स्वयं गुरुदेव ने अपने हाथों से लिखा—

लाडनूं
११-१-१९९७

अर्हम्

सर्वं समर्पितं यस्मै, किं पत्रं तत्र प्रेष्यते।
तथापि व्यवहारोऽयं, निर्वाह्योस्ति यदा कदा।।

महाप्रज्ञाः समुदिताः, मुदितास्तत्र आसते।
श्रुत्वा मोदामहेऽत्यर्थं, वयं विवृतचेतनाः।।

मेरे परम विनीत पट्टशिष्य! धर्मसंघ के प्रभावी आचार्य महाप्रज्ञ!

सादर साभिवादन शतशः सुखपृच्छा।

शिष्य ताराचंद आदि के द्वारा वहां के सुख-संवाद तथा संदेश-पत्र प्राप्त कर सात्त्विक आनन्दानुभूति और आत्मगौरव का अनुभव हुआ।

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा का अंकन यथार्थता का अंकन है। समूचा धर्म-परिवार यहां सानंद स्वस्थ है। वहां भी ऐसा ही है। सुविदित है।

महाप्रज्ञजी!

वहां जैसी एक रिक्तता लगती है, यहां भी वैसी ही रिक्तता है। पर यह रिक्तता भी अतिरिक्त आनन्दप्रद रहेगी, ऐसा विश्वास है, क्योंकि सुचिंतित है।

यत्र-तत्र-सर्वत्र सात्त्विक स्वास्थ्य की कामना। उभयत्र प्रतिदिन सुखद संवाद प्राप्त होते रहते हैं।

तत्रस्थ सभी साधु-साध्वियों से सुखपृच्छा।

शुभं श्वोवसीयसं।

गणाधिपति तुलसी

पुनश्चः—यहां आपके विहार के बाद जैन विश्व भारती, विश्वविद्यालय के अधिकारियों, कर्मचारियों, प्राध्यापकों, अध्यापकों की गोष्ठी प्रारंभ हो गई है। यह सिलसिला चालू रहेगा।

लाडनूं की ज्ञानशाला भी कल से चालू की जा रही है। सभी सक्रिय काम होने शुरू हो गए हैं। ज्ञात रहे—अणुव्रत ग्रामों का काम भी चालू है। आप लोग निश्चिन्त रहें।

शेषं कुशलम्

महाश्रमण मुदितकुमार आदि सभी साधु-साध्वियां आचार्य महाप्रज्ञ के इंगित की आराधना करें।

गणाधिपति तुलसी

संस्कृत भाषा में पत्र

'सुजानगढ़ प्रवास में हमने ईसवी सन् १९९६ को संपन्न कर १९९७ में प्रवेश किया। तेरह दिवसीय प्रवास योगक्षेम के साथ बीता। हम सुजानगढ़ से छापर की ओर प्रस्थान कर रहे थे। साधु-साध्वियों के कुछ सिंघाड़े थली की ओर से आ रहे थे। वे गुरुदेव के दर्शन करने के लिए लाडनूं की ओर जा रहे थे। उनके साथ मैंने एक पत्र प्रेषित किया। वह संस्कृत में लिखा—

सुजानगढ़
१२-१-१९९७

परमपूज्य गुरुदेव!

विनम्रा वंदना श्रीचरणयोः। सुखपृच्छा।

गुरुवरस्य अंतरात्मोद्गताः उद्गाराः ममात्मानमांदोलयन्ति।
असीमानुकंपां प्रति नास्ति काचिद् वक्तव्यता मम सन्निधौ।

गुरुदेवस्यानुग्रहात् सर्वत्र सफलता। एतदेवाशीर्वादं इच्छामि—मम विनम्रता निरंतरं प्रवर्द्धमाना भवेत्। साध्वीप्रमुखाद्याः सर्वाः साध्व्यः मुनि मधुकरप्रभृतयः सर्वे साधवः उपासनायामालीनाः नितांतमामोदमनुभवन्तु।

इदानीं स्मृतिरेव प्रसादः। पुनः प्रणतयः श्रीचरणयोः।

प्रणतः महाप्रज्ञः

परमपूज्य गुरुदेव!

श्रीचरणों में विनम्र वंदना, सुखपृच्छा। गुरुदेव के अंतरात्मा से निकले हुए उद्गार मेरी आत्मा को आंदोलित कर रहे हैं। आपकी असीम अनुकंपा के प्रति कहने के लिए मेरे पास कोई वक्तव्यता नहीं है।

गुरुदेव के अनुग्रह से सर्वत्र सफलता मिल रही है। मैं गुरुदेव से यही आशीर्वाद चाहता हूं कि मेरी विनम्रता निरंतर प्रवर्धमान रहे।

साध्वीप्रमुखा आदि सर्व साध्वियां, मुनि मधुकर आदि सर्व साधु गुरुदेव की उपासना में आलीन रहते हुए नितांत आमोद का अनुभव करें।

इस समय मेरे लिए तो स्मृति ही गुरुदेव का प्रसाद है। एक बार फिर गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करता हूं।

प्रणत महाप्रज्ञ

छापर में वर्द्धमान महोत्सव

सुजानगढ़ से प्रस्थान कर हम छापर पहुंचे। बीच में एक दिन कोठारी कुंज में रहे। वहां चारों ओर से निकट और दूरवर्ती स्थानों से लगभग डेढ़ हजार आदमी आए। जनता में अपूर्व उत्साह और उल्लास देखा। सुजानगढ़ से कोठारी-कुंज तक पूरा रास्ता चल रहा है, ऐसा लग रहा था। छापर में वर्द्धमान महोत्सव का कार्यक्रम निर्धारित किया गया। क्षेत्रीय दूरी के उपरान्त भी हमारी आंतरिक निकटता और अधिक बढ़ रही थी। बार-बार उस श्लोक की पुनरावृत्ति हो रही थी—

न दूरमपि तद्दूरं यो यस्य हृदये स्थितः।

प्रातःकालीन प्रवचन में हमने श्रावक-संबोध का वाचन शुरू किया। वह नया ग्रंथ था। बहुत सरल, बहुत सरस और बहुत आकर्षक। संस्कृत, प्राकृत में अनेक श्रावकाचार उपलब्ध हैं। हिन्दी भाषा में यह अपूर्व श्रावकाचार है। अपूर्व इस अर्थ में कि इसमें प्राचीन और अर्वाचीन दोनों दृष्टियों का समवतार हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ के विषय में उसकी प्रस्तावना में मैंने जो लिखा है, उसका एक अंश हर व्यक्ति के लिए पठनीय है—

'आचार्यश्री की साहित्य रचना के अलग-अलग युग रहे हैं। एक युग में उन्होंने तत्त्वविद्या जैनसिद्धान्तदीपिका जैसे ग्रंथों की रचना की। एक युग में मनोनुशासनम् जैसे योग ग्रंथ का प्रणयन किया।

एक युग में पंचसूत्रम् जैसे अनुशासन ग्रंथ का निर्माण किया। एक युग में जीवनवृत्तों की संरचना की। श्रीकालूयशोविलास से शुरू हुई जीवनवृत्तों की यात्रा को सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति तक पहुंचकर भी विराम नहीं मिला था। कुछ और जीवनवृत्त लिखने की कल्पना भी आकार लेने लगी थी।

आचार्यश्री ने अपने जीवन के आखिरी दशक में रचना का एक नया दौर शुरू किया। आचार-बोध, संस्कार-बोध, व्यवहार-बोध, तेरापंथ-प्रबोध और श्रावक-संबोध–इन पांच बोध, प्रबोध और संबोध ग्रंथों का निर्माण हुआ। यहां यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि इन लघुकाय ग्रंथों में साठ वर्ष के अनुभवों तथा ज्ञानराशि का एक समुच्चय हुआ है। पर्वतों को अपना समुच्चय करने में हजारों वर्ष लगते हैं। इस दशक में आचार्यवर द्वारा जो उच्चयन हुआ है वह विद्वानों के लिए शोध का विषय है, विद्यार्थियों के लिए संबोध का विषय है और सामान्य जनता के लिए मानसिक आह्लाद का विषय है।

इन रचनाओं में 'श्रावक-संबोध' की रचना का एक विशिष्ट मूल्य है। वर्तमान में बारह व्रतों, प्रतिमाओं अथवा समग्र श्रावकाचार के प्रति उदासीनता की जो मनोवृत्ति पनप रही है, उसे बदलने में यह ग्रंथ नई प्राणवायु का काम करेगा।'

छापर प्रवास में साधु-साध्वियों के काफी सिंघाड़े आ गए। वर्धमान मर्यादा-महोत्सव का स्वरूप बन गया। सब कुछ था पर एक अधूरेपन का अनुभव सबको हो रहा था। मुझे भी हो रहा था। सबने कहा–'गुरुदेव और आपको एक साथ बैठे हुए देखने का हमारी आंखों को अभ्यास हो चुका है। केवल आपको देखते हैं तो एक आसन खाली लग रहा है।' मुझे भी लग रहा था–मैं गुरुदेव के पास बैठकर प्रवचन करता, विचार-विमर्श करता। अब किसके साथ बैठूं और प्रवचन के मध्य किससे विचार-विमर्श और परामर्श करूं।

चाड़वास के लोग बार-बार गुरुदेव की सन्निधि में गए, प्रार्थना की–'एक-दो दिन के लिए भी आप पधारें।' आग्रह केवल चाड़वास वालों का ही नहीं, अनेक साधु-साध्वियों तथा श्रावकों का भी था और वह उचित भी था। कुछ लोगों के मन में यह संदेह भी था–गुरुदेव की अनुपस्थिति में मर्यादा-महोत्सव का रूप कैसे बनेगा? गुरुदेव के मन में संदेह नहीं था। संदेह मेरे मन में भी नहीं था। गुरुदेव की सन्निधि मिले, इसकी अभीप्सा अवश्य थी।

गुरुदेव ने चाड़वास के श्रावकों से कहा–'हमारा अभी लाडनूं में ही रहना संभव है। चाड़वास जाना संभव नहीं है। तुम इसकी चिन्ता मत करो। महाप्रज्ञ में तुलसी देखो और तुलसी में महाप्रज्ञ को देखो।' गुरुदेव ने वही चिर-परिचित सूत्र दोहराया। श्रावक-गण के मन में यह धारणा पुष्ट हो गई कि गुरुदेव मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर लाडनूं में ही रहेंगे।

छापर में हमारा बारह दिन प्रवास हुआ। वर्धमान महोत्सव का कार्यक्रम सानन्द संपन्न हुआ। साधु-साध्वियों की व्यवस्था तथा भावी चातुर्मासिक व्यवस्था का चिन्तन और कार्य चल ही रहा था। सबमें अद्भुत उत्साह था। आसपास के श्रावकों के आने-जाने का क्रम निरंतर बढ़ रहा था।

मर्यादा-महोत्सव के लिए प्रवेश

२५ जनवरी को चाड़वास में मर्यादा-महोत्सव के लिए प्रवेश का कार्यक्रम निश्चित था। उसी के अनुसार प्रवेश की तैयारी होने लगी। छापर में वर्धमान महोत्सव का कार्यक्रम संपन्न कर हमने पौष मास की

पूर्णिमा के दिन मर्यादा-महोत्सव के लिए चाड़वास में प्रवेश किया। छापर से चाड़वास की दूरी लगभग चार किलोमीटर है। पूरा रास्ता जनता से आकीर्ण था। हजारों लोग बड़ी उत्सुकता के साथ मर्यादा-महोत्सव के प्रवेश को निहार रहे थे। गुरुदेव जैन विश्व भारती में विराजमान थे। वहां से आशीर्वाद मिल रहा था और वे प्रवेश को बहुत सूक्ष्मता से देख रहे थे। गुरुदेव हमारी हर गतिविधि पर एकाग्र थे। उन्होंने लिखा– 'महाप्रज्ञजी आज मध्याह्न में मर्यादा-महोत्सव के लिए चाड़वास प्रवेश कर रहे हैं। बहुत लोग आ-जा रहे हैं। बड़ा भव्य प्रवेश होगा। छोटा गांव है। उत्साह बहुत है। उत्साह में कहीं सीमातिक्रमण न हो, इसके लिए पहले से ही सतर्क कर दिया गया। महोत्सव भव्य रूप में होगा।'

चाड़वास का प्रवेश मर्यादा-महोत्सव की सफलता की सूचना दे रहा था। स्वागत का कार्यक्रम। जनता की विशाल उपस्थिति। चाड़वास के श्रावक समाज की हर्षाभिव्यक्ति। सब कुछ नया-नया लग रहा है। मैंने प्रवचन से पहले कहा–

अनुशासन आकाश।
चमके सूरज बन विश्वास।।

मैंने प्रवचन में कहा–'आज संपूर्ण विश्व को आध्यात्मिक नेतृत्व की आवश्यकता है। हिंसा के इस बढ़ते माहौल में यदि मूल कारणों की खोज की जाए तो ज्ञात होगा कि दो कारण मुख्य हैं। पहला कारण है स्वार्थ की मनोवृत्ति तथा दूसरा कारण है नैतिकता व प्रामाणिकता का अभाव। इन दोनों का उच्छेद करने के लिए ही पूज्य गुरुदेव ने अणुव्रत की आचार-संहिता दी। वह हिंसा की आग में पानी का काम करने वाली है।

लोग कह रहे हैं मर्यादा-महोत्सव को संपन्न करने के लिए मैं अकेला आया हूं। एक दृष्टि से यह ठीक है। दूसरा कोण यह है कि मैं अकेला नहीं आया हूं। मैं गुरुदेव द्वारा प्रदत्त धर्मचक्र को साथ लेकर आया हूं। वह धर्मचक्र मेरे आगे-आगे चल रहा है। जब मैंने लाडनूं से प्रस्थान किया तब गुरुदेव ने मुझे आशीर्वाद के रूप में धर्मचक्र दिया था, उसे देखने वाला ही देख सकता है।

मैं चाड़वास के लोगों से कहना चाहता हूं कि वे उत्साह को शक्ति में बदल दे। हमारा शक्ति और भक्ति दोनों में विश्वास है। पूज्य गुरुदेव ने शाश्वत चिंतन का मंत्र दिया है। वे दूर बैठे ही हमारे कार्यों के साक्षी रहेंगे।'

हमने प्रथम दिन से ही मर्यादा-महोत्सव की व्यवस्था का कार्य शुरू कर दिया। महाश्रमण मुनि मुदितकुमार इस कार्य में मेरे साथ थे। साध्वियों ने भी अपना-अपना कार्य शुरू कर दिया। साध्वियों के सिंघाड़ों की पृच्छा और प्रारंभिक जानकारी साध्वी विमलप्रज्ञा और साध्वी विश्रुतविभा ने की। मर्यादा-महोत्सव का यह एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। फिर सभी सिंघाड़ों की पृच्छा हमारे पास हुई। पृच्छाकाल के विचारणीय बिंदु दोनों साध्वियों द्वारा प्रस्तुत किए जाते और फिर उन पर चिंतन कर परिवर्तन व परिष्कार का कार्य किया जाता।

मर्यादा-महोत्सव धर्मसंघ का सबसे बड़ा आयोजन है। इसकी महानता का हेतु है नियोजन। इस अवसर पर साधु-साध्वियों के सभी सिंघाड़ों के शेष कालीन प्रवास का निर्धारण किया जाता है। सभी

सिंघाड़ों की विगत वर्ष की पृच्छा की जाती है। व्यवस्था में परिवर्तन और व्यक्तिगत जीवन का परिष्कार किया जाता है।

गुरुदेव की सन्निधि में हम चातुर्मासिक व्यवस्था आदि का निर्धारण करते और वह गुरुदेव को दिखा देते। इस बार साक्षात् व्यवस्था की चर्चा का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए व्यवस्था की अंतिम प्रति को गुरुदेव के सामने प्रस्तुत करने के लिए साध्वी विश्रुतविभा को भेजा।

साध्वी विश्रुतविभा ने व्यवस्था की प्रति प्रस्तुत की। गुरुदेव ने कहा—काम अच्छा चल रहा है। महाप्रज्ञजी स्वयं करने वाले हैं, यहां दिखाने की क्या आवश्यकता है? गुरुदेव ने इस विषय में लिखा—

'विश्रुतविभा आदि चार साध्वियां आईं। वहां से कागजात लाईं। देखा। पदाभिषेक का संदेश दिया। एक दस्तावेज बन गया। वहां ले गए। समय पर पढ़ा। प्रभावी बन गया।'[1]

मर्यादा-महोत्सव का त्रिदिवसीय कार्यक्रम वसंत पंचमी से प्रारंभ हो गया। उस दिन का प्रमुख कार्य है सेवाकेन्द्रों में सेवा करने वाले सिंघाड़ों की नियुक्तियां।

संदेश पदाभिषेक दिवस पर

माघ शुक्ला ६ का दिन। आचार्य पदाभिषेक समारोह। अनेक साधुओं, साध्वियों और गृहस्थ वक्ताओं ने मंगलभावनाएं व्यक्त की। साध्वी विश्रुतविभा के साथ इस दिन के लिए गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी द्वारा प्रदत्त संदेश पढ़ा।

मेरे परम विनीत पट्टधर शिष्य और धर्मसंघ के प्राणवान आचार्य महाप्रज्ञ!

साभिवादन अनेकशः सुखपृच्छा।

५ फरवरी १९९५, विक्रम संवत् २०५१, माघ शुक्ला षष्ठी। दिल्ली का ऐतिहासिक दिन। पदाभिषेक का भव्य समारोह। उमड़ता हुआ जनसैलाब। भीतर और बाहर अनूठा उत्साह। तेरापंथ का वह अभूतपूर्व दिन। उसके लिए 'न भूतो न भविष्यति' कहा जा सकता है। उस समारोह के दृश्य एक-एक कर आंखों के सामने आ रहे हैं। १२ फरवरी, १९९७ को चाड़वास दिल्ली बन रहा है। सबका मन प्रसन्न है। मेरा मन हर्षातिरेक से आप्लावित है। इस बार मैं दूर बैठा तुम्हारे कर्तृत्व की गूंज सुन रहा हूं। तुम्हें नेतृत्व की असीम ऊंचाई पर देख रहा हूं। मुझे बार-बार कहा जा रहा है कि मैं वहां जाऊं। पर इतनी दूरी से तुम्हारी सुयश गाथा सुनकर मुझे जिस अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हो रहा है, उसे मैं ही जानता हूं।

महाप्रज्ञजी! तुम पर भिक्षु शासन तेरापंथ का ही दायित्व नहीं है, आज सम्पूर्ण धर्म परम्परा और मानव-जाति को मार्गदर्शन की अपेक्षा है। विश्व की इन जटिल परिस्थितियों में हमें सबको पथदर्शन देना है। तुम्हारी आत्मा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिवेणी हिलोरें ले रही है। इससे पूरा धर्मसंघ रोमांचित और उल्लसित है। इस त्रिवेणी की धाराओं से समूचे संघ को अभिस्नात करना है।

१. डायरी नं. १५, पृ. २१५, माघ शुक्ला ४, वि.सं. २०५३, ६.२.९७, शुक्रवार

लिखते-लिखते मन में आता है कि यह सब किसके लिए लिख रहा हूं? जहां अद्वैत है, अभिन्नता है, उसके बारे में क्या लिखूं और क्यों लिखूं? अद्वैत की स्थिति में कुछ भी लिखना कितना कठिन है, तुम स्वयं अनुभव करते ही हो। तुम्हारे द्वारा प्रदत्त पत्र में इस सचाई का साक्षात्कार किया जा सकता है।

मैं जैन विश्व भारती के 'भिक्षु-विहार' में बैठा-बैठा आज तुम्हारे भाल पर भावात्मक तिलक लगाकर तुम्हें वर्धापित कर रहा हूं।

चन्देसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।

तृतीय पदाभिषेक की मंगल वेला में मेरी ओर से शुभकामनाएं स्वीकार करो।

सुचिरं जयतात् तात! चिरंजीवी तथा भव।
तेरापंथस्य संघस्य भद्रं भूयान् निरन्तरम्।।

१२.२.९७ **गणाधिपति तुलसी**

जैन विश्व भारती, लाडनूं

जैसे ही इसका पाठ हुआ, जनता ही नहीं, पूरा पंडाल ही स्पन्दित हो गया। मैंने हर शब्द के गर्भ में छिपे हुए तात्पर्यार्थ का अंतस्तल में अनुभव किया। पूरा वातावरण सुरभित हो गया।

मर्यादा-महोत्सव : विजय दुंदुभि बज गई

माघ शुक्ला सप्तमी का दिन मर्यादा-महोत्सव का मुख्य दिन होता है। उसका विधिवत् समायोजन हुआ। कार्यक्रम के मध्य अकस्मात् साध्वी कल्पलताजी आदि साध्वियां गुरुदेव का संदेश लेकर आईं। उसका पाठ किया गया। सबने नई ऊर्जा के संचार का अनुभव किया।

'आचार्य महाप्रज्ञ के सान्निध्य में समायोजित एक सौ तेतीसवें मर्यादा-महोत्सव में समवेत साधु-साध्वियो!

तुम सब सैकड़ों-सैकड़ों किलोमीटर की पदयात्रा कर आए हो। मर्यादा-महोत्सव में सम्मिलित होकर नई ऊर्जा पाने के लिए आए हो। वहां मेरी अनुपस्थिति तुम्हें कैसी-कैसी ही लगती होगी। पर मैं सबको विश्वास दिलाना चाहता हूं कि मैं अन्तरात्मा से वहीं उपस्थित हूं।

साधु-साध्वियो!

समूचे धर्मसंघ में मेरे प्रति आस्था की प्रखर अभिव्यंजना मुझे वहां आने के लिए आकृष्ट कर रही है। यह तो एक सुचिन्तित निर्णय की क्रियान्विति है, अन्यथा तुम सबके आत्मीय आवेदन पर मैं वहां पहुंचे बिना रह ही नहीं पाता। साध्वीप्रमुखा भी महाप्रज्ञ द्वारा मेरी सेवा में नियुक्त नहीं की जाती तो वहां आए बिना कैसे रह सकती थी?

महाश्रमणी के मन में साध्वी समाज के प्रति जो आत्मीय वात्सल्य भाव है, उसे मैं भी नहीं बता सकता। मैं क्या बताऊं, सब साध्वियों की अंतरात्मा इस बात की साक्षी है। मेरे मन में चतुर्विध धर्मसंघ

के प्रति जो आंतरिक लगाव और अनन्त आत्मीय भाव है, उसे शब्दों में अभिव्यक्ति देना संभव नहीं लगता। मैं तो यहां तक कहता हूं कि ऐसा विनीत और अनुशासित जो धर्मसंघ हमें मिला है, अन्यत्र दुर्लभ है।

धर्मसंघ में आचारनिष्ठा, विनय, समर्पण, सेवा, निस्पृहता, अनुशासननिष्ठा, मर्यादानिष्ठा, गुरुदृष्टि की आराधना आदि के जो सात्त्विक भाव हैं, उनसे हमारे धर्मसंघ को बहुत ऊंचाई मिली है। मैं चाहता हूं कि ये विधायकभाव सदा प्रवर्द्धमान रहें। सबका चिन्तन और क्रियाकलाप संघ हित में रहे। संघ की पवित्रता, तेजस्विता और गरिमा की वृद्धि के लिए सब जागरूक रहें। हमें अपने धर्मसंघ को नई ऊंचाइयां प्रदान करनी हैं। उसमें सबका सहयोग आवश्यक है।

आचार्य महाप्रज्ञ हम दोनों के समवेत रूप में वहां उपस्थित हैं। उनकी उपासना मेरी उपासना है। उनके इंगित और आज्ञा की आराधना मेरी आराधना है। जहां महाप्रज्ञ, वहां तुलसी और जहां तुलसी, वहां महाप्रज्ञ—इस अद्वैत की अनुभूति में तुम सब सहभागी बनो।

इस युग में ऐसा संघ मिला है, यह हमारा सौभाग्य है। इस उपलब्धि पर प्रसन्नता का अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति हमारे कर्तव्य की इयत्ता-भर नहीं है। अपनी अंतिम सांस तक धर्मसंघ की अभिवृद्धि के लिए प्रयास करना हमारी नैसर्गिक वृत्ति बने। हमारे आचार और व्यवहार को देखकर जन-जन की आत्मा बोले—साधना हो तो ऐसी हो। सेवा हो तो ऐसी हो। समर्पण हो तो ऐसा हो और संघ हो तो ऐसा हो।

चाड़वास के ऐतिहासिक मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर विशेष पाथेय पाकर लौटते समय सभी संभागी साधु-साध्वियां नई आस्था, नए संकल्प और नए पुरुषार्थ की त्रिवेणी में अवगाहन करें और मर्यादा पुरुषोत्तम आचार्य भिक्षु की स्मृतियों से सराबोर होकर निष्ठा के साथ यह संगान करें—

विघ्नहरण मंगलकरण, स्वाम भिक्षु रो नाम।
गुण ओळख सुमरण करै, सरै अचिन्त्या काम।।

जैन विश्व भारती, लाडनूं

—गणाधिपति तुलसी

१३ फरवरी, १९९७

गुरुदेव ने इस विषय पर संक्षेप में बहुत मार्मिक शब्दों में लिखा है—

सातम को मर्यादा महोत्सव। उस दिन लाडनूं से अचानक अकल्पित कल्पलताजी वहां मध्य महोत्सव में पहुंच गए। सारी जनता आश्चर्यचकित हो गई। एक अचानक धमाका-सा हो गया। यहां का संदेश, चोलपट्टा, पछेवड़ी, प्याला उपहृत किए। नया रंग आ गया। होना ही था।

यहां से संदेश प्रसारित हो, वहां सुना जाए, ऐसा किया गया पर यंत्र की खराबी से वैसा नहीं हो पाया। कुछ भी हो मर्यादा-महोत्सव अधिक सफल रहा। विजय दुंदुभि बज गई। जनता की समझ में भी आने लगा कि हम चाड़वास क्यों नहीं गए।'[1]

१. डायरी नं. १५, पृ. २१५, माघ शुक्ला ७, वि.सं. २०५३, १३.२.९७, शुक्रवार

मर्यादा-महोत्सव सानंद संपन्न। पूरे वातावरण में प्रसन्नता का परिस्पन्दन। चाड़वास के श्रावक समाज ने पूर्ण संघनिष्ठा और समर्पण के साथ कार्य किया। गुरुदेव की प्रसन्नता का प्रकंपन ही नहीं, स्वर भी हम सब तक पहुंचता था।

गुरुदेव का लाडनूं में निर्धारित प्रवास संपन्न हुआ। गुरुदेव लाडनूं से प्रस्थान कर चाड़वास पधारे। वहां एक वक्तव्य दिया उसमें मर्यादा-महोत्सव की प्रतिध्वनि है—चाड़वास सचमुच अब चारुवास बन गया है। यहां मर्यादा-महोत्सव जैसा व्यापक कार्यक्रम होने से इसकी गणना शहरों की पंक्ति में होने लगी है। यह भी केवल मर्यादा-महोत्सव होने से नहीं होता। यहां के लोगों ने महोत्सव को सफल बनाने में अपनी सूझबूझ और कर्तृत्व का भरपूर उपयोग किया। चाड़वास के लोग इस तरह की सुव्यवस्थाएं इतने कौशल से करेंगे, पहले विश्वास नहीं था। अब इसका मुकाबला भारी पड़ेगा। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि चाड़वास का मर्यादा-महोत्सव सफल महोत्सव रहा।

जिस समय मर्यादा-महोत्सव की घोषणा हुई यहां के लोगों को कल्पना नहीं थी कि मैं नहीं आऊंगा। हमने न आने का निर्णय कर लिया। चाड़वासवासियों को यह निर्णय कैसा-कैसा ही लगा। हमारे साधु-साध्वियों को भी लगा, पर हमारा निर्णय सुचिंतित था। हमने इसे रहस्य ही बनाए रखा। साधु-साध्वियों ने भी इस संदर्भ में जानने की चेष्टा की, पर मैंने कहा—'इसे रहस्य ही रहने दो। कभी स्वतः रहस्य खुल जायेगा।

भाइयो! मैं यहां आ जाता तो ये कीमती संदेश आपको कैसे मिलते? ये संदेश आपके लिए अमूल्य निधि बन गए हैं। आपने भी इन्हें सुन्दर ढंग से प्रकाशित कर ऐतिहासिकता दी है। दूसरी बात, मैंने पद का विसर्जन किया। नाममात्र का विसर्जन नहीं किया। विसर्जन सही माने में विर्सजन बने, इसका यह प्रयत्न था। तेरापंथ धर्मसंघ महान् धर्मसंघ है। लाखों-लाखों श्रावक-श्राविकाएं और सैकड़ों-सैकड़ों साधु-साध्वियां हैं। इन्हें नेतृत्व देना बहुत बड़ी बात है। हमारे पट्टधर शिष्य महाप्रज्ञजी ने इस माने में अच्छा कार्य किया, यह मेरे लिए प्रसन्नता की बात है। चाड़वासवासी चाहते थे कि मैं यहां आऊं, उनकी भावना आज साकार हो गई है।'

हेम दीक्षा-द्विशताब्दी

हम चाड़वास से प्रस्थान कर बीदासर पहुंचे। २० फरवरी, १९९७, हेम दीक्षा द्विशताब्दी के उपलक्ष्य में हमने १७ भाई-बहिनों को दीक्षित किया। मुनि हेमराजजी आचार्य भिक्षु के पास दीक्षित हुए। तेरापंथ धर्मसंघ में यह बद्धमूल धारणा है कि उनकी दीक्षा के बाद धर्मसंघ में दीक्षा की वृद्धि होती रही। उनकी दीक्षा-द्विशताब्दि का आयोजन धर्मसंघ के लिए वरदान बने—इस मंगलभावना के साथ दीक्षा का कार्य पवित्र वातावरण में हुआ।

इस दीक्षा-द्विशताब्दि के बाद साधुओं की दीक्षा में आशातीत वृद्धि हुई। बीदासर से प्रस्थान कर हम श्रीडूंगरगढ़ पहुंचे। वहां हमने सात मुमुक्षु बहिनों को दीक्षित किया। श्रीडूंगरगढ़ से प्रस्थान कर हम कालू और लूणकरणसर पहुंचे। लूणकरणसर में मैंने सहवर्ती सभी साधु-साध्वियों की प्रशस्ति में संस्कृत भाषा में श्लोक लिखे। वहां से प्रस्थान कर हम बीकानेर के परिसर में पहुंचे। गुरुदेव श्रीडूंगरगढ़ से विहार कर उदासर

पधार गए। गुरुदेव का साक्षात्कार होने में केवल एक दिन और एक रात का अंतराल था। रात नींद के लिए, विश्राम के लिए होती है किन्तु वह रात उल्लास और कल्पना की रात बन गई। जो स्थिति मेरी थी वही स्थिति गुरुदेव की बन गई।

मिलन दो ध्रुवों का

चार महीने तक मैंने स्वतंत्र विहार किया। गुरुदेव की सन्निधि से दूर रहा। इन चार महीनों में एक भी दिन ऐसा नहीं बीता होगा जिस दिन गुरुदेव के सान्निध्य की चर्चा न हुई हो। सहज ही सतत-स्मृति का ध्यान सिद्ध हो गया। साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा ने कहा–'एक भी दिन शायद नहीं बीता, जिस दिन गुरुदेव ने आपको याद न किया हो, कोई प्रसंग न चला हो।' मेरे मन में गुरुदेव के दर्शन की उत्कंठा थी। गुरुदेव के मन में मुझे अपना सान्निध्य देने की भावना कम नहीं थी। गुरुदेव ने १ मई, १९९७ की डायरी में लिखा– 'कल प्रातः संगम हो रहा है दो ध्रुवों का। चार मास की दूरी सिमटकर बिल्कुल मिलन हो रहा है। स्थान निर्णीत हो गया है। जनता उमड़ रही है। क्या देखेंगे? क्या नया होगा? पता नहीं क्यों उत्सुकता भरी है जन-जन के मन में? लो तो वह क्षण आ ही गया।'

मिलन केशी और गौतम का

गुरुदेव की आकृति पर जो प्रसन्नता झलक रही थी, उसे शब्दों की सीमा में बांधा नहीं जा सकता। उन्हें अपनी कृति पर गौरव की अनुभूति हो रही थी, ऐसा एहसास हो रहा था। वे उस समय बहुत कुछ कहना चाहते थे पर समय की सीमा थी, इसलिए बहुत नहीं कहा जा सका। किन्तु स्वल्प में जो कहा, वह अनल्प था। उसमें उनकी उदात्त चेतना बोल रही थी, उदारता शिखर को छू रही थी। गुरुदेव ने स्मित बिखेरते हुए पूछा–'आज किनका मिलन हो रहा है?' अनेक साधु-साध्वियां एक साथ बोल उठे–'वीर और गौतम का मिलन हो रहा है।'

यह हमारी प्रचलित अवधारणा है। भिक्षु और भारीमाल, जय और मघवा, तुलसी और महाप्रज्ञ–इन सबके लिए यह अवधारणा व्यक्त होती रही है। सदा यही प्रयोग होता था, इसलिए साधु-साध्वियों ने जो कहा, वह अनुचित नहीं कहा। पर पता नहीं, उस दिन गुरुदेव किस मानस-मुद्रा में थे। उन्होंने इसे अस्वीकार करते हुए कहा–'वीर-गौतम का नहीं, केशी और गौतम का मिलन हुआ है।'

गुरु-शिष्य की एकात्मकता

एक नया चिन्तन और नया प्रयोग सबने सुना और आश्चर्य के साथ सुना। जैसे ही मैंने दर्शन किए, गुरुदेव ने मुझे गले लगा लिया। कुछ क्षण परिचय के बीते। हेम शताब्दी के अवसर पर जिन मुनियों, साध्वियों और समणियों की दीक्षा हुई थी, उन्हें गुरुदेव के सामने प्रस्तुत किया। वे अपरिचित पहले भी नहीं थे, किन्तु दीक्षित वेश में उनका संक्षिप्त परिचय दिया। गुरुदेव इतने हर्षोल्लास की मुद्रा में थे कि फिर मुझे गले लगाया। उस मिलन-मुद्रा को कैमरे वालों ने अपने-अपने कैमरों में कैद कर स्थायित्व दे दिया। उस मुद्रा को देखकर आज भी गुरु-शिष्य की एकात्मकता का साक्षात् किया जा सकता है। बीकानेर के अनेक प्रबुद्ध लोग समय-समय पर मिले। वे मिलन को देखने के लिए उपस्थित थे। उन्होंने कहा–'वर्तमान युग में गुरु-शिष्य की एकात्मकता को देख धन्य हो गए। हमें एक नया और अभिनव बोधपाठ मिला है।'

अभूतपूर्व दृश्य

२ मई, १९९७ की डायरी का पृष्ठ–'प्रातः ७.३० बजे दो धाराओं का मिलन हुआ। अद्भुत या अभूतपूर्व दृश्य था। जनता की अपार भीड़। सभी साधु-संत सानंद थे। साध्वीप्रमुखा भी मिली महाप्रज्ञजी से। अब प्रवेश प्रारंभ। सात कि.मी. का रास्ता। चारों तरफ जनता ही जनता। हमारा साधन चल रहा था। महाप्रज्ञजी भी कहीं पदयात्री, कहीं साधनयात्री। समूचे शहर–रांगड़ी, बोथरा गुवाड़, लक्ष्मीनारायण घाटी होते हुए बीकानेर पार कर गंगाशहर पहुंचे। सब ओर जनता की लहर। प्रज्ञा समवसरण, तेरापंथ भवन में पहुंचे। विशाल पंडाल खचाखच भरा था। हजारों लोग बाहर भी थे। स्थानाभाव के कारण कुछ चले भी गए। अच्छा प्रभावकारी रहा प्रोग्राम। भवन रोड पर है। भीतर के स्थान में उत्तर-दक्षिण होता तो काफी अच्छा रहता। खैर! जैसा बना, विशाल बना है, दर्शनीय बना है। सबसे बड़ी बात मध्य में है। तीनों क्षेत्र एक रूप बन गए–बीकानेर, गंगाशहर, भीनासर। दो उदासर, नाल–ऐसे पांच झुम्बक हैं।'

राजस्थान पत्रिका ने मुखपृष्ठ पर 'तेरापंथ के दो संतों का अभिनव संगम' शीर्षक से विस्तृत समाचार प्रकाशित किए। पत्रिका में प्रकाशित समाचार के कुछ अंश इस प्रकार हैं–'तेरापंथ धर्मसंघ के गणाधिपति तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ का शुक्रवार को सुबह यहां म्यूजियम मैदान पर मिलन हुआ। जय के उद्घोष के बीच गणाधिपति व आचार्य के संगम की अद्भुत घटना रही। अद्भुत इस रूप में कि जिन्होंने यह मिलन दृश्य देखा, वे भावविह्वल थे। एक विशाल जुलूस म्यूजियम से निकला और गंगाशहर पहुंचा तब ऐसा लगा जैसे पूरा शहर स्वागत के लिए रुका हुआ हो। म्यूजियम मैदान के वृद्धजन भ्रमण-पथ पर दोनों संत अलग-अलग दिशाओं से आए तो हजारों कण्ठों ने जयनाद किया। घड़ी ने उस वक्त ७.३८ बजाए थे। नजदीक आने पर गणाधिपति तुलसी ने दसवें आचार्य महाप्रज्ञ को न सिर्फ गले लगाया बल्कि उनके सिर को गोद में लिये वे कुछ क्षणों तक सहलाते भी रहे। जय के उद्घोष से आसमान गुंजायमान हो रहा था। दोनों संत दो दिन पूर्व ही बीकानेर में प्रवेश कर चुके थे। इस दौरान वे बीछवाल, कृषि उपजमण्डी, उदासर, बीकानेर ब्वायज स्कूल, सादुलगंज आदि इलाकों में अलग-अलग आयोजित समारोहों में शिरकत करते रहे। लेकिन दोनों के औपचारिक संगम का समय शुक्रवार सुबह तय था। मिलन के कार्यक्रम को देखने के लिए बीकानेर, गंगाशहर, भीनासर, देशनोक, नोखा, कालू, लूणकरणसर और चूरू जिले में श्रीडूंगरगढ़ व सुजानगढ़, लाडनूं समेत देश के अन्य राज्यों से श्रावक-श्राविकाएं आए थे। आचार्य महाप्रज्ञ ने दिसम्बर १९९६ के अन्त में लाडनूं से विहार किया था। वे सुजानगढ़, छापर, चाड़वास, बीदासर, श्रीडूंगरगढ़, मोमासर व लूणकरणसर से होकर बीकानेर पहुंचे जबकि अणुव्रत-अनुशास्ता गणाधिपति श्री तुलसी मार्च के अंत में लाडनूं से रवाना हुए। वे श्रीडूंगरगढ़, नौरंगदेसर व उदासर होते हुए ३५ दिनों का विहार कर बीकानेर पहुंचे।

म्युजियम मैदान में बने विशेष मंच से गणाधिपति ने कहा कि गुरु और शिष्य का मिलन अंतरात्मा का मिलन है। इसी तरह राष्ट्र में पक्ष-प्रतिपक्ष की आत्मा मिल जाए तो देश की कई समस्याओं का समाधान हो सकता है। उन्होंने आशा जताई कि राष्ट्र संतों के मिलन से सीख लेगा।

इसके जबाब में आचार्य महाप्रज्ञ ने भाव-विभोर होकर कहा कि गुरुदेव का परोक्ष सान्निध्य उन्हें मिलता रहा। लाडनूं से विहार किया तब से गुरुदेव का धर्मचक्र उनके साथ रहा। गुरुप्रसाद मिलता रहे और शिष्यत्व बढ़ता रहे, यही उनकी कामना है। उन्होंने अपनी भावना को कविता के रूप में पेश किया–

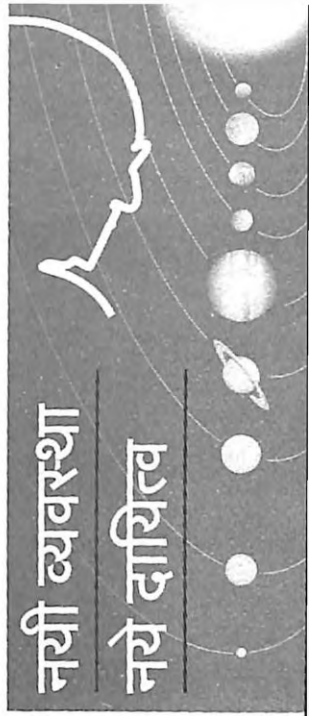

शब्द से सान्निध्य तो मिलता रहा,
पर आज शब्दातीत है।
आज मधु-मधु दूध में,
नवनीत का संगीत है।'

चार मास की स्वतंत्र यात्रा के पश्चात् ५० दिन मैं गुरुदेव के साथ रहा। इस अवधि में अनेक कल्पनाएं प्रस्फुटित हुई। संघीय स्थितियों पर चर्चा हुई। साधु-साध्वियों की भावी व्यवस्था के बारे में चिन्तन चला। मैंने प्रार्थना की—गुरुदेव पूर्ण स्वस्थ हो जाएं तब इन विषयों पर और अधिक चिन्तन करेंगे।

गंगाशहर के प्रवासकाल में गुरुदेव पन्द्रह दिनों तक प्रातःकालीन प्रवचन में प्रायः पधारे। प्रारंभ में मैं ऋषभ-चरित्र के आख्यान पर बोलता। उसके बाद गुरुदेव कुछ ऋषभ-चरित्र के प्रसंग को छूते और कुछ स्वतंत्र व्याख्या करते। स्वास्थ्य की अनुकूलता न होने पर व्याख्यान की समयावधि कम हो जाती। स्वास्थ्य-लाभ के लिए एकांतवास की स्थिति में प्रवचन का क्रम बंद हो गया।

'२२ जून, १९९७ को प्रातःकाल हम गुरुदेव के दर्शन के लिए बोथरा-भवन पहुंचे। वंदना और सुख-संवाद के अनंतर गुरुदेव ने कहा—'आज हम व्याख्यान के समय आएंगे।' मैंने निवेदन किया—'प्रवचन में पधारने की निरंतरता बन जाएगी।' हम लोग तेरापंथ-भवन में आ गए। गुरुदेव साढ़े नौ बजे प्रवचन-स्थल पर पधारे। मैंने गुरुदेव के समक्ष प्रवचन किया, वह गुरुदेव के सान्निध्य में होने वाला अंतिम प्रवचन है। गुरुदेव ने उसके बाद प्रवचन किया, वह परिषद् में होने वाला गुरुदेव का अंतिम प्रवचन है। गुरुदेव के उस प्रवचन का मूल पाठ यह है—

निर्जरा के अर्थी बनें

वक्ताओ और श्रोताओ! आज महाप्रज्ञजी ने एक नई बात जो सुझाई है, बहुत पते की बात है, आवश्यक बात है। हमारे धर्मसंघ में जो साधु-साध्वियां वृद्ध हो जाते हैं, अपंग हो जाते हैं, असहाय जैसे हो जाते हैं, उनको चिन्ता की जरूरत नहीं। निश्चिन्तता का जीवन उनको मिलता है। उनको एक ही चिन्ता है कि अपनी साधना करें, अपने मन पर काबू रखें, अपनी वाणी को काबू में रखें, अपने आपको संयत रखें, फिर उनकी सेवा का पूरा जिम्मा धर्मसंघ का है। कोई व्यक्ति लाडनूं सेवाकेन्द्र को देखता है, तो उसे पता चलता है कि सेवा कैसी होनी चाहिए? बात ब्रिटेन की बताई गई। हमारे देश में भी वृद्धों की दुर्दशा प्रारंभ हो गई है। यत्र-तत्र उसका दर्शन किया जा सकता है। बड़ी कठिनाई है। जहां स्वार्थ कुछ भी शेष नहीं रहा, सारा स्वार्थ समाप्त हो गया, वहां उनको संभालना कोई छोटी-बड़ी बात नहीं है। इस संदर्भ में 'निज्जरट्ठिए' पाठ बहुत महत्त्वपूर्ण है। निर्जरा के अर्थी बनकर काम करो। वही सही काम कर सकता है। यह सूक्त बहुत अच्छा लगा। वृद्ध लोगों को यह रास्ता बताना चाहिए कि वे कैसे शांति का जीवन जी सकें, कैसे आनन्द का जीवन जी सकें, कैसे बचे-खुचे जीवन को सार्थक बना सकें?

मैंने गुरुदेव के प्रवचन के बीच में कहा—'पहले एक बात कहनी थी पर समय हो गया। अब उसे कहना चाहता हूं। वृद्धावस्था में कैसे जीना चाहिए, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है पूज्य गुरुदेव का राजलदेसर का चातुर्मास्य। पूज्य गुरुदेव के 'साइटिका' का थोड़ा असर हो गया।

गुरुदेव–'थोड़ा नहीं, काफी असर हो गया।'

मैं–'डॉ. माथुर आए। उन्होंने कहा, आपको सात दिनों तक एकदम बेड-रेस्ट करना है। यह शब्द सुनने में भी अच्छा नहीं लगा। किन्तु जीने की कला देखिए। गुरुदेव ने कहा–'हम बेड-रेस्ट नहीं, कायोत्सर्ग करेंगे।' सात दिन कायोत्सर्ग किया, एक श्लोक बना लिया–

गुरुदेव–**आनंदो मे रोमणि रोमणि,**

मैं–मेरे रोम-रोम में आनन्द है।

गुरुदेव–**प्रसरतु सततं मनःप्रसत्तिः।**

मैं–मन की प्रसन्नता बढ़ती जाए।

गुरुदेव–**स्वस्थःस्वस्थोऽहमिति च मन्ये,**

मैं–मैं मानता हूं, मैं स्वस्थ हूं, स्वस्थ हूं।

गुरुदेव–**कायोत्सर्गे सुखं शयानः।**

मैं–कायोत्सर्ग में सानन्द सो रहा हूं। सचमुच सारा कष्ट समाप्त हो गया। सात दिन का समय आनन्द में बीत गया। यह कला सीखनी है।

गुरुदेव–'उस समय इस कला की प्रेरणा तो आपने ही दी है। उसे भूलें कैसे? आवश्यक बात तो बतानी चाहिए। मैंने कहा–बेड-रेस्ट। आपने कहा–कायोत्सर्ग।'

मैं–'यह इतना बड़ा निदर्शन है कि कैसे आनन्दमय जीवन जीया जा रहा है।'

गुरुदेव की सन्निधि में प्रवचन करने का एक अनुपम आनन्द था। मैं जो कहता था, उस पर गुरुदेव अपनी टिप्पणी करते, उसका मूल्यांकन करते। वैसा कोई समर्थ टिप्पणीकार और मूल्यांकन करने वाला मुझे नहीं मिला। बहुत लोग कहते–'आप जैसा गुरुदेव की सन्निधि में बोलते हैं, वैसा वक्तव्य अन्यत्र नहीं होता।' इसमें सचाई है। गुरुदेव की प्रसन्नता मेरे लिए सब कुछ थी। उनका एक वाक्य भी मेरे लिए हजार श्लाघा-वाक्यों से अधिक मूल्यवान था। मैंने कब कल्पना की–गुरुदेव की सन्निधि में यह मेरा अंतिम प्रवचन है। पर इसे नियति मानूं कि कुछ कल्पना से परे ही घटित हुआ।

महानता के क्षण

चार मास के स्वतंत्र विहार के बाद गुरुदेव के दर्शन हुए, उस समय अतीत वर्तमान बन गया। स्वतंत्र विहार के समय जो लोग गुरुदेव के दर्शन करने जाते, वे पुनः आने पर कहते–'आपके यहां (महाप्रज्ञ) के कार्यक्रमों से गुरुदेव बहुत प्रसन्न हैं।' प्रथम दर्शन के समय उस प्रसन्नता का घनीभूत रूप मैंने साक्षात् किया। गुरुदेव को वंदना कर जैसे ही मैं बैठा, गुरुदेव ने कहा–'इस बार तुम नए रूप में लग रहे हो। पहले इस रूप में नहीं देखा।' स्वास्थ्य अच्छा था। उसे देखकर ऐसा कहा अथवा मानसिक प्रसन्नता को देखकर ऐसा कहा, दोनों ही बातें संभव हैं।

तेरापंथ भवन में आने के पश्चात् मैं गुरुदेव की सन्निधि में बैठा। स्वास्थ्य के बारे में पूछने पर गुरुदेव ने कहा–'कोष्ठबद्धता की स्थिति अभी भी पूर्ववत् है। भूख भी कम है, भोजन की रुचि भी कम है।' इस

स्थिति ने मन को कुछ उद्वेलित किया। फिर डॉक्टर, वैद्य और हकीम आदि की जांच और चिकित्सा का क्रम शुरू हो गया।

करणीय कार्यों का चिंतन

चतुर्मास में करणीय कार्यों के विषय में चिन्तन चला और कुछ कार्यों का निर्धारण भी किया गया। आगम कार्य के विषय में वार्तालाप हुआ। गुरुदेव ने कहा—'इन चार महीनों में तुम्हारे सामने और कार्य अधिक रहे इसलिए आगम कार्य की गति मंद हो गई।' मैंने निवेदन किया—'कार्य बंद तो नहीं है, उसकी गति अवश्य मंद है।' गति को वेग देने के विषय में भी चिन्तन चला। संघीय व्यवस्था के विकास के बारे में गुरुदेव ने कुछ बातें कहीं। दिन में और अर्हत् वंदना के पश्चात् रात्रि में गुरुदेव की सन्निधि में जाता रहा। अनेक विषयों की बातें होती रहीं।

एक दिन गुरुदेव ने कहा—'जैन दर्शन पर एक पुस्तक तैयार करनी है। जैसे आमेट में एक श्लोक 'आदर्शोऽत्र.... तैयार किया था, वैसे ही बीस-पचीस संस्कृत के श्लोक और फिर उनकी व्याख्या। जैन दर्शन के बारे में एक सरल पुस्तक हो जाए। रात्रि के समय हम बैठें और यह कार्य हो जाए।'

मैंने निवेदन किया—'गुरुदेव का स्वास्थ्य थोड़ा ठीक हो जाए फिर यह प्रारंभ किया जाए।' रात्रि के समय प्रायः सुस्ती-सी रहती थी इसलिए इस विचार को भविष्य के लिए छोड़ दिया।

२३ जून, १९९७, प्रातःकाल १०.१५ बोथरा भवन से तेरापंथ भवन की ओर चले। मैं गुरुदेव की अगवानी के लिए गया। १०.२५ पर मैंने गुरुदेव के दर्शन किए। ११.२५ पर गुरुदेव के स्वर्गवास की घोषणा की गई।

अकेलेपन की अनुभूति

गंगाशहर का इक्यावन दिन का प्रवास अनेक कल्पनाओं, कार्यक्रमों और चिन्तन-प्रसंगों से जुड़ा हुआ है। जैन विश्व भारती, जैन विश्व भारती मान्य विश्वविद्यालय के कार्य को कैसे आगे बढ़ाया जाए, इस विषय में अनेक बार चिन्तन चला। गुरुदेव ने कहा—'जिस लक्ष्य से मान्य विश्वविद्यालय की स्थापना हुई है, उस लक्ष्य की पूर्ति हो रही है या नहीं, इसकी समीक्षा होनी चाहिए।'

अणुव्रत का पचासवां वर्ष सामने है। उसको किस रूप में मनाया जाए, इस विषय पर चिन्तन चल रहा था।

तुलसी महाप्रज्ञ का युग

गुरुदेव ने लाडनूं प्रवास (वि. सं. २०५३) में एक दिन कहा—'मैं ८२ पार कर चुका हूं। तुम भी ७७ में हो। अब जो अत्यन्त अनिवार्य कार्य हैं, उनकी तालिका बनाओ। तुलसी-महाप्रज्ञ का युग बार-बार नहीं आएगा।'

लाडनूं का यह चिन्तन गंगाशहर में एक अज्ञात चिन्ता का रूप ले रहा था। स्वास्थ्य की स्थिति सक्रियता में कुछ बाधा डाल रही थी। जैन दर्शन पर एक प्रारंभिक पुस्तक लिखने का प्रसंग आया। मैंने

प्रार्थना की—स्वास्थ्य कुछ ठीक हो जाए, उसके बाद कार्य प्रारंभ करें। अंतरंग व्यवस्था के विषय में चिन्तन चला तो मैंने प्रार्थना की—'गुरुदेव का स्वास्थ्य कुछ ठीक हो जाए, फिर इस विषय में चिन्तन करें।'

गुरुदेव के स्वर्गवास के समय जो मनोदशा बनी उसे मैंने इन शब्दों में चित्रित किया है—

गुरुदेव को देखने के दो कोण मेरे सामने हैं। एक संबंध और दूसरा कर्तृत्व अथवा अवदान। संबंध की दृष्टि से देखूं तो उनका संबंध असंख्य लोगों के साथ रहा। प्रत्येक आदमी अनुभव करता है कि गुरुदेव की कृपा मुझ पर अधिक है। वैयक्तिक संबंध की भूमिका पर खड़ा होकर देखता हूं तो संबंध की व्याख्या करना मेरे लिए कठिन है और उस संबंध से जनमी रिक्तता को भरना भी कठिन है। व्यक्तिगत संबंध को पूरे समाज पर उतारना भी नहीं चाहता। जो आस-पास रहते हैं, जिनसे काम-काज का अधिक संपर्क होता है, उनके प्रति सहज ही एक प्रकार का सामीप्य-संबंध जुड़ जाता है। उस संबंध के आधार पर हम किसी भी व्यक्ति की महानता को आंक नहीं सकते। शेष अशेष का रूप लेता है तभी व्यक्ति की महानता प्रतीत होती है। मेरे प्रति उनका जो असीम वात्सल्य था, एकात्मकता थी, अद्वैत था, इस आधार पर मैं उनकी महानता का मूल्यांकन करना नहीं चाहता। यह सारा हमारा व्यक्तिगत प्रश्न है। इस आधार पर मुझे जो अभाव की अनुभूति हो रही है, वह मेरे लिए अंतर्भुक्त है। उसे शब्दों में बांधकर मैं हलका नहीं हो सकता।

कैसे हो सहचिन्तन?

मेरे सामने जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, वह है अकेलेपन का। सब कुछ होते हुए भी एक अर्थ में मैं अकेलेपन का अनुभव करता हूं। हम दोनों बैठकर भिक्षुशासन की हित-चिन्ता करते, निर्णय तक पहुंचते और उसे क्रियान्वित करते। अब सहचिन्तन कैसे हो? गुरुदेव ने अनेक बार कहा—'इतने लंबे समय में हम कभी दो मत नहीं हुए। मेरा चिन्तन महाप्रज्ञ को मान्य हो जाता और महाप्रज्ञ का चिन्तन मुझे मान्य हो जाता।' विचार-संप्रेषण का प्रयोग भी अनेक-अनेक बार होता रहता। मैं कुछ कहता, गुरुदेव कहते—मैं भी यही सोच रहा था, तुमने पहले कह दिया। ऐसा ही मेरे साथ घटित होता। मैं जो सोचता, गुरुदेव उसे पहले ही कह देते। संघीय विकास के लिए वे सहचिन्तन के क्षण आज भी बहुत जरूरी हैं। इस जरूरत का अनुभव करके ही लोग कहा करते थे—'हम युगल जोड़ी को एक साथ देखना चाहते हैं।' युगल से अकेला होना और अकेलेपन की अनुभूति होना कितना असह्य है। उसके लिए स्वसंवेदन से अधिक कोई प्रमाण नहीं होता।

मूल्य आंकने वाला कौन?

संघीय व्यवस्था के संबंध में गुरुदेव ने कुछ संकेत दिए थे, उन पर भी विचार नहीं हो सका। मैंने सोचा—इन विषयों पर उचित समय पर ही विचार करना उचित होगा। इन पचास दिनों की अवधि में गुरुदेव की आत्मीयता, उदारता और महानता के दर्शन बार-बार होते रहे। एक दिन लगभग चार बजे गुरुदेव की सन्निधि में पहुंचा। गुरुदेव विराज रहे थे। साध्वीप्रमुखा आदि कुछ साध्वियां उपासना में बैठी थीं। वाचन चल रहा था। मेरे पहुंचते ही गुरुदेव ने कहा—'हम तुम्हें ही पढ़ रहे थे। अणुव्रत में जो तुम्हारा लेख छपा है, बहुत मननीय है। उसका सामूहिक वाचन कर रहे हैं।' प्रेक्षाध्यान पत्रिका के प्रेक्षासूत्र, कभी अणुव्रत के लेख और कभी जैन भारती के लेख गुरुदेव पढ़ते। फिर उन्हें कभी साधुओं को, कभी साध्वियों को, कभी दोनों

को पढ़ाते और उस पर विचार करने की प्रेरणा देते। गुरुदेव जितनी गहराई से मेरे चिन्तन का मूल्य आंकते, उतनी गहराई से मूल्य आंकने वाला कौन है, मैं नहीं जानता। मैं बोलता, गुरुदेव बहुत ध्यान से सुनते। मैं लिखता, गुरुदेव उसे बहुत ध्यान से पढ़ते और उस पर अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते। महानता के वे क्षण अब केवल स्मृति के क्षण रह गए हैं।

तेरापंथ विकास परिषद् की गोष्ठी थी। गुरुदेव पट्ट पर विराज रहे थे। मैं जिस पट्ट पर बैठा था वह उससे थोड़ा नीचा था। गुरुदेव ने मुनि बालचंदजी से कहा—क्या इस पट्ट के बराबर दूसरा पट्ट नहीं है? यह छोटा पट्ट क्यों बिछाया? मुनि बालचंदजी ने प्रार्थना की—'अब दूसरा ले आएंगे।'

दिन-रात में लगभग पांच-छह बार मैं गुरुदेव के पास जाता और यह स्वाभाविक था कि जितनी बार जाऊं, उतनी बार वंदना करूं। एक दिन गुरुदेव ने कहा—'अच्छे आचार्य बने हो। बार-बार आते हो और छोटे साधु की भांति बैठकर वंदना करते हो।'

मैंने कहा—'संघ के लिए आचार्य हूं, पर आपके लिए तो शिष्य ही हूं।'

कल्पना और करुणा का संगम

पश्चिम रात्रि के समय मैं पहले गुरुदेव को वंदना कर फिर परिषद् के बीच जाता। एक दिन गुरुदेव ने कहा—'तुम सीधे ही चले जाया करो। सूर्योदय के बाद मैं वहां आता ही हूं।'

कुछ समय तक मैं सीधा परिषद् में गया। रात में कैसे रहा? नींद कितनी आयी? आदि स्थिति की जानकारी लिये बिना सीधा परिषद् में जाने का मन नहीं होता, इसलिए वह क्रम पुनः चालू कर दिया।

गुरुदेव ने अनेक बार कहा—'तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक है। स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखना है। श्रम ज्यादा हो रहा है पर स्वास्थ्य की उपेक्षा नहीं करनी है।'

गुरुदेव में कल्पना और करुणा का अद्भुत संगम था। एक दिन उन्होंने कहा—'बृहद् मंगलपाठ से पूर्व पांच-सात मिनट के लिए पाथेय देना शुरू करो।' क्रम शुरू हो गया। विशेष परिस्थिति को छोड़कर वह क्रम गंगाशहर प्रवास में निरंतर चलता रहता।

वह मेरी सेवा है

मैं दिन में जब भी गुरुदेव के पास जाकर बैठता, तब कुछ क्षणों बाद गुरुदेव कहते—'जाओ काम करो।'

एक दिन मैंने कहा—'काम तो चल ही रहा है। गुरुदेव की सेवा का अवसर मुझे कम मिलता है।' गुरुदेव बोले—'तुम सब कुछ कर रहे हो, वह मेरी सेवा ही है।'

सन्निधि में बैठना बहुत अच्छा लगता पर कभी निर्देशवश और कभी प्रयोजनवश, कभी अपने कक्ष में और कभी परिषद् में विवश होकर जाना पड़ता। जो घटित हुआ, उस ओर ध्यान केन्द्रित होता तो मैं वैसा नहीं करता। अब वही प्राचीन दोहा बार-बार स्मृति में आ रहा है—

जो जाणत ऐ बात रे, निशदिन मोती नीपजै।
तो बावत सारी रात रे, जेज न करतो एक घड़ी।।

परिशिष्ट

परिशिष्ट : एक

प्राण में जीवन को पोषित करने वाला जो सूक्ष्म विद्युन्मय तत्त्व रहता है वह अन्य कुछ नहीं, सूर्य तथा विविध ग्रहों में से प्रवाहित होने वाला ओजस् है। जिस प्रकार पुष्प से सुगंध निकलकर वायु में चारों ओर फैलती रहती है, उसी प्रकार सूर्यादि ग्रहों से सूक्ष्म जीवन-तत्त्व चारों ओर बहता रहता है और वायु में सम्मिलित होकर पृथ्वी के जड़ और चेतन सभी प्राणियों और पदार्थों को पोषित करता है। ग्रहों से वायु के द्वारा प्रवाहित होने वाले इस तत्त्व में ग्रहों की गति के अनुसार भेद होता रहता है।

सूर्य और अन्य ग्रहों में से प्रवाहित होने वाले इस प्राणमय जीवन-तत्त्व में किसी समय मस्तिष्क को पोषित करने वाला द्रव्य अधिक रहता है, तो किसी समय छाती, उदर तथा घुटने इत्यादि को पोषित करने वाला द्रव्य विशेष पाया जाता है। इसी प्रकार समय-समय पर भिन्न-भिन्न इन्द्रियों अथवा मानसिक शक्तियों का पोषण करने वाला प्राण-तत्त्व प्रवाहित होता रहता है।

प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक पदार्थ से प्रवाहित होने वाले इस द्रव्य का सूर्यमंडल से प्रवाहित होने वाले द्रव्य से संबंध रहता है। सूर्य प्रतिवर्ष बारह राशियों के केन्द्र स्थान में होकर भ्रमण करता है। इसलिए सूर्य से प्रवाहित होने वाला द्रव्य भी बारह विभागों में विभाजित किया गया है। इन बारह विभागों में से प्रत्येक विभाग का प्रत्येक प्राणी तथा प्रत्येक पदार्थ के सूक्ष्म द्रव्य के किसी न किसी विभाग के साथ संबंध रहता है। उदाहरण के तौर पर सूर्य जब मेष राशि में होकर गतिमान होता है। तब सूर्य का मेष राशि से संबंध रखने वाला जीवन-तत्त्व पृथ्वी के ऊपर आता है और प्रत्येक मनुष्य तथा प्रत्येक पदार्थ के किसी न किसी विभाग पर प्रभाव डालता है।

जिस प्रकार सूर्य से प्रवाहित होने वाले जीवन-तत्त्व के बारह विभाग किए गए हैं, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी और पदार्थ से प्रवाहित होने वाले जीवन-तत्त्व के भी बारह विभाग किये गये हैं और प्रत्येक विभाग के ऊपर सूर्य के सजातीय विभाग का प्रभाव पड़ता रहता है। यह योग-विद्या और ज्योतिष शास्त्र का अटल सिद्धांत है।

सूर्य जब मेष राशि पर होता है तब उससे मेष राशि का जीवन-तत्त्व बहता है और मनुष्य शरीर में मस्तिष्क तथा मुख के साथ उसका संबंध है। अतएव इन्हीं दो अंगों पर उसका विशेष प्रभाव पड़ता है।

सूर्य जब वृषभ राशि पर होता है, तब उससे वृषभ राशि का जीवन-तत्त्व बहता है और मनुष्य शरीर में कंठ और ग्रीवा के साथ उसका संबंध रहता है। इसलिए इन्हीं दो अवयवों पर उसका विशेष प्रभाव पड़ता है।

सूर्य जब मिथुन राशि पर होता है तब उससे मिथुन राशि का जीवन-तत्त्व बहता है और मनुष्य शरीर में उसका संबंध भुजाओं और कन्धों तथा फेफड़ों से रहता है। अतएव इन्हीं अवयवों पर उसका प्रभाव पड़ता है।

सूर्य जब कर्क राशि पर होता है तब उससे कर्क राशि का जीवन-तत्त्व बहता है और मनुष्य शरीर में उसका संबंध छाती, स्तन और जठर के साथ रहता है। इसलिए इन्हीं भागों पर उसका प्रभाव पड़ता है।

सूर्य जब सिंह राशि पर होता है तब उससे सिंह राशि का जीवन-तत्त्व बहता है और मनुष्य शरीर में उसका हृदय, पीठ और पृष्ठरज्जु के साथ संबंध होने पर इन भागों पर उसका प्रभाव पड़ता है।

सूर्य जब कन्या राशि पर होता है तब उससे कन्या राशि का जीवन-तत्त्व बहता है और मनुष्य शरीर से अंतड़ियों तथा बड़े नल के साथ उसका संबंध होने से इन भागों पर उसका प्रभाव पड़ता है।

सूर्य जब तुला राशि पर होता है तब उससे तुला राशि का जीवन-तत्त्व बहता है और मनुष्य शरीर में उसका कटि और गुर्दे के साथ संबंध होने से इन भागों पर उसका प्रभाव पड़ता है।

सूर्य जब वृश्चिक राशि पर होता है तब उससे वृश्चिक राशि का जीवन-तत्त्व बहता है और मनुष्य शरीर में उसका जननेन्द्रिय के साथ संबंध होने से इसी भाग पर उसका प्रभाव पड़ता है।

सूर्य जब धनु राशि पर होता है तब उससे धनु राशि का जीवन-तत्त्व बहता है और मनुष्य शरीर में जंघा और नितम्ब के साथ उसका संबंध होने से इन भागों पर उसका प्रभाव पड़ता है।

सूर्य जब मकर राशि पर होता है तब उससे मकर राशि का जीवन-तत्त्व बहता है और मनुष्य शरीर में घुटनों के साथ उसका संबंध होने से इसी भाग पर उसका प्रभाव पड़ता है।

सूर्य जब कुम्भ राशि पर होता है तब उससे कुम्भ राशि का जीवन-तत्त्व बहता है और मनुष्य शरीर में पिंडलियों के साथ उसका संबंध होने से इस भाग पर उसका प्रभाव पड़ता है।

सूर्य जब मीन राशि पर होता है तब उससे मीन राशि का जीवन-तत्त्व बहता है और मनुष्य शरीर में पैर और पैरों के पंजों से उसका संबंध रहता है। इसलिए इन भागों पर उसका विशेष प्रभाव पड़ता है।

मेष, कर्क, तुला और मकर राशि के जीवन-तत्त्व का मस्तिष्क, जठर, अंडाशय, कटि, यकृत और त्वचा के साथ संबंध है।

वृश्चिक, सिंह, वृषभ और कुम्भ राशि के जीवन-तत्त्व का संबंध कंठ, हृदय, जननेन्द्रिय, गुर्दे और रुधिर के साथ है।

मिथुन, कन्या, धनु और मीन राशि के जीवन-तत्त्व का संबंध फेफड़े, छोटे-बड़े नल, ज्ञान-तंतु व्यूह और गर्भाशय के साथ है।

सूर्य से प्रवाहित होने वाले इस प्राण-तत्त्व से प्राणायाम के द्वारा शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को कैसे पोषित करना चाहिए इनका विचार अगले अध्यायों में किया जायेगा।

प्राणायाम के द्वारा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास

स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण—ये चार प्रकार के शरीर मनुष्य के होते हैं। इसी प्रकार राशि-चक्र भी चार भागों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक विभाग में तीन-तीन राशियों का समावेश किया गया है। इन तीन-तीन राशियों के समूह को 'त्रिपुटी' कहते हैं। इस प्रकार कुल राशियां बारह हैं और त्रिपुटियां चार। पहली पृथ्वी-तत्त्व की त्रिपुटी, दूसरी जल-तत्त्व की त्रिपुटी

और चौथी अग्नि-तत्त्व की त्रिपुटी। ये चारों त्रिपुटियां मनुष्य के उपर्युक्त चारों शरीरों के साथ संबंध रखती हैं। पृथ्वी-तत्त्व की त्रिपुटी का संबंध स्थूल शरीर से, जल-तत्त्व की त्रिपुटी का संबंध सूक्ष्म शरीर से, वायु-तत्त्व की त्रिपुटी का संबंध कारण शरीर से और अग्नि-तत्त्व की त्रिपुटी का संबंध महाकारण शरीर से होता है। इस स्पष्टीकरण से अब चारों शरीरों के विकास के लिए कौन-कौन सी श्वसन-क्रियाएं किस प्रकार से अधिक लाभप्रद होती हैं, यह साधारण प्रयास से ही समझा जा सकता है। प्रत्येक त्रिपुटी में तीन-तीन राशियों का समावेश है। अतएव उनमें जो श्वसन-क्रिया प्रत्येक मास में की जाती है, उसका निम्नांकित कार्यों में उपयोग करना चाहिए।

स्थूल शरीर का विकास

वृषभ, कन्या और मकर—ये तीनों पृथ्वी-तत्त्व की राशियां हैं। इससे २० अप्रैल से २२ मई तक, २२ अगस्त से २२ सितम्बर तक और २१ दिसम्बर से २० जनवरी तक इस पुस्तक में लिखी हुई श्वसन-क्रिया करने से स्थूल शरीर का विकास उत्तम प्रकार से हो सकता है। यों तो व्यायाम करना सदैव लाभदायक है, परन्तु इन तीनों महीनों में किये जाने वाले व्यायाम से पिंडलियां विशेष बलवान होती हैं। अन्य महीनों में व्यायाम जितना लाभ पहुंचाता है उससे कहीं अधिक लाभ पृथ्वी-तत्त्व की इन तीन राशियों में पहुंचाता है। इन तीन महीनों में व्यायाम करने से स्त्रियों को अपने शरीर में आश्चर्यजनक परिवर्तन और सुधार मालूम होता है।

शरीर के जिन अवयवों को बलवान करना हो उन अवयवों में मानसिक वृत्तियां एकाग्र करके इन तीन महीनों में दीर्घ श्वास-प्रश्वास लेना चाहिए। इसी प्रकार जठर, यकृत, मूत्राशय इत्यादि अवयवों को बलवान करने की इच्छा हो तो उनमें वृत्ति को एकाग्र करके दीर्घ श्वास-प्रश्वास लेना चाहिए। जिन लोगों की कमर झुक गई हो, उनको चाहिए कि वे एकदम सीधे बैठने की कोशिश करें और फिर उस भाग को सीधा कल्पित करके दीर्घ श्वास-प्रश्वास ग्रहण करें। इस प्रकार जिन-जिन अवयवों में जो-जो त्रुटियां हों, उनको दूर करने के लिए, उन अवयवों को सुन्दर, निर्दोष और पूर्ण आरोग्यमय कल्पित करना चाहिए। फिर यह धारणा करके कि ये अंग हमारे विचारानुसार ही सुन्दर और निर्दोष हो रहे हैं, दीर्घ श्वास-प्रश्वास ग्रहण करना चाहिए। नेत्रों को तेजस्वी बनाने की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को नेत्रों में वृत्तियां एकाग्र कर, नेत्रों के तेजस्वी स्वरूप की कल्पना करते हुए दीर्घ श्वास-प्रश्वास लेना चाहिए। पिछले अध्यायों में जिस राशि में जिस क्रिया के करने का आदेश है, वह क्रिया करनी चाहिए। इसी प्रकार प्राणायाम के दूसरे व्यायाम भी, जो अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल हों, नियमानुसार करते रहना चाहिए। पृथ्वी-तत्त्व पर व्यायाम करने का एक ऐसा प्रभावशाली उपाय है कि जिससे शरीर के प्रत्येक अंग की व्यंगता दूर हो जाती है और सर्वांग-सौन्दर्य प्राप्त होता है।

सूक्ष्म शरीर का विकास

मीन, कर्क और वृश्चिक—ये तीनों जल-तत्त्व की राशियां हैं। इससे १९ फरवरी से २१ मार्च तक, २१ जून से २२ जुलाई तक और २३ अक्टूबर से २२ नवम्बर तक सूक्ष्म शरीर की शक्तियों का विकास उत्तमता से होता है। इसलिए जो मनुष्य दूर दर्शन, दूर श्रवण इत्यादि शक्तियों को प्राप्त करने की इच्छा

रखते हों, उन्हें उपर्युक्त महीनों में आग्रह और श्रद्धापूर्वक क्रियाएं करनी चाहिए। इन तीन महीनों में सूर्य की किरणों की सत्ता मनुष्य के सूक्ष्म शरीर पर प्रधान रूप से बहती है, इसलिए उक्त शरीर की शक्तियों का अच्छा विकास होता है। तात्पर्य यह है कि यह सत्ता मानसिक विकारों को दूर करने में काफी प्रभाव रखती है। इसलिए मनुष्य के मन में उठने वाले भिन्न-भिन्न मनोविकारों को शांत करने का प्रयत्न भी इन्हीं तीन महीनों में विशेष रूप से हो सकता है। इसलिए जल-तत्त्व की राशियों में भी संयम करने के लिए अधिकाधिक उत्साह से प्रवृत्त होना चाहिए। उक्त महीनों में दीर्घ-श्वास-प्रश्वास लेना और मानसिक-वृत्तियों को लक्ष्य-स्थान पर स्थिर रखना विशेष उपयोगी होगा।

कारण शरीर का विकास

मिथुन, तुला और कुंभ—ये तीनों वायु-तत्त्व की राशियां हैं। इसलिए २० जनवरी से २९ फरवरी तक, २२ मई से २१ जून तक और २३ सितम्बर से २२ अक्टूबर तक की जाने वाली श्वसन-क्रियाएं कारण (लिंग) शरीर की शक्तियों का उत्तम प्रकार से विकास करती हैं। विद्यार्थियों को तथा किसी भी प्रकार की विद्या कला का अभ्यास करने वालों को और मस्तिष्क संबंधी काम करने वाले सभी मनुष्यों को इन राशियों में की जाने वाली श्वसन-क्रियाएं अधिक फलप्रद होती हैं। दीर्घ श्वास-प्रश्वास लेने से लेखकों को अन्य महीनों की अपेक्षा उक्त महीनों में अधिक विचार-स्फूर्ति होती है और यदि वे चाहें तो काफी मानसिक परिश्रम कर सकते हैं। मानस चिकित्सा करने वाले वैद्य, अध्यापक और वक्ता तथा गायक इत्यादि लोगों को उपर्युक्त अवधि में की गई श्वसन-क्रिया महान् लाभप्रद होती है। श्वसन-क्रिया के समय फेफड़ों को, वायु के द्वारा उदर के भाग से प्रारंभ करके, पूर्ण रीति से भरना और फिर धीरे-धीरे पूर्ण रीति से खाली करना चाहिए। मन को निश्चित लक्ष्य-स्थान पर एकाग्र रखना चाहिए। इससे उनको अपने कार्यों में पूर्ण सफलता मिलेगी।

महाकारण शरीर का विकास

मेष, सिंह और धनु—ये तीनों अग्नि-तत्त्व की राशियां हैं। इसलिए २१ मार्च से १९ अप्रैल तक, २२ जुलाई से २२ अगस्त तक और २२ नवम्बर से २१ दिसम्बर तक की जाने वाली श्वसन-क्रियाएं महाकारण शरीर की शक्तियों का विकास उत्तम प्रकार से करती हैं। इन दिनों में मनुष्य के प्राण का आध्यात्मिक तत्त्व के साथ बहुत ही गहरा संबंध रहता है। इससे आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करने के लिए इस समय की श्वसन-क्रिया बहुत लाभदायक होती है। उच्च आध्यात्मिक जीवन, संयम की शक्ति, उच्च प्रकार की दिव्य दृष्टि, हृदय के अन्दर आकाशवाणी का श्रवण, भगवान का साक्षात् दर्शन इत्यादि योगसिद्धियों के लिए उक्त अवधि में श्वसन-क्रिया करनी चाहिए। क्रिया करते समय सर्वदा श्वास-प्रश्वास लेना चाहिए और मानसिक वृत्तियां अभीष्ट सिद्धि के लिए लक्ष्य-स्थान पर एकाग्र रखनी चाहिए।

उपर्युक्त चारों तत्त्वों की राशियों में श्वसन-क्रिया तो एक ही प्रकार से करनी पड़ती है, परन्तु मानसिक वृत्तियों के एकाग्र करने का लक्ष्य-स्थान अलग-अलग होता है। इसके सिवाय जिन-जिन राशियों में जो प्राणवायु फेफड़ों में ग्रहण की जाती है, उस वायु के वर्ण में उन-उन राशियों के वर्णानुसार भेद रहता है। इसी भेद के कारण उनके भिन्न-भिन्न फल भी प्राप्त होते हैं।

परिशिष्ट : दो

योगशास्त्र

प्रत्याहाराद् बलं कान्तिर्दोषशान्तिश्च शान्ततः।
उत्तराधरसेवातः स्थिरता कुम्भकस्य तु।।५।१२।।

प्रत्याहार के प्रयोग से बल बढ़ता है और कान्ति बढ़ती है। दोषों का शमन होने से शान्ति होती है। उत्तराधर प्राणायाम के सेवन से कुंभक की स्थिरता होती है।

उक्तासनसमासीनो रेचयित्वाऽनिलं शनैः।
आपादाङ्गुष्ठपर्यन्तं वाममार्गेण पूरयेत्।।२७।।

पद्मासन आदि आसनों में आसीन होकर साधक धीरे-धीरे पवन का रेचन करे। पैर के अंगुष्ठ पर्यन्त बाएं नथुने से श्वास का पूरण करे।

पादाङ्गुष्ठे मनः पूर्वं रुद्ध्वा पादतलं ततः।
पार्ष्णौ गुल्फे च जंघायां जानुन्युरौ गुदे ततः।।२८।।

पूरण के पश्चात् मन को पैर के अंगूठे पर रोके। तदनन्तर क्रमशः पादतल, एड़ी, टखना, पिण्डली, घुटना, साथल और गुदा पर रोके।

लिङ्गे नाभौ च तुन्दे च, हृत्कण्ठे रसनेऽपि च।
तालुनासाग्रनेत्रे च भ्रुवोर्भाले शिरस्यऽथ।।२९।।

लिङ्ग, नाभि, पेट, हृदय, कण्ठ, जिह्वा, तालु, नासाग्र, नेत्र, भ्रू, ललाट और शिर।

एवं रश्मिक्रमेणैव धारयन् मरुता सह।
स्थानात् स्थानान्तरं नीत्वा यावद् ब्रह्मपुरं नयेत्।।३०।।

रश्मि क्रम के अनुसार साधक प्राणवायु को धारण करता है। उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाकर अंत में ब्रह्मपुर (सहस्रार चक्र अथवा ज्ञान केन्द्र) तक ले जाता है।

ततः क्रमेण तेनैव पादाङ्गुष्ठान्तमानयेत्।
नाभिपद्मान्तरं नीत्वा ततो वायुं विरेचयेत्।।३१।।

जिस क्रम से आरोहण किया है उसी क्रम से अवरोहण कर पैर के अंगूठे तक ले आए। फिर पैर के अंगूठे से प्राण का आरोहण। उसे नाभिकमल के भीतर ले आए। उसके पश्चात् वायु का विरेचन करे।

पादाङ्गुष्ठादौ जंघायां, जानूरुगुदमेहने।
धारितः क्रमशो वायुः, शीघ्रगत्यै बलाय च।।३२।।

पैर का अंगूठा, पिण्डली, घुटना, साथल, गुदा और लिङ्ग में क्रमशः धारण की गई वायु शीघ्र गति और बल के लिए होती है।

नाभौ ज्वरादिघाताय, जठरे कायशुद्धये।
ज्ञानाय हृदये कूर्मनाड्यां रोगजराच्छिदे।।३३।।

नाभि में धारण की हुई वायु ज्वर आदि का नाश करने वाली, जठर में धारण की हुई वायु काय-शुद्धि के लिए, हृदय में धारण की हुई वायु ज्ञान के लिए और कूर्मनाड़ी में धारण की हुई वायु रोग और बुढ़ापे का छेद करने वाली होती है।

कण्ठे क्षुत्तर्षनाशाय, जिह्वाग्रे रससंविदे।
गन्धज्ञानाय नासाग्रे, रूपज्ञानाय चक्षुषो।।३४।।

कण्ठ में धारण की हुई वायु भूख और प्यास को शांत करने के लिए, जिह्वाग्र में धारण की हुई वायु रस-संवेदन के लिए, नासाग्र पर धारण की हुई वायु गंध-संवेदन के लिए और चक्षु पर धारण की हुई वायु रूप-ज्ञान के लिए होती है।

भाले तद् रोगनाशाय, क्रोधस्योपशमाय च।
ब्रह्मरन्ध्रे च सिद्धानां, साक्षाद् दर्शनहेतवे।।३५।।

ललाट पर धारण की हुई वायु रोग का नाश और क्रोध को उपशांत करने वाली होती है। ब्रह्मरन्ध्र पर धारण की हुई वायु सिद्धों का साक्षात् दर्शन करने का हेतु बनती है।

मैंने उत्तराधर प्राण का प्रयोग शुरू किया। उसी समय याज्ञवल्क्य गीता को देखने का अवसर मिला। उसमें भी उत्तराधर प्राणायाम का संवादी सूत्र मिला।

याज्ञवल्क्य गीता

व्योमरन्ध्रात् समाकृष्य, ललाटे धारयेत् पुनः।
ललाटाद् वायुमाकृष्य, भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत्।।

सहस्रार चक्र (ज्ञानकेन्द्र) से वायु को खींचकर ललाट पर धारण करे। ललाट से वायु को खींचकर भृकुटियों के मध्य उसे रोके—कुंभक करे।

भ्रूमध्याद् वायुमाकृष्य, नेत्रस्थाने निरोधयेत्।
नेत्राद् वायुं समाकृष्य, नासामूले निरोधयेत्।।२।।

भ्रू मध्य से वायु को खींचकर नेत्र स्थान पर उसे रोके। नेत्र से वायु को खींचकर नासामूल (भृकुटि के नीचे) पर उसे रोके।

नासामूलात् तु जिह्वायाः, मूले प्राणं निरोधयेत्।
जिह्वामूलात् कंठकूपे, ततो वायुं निरोधयेत्।।३।।

नासामूल से प्राणवायु को खींचकर जिह्वा के मूल पर प्राण का निरोध करे। फिर जिह्वामूल से प्राण को खींचकर कण्ठकूप में वायु का निरोध करे।

कण्ठकूपात्तु हृन्मध्ये, हृन्मध्यान्नाभिमध्यके।
नाभिमध्यात् पुनर्मेढ्रे, मेढ्राद् वह्न्यालये ततः।।४।।

कण्ठकूप से वायु को खींचकर हृदय के मध्यभाग पर, हृदय के मध्य भाग से वायु को खींचकर नाभि के मध्य, नाभि के मध्य से वायु को खींचकर लिङ्ग पर और लिङ्ग से वायु को खींचकर अग्न्याशय में निरोध करे।

देहमध्याद् गुदे गार्गि! गुदाद् वै ऊरुमूलके।
ऊरुमध्याद् तयोर्मध्ये, तस्माज्जान्वोर्निरोधयेत्।।५।।

हे गार्गी! देह के मध्यभाग से वायु को खींचकर गुदा पर, गुदा से वायु को खींचकर साथल के मूल पर, साथल के मूल से वायु को खींचकर मध्य भाग पर और वहां से वायु को खींचकर दोनों घुटनों पर उसका निरोध करे।

चितिमूले ततस्तस्माज्जंघयोर्मध्यमे तथा।
जंघात् ततः समाकृष्य, वायुं गुल्फे निरोधयेत्।।६।।

घुटनों से वायु को खींचकर चितिमूल में रोके। चितिमूल से वायु को खींचकर दोनों पिण्डलियों में रोके और पिण्डलियों से वायु को खींचकर टखने में रोके।

गुल्फादंगुष्ठयोर्गार्गि! पादयोस्तं निरोधयेत्।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य, यस्त्वेवं धारयेद् धिया
सर्वपापविशुद्धात्मा जीवेदाचन्द्रतारकम्।।७।।

टखने से वायु को खींचे। अंगूठे में रोके। अंगूठे से वायु को खींचकर दोनों पैरों के पदतलों में रोके। इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर वायु को खींच कर धारण करता है, वह सब पापों से विशुद्ध होकर आचन्द्रतारक जीता है।

परिशिष्ट : तीन

शरीर में मन का स्थान

१. भेल संहिता चिकित्सा स्थान अध्याय ८ में आचार्य कहते हैं–

शिरस्ताल्वंतर्गतं सर्वेन्द्रियपरं मनः।
तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्।।
समीपस्थान्विजानाति त्रीन्भावांश्च नियच्छति।
कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंस्थितम्।।
क्रियाणां चेतराणां च चित्तं सर्वस्य कारणम्।

इन पंक्तियों से निम्नलिखित सिद्धांत निश्चित होते हैं–

(अ) मन संज्ञक आयुर्वेदीय द्रव्य शिरः तथा तालु–इन दोनों शरीर विभागों के बीच में रहता है अर्थात् वह पांच भौतिकेतर अपितु सूक्ष्म द्रव्य होते हुए भी उसका संचार पांचों ज्ञानेन्द्रियों में होता है एवं पांचों कर्मेन्द्रियों में भी होता है। कारण, वह सर्वेन्द्रिय-पर है।

(ब) सिर के पंच कपालस्थि तथा ताल्वस्थि–इन दोनों के बीच मस्तिष्क (Brain) संज्ञक अत्यन्त महत्त्व का अवयव है। इसी के भिन्न-भिन्न विभागों द्वारा हमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध–इन पांचों विषयों का ज्ञान होता है। आधुनिक संशोधनों द्वारा मस्तिष्क के कौन से विशिष्ट विभाग में किस विशिष्ट विषय का ज्ञान होता है इसका भी निर्णय किया जा चुका है तथा इस ज्ञान-सम्पादन क्रिया के लिए ज्ञानेन्द्रियां तभी समर्थ होती हैं जब मन संज्ञक षष्ठ इन्द्रिय उन ज्ञानेन्द्रियों के साथ उस समय सहकार्य करे। उसके अभाव में ज्ञान-कार्य सम्पादन नहीं हो सकता। कहा है कि–'अन्यत्रमना आसम् नापश्यम् अन्यत्रमना आसम् नाश्रौषम् इत्यादि।' आपका कोई परम मित्र व्यक्ति आपके सामने से रास्ते पर चले जाने के बाद यदि कोई व्यक्ति आपसे पूछे कि यहां से अभी वह पुरुष गया क्या, तो आप उत्तर देंगे कि मुझे खयाल नहीं। कारण, उस समय उस व्यक्ति की परछाईं (Image) आपकी आंख के परदे (Retina) पर तो अवश्य पड़ी परन्तु आपका मन उस समय अन्यत्र विषयों में तन्मय होने से आपको उसके अस्तित्व का ज्ञान नहीं हो पाया। इस प्रकार मन सर्वेन्द्रिय पर है।

(क) शिरस्ताल्वंतर्गत होते हुए भी वहीं वह समीपस्थ इन्द्रियों के रसादि विषयों का ज्ञान सम्पादन कराता है। कारण, मस्तिष्क (Brain) से ही बाह्य विषयों का ज्ञान सम्पादन कराने वाली धमनी (Nerves) निकली हुई है तथा वे तत्तदिंद्रिय के शरीर रचना के अनुसार उस इन्द्रिय से मस्तिष्क तक विषय ज्ञान कराती हैं। इस विषय में जो संज्ञक षष्ठ इन्द्रिय मदद करती है वही पांचों प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध संज्ञक बुद्धि आत्मा को करा देता है। इसी मन का पर्याय चित्त संज्ञा भी है।

(ख) यह चित्त या मन यहां पर हृदय में संस्थित है ऐसी योजना की गई है। अतः इस हृदय से वही शिरस्ताल्वंतर्गत मस्तिष्कावयव ही निश्चित होता है।

भेल संहिता के इस निर्देश की पुष्टि योगवाशिष्ठकार के उपशमाप्तकरणान्तर्गत सर्ग ८ में प्राप्त होती है। इस स्थान में श्रीराम प्रश्न करते हैं–

ब्रह्मन्! जगति भूतानां हृदयं तत्किमुच्यते।
इदं सर्वमहादर्शे यस्मिंस्तत्प्रतिबिम्बति।।३२।।

श्री वशिष्ठ उत्तर देते हैं–

साधो! जगति भूतानां हृदयं द्विविधं स्मृतम्।
उपादेयं च हेयं च विभागोऽयं तयोः शृणु।।३३।।
इयत्तया परिच्छिन्ने देहे यद्वक्षसोंतरम्।
हेयं तद् हृदयं विद्धि तनावेकतटे स्थितम्।।३४।।
संविन्मात्रं तु हृदयमुपादेयं स्थितं स्मृतम्।।३५।।
तत्तु प्रधानं हृदयं तत्रेदं समवस्थितम्।।३६।।
सर्वेषामेव जंतूनां संविद् हृदयमुच्यते।
न देशावयवैकांशौ जड़जीर्णोपलोपमः।।३७।।
तस्मात्संविन्मये शुद्धे हृदये हतवासनः।
बलाभियोजिते चित्ते प्राणस्पन्दौ निरुच्यते।।३८।।

ऊपर निर्दिष्ट अवतरण से स्पष्ट है कि योगवाशिष्ठकार शरीर में हृदय संज्ञक दो अवयव मानते हैं। उनको दो भिन्न विशेषण देकर उनका भेद स्पष्ट किया है।

एक को संविन्मात्र हृदय (Brain) संज्ञा देकर उसी को प्रधान हृदय तथा उपादेय हृदय ऐसे विशेषण दिये हैं तथा दूसरे को तनावेकतटे स्थितम् अर्थात् शरीर के एकांग में रहने वाला, यह हृदय वक्षसोत्तरम् ऐसे स्पष्ट विशेषण दिये हैं। यही आधुनिक (Heart) संज्ञक अवयव है।

अर्थे दशमहामूलाः समासवताः महाफलाः।
महच्चार्थश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः।।३।।
षडंगमंगं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपंचकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतः चिन्त्यं च हृदि संस्थितम्।।४।।

इन दो श्लोकों से निम्नलिखित निश्चय होते हैं–

१. महत्, अर्थ तथा हृदय ये तीनों शब्द पर्यायवाची हैं अर्थात् इस अध्याय में जहां-तहां ये तीनों शब्द नियोजित पाये जायेंगे वहां वे संवित् हृदय संज्ञक शारीरावयव के पर्यायवाचक हैं। उनसे हृदय भिन्न किसी अवयव का ज्ञान नहीं माना जाना चाहिए।

२. टीकाकार चक्रदत्त कहते हैं–'महामूलाः इति महत् हृदयं मूलं वासां धमनीनां तास्तथा' अर्थात् इसी हृदयसंज्ञक अवयव से धमनी संज्ञा जिनको दी गई है वे ऊपर से ठोस दीखने वाली परन्तु वास्तविक सूक्ष्मछिद्रयुक्त ऐसी नलिकायें (Nerves) उद्गम पाती हैं।

३. इन धमनीसंज्ञक नलिकाओं के संबंध में सुश्रुताचार्य शारीर स्थान के 'धमनी व्याकरण शारीर' संज्ञक ९वें अध्याय में लिखते हैं।

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु विसेषु च।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते।।१०।।

धमनीसंज्ञक शारीर नलिकाओं को मृणाल की उपमा दी है। जिस प्रकार मृणाल (कमल का डठुआ जिसे हिन्दी में मुन्दार कहते हैं तथा जिसकी तरकारी बनती है) को यदि आप चाकू से काटें तो उसमें अनेक छिद्र आपको दिखाई देते हैं उसी प्रकार यदि आप शरीर की धमनी (Nerve) को आड़ी काटें तो उसमें भी सूक्ष्म-दर्शक-यंत्र द्वारा आपको सूक्ष्म छिद्र दिखाई देंगे तथा जिस प्रकार मुन्दार के इन छिद्रों में पानी भरा हुआ रहता है उसी प्रकार धमनी (Nerve) के इन सूक्ष्म छिद्रों में भी Cerebro Spinal Fluid नाम का रस भरा हुआ दिखाई देगा। प्राचीन आचार्यों की कितनी सूक्ष्म दृष्टि तथा शारीर विषयक ज्ञान रहा करता था, इसके विषय में 'सुश्रुत शारीर का अंग्रेजी भाषान्तर करने वाले श्री पटवर्द्धन अपने ग्रंथ के पृष्ठ २०२ पर (English Translation of Sharir Sthan) तथा जिस ग्रंथ को बड़े-बड़े डॉक्टरों ने पूर्णतया मान्यता दी है, लिखते हैं–

The description (Page 202) of the contents of nerve seems to be surprisingly accurate. It speaks volumes about the remarkable powers of precise observation of the ancient Ayurvedist.

(४) ऊपर निर्दिष्ट (संवित्) हृदय को महत् तथा अर्थ ये पर्यायवाची शब्द क्यों नियोजित किये हैं। (टीका–हृदयस्य यथा यन्महत्वं यथा वा अर्थ्यमानत्वेन अर्थ्यत्वं तत् हृदयस्य अर्थ्यहितत्वात्) उसका कारण षडंगमंगादि श्लोक में वर्णन करते हैं–

(१) षडंगमंग (२) विज्ञानं (३) इन्द्रियाणि (४) अर्थपंचकम् (५) सगुणः आत्मा (६) चेतस् (७) चिंत्यम्। ये सात पदार्थ इसी हृदय में संस्थित हैं अर्थात् इन सबके कार्य इसी संवित् हृदय (Brain) पर अवलंबित हैं यदि यह संवित् हृदय सुस्थिति में रहे तो विज्ञान, क्रिया, इन्द्रियों के शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधादि विषयों का शुद्ध ज्ञान, मन (चेतस्) तथा मन का विषय एवं आत्मा को होने वाले सुखदुःखादि ज्ञान–ये सब शारीर कार्य योग्य प्रकार से होते रहेंगे। ध्यान में रहे कि ये सब कार्य वक्षस्थ हृदय (Heart) से कोई संबंध नहीं रखते। वह (Heart) तो केवल एक रक्त संचार कराने वाला Pump है जिसकी सुस्थिति रहने से जीवन क्रिया व्यवस्थित चलती है। इसके अतिरिक्त उसका कोई कार्य नहीं है। सब कार्य कराने वाला संवित् हृदय–मस्तिष्क है। यह बात ऊपर निर्दिष्ट श्लोक से चरकाचार्य स्पष्ट करते हैं। इसी कारण टीकाकार चक्रदत्त लिखते हैं–

'एतैव षडंगादयः प्रतिपठिताः प्रत्येकमेव उपादेयत्वेन, तेनात्र कस्यचिदर्थ लब्धत्वेनोपादानं कर्तव्यमिति नोद्भावनीयम्। अथ लब्धो हि अर्थः साक्षादनभिधीयमानत्वादप्रधानं भवति।'

(५) इस विषय का विशेष विस्तार न करते हुए आगे की पंक्ति का विचार करें जिससे स्पष्ट होगा कि यहां पर संवित् हृदय से ही संबंध है। ऊपर निर्दिष्ट षडंगादि भावों की–

प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदय इष्यते।
गोपानसीनामागार कर्णिकेवार्थचिंतकैः।।५।।

–प्रतिष्ठा इसी संवित् हृदय में है। प्रतिष्ठा शब्द का अर्थ 'कार्य कारणाविरोधेन अवस्थानम्' अर्थात् षडंगादि सात भाव रूप पदार्थ, उनका कारण रूप शारीरावयव, संवित् हृदय में ही अवस्थित है। यही निर्दिष्ट करने के लिए प्रतिष्ठा शब्द की योजना की गई है। एवं ये सब भाव इसी हृदय से संबंध रखते हैं। इसीलिए वह उपादेय हृदय है। अन्य हृदय (Heart) हेय हृदय हैं। ऐसा योगवाशिष्ठकार कहते हैं।

(६) यहां पर जो उपमा दी गई है वह तो निश्चय ही सिद्ध करती है कि यहां संवित् हृदय ही चरकाचार्य को मान्य है। शरीरशास्त्रविज्ञ लोग जानते हैं कि शरीर में एक स्वतंत्र प्रणाली धमनी चक्र नाम का (Nervous System) जिसे ऐसी (Master System) भी संज्ञा दी है। कारण, वह शारीर समग्र कार्य कराने में समर्थ होती है–अस्तित्व में है। सुश्रुत शारीर के ९वें अध्याय में इसका विस्तृत विवरण दिया हुआ है। इसका उद्गम मस्तिष्क (Brain) से होकर पृष्ठवंश में से इसका विस्तार हुआ है। पृष्ठवंश रज्जु संज्ञक रज्जु समुदाय में से दोनों ओर धमनियां उद्गम पाकर समग्र शरीर में फैली हुई हैं। इन्हीं के द्वारा विषयों का ज्ञान तथा कर्मेन्द्रियों के कार्य हुआ करते हैं।

(७) पृष्ठवंश रज्जु यदि किसी मकान की बड़ेरी समझकर उससे दोनों ओर जो मलग खीलों से बांध दिये जाते हैं उनकी वास्तुशास्त्र में 'गोपानसी' ऐसी संज्ञा है। टीकाकार कहते हैं 'गोपानस्यः गृहाच्छादनाधार काष्ठानि, आगारकर्णिका गृहाच्छादनमध्ये गृहाच्छादनं काष्ठनिबन्धनी लोके 'आढकम् इत्युच्यते' अर्थात् बड़ेरी को आढक संज्ञा देकर मलगों को गोपानसी संज्ञा दी है।

यदि प्रत्यक्ष शरीर के धमनी चक्र (Nervous System) का अवलोकन करें तो यही उपमा आपको अत्यन्त योग्य प्रतीत होगी। वक्षों–हृदय (Heart) के लिए यह उपमा कभी भी लागू नहीं हो सकती। इससे निश्चय होता है कि प्राचीन आचार्यों ने शरीर का शवच्छेदन करके धमनी चक्र का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। सुश्रुत धमनी व्याकरण शारीर में 'शब्दवहे द्वे, रूपवहे द्वे–आदि विवरण से स्पष्ट है कि (Nervous System) का ज्ञान उन्हें था तथा ऊपर निर्दिष्ट उपमा से उसकी निश्चित प्रतीति होती है।

(८) इस धमनी चक्र की धमनियों में जो रस (Cerebro Spinal Fluid) भरा रहता है तथा जिसको (बाह्य रस) ऐसी संज्ञा दी गई है उसका विवरण इसी चरक के ३०वें अध्याय में ऐसा किया है तथा उसे पर ओज ऐसी संज्ञी दी है।

तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः।
हृदयं महदर्धश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः।।७।।
यत्तेजसा वर्त्तयंति प्रीणिताः सर्वदेहिनः।
यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते।।९।।
यत्सारमादौ गर्भस्य यत्तद्गर्भरसाद्रसः।
संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत्पुरा।।१०।।

यस्य नाशात्तु नाशोऽस्ति धारि यद् हृदयाश्रितम्।
यच्छरीरसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः।।११।।
यन्महत्ता महामूलाः तस्यौजः परिरक्षता।
परिहार्या विशेषेण मानसो दुःखहेतवः।।१२।।
हृद्यं यत्स्याद्यजौस्यं स्रोतसां यत्प्रसादनम्।
तत्तत्सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च।।१४।।

इन पंक्तियों का विस्तार एक स्वतंत्र लेख का विषय होगा परन्तु इस रस का नाश होने से शरीर का नाश होता है तथा जो गर्भ का सारभूत द्रव्य है प्राण इसी में प्रतिष्ठित है आदि विचारधारा इसी संवित् हृदय तथा उससे फैली हुई धमनियां आदि प्रणाली को ही निर्दिष्ट करती हैं।

(९) अपस्मार निदान में चरकाचार्य कहते हैं–दोषाः प्रकुपिताः रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसां अन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयमुपसृत्योपरितिष्ठन्ते तथेन्द्रियायतनानि च। तदा जन्तुः अपस्मरति।। च.नि. ८-४।। उन्माद निदान में भी 'मनस्युपहते बुद्धौ च प्रचलितायां अभ्युदीर्णा दोषाः प्रकुपिताः हृदयमुपसृत्य मनोवहानिस्रोतांस्यावृत्य जनयंत्युन्मादम्। च. न. ७-४,५।

अपस्मार तथा उन्माद ये दोनों व्याधि वक्षस्थ हृदय (Heart) से कोई संबंध नहीं रखते। इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। कारण, दोनों व्याधियों में वक्षस्थ हृदय के सब कार्य नियमित चलते हुए पाये जाते हैं। अतएव वे संवित् हृदय (Brain) के ही विकार हैं।

मन का लक्षण चरकाचार्य निर्दिष्ट करते हैं–

लक्षणं मनसो ज्ञानं ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते।।
यैर्वृत्त्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते।। च.शा. १/१६, १९/३

ज्ञान का होना अथवा न होना यही मन का लक्षण है अर्थात् जिस शरीरावयव में ज्ञान होता है वही मन का स्थान सिद्ध होगा। ज्ञान क्रिया मस्तिष्क में ही होती है, वक्षस्थ हृदय में नहीं। यह एक साधारण मनुष्य भी जानता है। कारण, जब उसे किसी विषय का विचार करना होता है तब वह अपना हाथ सिर पर अर्थात् मस्तिष्क पर रखता है न कि वक्षस्थ हृदय पर। जब उसे कोई पुरुषत्व का कार्य करना होता है तब उसका हाथ वक्षस्थ हृदय पर जाता है एवं ज्ञान-सम्पादन मस्तिष्क में ही होता है। अतः मन का स्थान मस्तिष्क (Brain) ही निश्चित होता है। आचार्य आगे कहते हैं–

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वह्यर्थसंज्ञितम्।।२०।।

मन के विषय ऊपर निर्दिष्ट श्लोक में हैं अर्थात् जब किसी कार्य को करना चाहिए या न करना चाहिए इसका निर्णय मन करता है। इसी प्रकार विचार्य, ऊह्यध्येयादि सब कर्म मन ही करता है। तत्पश्चात् बुद्धि का प्रवर्तन होता है।

(११) आत्मा 'ज्ञ' है तथा मन, बुद्धि आदि उसके कारण (साधन) हैं।

आत्मा ज्ञः करणैर्योगात्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानि मनोबुद्धिः बुद्धिःकर्मेन्द्रियाणि च।।

एवं मन ज्ञान का साधन है–

(१२) मन अचेतन है परन्तु क्रियावान् है।

अचेतनं क्रियावच्च मनः। चेतयिता मनः-चेतनावान्यतात्मा ततः कर्त्ता निरुच्यते। अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते। मन क्रियावान होते हुए भी अचेतन होने के कारण उसे कर्त्ता नहीं कहा जाता।

निष्कर्ष :–इस प्रकार अनेक आयुर्वेदीय तथा अन्य आधार देकर यही निश्चय होता है कि–

१. मन का स्थान संवित् हृदय (Brain) है, न कि हेय हृदय (Heart)।

२. यह स्थान शिरस्ताल्वंतर्गत है अर्थात् सिर की कपालास्थि तथा ऊर्ध्व ताल्वस्थि इन दोनों के बीच में है।

३. इन दो अवयवों के बीच मस्तिष्क (Brain) संज्ञक अवयव है जो प्रत्यक्ष शारीर द्वारा निश्चित है।

४. इसी अवयव से सुषुम्नाकाण्ड आदि अवयव उद्भूत होकर उनमें से समग्र धमनी चक्र (Nervous System) जो ५ ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान-कार्य तथा पांच कर्मेन्द्रियों द्वारा चेष्टादि कार्य शरीर में फैलकर कराता है।

५. यही धमनी चक्र शरीर की एक ऐसी स्वतंत्र प्रणाली है जो समग्र शारीर क्रियाओं पर अपना अधिकार चलाती है। अतएव उसे अधिपति संस्था (Master System) ऐसा कहा जाता है।

६. मन संज्ञक द्रव्य मस्तिष्क में मूलतः रहते हुए उसका संचार धमनी चक्र के सूक्ष्मानुसूक्ष्म अंश के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में उस प्रकार होता है जैसे बिजली (Electric Current) अत्यन्त सूक्ष्म समय में लाखों मील प्रसृत होती है।

७. वक्षस्थ हृदय अन्य यकृत, प्लीहा, आंत आदि अवयव के समान एक अवयव है जो रक्त का समग्र शरीर में संचार कराने वाला पम्प (Pump) है जिसका कार्य भी इसी संवित् हृदय से उद्भूत धमनियों (Nerves) द्वारा चलाया जाता है।